कविता-कौमुदी

दूसरा भाग—हिन्दी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर वर्तमान काल तक
के प्रमुख कवियों के संक्षिप्त परिचय

सम्पादक

रामनरेश त्रिपाठी

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः॥

प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर
प्रयाग

चौथा संस्करण संशोधित | पौष, १९९६ | मूल्य ४॥)

पहला संस्करण	१९७७	१०००
दूसरा संस्करण	१९८०	२०००
तीसरा संस्करण	१९८२	३०००
चौथा संस्करण	१९९६	१०००

मुद्रक—
रा० न० त्रिपाठी, हिन्दी-मन्दिर प्रेस, इलाहाबाद
दिसम्बर, १९३९

भूमिका

कविता-कौमुदी के दूसरे भाग का यह चौथा संस्करण अपने पाठकों के सामने उपस्थित करते हुये मुझे हर्ष होता है। इस पुस्तक का तीसरा संस्करण सं० १९८३ में हुआ था, तब से हिन्दी के पद्य-साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, और कुछ ऐसे लोक-प्रिय कवि हो गये हैं, जिनका परिचय न देना इस पुस्तक को अपूर्ण रखना था। इससे इस संस्करण में हिन्दी के कुछ नये कवियों का भी संक्षिप्त परिचय बढ़ाया गया है। नवीन कवियों में से तीन कवि—बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्रीहरिवंशराय बच्चन और श्रीमती महादेवी वर्मा वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि कवि होने के कारण पुराने कवियों के साथ कर दिये गये हैं और इनका परिचय पुराने कवियों के परिचय के समान ही कुछ विस्तार के साथ दिया गया है। जिन नए कवियों का परिचय बढ़ाया गया है, उनके अतिरिक्त उसी श्रेणी के और भी कवि हैं अथवा होंगे, जिनका परिचय नहीं दिया गया। खेद है कि मुझे उनका परिचय नहीं प्राप्त हो सका। जनता में जो विशेष प्रसिद्ध थे, मैं उन्हीं को जान सका और उन्हीं को मैंने लिया भी। मैंने जान-बूझकर किसी की उपेक्षा नहीं की है। कौमुदी-कुञ्ज में भी कुछ नये कवियों की कवितायें बढ़ाई गई हैं। 'कौमुदी-कुञ्ज' इस पुस्तक का एक महत्त्व-पूर्ण अंग है। उसमें मैंने अपनी पसंद की चुनी हुई कवितायें दी हैं। पिछले संस्करण के कवियों की जीवनियों में भी आवश्यक संशोधन कर दिये गये हैं, और कुछ कवियों की पुरानी कविताओं के स्थान पर उनकी नई कवितायें बढ़ा दी गई हैं।

इस बार खड़ीबोली की कविता के परिचय में हिन्दी के प्रमुख कवियों की कृतियों की निष्पक्ष और खरी समालोचना भी की गई है। मैंने कवियों की आयु और उनकी व्यक्तिगत मान-प्रतिष्ठा पर ध्यान न देकर केवल

उनकी कृतियों ही पर विचार किया है, और यथा-संभव व्यक्तिगत चर्चा से बचे रहने का प्रयत्न किया है।

समालोचना में मैं ने कुछ को कवि और शेष में कुछ को कवि होने के निकट और कुछ को पद्यकार माना है, पर इस पुस्तक में उन सब को कवि मानकर स्थान दिया गया है। अतएव यहाँ भ्रम हो सकता है। इस भ्रम के निवारण के लिए मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि कविता कौमुदी का सम्पादन लोकमत का स्वरूप प्रकट करने के उद्देश्य से हुआ है, और समालोचना में मेरी व्यक्तिगत सम्मति दी गई है।

निश्चय ही खरी समालोचना आपस के व्यक्तिगत संबंध में कटुता उत्पन्न करनेवाली हो सकती है। क्योंकि प्रत्येक कवि को स्वभावतः अपनी प्रशंसा प्रिय होती है और अपनी कृति का उपहास कोई नहीं पसंद करता; पर साहित्य के सृजन और संरक्षण का काम व्यक्तिगत संबंध से कहीं अधिक महत्त्व का है। क्योंकि उसका संबंध जनता और राष्ट्र की बौद्धिक और मानसिक उन्नति से है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।

जिनकी कृतियों की मैंने आलोचना की है, वे प्रायः सभी मेरे साहित्यिक मित्र हैं। मुझे आंतरिक खेद है कि मेरी क़लम से उनके हृदय को कुछ चोट पहुँचेगी; पर साहित्य-क्षेत्र के अपने उदार-हृदय मित्रों पर मुझे विश्वास है कि हम अपने व्यक्तिगत संबंध में कभी और कुछ भी कटुता न अनुभव करेंगे। फिर भी भूल या असावधानी से कहीं कोई बात सीमा से बाहर निकल गई हो तो उसके लिये मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ।

रामनरेश त्रिपाठी

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग
३०—१२—२९

सूची

कवि-नामावली

हिन्दी की नवीन धारा के कवि

कौमुदीकुञ्ज

खड़ीबोली की कविता का संक्षिप्त परिचय

खड़ीबोली का स्वरूप

खड़ीबोली उस भाषा का एक नाम है जिसे आजकल हिन्दी कहते हैं। पर यह नाम हिन्दी-कविता ही की भाषा के लिये प्रायः अधिक प्रयुक्त होता है। कुछ लोगों का यह ग़लत ख़याल है कि खड़ीबोली ब्रजभाषा से निकली है। उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक मौलाना मुहम्मदहुसेन आज़ाद ने भी ऐसी भूल की है। उन्होंने अपने 'आबेहयात' में उर्दू को ब्रजभाषा की बेटी लिखा है। यद्यपि उर्दू हिन्दी से कोई भिन्न भाषा नहीं; बल्कि उसीका एक मुसलमानी नाम है।

खड़ीबोली, जिसका असली नाम हिन्दी है, बहुत प्राचीन भाषा है। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का किसी समय प्राकृत से साथ ही साथ विकास हुआ था। भाषा के विद्वानों का अनुमान है कि विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी में हिन्दी अपनी जननी प्राकृत की गोद से अलग हुई थी। अतएव ब्रजभाषा के उद्‌गम का भी यही समय समझिये। हिन्दी दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोली जाती रही है और ब्रजभाषा का विकास ब्रज में हुआ था।

हिन्दी का खड़ीबोली नाम कब और क्यों पड़ा ? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। सं० १८६१ में लल्लूलालजी ने अपने प्रेमसागर की भूमिका में उस बोली का नाम, जिसमें प्रेमसागर लिखा गया है, खड़ीबोली लिखा है। यह नाम उनका रक्खा हुआ नहीं जान पड़ता। बल्कि आगरे और उसके आसपास उस समय हिन्दी का यह प्रचलित नाम रहा होगा; उन्होंने उसीका उल्लेख किया है।

खड़ीबोली नाम क्यों पड़ा ? यह अबतक अज्ञात है। खड़ी, पड़ी, लेटी, बैठी यह नाम किसी भाषा का नहीं रक्खा जा सकता। खड़ी के अंदर कोई न कोई गूढ़ अर्थ अवश्य सन्निहित है। कुछ कल्पना-प्रेमी भाषाविद् 'खड़ी' को 'खरी' करके उसका अर्थ 'स्पष्ट' और 'साफ़-साफ़' करते हैं; अर्थात् जो 'खरी-खरी' सुना दे, वह 'खरी-बोली'। उनकी राय में 'खरी' को लोगों ने पीछे से 'खड़ी' कर लिया। खड़ी होने पर वह चल निकली। जो हो, हिन्दी शब्द कहने से कविता में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का बोध होता है। इसलिये हिन्दी-कविता की भाषा का एक अलग नाम रखने की आवश्यकता समझी गई। नहीं तो हिन्दी का 'खड़ीबोली' या 'उर्दू' नाम अलग रखने की कोई ज़रूरत ही नहीं थी।

अमीर ख़ुसरो के समय में उस समय की प्रचलित भाषा का नाम हिन्दी ही था; न उर्दू था, न खड़ीबोली। हमारी इस भाषा का हिन्दी नाम अभी तक सबसे पहले ख़ुसरो ही की कविता में मिला है। उदाहरण लीजिये—

फ़ारसी बोले आईना। तुर्की बोले पाईना।
हिन्दी बोलत आरसी आये। मुँह देखे जो इसे बताये॥

शर्मो हया दर हिन्दी लाज।
हासिल कहिये बाज़ खिराज।

ख़ुसरो ने कहीं-कहीं भाषा का नाम 'हिन्दवी' भी लिखा है। जैसे—

विश्नो तो नाम चरखा बेचारा पीरजन।
गोयन्द नाम रहटा दर हिन्दवी बचन॥

मुश्क काफ़ूरस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी ओ सरूर॥

हमारी समझ में 'हिन्दवी' से ख़ुसरो का अभिप्राय उस बोलचाल

से था, जिसे केवल हिन्दू लोग बोलते थे। और जो भाषा हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते थे, उसे उसने 'हिन्दी' नाम दिया है।

अमीर ख़ुसरो का समय सं० १३१२ से सं० १३८२ तक है। ख़ुसरो ने कई पुस्तकें लिखीं और फुटकर दोहे, पहेलियाँ और गाने बनाए; जिनमें उसके समय की हिन्दी का रूप स्पष्ट देखा जा सकता है। ख़ुसरो से पहले के भी कुछ कवियों की कविताएँ मिलती हैं, जैसे सरहपा* और चन्दबरदायी की। पर ये प्रान्तीय बोलियों के कवि थे, जैसे अब भी हैं। जो बोली विकसित होते-होते ख़ुसरो की कविता की भाषा होगई है, उसके कवि ये नहीं माने जा सकते।

आजकल जो हिन्दी राष्ट्रभाषा मानी जाती है, उसके तीन प्रचलित नाम हैं—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी।

हिन्दी

ऊपर कहा चुका है कि अभी तक हिन्दी का पुराना से पुराना स्वरूप ख़ुसरो की कविता में मिलता है। बाद को भी यह नाम केवल मुसलमान कवियों की कविता में मिलता है। चन्दबरदायी ने 'हिन्द' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार किया है, पर भाषा का नाम उसने 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' कहीं नहीं लिखा। बहुत पुराने कवियों में जायसी ने अलबत्ता 'हिन्दुई' शब्द का प्रयोग किया है।—

अरबी तुरकी हिन्दुई भाषा जेती आहि।
जामें मारग प्रेम का, सबै सराहे ताहि॥

उर्दू में 'हिन्दुई' को 'हिन्दवी' भी पढ़ा जा सकता है।

हिन्दी का उद्गम-स्थान दिल्ली और उसके आसपास का प्रांत होने पर भी पद्य में उसका विकास पहले-पहल दक्षिण भारत में हुआ

---

*राहुल सांकृत्यायन के एक लेख से।

था और उसके निर्माता मुसलमान कवि थे। यहाँ हिन्दी से हमारा मतलब ब्रजभाषा और अवधी से नहीं है, बल्कि उस हिन्दी से है जिसे आज हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। ब्रजभाषा और अवधी तो हिन्दी की प्रान्तीय बोलियाँ हैं।

एलोर के निवासी बाकर आगाह ने अपने उर्दू दीवान का नाम 'दीवाने-हिन्दी' रक्खा था। बाक़र आगाह का जन्म ११५७ हिजरी में हुआ था।

गोलकुंडा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह का एक हस्त-लिखित दीवान, जो अठारह सौ पृष्ठों में, उस समय की बोलचाल की भाषा में है, निज़ाम हैदराबाद के राजकीय पुस्तकालय में अबतक सुरक्षित है। कुतुबशाह सं० १६३७ में गद्दी पर बैठे थे। उनका उपनाम ज़िल्ले अल्लाह था। उनका एक शेर सुनिये—

तुम बिन रहा न जावे अन नीर कुछ न भावे,
बिरहा किता सतावे मन सेति मन मिला दो।

उर्दू-कविता का प्रारम्भ वली से माना जाता है; पर वली की भाषा हिन्दी थी और उसमें संस्कृत के बहुत-से शब्द मिलते हैं। वली का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। वहीं से वह दिल्ली आये थे।

उर्दू के प्रसिद्ध शायर मीर ने अपनी ज़बान का नाम हिन्दी ही लिखा है। जैसे—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे क़ल्ब।
आया नहीं है लफ्ज़ य' हिन्दी ज़बाँ के बीच।

मीर का समय सं० १७६८ से १८६५ तक है।

उर्दू के एक दूसरे मशहूर शायर आतिश की मृत्यु सं० १९०२ में हुई थी। आतिश का एक शेर है—

मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब!
सब जानते हैं तुर्क की हिन्दी ज़बाँ नहीं।

इससे प्रकट है कि सं० १६०२ तक हिन्दी का नाम उर्दू नहीं पड़ा था, और न भाषा-सम्बन्धी कोई झगड़ा ही था। कबीर, जायसी, रहीम, रसखान और गुलामनबी आदि की हिन्दी-रचनाओं से हम लोग काफ़ी परिचित हैं।

अभी कुछ दिन पहले के उर्दू-कवि भी हिन्दी-छंदों में कविता किया करते थे, जो अबतक उत्तर भारत में हिन्दुओं की ज़बान पर हैं।

दिल्ली के ग़ुलाम मुस्तफ़ा वलीख़ाँ बादशाह मुहंम्मदशाह के ज़माने में थे। 'यकरंग' उपनाम से उनके सैकड़ों पद अब भी गाये जाते हैं। उनमें से एक यह है—

हरदम हरनाम भजो री।
निसदिन जो हरि का गुन गाये रे।
बिगड़ी बात वाकी सब बन जाये रे॥
सम्पत तो हँस के कटे, विपत कटे ना रोय।
'यकरँग' आसा राखिये, हरि चाहे सो होय॥

साधारण मुसलमानों की तो बात ही क्या, मुग़ल बादशाह तक संस्कृत और हिन्दी से अनुराग रखते थे। अकबर के रचे हिन्दी में कई छंद मिलते हैं। औरङ्गजेब, जो मज़हबी कट्टरता के लिये प्रसिद्ध है, संस्कृत और हिन्दी से परिचय रखता था। भूषण की हिन्दी-कविताएँ उसने सुनीं और समझी थीं, यह तो हम जानते ही हैं। लेकिन यह जानकर आश्चर्य होता है कि वह संस्कृत में भी दख़ल रखता था। उसके पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, उसमें नम्बर ८ का रुक्क़ा उसने अपने बेटे मुहम्मद आज़मशाह के नाम लिखा था। मुहम्मद आज़मशाह ने कुछ नये क़िस्म के आमों की डाली बादशाह की खिदमत में भेजी थी, और उन आमों के नाम रख देने की प्रार्थना की थी। बादशाह ने लिखा—

"फ़र्ज़न्द आलीजाह, डाली अम्बा मुहि से आँ बजायके सिरर चीर

खुशगवार आमद—बराय नाम आम्बए गुमनाम इस्तदुआ नमूदा अन्द—चूं आं फ़र्ज़न्द जूदने तबा दारन्द—चादार तकलीफ़े पिदरपीर चरा मी शवन्द—बहरहाल सुधारस वो रसना विलास नमीदा शुद"।

अर्थात् बेटा ! आमों की डाली जो तुमने भेजी, वह तुम्हारे बुड्ढे बाप को बहुत पसंद आई; तुमने इन गुमनाम आमों के नाम रखने के लिए लिखा। तुम तो बेटा ! खुद प्रतिभावान हो; बुड्ढे बाप को क्यों तकलीफ़ देते हो ! खैर; सुधारस और रसना-विलास नाम रख दिया जाता है।

आमों के लिए 'सुधारस' और 'रसनाविलास' नाम बादशाह औरंगज़ेब की सरस हृदयता के परिचायक हैं।

उर्दू

अब उर्दू को लीजिये। हिन्दी का नाम उर्दू कब से पड़ा, इसका भी ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं चला है। मुसलमानी राजत्व-काल में यद्यपि फ़ारसी का चलन था, पर वह राजभाषा थी; राष्ट्रभाषा का काम उस समय भी हिंदी ही से लिया जाता रहा है। उत्तर भारत से जितने मुसलमान दक्षिण गये, वे सब अपनी ज़बान भी गोलकुंडा और बीजापुर तक साथ ले गये, जो हिंदी थी; जैसा कि उस समय के मुसलमान कवियों ने कहा है। शिवाजी और भूषण का सम्बन्ध हमको विदित है। शिवाजी दक्षिणी होने पर भी इतनी हिंदी जानते थे कि भूषण की कविता समझ लेते थे।

यदि राजनीति के चक्कर में पड़कर मुसलमानी हिन्दी और हिन्दुओं की हिन्दी में उर्दू-हिन्दी के नाम से फूट न पड़ गई होती, तो आज हम हिन्दू-मुसलमान दोनों अपनी भाषा को भारत में अधिक व्यापक बना सके होते।

हिन्दी और उर्दू दोनों भाषायें एक हैं। उनकी अंतरात्मा में कोई अंतर नहीं है। उनका व्याकरण एक, उनके मुहावरे एक, उनकी प्रकृति एक और उनकी धारा एक है। हाँ, उस धारा के दो अलग-अलग नाम रख लिये गये हैं, और अब केवल उनके नामों की लड़ाई है—यद्यपि हिन्दी लफ़्ज़ से मुसलमानों को परहेज़ नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह उन्हींका रक्खा हुआ नाम है, जिसके मानी हैं हिन्द अर्थात् हिन्दुस्तान की भाषा। इस नाम से हिन्दुओं का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। उर्दू शब्द का इतना व्यापक अर्थ भी नहीं है।

हिन्दुस्तानी

हिन्दी का एक नाम हिन्दुस्तानी भी है। यह अंग्रेज़ी दिमाग़ की उपज है। सन् १८०३ ई० में कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम में एक महकमा क़ायम हुआ था, जो ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के कर्मचारियों को देशी भाषा सिखाने की व्यवस्था करता था। डाक्टर जान गिलक्रिस्ट साहब उसकी देख-रेख के लिये तैनात हुए थे। उस महकमे के द्वारा हिन्दी-उर्दू में हिन्दू-मुसलमान विद्वानों से पुस्तकें लिखवाई गई।

हिंदी की पुस्तकें पंडित सदल मिश्र और लल्लूलालजी ने लिखीं, और उर्दू की किताबें मीर अम्मन देहलवी आदि कुछ मुसलमान लेखकों ने। उसी समय से सरकारी मुहर इस नाम पर लगी। गिलक्रिस्ट साहब ने स्वयं सोलह पुस्तकें लिखीं, जिनकी भाषा 'हिन्दुस्तानी' क़रार दी गई है। इस साहबी हिंदी पर राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने अपनी क़लई चढ़ाई और उसमें उन्होंने कुछ पुस्तकें और लेख लिखे।

फ्रेडरिक पिंकाट साहब ने १ जनवरी, १८८४ को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम हिंदी में एक पत्र लिखा था, उससे राजा शिवप्रसाद और तत्कालीन अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पत्र का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है :—

१ जनवरी, १८८४

प्रिय बंधो,

आपसे एक पत्र मिलना मुझे परम सुख है। राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस बरस हुए उसने सोचा कि अँग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं।.........

.........इसलिये उसने बड़े चाव से अपनी हिन्दी भाषा को बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया। उसके उपरांत उसने देखा कि हिन्दी-भाषा साल पर साल पूज्यतर होती जाती थी तब उसने उर्दू और हिन्दी के परस्पर मिलाने का उद्योग किया। अँग्रेज लोग जानते हैं कि उन दो भाषाओं का मिश्रित होना सबसे श्रेष्ठ बात होगी; क्योंकि वैसी संयुक्ता से सारे हिन्दुस्तान के लिये एक ही भाषा निकलेगी।

× ×

अँग्रेज लोग करने पर हृदय लगाते हैं। इससे यदि आप काव्य को छोड़कर किसी क्रिया-सम्बन्धी प्रसङ्ग लगें सरल हिन्दी गद्य-रचना पर अपना मन लगावें तो शिवप्रसाद के पद से आप आगे बढ़ेंगे।

आपका परम मित्र

फ्रेडरिक पिंकाट

इस पत्र से इस बात का भी पता चलता है कि सन् १८८४ तक अँग्रेज़ों की नीयत या नीति यही थी कि हिंदी को सार्वदेशिक भाषा बनाकर अपना राजकाज चलावें। इसीसे हिन्दी-उर्दू को एक करने की धुन उनमें थी। पर अब उनका दृष्टि-कोण बदल गया है। अब तो युक्तप्रांत की सरकार हिन्दी-उर्दू की अलग-अलग उन्नति के लिये काफ़ी रुपये खर्च करती है। मानो उसने हिन्दी और उर्दू वालों की

गरदनें घुमा दीं—एक का मुँह पूरब को कर दिया, दूसरे का पश्चिम को। दोनों चल तो रहे हैं; पर हरएक क़दम पर वे एक दूसरे से दूर चले जा रहे हैं।

मैं हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी को एक ही भाषा और उसका एक ही नाम हिन्दी मानता हूँ, जिसका अर्थ है, हिन्दुस्तान की भाषा। हिन्दुस्तानी शब्द का भी यही अर्थ है।

हिन्दुस्तानी हिन्दी के उस रूप को कहते हैं, जिसमें संस्कृत, अरबी-फ़ारसी और अँग्रेज़ी आदि विदेशी भाषाओं के भी प्रचलित शब्द इस्तेमाल किये जायँ। कांग्रेस की दृष्टि से हिन्दू-मुसलिम एकता के लिये यह बहुत ज़रूरी है कि हिन्दी के लेखक जो अबतक अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बहिष्कार करके संस्कृत के कठिन शब्दों से और उर्दू के लेखक संस्कृत और हिन्दी के शब्दों का बहिष्कार करके अरबी और फ़ारसी के शब्दों से अपनी-अपनी भाषाओं का शरीर भर रहे थे, उसे वे बंद करें और दोनों मिलकर एक ऐसी भाषा में अपने भाव व्यक्त करें जो आमफ़हम हो और जिसमें संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी के सभी प्रचलित शब्द निर्विरोध काम में लाये जायँ। राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक भाषा का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। महात्मा गाँधी ने भी हिन्दुस्तानी ही के प्रचार को प्रोत्साहन दिया है।

उस हिन्दुस्तानी में, जिसकी कल्पना अँग्रेज़ों के दिमाग़ में हुई थी, गंभीर विषय नहीं लिखे जा सकते। केवल उपन्यास, क़िस्से-कहानियाँ और हुक्मनामे ही तक वह साथ दे सकती है। गम्भीर विषयों के लिये संस्कृत और अरबी, फ़ारसी और अँग्रेज़ी के भी प्रचलित शब्दों को लेना हमारे लिये अनिवार्य होगा।

लिपि की बाधा

पर हिन्दी के दोनों रूपों को एक करने में सबसे बड़ी बाधा लिपि की है, इसपर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। हिन्दी और उर्दू

की लिपि एक होती तो उनके दोनों रूपों के एक होने में विशेष प्रयत्न की ज़रूरत ही न पड़ती। जैसे गुजराती और बँगला में दो लिपियों का झगड़ा नहीं है। इससे उन भाषाओं के हिन्दू और मुसलमान दोनों लेखकों की भाषायें हरएक गुजराती और बंगाली पढ़ सकता है और दोनों की भाषाओं में उनके समाज के अंदर जो शब्द व्यवहृत होते हैं, उनसे वह परिचित होता है।

लिपि की ऐसी ही एकता हमारे यहाँ भी होती, तो हम हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों के लोग एक दूसरे के अधिकांश शब्दों से अवश्य परिचित होते और भाषा परस्पर का वैमनस्य बढ़ाने का एक कारण कभी न बनने पाती।

हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और उर्दू फ़ारसी लिपि में। देवनागरी लिपि पूर्ण है और उसमें उर्दू में प्रचलित हरएक शब्द शुद्ध लिखा और पढ़ा जा सकता है। पर फ़ारसी लिपि अपूर्ण है; उसमें संस्कृत के शब्द न शुद्ध लिखे जा सकते हैं, न पढ़े। अतएव लिपि को एक किये बिना यदि हम दोनों भाषाओं को एक करने के मसले पर सहमत हो जाते हैं तो भाषा की दृष्टि से हिन्दी को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। हिन्दी के कितने ही शब्द, जो उर्दू में लिखे नहीं जा सकते, हमेशा के लिये हमसे छूट जायँगे। जैसे, भाग्य, संदिग्ध, आवश्यक, प्रमाण, साहित्य और विद्वान् के स्थान पर हमें क़िस्मत, मशकूक, ज़रूरी, सबूत, अदब और आलिम लेना पड़ेगा। लेने के हम विरोधी नहीं, क्योंकि नये शब्दों से हमारा शब्द-कोष बढ़ता ही है, घटता नहीं; पर सैकड़ों पीढ़ियों से साथ चले आते हुए अपने घरेलू शब्दों को केवल इसलिये कि वे एक विदेशी लिपि में लिखे नहीं जा सकते, छोड़ देने के विरोधी जरूर हैं। संस्कृत के प्रचलित शब्दों को छोड़ देने से हम अपने उस साहित्य से भी वंचित हो जायँगे, जिसमें उनका लगातार

प्रयोग अभी तक होता आ रहा है। हम कबीर, तुलसी और सूर से ही नहीं, वर्तमान काल के सैकड़ों लेखकों और कवियों से भी हाथ धो बैठेंगे।

पर अपनी लिपि को छोड़ेगा कौन ? इसका हल होना तबतक संभव नहीं, जबतक हममें राष्ट्रीयता की भावना स्पष्ट रूप से जाग्रत नहीं होगी; जिसमें अभी देरी दिखाई पड़ती है। अतएव अभी तो यही विचारणीय है कि दो लिपियों के रहते हुए ही भाषा-एक कैसे हो सकती है।

इस संबंध में मेरी एक निजी राय यह है कि हिन्दुस्तानी का निर्माण न आलमारी में रक्खे हुए हिन्दी और उर्दू के कोषों की मदद से किया जाय और न ऊँचे दरजे के विद्वान् लेखकों के ग्रन्थों से; बल्कि गाँवों में प्रचलित शब्दों को संग्रह करके, उनमें से अपने अर्थ को पूर्णरूप से व्यक्त करनेवाले, सुगमता से उच्चरित होनेवाले और अधिक जन-संख्या में प्रचलित शब्दों को चुनकर उनसे हिन्दुस्तानी के कलेवर को भरा जाय। वह हिन्दुस्तानी बहुत व्यापक बन जायगी और कांग्रेस या हिन्दुस्तानी के अन्य हिमायतियों की मनोवाञ्छा सहज में पूर्ण हो जायगी।

बिहार की कांग्रेसी सरकार ने १६३८ में हिन्दुस्तानी भाषा के निर्माण के लिये तीन मेम्बरों की एक कमेटी बनाई थी, जिनमें एक मेरा भी नाम था। पर हिन्दुस्तानी का कलेवर गाँव में प्रचलित शब्दों से भरने का मेरा स्थिर मत होने के कारण मेम्बरों से मेरा मतैक्य न हो सका और मैंने कमिटी की सदस्यता छोड़ दी। अब भी, बहुत सोच-विचार के बाद भी, मैं इसी मत पर क़ायम हूँ कि हिन्दुस्तानी को बहुत व्यापक बनाने के लिए उसे समाज में ऊपर से नीचे नहीं, नीचे से ऊपर ले जाना चाहिये।

खड़ीबोली की कविता की परम्परा

खड़ीबोली के सबसे पहले कवि अमीर खुसरो हैं, जो तेरहवीं सदी में हुए थे। उनकी बहुत-सी कविताएँ खड़ीबोली में हैं। उनके कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं—

(१)

खीर पकाई जतन से, चरखा दिया जला।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा॥

(२)

बीसों का सिर काट लिया। ना मारा नाखून किया॥

खुसरो के बाद सादी, वली और मीर आदि मुसलमान कवियों ने इस भाषा में रचनायें कीं। इनके भी उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

हम तुमन को दिल दिया,
तुम दिल लिया औ दुख दिया।
हम यह किया तुम वह किया
ऐसी भली वह पीत है॥

सादी

ऐ वली! रहने को दुनिया में मुक़ामे आशिक़।
कूचए यार है या गोशए तनहाई है॥

वली

शाम ही से बुझा-सा रहता है।
दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिस का॥

मीर

हिन्दू-कवियों में सबसे पहले कबीर का नाम आता है, जिन्होंने खड़ीबोली में भी अपने पद, साखी और रेखते कहे हैं। जैसे—

फ़हम कर फ़हम कर फ़हम कर मान यह
फ़हम बिन फिकिर नहिं मिटै तेरी।

सकल उजियार दीदार दिल बीच है
जौक़ औ शौक़ सब मौज तेरी ॥

कबीर का समय सं० १४५५ से प्रारम्भ होता है। कबीर के बाद गुरु नानक ने भी खड़ीबोली में कुछ पद कहे। गुरु नानक का समय सं० १५२६ से १५९५ तक है। एक पद सुनिये—

सोच-विचार करे मत मन में
जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन के पद परसे
निसदिन रामचरन चित लाया ॥

सं० १६१० में रहीम हुए। रहीम ने खड़ीबोली में मदनाष्टक लिखा था। उसका एक पद्य यह है—

कलित ललित माला, वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला, चाँदनी में खड़ा था ॥
कटि तट बिच मेला, पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला, यार मेरा अकेला ॥

भूषण का जन्म सं० १६७० में हुआ। भूषण ने भी कहीं-कहीं खड़ीबोली का प्रयोग किया है। एक उदाहरण लीजियेः—

बचैगा न समुहाने बहलोल खाँ अजाने—

तुझ ते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास
क़ैद किया साथ का न कोई बीर गरजा ॥

भूषण के समय में तो खड़ीबोली का प्रचार दक्षिण में बहुत काफ़ी रहा होगा। क्योंकि यही उस समय की राष्ट्रभाषा थी। देश के चारों-ओर के लोग दिल्ली आया करते थे। उनको तो दिल्ली की उस समय की भाषा बोलनी ही पड़ती होगी। कम से कम शिवाजी महाराज तो हिन्दी के अच्छे जानकार रहे ही होंगे। तभी तो वे भूषण की कविता समझते और उसपर अपना हर्ष प्रकट करते थे।

अठारहवीं सदी में सूदन हुए। सूदन ने अपने सुजान-चरित में कई स्थानों पर खड़ीबोली में कविता लिखी है। एक कवित्त उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है—

महल सराय से रवाने हुआ बूबू करो,
मुझे अफ़सोस बड़ा बड़ी बीबी जानी का।
आलम में मालुम चकत्ता का घराना यारो,
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का।
खाने खाने बीच से अमाने लोग जाने लगे,
आफ़त ही जानो हुआ औज दहकानी का।
रब की रजा है हमें सहना बजा है,
वक़्त हिन्दु का गज़ा है आया छोर तुरकानी का।

सं० १७८० के लगभग सीतल का समय है। सीतल ने भी अपने 'गुलज़ार-चमन' में खड़ीबोली में रचना की है। जैसे—

हम खूब तरह से जान गये जैसा आनँद का कंद किया।
सब रूप शील गुन तेज पुञ्ज तेरे ही तन में बंद किया॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर विधि ने यह फरफंद किया।
चम्पकदल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चंद किया॥

ग्वाल कवि का समय सं० १८४८ से १६२८ तक है। ग्वाल ने भी खड़ीबोली में रचना की है। उनका एक कवित्त यहाँ दिया जाता है—

दिया है ख़ुदा ने ख़ूब ख़ुशी करो ग्वाल कवि,
खाओ पिओ देओ लेओ यही रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादशाह भये,
कहाँ से कहाँ को गये लग्यो ना ठिकाना है॥
ऐसी जिन्दगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे,
देश-देश घूमि-घूमि मन बहलाना है।

आये परवाना पर चले न बहाना,
यहाँ नेकी कर जाना फिर आना है न जाना है॥

ग्वाल के बाद और भी कुछ कवियों ने खड़ीबोली में रचनायें की हैं। पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से तो खड़ीबोली की पतली धारा ने नदी का रूप धारण कर लिया है। हरिश्चन्द्र ने खड़ीबोली की कविता का युग ही बदल दिया। उनके बाद के कवियों ने खड़ीबोली को ऐसा अपनाया कि ब्रजभाषा के हिमायतियों को भय होने लगा है कि कहीं ब्रजभाषा का प्रभाव मंद न पड़ जाय। सचमुच आजकल ब्रजभाषा का प्रचार एक प्रकार से बंद-सा होगया है।

ऊपर के उदाहरणों के देने का हमारा अभिप्राय यह है कि खड़ी-बोली की प्राचीनता के सम्बन्ध में लोगों का भ्रम दूर हो जाय।

ब्रजभाषा और खड़ीबोली

एक समय था जब ब्रजभाषा ही हिन्दी-कविता की भाषा थी। ब्रज से सैकड़ों-हज़ारों मील दूर रहनेवाले कवि भी ब्रजभाषा में कविता रचते थे। अब भी सैकड़ों कवि ऐसे होंगे, जिन्होंने न कभी ब्रज की सैरी का होगी और न कभी घर ही में ब्रजभाषा का अध्ययन किया होगा, पर वे भी ब्रजभाषा में कविता रचते हैं। ऐसी योग्यता उनमें कहाँ से आ जाती है? यह है ब्रजभाषा के बहुल प्रचार का परिणाम। ब्रजभाषा की शृङ्गार और भक्ति-विषयक कविताओं का हिन्दुओं के घर-घर में ऐसा प्रचार है कि उनके द्वारा लोगों को ब्रजभाषा का कुछ न कुछ ज्ञान आपसे आप होता रहता है।

कुछ लोग खड़ीबोली को ब्रजभाषा के प्रचार में बाधक बतलाते हैं। पर असल बात तो यह है कि ब्रजभाषा का समय अब गया। उसमें कवि लोग अच्छी से अच्छी और बुरी से बुरी दोनों प्रकार की कवितायें रच चुके। अब उसमें गुञ्जाइश नहीं कि वह और कुछ माल हज़म कर

सके। थोड़े ही दिनों में संस्कृत की तरह उसका भी हाल होनेवाला है। भाषा में परिवर्तन होता ही रहता है, इसके लिये दुःखी होना और अन्य उन्नति-शील भाषाओं को कोसना विचार-हीनता है। समय आपसे आप भाषा को अपने अनुकूल बना लेता है। जब देश में वैभव था, लोग सुखी थे, तब शृङ्गार-रस और भक्ति की कविता के लिये सुमधुर ब्रजभाषा की ज़रूरत थी। अब देश पराधीन है, भूख से व्याकुल है, अब शृङ्गार-रस अच्छा नहीं लगता। अतएव कोमल भाषा की भी ज़रूरत नहीं है। अब तो जाग्रत करनेवाली, हृदय में उत्साह भरनेवाली वीर-भाषा की ज़रूरत है, और वह खड़ीबोली ही है। ब्रजभाषा देश को जगाना नहीं, बल्कि सुख की नींद सुलाना जानती है। खड़ीबोली तो स्वयं खड़ी है, वह सोये हुए को उठाकर खड़ा कर देगी। अतएव ब्रजभाषा के लिये दुःख प्रकट करके भी कोई खड़ीबोली के प्रचार को रोक नहीं सकता।

ब्रजभाषा की साहित्य-सम्पदा

हिन्दी में उन्नीसवीं शताब्दी तक कविता का विषय मुख्यतः भक्ति और शृङ्गार था। भक्त कवि दो प्रकार के हुए। एक ने विशुद्ध भक्ति का प्रचार किया; जैसे, कबीर आदि संत तथा तुलसी आदि रामोपासकों ने। दूसरे ने शृङ्गार-मिश्रित भक्ति का प्रचार किया; जैसे, सूरदास, नंददास आदि ब्रज के कवियों ने।

शृङ्गारी कवियों की संख्या भक्त कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक रही। इनके मुख्य विषय थे—नखशिख, नायिका-भेद और ऋतु-वर्णन। जो कवि इन तीनों विषयों में कुछ कर लेता था, वह आचार्य गिना जाता था। नखशिख में शरीर के प्रत्येक अंग की उपमा खोजी जाती थी। जो कवि उपमानों की अधिक संख्या गिना सकता था, वह कवि-श्रेष्ठ समझा जाता था। नायिका-भेद ने तो ब्रजभाषा के कवियों की बुद्धि में सबसे अधिक स्थान पर अधिकार कर लिया था।

उस समय के कवियों में मुख्यतः स्त्रियों ही की चर्चा रहती थी। कोई कन्या युवती हो रही है, उसकी भी चिंता कवि को थी। कोई पनघट पर पानी भरने जा रही है, उसके साथ भी कवि को जाना पड़ता था। कोई अपने पति से बातें कर रही है, कवि वहाँ भी लुके-छिपे मौजूद रहते थे। इस प्रकार शृङ्गारी कवि-गण काम-कला की वृद्धि के लिये तरह-तरह की कल्पनाएँ किया करते थे। वे कुटनियों की अन्यतम आवश्यकता अपने श्रोताओं को हृदयङ्गम कराते रहते और ऋतुओं के नुस्खे भी लिखा करते थे। नुस्खों में प्रत्येक ऋतु में नवबाला तो रहती ही थी। बिना इसके कोई नुस्खा काम ही का नहीं समझा जाता था।

अब भी जो पुराने ढर्रे के कवि हैं, वे इसी धुन में हैं। ज़माना चाहे मीलों आगे बढ़ जाय, पर वे एक इंच आगे खसकने को तैयार नहीं। उन्हें भक्ति-विषयक कविता लिखनी होगी, तो ध्रुव, प्रह्लाद, गणिका, गीध, अजामिल, शबरी और मीरा से आगे न बढ़ेंगे। वे इस बात को ध्यान में नहीं लाते कि कविता और इतिहास दो भिन्न पदार्थ हैं।

पहले शीघ्र समाचार पाने और जल्द आने-जाने के साधन नहीं थे। तब परदेश जाकर लौट आना सचमुच पुनर्जन्म समझा जाता था। उस समय विरह का वर्णन सार्थक हो सकता था। पर आजकल रेल, तार और हवाई जहाज के ज़माने में न वैसा विरह ही है, न वैसे विरही-विरहिणी ही, और न वैसे वर्णन की पुनरुक्ति ही आवश्यक है। पर अब कवियों को समझाये कौन! आजकल जो कविता के मासिक-पत्र निकलते हैं, उनमें सैकड़ों कवि ऐसी ही चिंता में पड़े दिखाई पड़ते हैं कि अमुक स्त्री का पति परदेश गया है, स्त्री उसके विरह में सूखकर काँटा होगई है, कोयल-पपीहों की आवाज़ से उसके कलेजे कतरे जा रहे हैं, वह चीख रही है, चिल्ला रही है, जान जाने की देर है,

इत्यादि। ये झूठी-झूठी बातें सुनकर लोग क्या करें ? किधर दौड़ें ? और कहाँ जायँ ? दूसरों का कल्पित विरह लेकर कवि महाशय स्वयं तड़पते हैं और खा-पीकर सुख से बैठे हुए काव्य-रसिकों को नाहक तड़पाते भी हैं।

सबसे विचित्र बात तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण और राधा के सम्बन्ध में कवि-गण कल्पना पर कल्पना भिड़ाते चले जा रहे हैं, उसका अंत ही नहीं होने पाता। जो बातें श्रीकृष्ण और राधा ने कभी सोची भी न होंगी, वे भी इन कवियों की कल्पना में आकर उनके मत्थे मढ़ी जा रही हैं।

श्रीकृष्ण महाभारत-युद्ध में उपस्थित थे। महाभारत ग्रंथ में उनका बहुत संक्षिप्त वर्णन है। उनकी लीलाओं का विस्तृत वर्णन श्रीमद्-भागवत में है, जिसमें उनकी लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों का उल्लेख है। उनकी लीलाओं के लिये श्रीमद्भागवत ही सबसे अधिक ज़िम्मेदार ग्रंथ है। श्रीमद्भागवत का निरन्तर पाठ करनेवाले कई मित्रों से हमें यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि श्रीमद्भागवत में राधा का नाम ही नहीं है। आश्चर्य क्यों न होता, जबकि इधर हम देखते हैं कि व्रजभाषा की कविता में आधे से अधिक अंश राधा-माधव का विलास-वर्णन ही है। यदि श्रीमद्भागवत-कार की जानकारी में राधा नाम की कोई स्त्री श्रीकृष्ण की प्रेमिकाओं में नहीं थी, तो राधा की उपज किस दिमाग़ से हुई ? और उन्हें इतनी महत्ता क्यों दी गई कि उनका नाम रुक्मिणी के स्थान पर श्रीकृष्ण के साथ जोड़ दिया गया ! राधा का नाम तो सीता और पार्वती से भी अधिक प्रसिद्ध हो रहा है।

हमें राधा गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव के मस्तिष्क की उपज जान पड़ती है। गीतगोविन्द में राधा-माधव का विलास वर्णित है। उसीके आधार पर राधा-कृष्ण की शृङ्गारी लीलाओं की सृष्टि जान

पड़ती है। हिन्दी में सबसे पहले मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर ने राधा-माधव के संयोग और वियोग के वर्णनों के हज़ारों पद लिखे। उनके बाद के कवियों के मुख से तो राधा-कृष्ण का शृङ्गार-रस सहस्र-धारा होकर प्रवाहित हुआ है। ब्रजभाषा के कितने ही कवियों ने तो मानों राधा-माधव के शृङ्गार-वर्णन ही के लिये जन्म लिया था।

भक्त कवियों की बात अलग है। वे भगवान् के दरबारी ही ठहरे। उनके लिये भगवान् ने कहा है कि :—

हम भक्तन के भक्त हमारे।

अतएव भक्त कवियों को भगवान् के सम्बन्ध में सीधी-टेढ़ी सब प्रकार की बातें कहने का हक़ है। पर जो भक्त नहीं, केवल कवि हैं, और कवि भी शृङ्गारी; उनके विषय में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उन्होंने राधा-कृष्ण के संयोग-शृङ्गार-वर्णन की आड़ लेकर अपने या अपने आश्रय-दाताओं के कामुक मनोविकारों को अधिक जाग्रत करने ही का प्रयत्न किया है। हम कवियों के इस प्रयत्न को धार्मिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से अहितकर समझते हैं। जो लोग राधा-कृष्ण को देवता मानकर पूजते हैं, पता नहीं, राधा का अभिसारिका बनना, श्रीकृष्ण का उनके साथ विहार करना और दोनों के अश्लील से अश्लील कृत्यों का वर्णन वे कैसे पसंद करते हैं! कोई भक्त अपने उपास्यदेव के विषय में ऐसी लज्जा-जनक बातें नहीं सुन सकता। सामाजिक हानि इनसे यह है कि राधा-कृष्ण के संयोग-शृङ्गार की कविताएँ सुनकर साधारण लोगों में भगवद्भक्ति न उत्पन्न होकर शृङ्गारी भाव ही विशेष रूप से जाग्रत होते हैं, और इससे चरित्र-बल क्षीण होता है।

राधा-कृष्ण का शृङ्गार-वर्णन इतना अधिक हो चुका है कि अब हमारे वर्तमान कवियों को उतने ही से संतोष करना चाहिये। इस सम्बंध में पुराने कवियों ने जो कुछ लिखा है, उसकी समता का तो

क्या, उसका पासंग भी अब नहीं लिखा जाता। उसके लिये जो दिन थे, वे गये। जिनको लिखना था, वे लिख गये। अब उस विषय का गौरव उन कवियों के लिये ही छोड़ देना चाहिये।

प्राचीन शैली के कवि अब भी ऐसी कविताएँ लिखा करते हैं, जिनमें किसी में तो राधा-कृष्ण के अभिसार का वर्णन होता है; किसी में कृष्ण अपनी गेंद की चोरी लगाकर राधा की चोली टटोलते हैं; किसी में कृष्ण राधा के कान में कुछ कहने के बहाने उनका कपोल चूम लेते हैं; किसी में सुरति का वर्णन है, किसी में विपरीत रति का; किसी में दूती और कुटनियों का प्रपंच रहता है, और किसी में कुछ, किसी में कुछ। पता नहीं कवि-गण राधा-कृष्ण ही के नाम से ये सब बातें क्यों लिखते हैं? और इनसे जनता को क्या लाभ? बातें अच्छी हैं तो अपने और अपनी स्त्री के नाम से क्यों नहीं लिखते? इस समय यदि राधा-कृष्ण मनुष्य-रूप में पृथ्वी पर, खासकर भारत की छाती पर, युक्त-प्रदेश में, होते तो क्या हमारे कवि-गण उनके भोग-विलास का ऐसा ही खुला वर्णन कर सकते थे? तब क्या मानहानि के एक ही मुक़द्दमे से उनकी बुद्धि का प्रवाह सहज ही में न बदल जाता?

भक्त कवियों ने अवश्य ही बड़ी ललित कविता की है। उन्होंने समाज के भावों में सदाचार और सहिष्णुता की वृद्धि की है और जीवन में सुख की समृद्धि बढ़ाई है। कविता की दृष्टि से भी वे इतने ऊँचे स्थान पर पहुँचे हैं कि उनकी ऊँचाई तक अभी तक हिन्दी का कोई कवि पहुँच नहीं सका है। उनकी भक्ति की कविता ने शृंगारी कविता के साथ-साथ चलकर यदि उसके प्रभाव को नियंत्रण में न रक्खा होता, तो यह निर्विवाद सत्य है कि आज हिन्दी-भाषियों की सामाजिक दशा हम उर्दू-भाषियों से गिरी हुई नहीं तो समकक्ष अवश्य पाते। यह बात विचारवानों से छिपी नहीं है कि उर्दू-कविता के आशिक़-माशूक़ के चोचलों से दिल्ली और लखनऊ के दो बड़े राज्य मुसलमानों के हाथ से चले

गये और मुसलमानों का जीवन बलहीन और अवनति की ओर उन्मुख हो गया। हिन्दी-कवियों की भक्ति की कविता ने हिन्दुओं के जीवन की रीढ़ को तो कम से कम सीधा ही रक्खा। भक्त कवियों की यह सेवा सदा आदर के साथ स्वीकार की जायगी।

हिन्दी का क्रान्ति-युग

अब समय बदल गया। ऊपर हम लिख आए हैं कि समय अपने अनुकूल साहित्य स्वयं तैयार करा लेता है। खड़ीबोली के कवियों ने नख-शिख और नायिकाभेद को तो तिलाञ्जलि दे ही दी; साथ ही शृङ्गार के अन्य विषय भी छोड़ दिए। हरिश्चन्द्र के बाद कविता का मुख्य विषय होगया था भारत, और गौण विषय था हिन्दू-जाति के पतन के कारणों का संख्या-बद्ध वर्णन और भर्त्सना तथा शोकोद्गार। इसी से इसे हिन्दी का क्रान्ति-युग कहना चाहिये।

अभी हिन्दी-कविता की भाषा और भाव दोनों ब्रजभाषा के प्रभाव से विमुक्त नहीं हो पाये हैं, पर संघर्ष जारी है और हिन्दी-कविता क्रांति-युग में गमन कर रही है।

खड़ीबोली की वर्तमान कविता के छन्द, भाषा, विषय और भाव-प्रदर्शन का दिग्दर्शन

छन्द

खड़ीबोली की कविता में छन्दों का मनोरंजक विकास हुआ है। पहले वर्णिक वृत्तों को लीजिये। हरिऔधजी ने सबसे पहले वर्णिक छन्दों में एक महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' लिखा। स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने भी वर्णवृत्तों में कुछ पद्य लिखे थे, पर उनके छन्दों की भाषा में व्रजभाषा में प्रयुक्त शब्द भी आगये हैं, जिससे वे खड़ीबोली के शुद्ध छन्द नहीं कहे जा सकते। जैसे—

कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
व्यापार भार सहता रहता महाना।

'महाना' खड़ीबोली में नहीं चल सकता।

लाला भगवानदीन, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और रामचरित उपाध्याय ने भी वर्णिक छन्दों में रचनायें की थीं, किन्तु अधिक नहीं। पंडित रामचरित उपाध्याय ने द्रुतविलम्बित छन्द के चौथे चरण में यमक रखकर जो चमत्कार दिखलाया, वह उनके पहले और पीछे के भी किसी कवि की कविता में नहीं दिखाई पड़ा। जैसे—

मन ! रमा रमणी रमणीयता,
मिल गई यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता सुधा,
रसिकता सिकता-सम है उसे॥

× ×

स्वमन को वश में रखिये सदा,
अनय से पर वस्तु न लीजिये।
नृप! कभी सुखदायक है नहीं,
सुत रसा धन साधन के बिना।

मैथिलीशरणजी ने भी वर्ण-वृत्तों में काफ़ी पद्य शुद्ध खड़ीबोली में लिखे हैं। लक्ष्मीधर वाजपेयी ने मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद किया, पर भाषा की दृष्टि से उनको सफलता नहीं मिली है। ठाकुर गोपाल-शरणसिंह और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने भी वर्ण-वृत्तों में कुछ पद्य लिखे हैं। भाषा की दृष्टि से ठाकुर साहब को बहुत कुछ सफलता मिली है।

वर्ण-वृत्तों में काव्य-निर्माण का अन्तिम प्रयास सेठ गोविन्ददास ने 'बाणासुर-पराभव' में और अनूप शर्मा ने 'सिद्धार्थ' में किया है। इन कवियों ने परिश्रम तो बहुत किया, पर काव्य की मिठास के कारण वास्तविक लोक-प्रियता 'प्रिय-प्रवास' ही को प्राप्त हुई।

इसके बाद तो वर्णिक वृत्त जैसे चित्त से उतर-से गये। इस ज़माने में, जब साधारण मात्रिक छंदों का भी बंधन स्वीकार नहीं किया जा रहा है, तब वर्णिक वृत्त तो बिलकुल असामयिक-से जँचते हैं।

मात्रिक छंदों ही का अधिक प्रचार हिंदी में शुरू से है। कबीर ने दोहों और जायसी ने चौपाइयों में अपनी मर्म-कथा लिखी। तुलसी-दास ने यद्यपि सैकड़ों प्रकार के छंद अपनी पुस्तकों में व्यवहृत किये; पर वे चौपाई ही के सम्राट माने जाते हैं। बिहारी के दोहे ही दोहे प्राप्त हैं। रहीम और वृन्द ने भी काफ़ी दोहे लिखे। देव, भूषण, सेनापति, मतिराम, पदमाकर, हरिश्चंद्र और रतनाकर ने सवैया और घनाक्षरी छंदों में अधिक रस भरा है।

सवैया यद्यपि वर्णिक वृत्तों की कोटि में माने जाते हैं, पर उनमें छंद के नियमों का पालन उतनी कठोरता से नहीं किया जाता, जितना

अन्य वर्णिक वृत्तों में किया जाता है। खड़ीबोली में सबसे पहले स्व० मन्नन द्विवेदी और पंडित श्रीधर पाठक ने कुछ सवैये उसके नियमों के अनुवाद-स्वरूप लिखे। उसके बाद पंडित रूपनारायण पांडेय और पंडित लोचनप्रसाद पांडेय ने वैसे सवैयों में कहानियाँ लिखीं। सनेही और हितैषी आदि कवि अब सवैयों के उसी नये विकास ही का अनुसरण करते हैं।

शंकरजी ने भी हिंदी के पुराने छंदों में कविता की है। छंदों के नियमों का पालन जैसा शंकरजी करते थे, वैसा हिंदी में कभी किसी कवि ने नहीं किया है। वे मात्रिक छंदों में मात्राओं की सम-संख्या के साथ अक्षर-संख्या में भी समान रखते थे। उनके 'अनुराग-रत्न' में शायद ही किसी छंद की अक्षर-संख्या में अंतर पड़ा होगा।

खड़ीबोली में दोहे अधिक नहीं लिखे गये। कुछ दोहे मैथिलीशरणजी ने लिखे हैं, और कुछ दो-चार अल्प अप्रसिद्ध कवियों ने भी। पर अभी तक दोहे व्रजभाषा ही की सम्पत्ति बने हैं। मैथिलीशरणजी ने हरिगीतिका छंद का महत्त्व बढ़ाया। हरिगीतिका में उनकी भारत-भारती, जयद्रथ-वध और बहुत-सी फुटकर रचनायें हैं। इन्होंने मनहर (घनाक्षरी) के आधे चरण के छंद में मेघनाद-वध (बँगला) का अनुवाद किया और कुछ फुटकर पद्य लिखे। शंकरजी और मैथिलीशरणजी ने जितने अधिक तरह के छंदों में रचनायें की हैं; उतने हिन्दी के किसी समकालीन कवि ने नहीं किये।

इसके साथ वीर या आल्हा छंद भी ख़ूब चला। हिंदी के प्रत्येक कवि ने आल्हा छंद में कुछ न कुछ लिखा है। बरवै, रोला और छप्पय व्रजभाषा में प्रचलित छंद हैं; पर खड़ीबोली में भी इन छंदों में कुछ कविता हुई है।

खड़ीबोली में सबसे पहले दो नये छंदों—सरसी और ललितपद—में दो नये खंड-काव्य 'मिलन' और 'पथिक' लिखे गये। 'पथिक' का छंद

इतना पसंद किया गया कि आज बीस वर्ष के लगभग हो जाने पर भी उस छंद में कवि-गण अच्छी से अच्छी रचनायें करते रहते हैं।

छायावादी या रहस्यवादी कहे जानेवाले कवियों ने विभिन्न छंदों के सांकर्य से कुछ नये छंदों की सृष्टि की है। इनके छन्द गाने में बड़े श्रवण-सुखद और प्रभावोत्पादक हुए हैं। महादेवी वर्मा ने गीतिका छंद के अंत में दो मात्रायें और बढ़ाकर उसमें अपने गीत लिखे। जैसे :—

गूँजता उर में न जाने दूर के संगीत-सा क्या !
आज खो निज को मुझे खोया मिला विपरीत-सा क्या !

यह छंद इतना लोकप्रिय हुआ कि आज का शायद ही कोई प्रसिद्ध कवि उस छंद में कुछ न कुछ लिखने से रह गया हो।

इस समय कुछ नये कवि ऐसे भी हैं, जिन्होंने छन्द-शास्त्र के बन्धनों को चारोंओर से तोड़कर फेंक दिया है। उन्होंने ऐसे छन्दों में अपना नीरव-गान उद्घोषित किया है, जिनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। कोई पंक्ति दो ही चार अक्षरों की, कोई बीसों अक्षरों की। ऐसे छन्दों को "कँगारू"* छन्द कहना ही ठीक होगा।

छन्दों के साथ तुक की भी प्रधानता जाती रही। "कँगारू" छन्द तो प्रायः बेतुके ही होते हैं। संस्कृत-छन्दों में जो हिन्दी-कविता हुई है, वह भी अन्त्यानुप्रास-रहित ही है। धीरे-धीरे तुकहीन कविता का प्रचार बढ़ रहा है।

भाषा

अब भाषा पर विचार कीजिये। हिन्दी के पुराने कवि ब्रजभाषा ही में कविता करते थे। पर आजकल ब्रजभाषा का प्रवाह एक प्रकार से

---

* कँगारू आस्ट्रेलिया में एक जानवर होता है, जिसके आगे के दोनों पैर बहुत छोटे और पीछे के दोनों पैर आगे वालों से कई गुने बड़े होते हैं।

बंद-सा हो गया है। न तो उसकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध है, न समय ही उसके अनुकूल है। नवशिक्षितों को ब्रजभाषा की कविता समझने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए उसपर से लोगों की रुचि कम होती जा रही है। अब बोलचाल और कविता की भाषा एक करने की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

ब्रजभाषा का साहित्य सूर, बिहारी और देव आदि अमृतवर्षी कवियों की रचनाओं से प्रतिष्ठित है। खड़ीबोली की कविता का अभी प्रारम्भिक युग है। उसमें अभी कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं। धीरे-धीरे, संशोधन होते-होते, मँज-मँजाकर वह साफ़-सुथरी हो जायगी। अभी तो ब्रजभाषा के कितने ही शब्द और महावरे खड़ीबोली में व्यवहृत होते हैं।

बोलचाल और कविता की भाषा के एक होने का अभिप्राय यह है कि किसी पद्य का अन्वय करने पर वह व्याकरण-सम्मत शुद्ध गद्य बन जाय। यही एक कसौटी है, जिसपर कसकर भाषा के सम्बन्ध में पद्यों की परीक्षा करनी चाहिये। आधुनिक काल के हिन्दी-कवियों में कुछ ही कवि ऐसे हैं जिनकी कविता भाषा की दृष्टि से शुद्ध कही जा सकती है। खड़ीबोली के एक सुप्रसिद्ध कवि का एक पद्य सुनिये—

ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में।
घूमे घोर ताप घर-घर में॥

नाथूरामशंकर शर्मा

इसमें "घूमे" शब्द विचारणीय है। पद्य का अन्वय यह है कि "ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में घर-घर घोर ताप घूमे।" "घूमे" से कवि का अभिप्राय "घूमता है" से है। यह प्रयोग हिन्दी-व्याकरण-सम्मत नहीं।

एक दूसरा प्रयोग देखिये—

उन्नति देख अन्य देशों की अब न तुम्हें होता उत्साह।

इसका अन्वय हुआ—"अन्य देशों की उन्नति देख तुम्हें अब उत्साह न होता।" समझने को चाहे मनमानी अर्थ समझ लिया जाय, पर कवि

की भाषा कवि का मनोभाव प्रकट करने में असमर्थ है। 'न' के स्थान पर 'नहीं', या 'होता' के स्थान पर 'होता है' होने से वाक्य शुद्ध होगा। क्रिया की अपूर्णता भाषा का एक बड़ा दोष है।

एक और प्रयोग देखिये—

सिय का उपताप घटाय, दूर कर शङ्का।
कपि हुआ प्रसिद्ध बजाय, विजय का डंका॥

नाथूरामशंकर शर्मा

इसमें 'घटाकर', और 'बजाकर' के लिये 'घटाय' और 'बजाय' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार गाय, जाय, खाय, पाय, दिखाय और बनाय आदि शब्दों का प्रयोग भी पद्यकारों ने किये हैं। पर यह हिन्दी-व्याकरण से अशुद्ध है। खड़ीबोली में इसे स्थान नहीं मिल सकता।

एक और प्रयोग देखिये—

हिमालय सर है उठाये ऊपर,
बगल में झरना झलक रहा है।

मन्नन द्विवेदी

इस छन्द में "हिमालय" का 'य' अधिक है। 'उठाये' और 'बगल में' में 'ये' और 'में' देखने में तो पूरे हैं, पर ध्वनि के अधूरे हैं। जैसा लिखा जाय, वैसा ही पढ़ा जाय, हिन्दी की यह विशेषता इसमें संकुचित हो गई है। उर्दू और ब्रजभाषा में तो इस प्रकार के अर्द्ध-प्राण शब्दों का खूब प्रयोग चलता है, पर खड़ीबोली में ऐसे लूले-लँगड़े शब्दों के लिये गुञ्जाइश नहीं।

उर्दू का एक पद्य सुनिये—

बड़े शौक़ से सुन रहा था ज़माना।
तुम्हीं सोगये दास्ताँ कहते-कहते॥

इसमें पहले 'कहते' के 'ते' का ढाँचा तो पूरा है, पर जान अधूरी है।

अनावश्यक शब्दों का प्रयोग भी भाषा का एक बड़ा दोष है। जैसे-

कर पुण्य दर्शन भक्ति-युत भगवान का निज गेह में।
कृतकृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह में॥
फिर नम्रता से आगमन का हेतु जब पूछा अहा!
हरि ने कथा कह पार्थ-प्रण की पाशुपत के हित कहा॥

मैथिलीशरण गुप्त

इसमें स्नेह के पहले 'सु' व्यर्थ ही लगाया है। और तीसरे चरण में "अहा" तो नितान्त अनावश्यक है। यहाँ तो साधारण लोकाचार का वर्णन है, हर्ष या विस्मय का प्रसङ्ग ही नहीं, तब यहाँ 'अहा!' की क्या आवश्यकता है? चौथे चरण में "हित" शब्द "लिये" के अर्थ में आया है, जो ब्रजभाषा का है, खड़ीबोली का नहीं।

एक और उदाहरण लीजिये—

गति में गौरव गर्व दृष्टि में दर्प धृष्टतायुत धारी।
देखूँ हूँ मैं इन्हें मनुज-कुल-नायकता का अधिकारी॥

श्रीधर पाठक

"देखूँ हूँ" प्रयोग पर ध्यान दीजिये। "देखूँ हूँ", "कहूँ हूँ", "जले है", ये स्थान-विशेष के प्रयोग हैं। हिन्दी-जैसी सार्वदेशिक भाषा की कविता में ऐसे प्रयोग समर्थनीय नहीं।

छंदों के विषय में खड़ीबोली के कवि चाहे स्वतंत्र हो लें, पर भाषा के विषय में वे स्वतंत्र नहीं हो सकते; क्योंकि भाषा सर्वसाधारण की सम्पत्ति है। भाषा के सम्बन्ध में यदि कविगण हिन्दी-व्याकरण की उपेक्षा करेंगे, तो उनकी कविता हिन्दी-भाषा में न कही जाकर एक कल्पित भाषा में समझी जायगी।

शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की जो स्वतंत्रता पुराने कवियों को थी, वह खड़ीबोली के कवियों को नहीं है। तुलसीदास ने एक स्थान पर "बादल" को "बादले" कर लिया है। जैसे—

ढाहे महीधर सिखर कोटिन्ह बिबिध बिधि गोला चले।
घहरात जिमि पविपात गर्जत जनु प्रलय के बादले॥

जब शब्दों का कोई हिमायती न रहा, तब पराधीन जाति के पुरुषों की तरह उनका मनमाना उपयोग हो सकता था।

तोष कवि की एक असन्तोषकारिणी स्वच्छन्दता का मुलाहज़ा कीजिये—

सुथरी सुशीली सुयशीली सुरसीली अति,
  लंक लचकीली काम-धनुष हलाका-सी।
कहै कवि तोष होती सारी ते निनारी जब,
  कारी बदरी ते कढ़ै चन्द की कलाका-सी।
लोने-लोने लोयन पै खंजन चमक वारौं,
  दन्तन चमक चारु चंचला चलाका-सी।
साँवरे सुजान कान्ह तुम्ह से छिपाऊँ कहा,
  सेज पै सोवाऊँ आनि सोने की सलाका-सी॥

एक शलाका के लिये तोष ने इतना उपद्रव मचाया। हलाक को हलाका, कला को कलाका और चालाक को चलाका बनाया। ब्रज-भाषा का नायक भले ही ऐसी सोने की शलाका के लिये कुटनी के धोखे में आ जाय, पर खड़ीबोली के नायक को तो हलाका, कलाका और चलाका ऐसी बदसूरत मिसालों के साथ सोने की शलाका को अपनी सेज का कोना भी न छूने देना चाहिये, साथ सोना तो दूर रहा।

भाषा के सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वह यह है कि आजकल खड़ीबोली के नाम से जो कवितायें हो रही हैं, उनमें से अधिकांश बोलचाल की भाषा में नहीं, बल्कि एक कृत्रिम भाषा में हैं, जिन्हें समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान परम आवश्यक है। अतएव खास श्रेणी के लोग ही उन्हें पढ़कर समझ सकते हैं।

कविता की भाषा ऐसी होनी चाहिये कि उससे कवि का भाव समझने में सहायता मिले, न कि उलटे वह स्वयं बाधक हो जाय। प्रसाद-गुण-हीन कविता को कविता कहना ही क्यों चाहिये?

विषय

हिन्दी के पुराने कवि प्रायः कुछ निश्चित विषयों पर ही कविता लिखा करते थे। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, विरह, प्रेम, शृङ्गार, ऋतु-वर्णन, नखशिख और नायिकाभेद ही उनके मुख्य विषय थे। समय के प्रभाव से अब लोगों की रुचि बदल गई है। उपर्युक्त विषयों पर जो कुछ कहना था, उसे, जान पड़ता है, पुराने कवि कहकर समाप्त कर गये हैं। अब उन्हें केवल खड़ीबोली में बदल देने के सिवा उनमें कुछ नवीन कल्पना कर दिखाने की गुञ्जाइश नहीं रह गई। इसलिये खड़ीबोली के कवियों ने उन विषयों में से केवल विरह और प्रेम को लेकर बाक़ी को एक प्रकार से छोड़ ही दिया है।

तत्काल ही एक नया विषय समय-चक्र के प्रभाव से आप से आप सामने आगया। वह था भारत। भारत के लिये रोना, भारत को उत्साहित करना, भारत की जय बोलना और भारत के प्राचीन गौरव की याद दिलाना ही कविगण अपना कर्तव्य समझते थे।

इस नये विषय का प्रादुर्भाव पहले-पहल भारतेंदु हरिश्चन्द्र की कलम से हुआ था। उनके समकालीन अन्य कवियों ने उसे और व्यापक बनाया। फिर आर्यसमाज का धर्म-प्रचार चला। आर्यसमाजी भजनीकों ने भारत-सम्बंधी भजनों से देश का कोना-कोना गुँजा डाला। आर्यसमाजी भजनीक मंच पर खड़े-खड़े गद्य को पद्य की तरह गा लेते थे। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध कवि पंडित नाथूरामशंकर शर्मा ने शुद्ध खड़ीबोली में बहुत-से भजन बना दिये थे, जो उनके 'शंकर-सरोज' और 'अनुराग-रत्न' में छपे हैं; पर आर्यसमाज के भजनीक अपने ही बनाये हुए गद्य-गीत गाते रहे। शंकरजी की रचनाओं का अधिकांश भारतोद्धार और समाज-सुधार के भावों से भरा हुआ है। अब भी सामयिक पत्रों में कालम के कालम प्रायः भारत-सम्बंधी ही कविताओं से भरे रहते

हैं। उनमें से सैकड़े पीछे शायद दो ही एक कवितायें ऐसी होती होंगी, जिन्हें लोग याद रखते होंगे। शेष सब सुन्दर बॉर्डर के भीतर, अच्छे टाइप में प्रकाशित होकर, रचयिता को आनन्दित करने ही का काम देती हैं।

भारत का विषय समय के अनुकूल है। देश पराधीन है, दरिद्र और अत्याचार-पीड़ित है, अपने प्राचीन गौरव को भूला हुआ आलस्य और मोह की निद्रा में मस्त है, उसे जगाने के लिये कवियों को अग्रसर होना ही चाहिये। पर इस सम्बंध में जो कुछ कहना था, उसे बाबू मैथिलीशरणजी ने 'भारत-भारती' में कहकर समाप्त कर दिया है। उनसे अधिक अब कोई क्या कहेगा ? उन्हीं भावों को भिन्न-भिन्न छंदों में दुहराने-तिहराने की आवश्यकता हो, तो कोई हर्ज नहीं, पर ऐसा देखा जाता है कि कविता के प्रेमी जन अब भारत का दुखड़ा किसी नवीन कवि के नूतन स्वर में भी सुनने को तैयार नहीं हैं। अतएव थोड़े समय से विषय बदलने की फिर आवश्यकता आ पड़ी।

"प्रिय-प्रवास" में पंडित अयोध्यासिंहजी ने श्रीकृष्ण की लीलाओं को नये रंग में रँगा है। उनका रंग चोखा और ढंग अनोखा है, इसमें संदेह नहीं। श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित्रों को उन्होंने लौकिक बनाकर मनुष्यों के लिये अनुकरण-योग्य कर दिया है। राधा का चित्र उन्होंने ऐसा खींचा है कि बार-बार उनकी प्रतिभा-शक्ति की प्रशंसा करनी पड़ती है। हिन्दी में ऐसा करुणरस-प्रधान काव्य इधर कई सौ वर्षों में नहीं लिखा गया।

नये विषय बहुत-से हैं। प्रतिभाशाली कवि राजस्थान की छोटी-छोटी कहानियों पर एक-एक बड़ा ग्रंथ लिख सकते हैं। राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह पर भी सुन्दर महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। बौद्ध-ग्रंथों में आत्म-त्याग की कितनी ही रोचक कहानियाँ हैं, उनपर

काव्य लिखा जा सकता है। अशोक के पुत्र कुणाल की कथा तो काव्य के लिये एक बहुत ही उपयुक्त विषय है। यद्यपि बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पंडित लोचनप्रसाद पाण्डेय और पंडित कामताप्रसाद गुरु ने इस ओर ध्यान दिया था। पर इन विषयों पर कोई महाकाव्य अभी तक जनता के सामने नहीं आया। पंडित अनूप शर्मा ने 'सिद्धार्थ' नाम से बुद्ध के चरित्र को पद्य-बद्ध किया और बाबू सियारामशरण गुप्त ने 'बापू' नाम से महात्मा गाँधी पर एक पद्य-निबंध लिखा; पर ये दोनों काव्य संस्कृत शब्दों की महाराशि में डूबकर साधारण जनता की दृष्टि से अन्तर्हित होगये।

नवीन कवियों ने हिन्दी-कविता में अंग्रेज़ी और बँगला का अनुकरण करके एक नवीन मार्ग पकड़ा है। उसका नाम छायावाद या रहस्यवाद रक्खा गया है। आइये, इस नवीन विषय पर हम कुछ अधिक विचार करें।

छायावाद या रहस्यवाद

छायावादी या रहस्यवादी कविता अनुभूति-प्रधान है। मनुष्य का अंतर्जगत् उसका उद्गम-स्थान है। जिसे अंतर्जगत् का कुछ अनुभव हो, और अनुभव को शब्दों में प्रकट करने की जिसे शक्ति भी हो, वही अनुभूति का कवि हो सकता है। फिर अनुभूति की कविता को समझने के लिए अनुभूति ही वाला श्रोता या पाठक भी चाहिये। इस तरह इस क्षेत्र की सीमा न बहुत बड़ी है, और न बड़ी हो सकती है।

कवि के अन्तर्जगत् की अनुभूति उसकी व्यक्तिगत रहन-सहन, शिक्षा और स्वाध्याय पर निर्भर है। जिसको मानसिक तरंगों का जितना अधिक अनुभव होगा, वह उतना ही भाव-प्रवण कवि होगा। जिसे निजी अनुभव नहीं होगा, वह केवल कल्पना के आधार पर अनुभूति की कविता लिखने में शायद ही सफल हो सकेगा।

कबीर का एक रहस्यवादी दोहा सुनियेः—

गगन गरजि बरसै अमी
बादल गहिर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी,
भींजै दास कबीर॥

इस दोहे में सब अंतर्जगत् की बातें हैं और ऐसा जान पड़ता है कि कबीर के मुख से उनका अनुभव अनायास निकल पड़ा है। जो कवि उस अवस्था को स्वयं नहीं पहुँचेगा, जिस अवस्था को पहुँचकर कबीर ने उपर्युक्त दोहा कहा है, वह उसकी कल्पना कैसे कर सकेगा? और यदि उसकी कविता में ऐसे भावों की अभिव्यक्ति होगी तो निस्संदेह वह चोरी का माल होगा। कुछ अनुभूति की पूँजी हो, तभी कल्पना से वह कुछ अधिक बढ़ाकर बताई जा सकती है।

हम हिन्दी के अधिकांश कवियों के व्यक्तिगत जीवन से परिचित हैं। हमारे सामने एक भी कवि इस समय ऐसा नहीं है, जिसके सम्बंध में हम सरलता के साथ कह सकें कि उसे अंतर्जगत् की उन तरंगों का, जिनका वर्णन उसकी कविता में मिलता है, कोई विशेष अनुभव है। अतएव समस्त छायावादी कवियों की रचनाओं को कल्पना-प्रधान मानने के लिये हम विवश हैं।

अब उनकी कल्पना के विषय पर आइये। उनके विषय वही पुराने प्रेम, विरह दैन्य, स्मृति और उपालंभ हैं, जिन पर अवधी और ब्रजभाषा के कवि चार-पाँच सौ वर्षों तक अपना जीवन घिसते रहते हैं।

कुछ अँग्रेजी-दाँ कवियों ने कुछ स्वदेशी और कुछ विदेशी कवियों की अनुभूतियों को ले-लेकर और उनपर अपनी कल्पनाओं की कलई चढ़ा-चढ़ाकर उन्हें नवयुवकों के सामने रख दिया है। उनकी चकाचौंध में हमारे नवयुवक उनके चारोंओर मँडलाने और साहित्य

के प्रशस्त मार्ग को छोड़कर बग़ल के एक कुंज में शब्दों का खेल खेलने लगे हैं।

हिन्दी की छायावादी कविता सचमुच शब्दों का एक खेलवाड़ है, जिसमें गिनती के कुछ शब्द हैं, जिनको अदल-बदलकर हरएक कवि अपनी रुचि के अनुसार एक नई मूर्ति बना लेता है। यद्यपि मूर्ति में कंपन और स्पंदन शब्दों के ढेर के ढेर जड़े होते हैं, पर रस-रूपी प्राण उनमें बहुत कम दिखाई पड़ता है।

गिनती के शब्दों की एक छोटी सूची यह है:—

कंपन, स्पंदन, कसक, टीस, वेदना, अश्रुकण, सिहरन, मूक वेदना, हृत्तंत्री, टूटे तार, नीरव और मदिर संगीत, उच्छ्वास, रश्मि, अनंत, अतीत, विस्मृति, मूक आह्वान, तरंग, प्रियतम, क्षितिज, परदा, सजनि, सखी, सुन्दरि, प्रेयसि, छलना, अन्तर्ज्वाला इत्यादि। छायावादी की सारी कविता इन्हीं शब्दों की हथफेरी से बनी हुई है।

हमारे छायावादी कवि एक छोटे-से कुञ्ज में जब शब्दों के विचित्र खेलवाड़ में निमग्न थे, यकायक बच्चनजी हाला का घट, मधुशाला और साक़ी लेकर आये। फिर तो उन्हींका बोल-बाला हुआ। अभिसारिकाओं से अभी-अभी हिन्दी के रसिकों का पिंड छूटा था कि वे सजनी, प्रेयसि और मधुबाला के जाल में जा फँसे।

बच्चनजी तथा उनके सहधर्मियों को मालूम हो चुका होगा कि यह रोग केवल दिमाग़ ही तक सीमित नहीं रहा। हाला हलक के नीचे भी पहुँचने लगी है। एक हालावादी कवि एक दूर के शहर से प्रयाग आये थे। कई रोज ठहरे। मुझपर कृपा रखते थे, इससे कभी-कभी दिन में एकाध बार दर्शन दे जाते थे। एक दिन शाम को मैं अपने एक अन्य साहित्यिक मित्र के साथ बैठा बातें कर रहा था कि किसीने सड़क पर से उन्हें आवाज़ दी और वे उठकर चले गये। थोड़ी देर बाद लौटे तो मैंने पूछा—कौन था? उन्होंने उक्त कवि महाशय का नाम

लिया। मैंने कहा—यहीं बुला लो न! उन्होंने कहा—आपके सामने नहीं आयेंगे, पिये हैं। 'पिये हैं' सुनकर तो मैं स्तंभित हो गया। ग्रेजुएट, ब्राह्मण और कवि और 'पिये भी' हैं, क्या परिताप की बात नहीं थी! उस दिन मैंने प्रत्यक्ष देखा कि हाला कहाँ तक पहुँच गई है।

मैं बच्चनजी की कवित्व-शक्ति का प्रशंसक हूँ, उनके विषय का नहीं। और उनकी शक्ति पर आशा बाँधे बैठा हूँ। हर्ष की बात है कि उन्होंने मधुशाला की राह छोड़ दी है। अब वे जीवन के अधिक उपयोगी विषय को लेंगे, और उनकी शक्ति उनकी कविता को अद्भुत चमत्कारों से सजीव कर देगी।

बच्चनजी के जागरण के पहले हालावाद के आचार्य उमर खैयाम हिन्दी-जगत् में पदार्पण कर चुके थे और मेरा विश्वास है कि बच्चनजी उन्हींकी देन हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि उमर खैयाम का स्वागत करनेवालों में हमारे भक्त कवि मैथिलीशरण गुप्त भी हैं।

उमर खैयाम ने अँग्रेज़ी-दाँ कवियों के द्वार से हिन्दी के भवन में प्रवेश पाया है। पर अभीतक उनका असली रूप हमारे सामने नहीं आने पाया, क्योंकि अभी वे एक अंग्रेज़ अनुवादक की दृष्टि से देखे गये हैं। असल और अनुवाद में बहुत अंतर है। जिस प्रकार अँग्रेजी के कवि ने अपने छंदों और शब्दों की सुविधा के लिये उमर खैयाम के वास्तविक भावों को कभी घटाकर और कभी बढ़ाकर व्यक्त किया है, उसी प्रकार हिन्दी के कवियों ने अँग्रेजी के अनुवाद को अपनी सुविधा और अनुभव के प्रभाव से अतिरंजित कर लिया है। इससे उमर खैयाम हमसे बहुत दूर जा पड़े हैं। अभी सुमित्रानंदनजी पंत, इकबाल वर्मा सहर और हितैषीजी के अनुवाद प्रकाशित होने को हैं। हितैषीजी का अनुवाद मैंने पढ़ा है। उसमें उमर खैयाम के साथ हितैषीजी भी व्यक्त हो रहे हैं। यही हालत अबतक प्रकाशित प्रत्येक अनुवाद की है। उमर खैयाम की भाषा का माधुर्य और भावों को अभिव्यक्त करने की उनकी

शक्ति अपरिमेय है। एक भिन्न भाषा में उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में वही कवि सफल हो सकता है, जो उमर खैयाम की भाषा और उनकी अंतर्पीड़ा से स्वयं परिचित हो।

'हाला' की तरह अब कोई-कोई रहस्यवादी कवि मज़ार की ओर भी दौड़ने लगे हैं। कहना नहीं होगा कि 'हाला' और 'मज़ार' दोनों का अनुभव हिन्दी के पाठकों को नहीं है। उनको वे क्या समझें? और क्या रस लें? जो चीज़ हमारी नहीं, उसका उपयोग हम कहाँ करें? जैसे डाक्टर महमूद की एक प्रसिद्ध कविता में, जिसकी पहली दो कड़ियाँ ये हैं:—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलसिताँ हमारा।

हम 'बुलबुल' बनने में अपना कोई गौरव नहीं मानेंगे। ज़रा-सा कमज़ोर और बिल्कुल अनुपयोगी पंछी, सो भी हिन्दुस्तानी बुलबुल, जो केवल दुम हिलाना जानता है, न गाना जानता है, न रोना, हमारी तुलना के योग्य नहीं हो सकता। वह ईरानी हो तो भी बुलबुल कहलाने में हमें झेंप-सी आती है। बुलबुल हमारे साहित्य का नहीं, फारस और फारसी का पक्षी है। उसमें हमारा अपनापन कुछ भी नहीं है। उसकी जगह पर 'कोयल' शब्द होता तो बुलबुल की अपेक्षा उसे हमारा हृदय अधिक अंतरंगिता से अपना भी लेता। इसी तरह 'हाला' और 'मज़ार' में हमारा अपनापन कुछ भी नहीं है। गढ़वाल या कुमाऊँ में बैठा हुआ कोई कवि समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरों पर कविता रचे तो वहाँ के श्रोता उसका क्या रस लेंगे?

हमें आंतरिक खेद है कि पंतजी ने अपना प्रारंभिक मार्ग छोड़ दिया, जिसपर वे नवयुवक कवियों के राजा की तरह चल रहे थे। अब वे युग-धर्म के विश्लेषण में पड़ गये, जो कविता का विषय हुई नहीं। यदि हम उनकी युगवाणी को कविता कहने लगें तो मनुस्मृति, शुक्रनीति और कामशास्त्र को कविता क्यों न कहें? कवि तो सौन्दर्या-

पासक होता है और सौन्दर्य-दान करना ही उसका ध्येय भी होता है। वह न तो समाज के लिये नियम बनाता है और न बने हुए नियमों की आलोचना करता है, वह सर्वत्र सौन्दर्य खोजता है और अपने प्रभावोत्पादक शब्दों में उसका चित्र समाज के सामने उपस्थित करके समाज को आकर्षित करता है। कवि के दिये हुये सौन्दर्य का रसास्वादन करने से समाज को असुन्दर पदार्थों से स्वयं घृणा उत्पन्न हो जाती है, कवि को घृणा उत्पन्न नहीं करनी पड़ती। जैसे, कविता के लिये रूखे विषय वेदान्त के ब्रह्म, जीव और माया को तुलसी ने कवि की हैसियत से एक सौन्दर्य के साथ लगाकर हमें दिया है:—

उभय बीच सिय सोहति कैसी।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥

अब किसीकी इच्छा हो तो वह ब्रह्म, जीव और माया का अन्वेषण कर सकता है। युग धर्म को भी इसी रूप में हमारे सामने रक्खा जाय तो उसमें हम कवि का चमत्कार देखेंगे। पंतजी की 'युग-वाणी' से एक उदाहरण लीजिये:—

घननाद

ठङ्–ठङ्-ठन !
लौह नाद से ठोंक-पीट घन
निर्मित करता श्रमिकों का मन,
ठङ्–ठङ्–ठन !
'कर्म–क्लिष्ट मानव-भव–जीवन,
श्रम ही जग का 'शिल्प चिरंतन;'
कठिन सत्य जीवन की क्षण-क्षण
घोषित करता घन वज्र-स्वन,—
'व्यर्थ विचारों का संघर्षण,
अविरत श्रम ही जीवन साधन;

लौह-काष्ठ-मय रक्त-मांस-मय
वस्तु रूप ही सत्य चिरंतन ।
ठङ्-ठङ्-ठन !
अग्नि स्फुलिंगो का कर चुम्बन
जाग्रत करता दिग् दिगंत घन,—
'जागो, श्रमिको, बनो सचेतन,
भू के अधिकारी हैं श्रम जन ।'
मांस पेशियाँ हृष्ट, पुष्ट, घन,
बटी शिराएँ, श्रम-बलिष्ठ तन,
भू का भव्य करेंगे शासन,
चिर लावण्य पूर्ण श्रम के कण !'
ठङ्-ठङ्-ठन !

इसमें कवि का चमत्कार नहीं, एक सिद्धान्तवादी सूत्रकार का रचना-चातुर्य अवश्य झलकता है। कवि न सूत्रकार होता है, न सिधान्त-वादी; वह तो केवल सौन्दर्य-द्रष्टा है। जब तुलसीदास चित्रकूट के ग़रीब बनवासियों से कहलाते हैं:—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई ।
लेहिं न बासन बसन चुराई ॥

तब उन वनवासियों की ग़रीबी का एक मधुर चित्र आपसे आप आँखों के सामने उतर आता है। इसी तरह श्रमिकों के बारे में भी पुराने पंतजी दो ही पंक्तियों में ऐसा बज्र-नाद कर सकते थे जो 'घननाद' के मेघनाद में समा नहीं सकता।

'निरालाजी' का नाम भी छायावाद के प्रमुख कवियों में लिया जाता है। पर उच्च कोटि की प्रतिभा रखते हुए भी निरालाजी ने स्वयं अपने को शब्दों की क़ब्र में ऐसा गाड़ लिया है कि हम उन्हें देख ही नहीं पाते। उनके बारे में हम कहें तो क्या कहें ?

महादेवी वर्मा की उच्चता भी हमें दूर से दिखाई पड़ने लगी है। पर वे स्वभावतः स्त्री हैं; विरह और वेदना स्त्रियों का ऐसा जीवन-धन है, जो सृष्टि की आदि से उनके अधिकार में चला आ रहा है। अतएव उस धन को वे उदारता-पूर्वक वितरण कर सकती हैं। हमें उनसे श्रमिकों और किसानों के गीत पाने की आशा क्यों रखनी चाहिये ?

इसी काल में, जब अनेक छायावादी कवि संस्कृत के शब्दों के खेलवाड़ और हाला-बाला में निमग्न हैं, हम कुछ कवियों को उनके माया-जाल को तोड़कर स्वतंत्र गति से चलता हुआ भी देख रहे हैं। वे हैं, बच्चनजी, भगवतीचरण वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर', सियाराम-शरण और आरसीप्रसाद आदि। इन्होंने हमारे सामने नये विषय रक्खे और हरएक ने अपने विषय का अप्रतिम चित्र खींचा। हम इनका हृदय से स्वागत करते हैं।

भाव-प्रदर्शन

कविता की कसौटी मैंने यह मान रक्खी है, कि जो पद्यकार छन्द, भाषा, विषय और भाव-प्रदर्शन से अपने श्रोताओं और पाठकों में आनंद उत्पन्न कर सके, वह कवि है। कवि का काम जगत् के सौंदर्य का अनुभव करना और अपने अनुभव को शीघ्र से शीघ्र हृदयंगम करानेवाली भाषा में व्यक्त करके श्रोताओं या पाठकों के हृदयों में हर्ष उत्पन्न करना है।

छन्दों की सहायता वह केवल कान को प्रिय लगने के लिये लेता है। यदि उसके छन्द गाये भी जा सकें, तो छन्दों का उसका चुनाव उसकी अधिक विशेषता प्रकट करेगा।

कवि का वर्ण्य विषय भी स्वास्थ्यकर हो; जिससे उसके श्रोता या पाठक अपने हृदय और मस्तिष्क में सुख ही अनुभव करें।

भाव-प्रदर्शन कवि का सब से अधिक आवश्यक अंग है। भाव-प्रदर्शन में यदि कवि समर्थ नहीं होता तो छन्द, भाषा और विषय बहुत दूर और बहुत देर तक उसके सहायक नहीं रह सकते। तुलसीदास ने रामचरितमानस, केशवदास ने रामचन्द्रिका, पद्माकर ने रामरसायन, रामचरित उपाध्याय ने रामचरित-चिन्तामणि और राधेश्याम कथा-वाचक ने संगीत रामायण लिखा, और मैथिलीशरणजी ने साकेत लिखा; सबका विषय एक है। पर छन्द, भाषा और भाव-प्रदर्शन की विशेषता जो तुलसीदास में है, वह अन्य किसी कवि में नहीं है। केशवदास ने अनेक छन्दों की रचना मे अपना पांडित्य दिखलाया, इससे रामचंद्रिका में नीरसता आगई। पद्माकर ने तुलसीदास ही का अनुसरण किया, पर भाषा को सौंदर्य प्रदान करने में वह असमर्थ थे। राधेश्याम कथावाचक ने एक नया छन्द चुना और उसे स्वयं गा-गाकर उन्होंने उसकी सरसता उद्‌घोषित की, पर भाषा के शैथिल्य

और भाव-प्रदर्शन के भोंडेपन ने उन्हें तुलसीदास का स्थान ग्रहण करने से बहुत दूर ही रक्खा। इसी प्रकार साकेत में भी विविध छन्दों का उपयोग किया गया है। पर उसकी भाषा में श्रवण-सुखदता नहीं और भाव-प्रदर्शन में प्रभावोत्पादन की क्षमता नहीं, अतएव उसकी परिधि भी रामचंद्रिका और रामरसायन-जितनी ही रहेगी।

पद्यकार और कवि

यहाँ हम पद्यकार और कवि में जो अंतर है, उसके सम्बंध में भी अपना मत बता देना आवश्यक समझते हैं। हम 'पद्यकार' उसे कहते हैं, जो साधारण गद्य को छन्द का रूप दे देता है और कवि उसे कहते हैं, जो उसमें रस भर देता है। जैसेः—

राजा जनक के दूत जब जनक का पत्र लेकर राजा दशरथ के पास आये, तब राजा दशरथ ने अपने पुत्रों के बारे में उनसे तरह-तरह के प्रश्न किये। पुत्रों की विशेषता को कवि ने दो पंक्तियों में दूतों के मुख से अपने शब्दों में इस प्रकार कहलवाया है—

देव देखि तव बालक दोऊ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ॥

साधारण पद्यकार दूसरी पंक्ति को, 'अब न नीक मोहिं लागत कोऊ' लिख देता; पर कवि तो उसे कवि ही की हसियत से लिखेगा और उसमें कुछ चमत्कार, कुछ सौंदर्य भरकर ही मस्तिष्क से बाहर निकलने देगा। तुलसीदास ने उसी भाव को 'आँखि तर आवत' के महावरे के साथ आने दिया। यही कवि की विशेषता है।

कवि को अपनी प्रत्येक पंक्ति में, प्रत्येक शब्द के पास हम खड़ा पायेंगे, पर पद्यकार की हाज़िरी ऐसी ज़रूरी नहीं है। अतएव जिस पद्य में हम कवि को उपस्थित पायेंगे, वही कविता है।

एक उदाहरण और लीजिये :—

तुलसीदास ने गिरिजा की प्रार्थना में सीता के मुख से कहलवाया ।—

जय जय जय गिरिराज किसोरी । जय महेस मुख चन्द चकोरी ॥
जय गजबदन षड़ानन माता । जगत जननि दामिनि द्युति गाता ॥

आप पूछेंगे, इन पंक्तियों में कवि कहाँ है ? मैं कहूँगा, 'गिरिराज-किसोरी', 'मुख चन्द चकोरी', 'माता', 'जगत-जननि' और 'दामिनि-द्युति-गाता' के पास ।

अनुभवियों का कथन है कि:—

समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।

सीता पार्वती की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उनके स्वरूप को स्मरण दिलाने के साथ-साथ अपना स्वरूप भी उनको विदित कराती चलती हैं—'आप गिरिराज-किशोरी हैं, मैं भी किशोरी हूँ; आप महेश के मुख-चंद्र की चकोरी हैं, मैं भी किसी के मुख-चंद्र की चकोरी हूँ; आप दो पुत्रों की माता हैं, इससे वात्सल्यवती हैं; जगत-जननी हैं, मैं आपकी पुत्री के समान हूँ; आप के शरीर में दामिनी की द्युति है, मेरे शरीर में भी यौवन की छटा आ गई है ।' आप देखेंगे कि कवि ने थोड़े-से शब्दों की आड़ में कितना बड़ा सरस संसार उपस्थित कर दिया है । यही कवि का चमत्कार है ।

अनुभूतियों का स्वरूप

व्रजभाषा की कविता में जिन भावों का प्रदर्शन किया जाता था, वे गृहस्थ की अनुभूतियों के प्रायः निकट ही के होते थे । मतिराम, देव, बिहारी और पदमाकर आदि शृङ्गारी कवियों ने जिन मानस-तरंगों की उत्प्रेक्षाएँ की हैं, वे ऐसी लगती हैं मानो हमारे ही हृदय की बातें कोई हमारे सामने रख रहा है । इसी तरह भक्त-कवियों की नम्रता, आत्म-भर्त्सना, प्रार्थना और संसार की असारता की बातें भी हम सहज ही में

समझ लेते हैं; क्योंकि उनका सम्बन्ध कुछ न कुछ हमारे दैनिक जीवन से रहता ही है। यही बात खड़ीबोली के प्रारम्भिक काल के कवियों के बारे में भी कही जा सकती है। उन्होंने भी जो विषय लिया और उसे जिन सरल और सुपरिचित शब्दों में प्रकट किया, उसका सम्बन्ध भी हमारे दैनिक जीवन से रहा है। पर छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने जो विषय लिया, पहले तो वे असामयिक हैं; जनता का अधिकांश भाग दुःख-दैन्य, अत्याचार और मानसिक रोगों से उत्पीड़ित है, अब उनके विषय हैं—रोटी और कुटुम्ब का पालन। दूसरे, शिक्षा का अभाव। शिक्षा के अभाव से लोग हृदय में उठनेवाले भावों के न नामों से परिचित हैं, और न उन्हें उनका निजी अनुभव है, इससे छायावादी भाव उन्हें अपरिचित-से लगते हैं। तीसरे, भाव-प्रदर्शन जिस भाषा में और जिस ढंग से होता है, वह इतना दुरूह है कि वहाँ तक पहुँच सकना अच्छे सुशिक्षित व्यक्ति के लिये भी कठिन है, साधारण जन की तो बात ही क्या? मैंने छायावादी कवियों के कितने ही प्रशंसकों से कितनी ही बार बात की है। छायावाद के सुप्रसिद्ध कवियों की बहुत-सी पंक्तियाँ उनके सामने रखकर उनका अर्थ समझने की इच्छा की, पर मैंने यह देखा कि वे मुझसे भी कम समझते थे। इससे प्रकट होता है कि वे अपने ज्ञान-वश नहीं, आतंक-वश उनके प्रशंसक हैं।

कला का आतङ्क

आजकल छायावादी चित्रों का एक अद्भुत आतंक फैला हुआ है। छायावादी चित्रों का मुख्य लक्ष्य भाव-प्रदर्शन बताया जाता है। शरीर के अंगों-प्रत्यंगों का जो वीभत्स रूप उन चित्रों में अंकित किया जाता है, उस पर दृष्टि नहीं डालनी होगी। कितने ही सुन्दर-सुन्दर पुरुष, जो उन चित्रों पर अपनी मुग्धता प्रकट करते हैं, पूछने पर नहीं बता पाते कि चित्र में क्या विशेषता है। प्रायः वे यह कहते हुये सुने जाते हैं कि जो

इनका भाव नहीं समझ सकता, ये चित्र उनके लिये नहीं बनाये गये हैं। कैसा गोल-मोल, मिथ्याभिमानयुक्त और आतंक उत्पन्न करनेवाला जवाब है! बहुत-से दर्शक इसलिये चुप रहते हैं कि कोई उनको मूर्ख न समझ ले। बहुत-से प्रशंसक इसलिये 'वाह-वा' में शामिल रहते हैं कि लोग उनको चित्रकला का मर्मज्ञ समझें। कैसी विडंबना है!

ठीक इसी तरह का आतंक छायावादी कविता का फैला हुआ है। पर इससे साहित्य की उन्नति को कितना धक्का लग रहा है! यह भी तो सोचना चाहिये।

काव्य-कला का सम्बन्ध हृदय और कान से है। कान के लिये ही सुरीले छन्दों का निर्माण हुआ है। इसी तरह चित्र-कला का सम्बन्ध हृदय और आँख से है। आँख के लिये क्या छायावादी चित्रों में सुगठित शरीर नहीं होना चाहिये?

कवि के जीवन की सफलता

हम जानते हैं कि हमारे छायावादी कवि कवियों का स्वस्थ हृदय रखते हैं। उनमें प्रायः सभी सुशिक्षित, अध्ययन-शील और सहृदय हैं। वे चाहें तो लोकहित का ध्यान रखकर ऐसी रचनाएँ कर सकते हैं जिनका प्रचार और प्रभाव जन-साधारण पर बहुत दूर तक पड़ सके और उनका परिश्रम भी अधिक मूल्यवान् माना जाय। यदि उनका यह कहना हो कि वे जन-साधारण के लिये कविता नहीं लिखते हैं, तो हमें विश्वास नहीं होगा; क्योंकि कवि का तो यह मुख्य लक्ष्य ही होता है कि दूसरे उसकी कविता सुनें और उसकी प्रशंसा करें। कवि का तो काम ही सौन्दर्य और प्रशंसा की सृष्टि करना है। प्रशंसा तो उसका आहार ही है। वह उससे विरक्त कैसे हो सकता है?

प्रत्येक कवि प्रशंसा का लोलुप होता है। यहाँ तक कि तुलसीदास भी थे। यद्यपि 'मानस' के प्रारंभ में वे कहते हैं—

कवि न होउँ नहिँ चतुर कहाऊँ।
मति अनुरूप राम गुन गाऊँ॥

पर आगे चलकर वे कवि होने का गर्व भी अनुभव करते हैं:—

सीय बरनि तेहि उपमा देई।
कुकबि कहाइ अजस को लेई॥ (बालकांड)

स्पष्ट है कि सुकवि कहाने का लोभ तुलसीदास को भी था।

अतएव कोई कवि यह कहे कि हम थोड़े-से लोगों के लिये कविता लिखते हैं तो हम यह कहेंगे कि वह अपने स्वरूप को स्वयं नहीं पहचानता।

कवि के जीवन की सफलता तो तभी है जब उसके जीवन-काल ही में उसकी कविता कंठ-कंठ में गूँजती सुनाई पड़े; सुशिक्षित और साधारण शिक्षित, यहाँतक कि अशिक्षित कहे जानेवाले लोग भी उसका उपकार मानते हुये और उसकी कविता से लाभ उठाते हुये उसकी आँखों के सामने हों। तुलसीदास को यह विभव प्राप्त हुआ था। क्या यह हिन्दी के हरएक कवि का लक्ष्य नहीं हो सकता?

दुरूह भाषा में अतर्क्य भाव की मूर्ति बनाकर, उसे सुन्दर काग़ज़ पर सुन्दर छपाई और सुन्दर जिल्द से सुसज्जित करा के अलमारियों की शोभा बढ़ाने के लिये जो कवि अपने जीवन के अमूल्य अंश का अपव्यय करता है, उसको यह क्यों न सोचना चाहिए कि वह उतने ही समय में, उतने ही परिश्रम से ऐसी भी रचना कर सकता था, जिसके लिये शहर-शहर, गाँव-गाँव, गली-गली और प्रत्येक सभा-समाज और प्रत्येक समारोह में मनुष्यों के हज़ारों कण्ठ उसकी अलमारियाँ बन जाते। क्या वह बनी-बनाई कण्ठ रूपी अलमारियों में अपनी कविता न सजाकर काठ की अलमारियों पर रीझ रहा है? और साहित्य से लाभ उठानेवालों के लिये नहीं, बल्कि केवल बढ़इयों के लिये अपने दिमाग़ से कुछ काम निकाल रहा है!

ऐसे कवियों की खबर, सम्भव है सौ-दो सौ वर्ष बाद ही ली जाय, जबकि पुरानी चीज़ों का कोई खोजी, जिसे केवल दिमाग़ी काम में रुचि होगी और जीवन-संघर्ष से फुरसत होगी, यह खोजने का प्रयास करेगा कि हिन्दी के और कितने कवि पहले हो चुके हैं। उन खोजियों के लिये अलमारियों में बैठने और सौ-दो सौ वर्ष तक उनकी बाट जोहने के लिये जो व्यक्ति अपना जीवन घिस रहा है, वह कवि कहा जायगा या सनकी ?

हम अपने को अपने ही जीवन-काल में क्यों न देख लें ? आगे आनेवालों के जीवन में हमारा जीवन दिखाई पड़े या न पड़े, इसका क्या भरोसा ? किसी हिन्दी-कवि को पहाड़ से गिरकर इसलिये नहीं मरजाना चाहिये कि अखबारवाले उसके वियोग का दुःख अनुभव करें और उसका सहानुभूति-सूचक समाचार छापें। जीवित जनता की सहानुभूति छपने से मरजाने वाले को क्या सुख बोध होगा ? ठीक यही दयनीय दशा उस कवि की है, जो अपने जीवन का अमूल्य समय, जवानी के अनुपम दिन और हृदय और मस्तिष्क की बहुमूल्य शक्तियों को जटिल भाषा और दुर्गम भावों की रचना में इस आशा से व्यय करता है कि कभी समझनेवाले आयेंगे, तब समझेंगे। क्या यह खेद की बात न होगी, कि कविता स्वयं कवि के हानि का कारण हो ?

अपने कवि-जीवन को सफल बनाने के लिये कवि को अपनी आवाज़ विस्तृत जन-समुदाय तक पहुँचानी पड़ेगी। यह तभी संभव है, जब वह विस्तृत जन-समुदाय के हृदय से हृदय मिलाकर बोलेगा।

भाग्य ही से मनुष्य कवि होता है। वह मानव-समाज का रत्न है। वह कवियों ही में नहीं, मनुष्य-मात्र में आदर्श व्यक्ति होता है। उसका जीवन मनुष्य-समाज के लिये उपयोगी और निरंतर शक्तियों का दान करनेवाला हो, तभी उसका कवि होना सफल समझा जायगा।

हिन्दी की नवीन धारा के कवि

हिन्दी की नवीन धारा का उद्गम जयशङ्करप्रसाद से माना जाता है। पर वास्तव में वे एक ऐसे स्थान के कवि कहे जायँगे, जहाँ प्राचीन धारा आकर रुकती है और जहाँ भावों की अपार जल-राशि उमड़ उठती है। उसीमें से एक नवीन धारा का निकास होता है, जिसमें अवगाहनकर आज हम एक विचित्र सुख का अनुभव कर रहे हैं।

पहले-पहल इस धारा में बँगला से, मुख्यतः कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के भावों का ज्वार आया। यद्यपि रवीन्द्रनाथ ने उसे हिन्दी ही से—कबीर, दादू और प्राणनाथ आदि संत कवियों की वाणियों से—ग्रहण किया था, पर इसमें संदेह नहीं कि हमारी ही संपत्ति लेकर हमारे सामने अपनी करके रखने का श्रेय रवीन्द्रनाथ को अवश्य है।

रवीन्द्रनाथ के भावों से हिन्दी के अँग्रेज़ीदाँ कवियों में ऐसी भावुकता उमड़ी कि बँगला से आनेवाला प्रवाह पर्याप्त नहीं समझा गया और उन्होंने उसे अँग्रेज़ी-साहित्य से लेना शुरू कर दिया। आज तो यह हालत है कि दो-चार उत्कृष्ट प्रतिभा-शालियों को छोड़कर शेष सब अँग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त युवक ही इस धारा के विश्रुत कवि हैं। न अब उनपर कबीर का प्रभाव है, न प्राणनाथ का और न रवीन्द्रनाथ ही का; प्रभाव है, तो अँग्रेज़ कवियों का।

यद्यपि हिन्दी की प्राचीन धारा ही से इस नवीन धारा का उद्गम हुआ है, और अभीतक यह उसीकी गोद में कल्लोल भी कर रही है—वही कोकिल-कंठ, वे ही पद्म-नेत्र, वे ही कर-पल्लव, वही गज-गति और वही मन्द मुसकान। पर दोनों के रूपों में इतना अंतर दिखाई पड़ता है कि दोनों माँ-बेटी नहीं जान पड़तीं। माँ साड़ी के अंदर है, तो बेटी गॉउन के।

नई धारा में छन्द, भाषा, विषय और भाव सबों में निरालापन

आगया है। कुछ नवीन कवियों ने तो छन्दों को तोड़-मरोड़कर भी पद्य के प्रवाह की रक्षा की है; जैसे पंत, महादेवी वर्मा और सियारामशरण गुप्त ने। पर कुछ कवियोंने छंदों की उपेक्षा तो की ही है, प्रवाह को भी बिलकुल पहाड़ी नदी की धारा बना दिया है। जैसे, निरालाजी ने। वह ख़ुद गाकर सुनाते हैं, तब उनकी कविता मधुर लगती है; नहीं तो कोई बिना गाये पढ़कर उसमें छंद का आनंद नहीं अनुभव कर सकता। जैसे :—

बहुत दिनों के बाद खुला आसमान।
निकली है धूप, हुआ ख़ुश जहान।
दिखीं दिशायें झलके पेड़।
चरने को चले ढोर, गाय, भैंस, भेंड़।

निराला

इसे कोई गाये, तब कुछ रस पाये।

छंदों की तो इस प्रकार अवमानना हुई; भाषा में भी क्रिया और वाक्य की अपूर्णता का एक नया रोग लग गया है। गिनती ही के दो-चार कवि इस रोग से मुक्त होंगे, नहीं तो साहित्य के बड़े-बड़े महारथी कहलानेवाले भी इसके शिकार हो रहे हैं।

कुछ उदाहरण लीजिये।—

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम-सा दुर्निवार।

जयशंकरप्रसाद

'घूम रहा है' या 'घूम रहा था' इसके निर्णय का भार कवि ने अपने श्रोता या पाठक पर डाल दिया है, जो इसके पहले या आगे का प्रसंग मिलाकर अनुमान-द्वारा निर्णय कर सकेगा।

करते निवास छविधाम घनश्याम भृङ्ग,
उर कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।

गोपालशरणसिंह

यहाँ 'करते' को विधि क्रिया माना जा सकता है। उस हालत में कवि का उद्देश्य क्या नष्ट नहीं हो जायगा ?

हृदय के अंधकार में एक
निराशा का उठकर तूफ़ान।
बुझाकर मेरा दीप-विवेक
मुझे पथ पर करता हैरान॥

श्रीनाथसिंह

एक अपूर्ण क्रिया ने इस पद्य की पद्य-योजना को सर्वाङ्गसुन्दर होने से वंचित कर दिया है।

तुम अचल मेखला बन भू की
खींचते काल पर अमिट रेख।

सोहनलाल द्विवेदी

क्या अर्थ हुआ—खींचते हो ? या खींचते रहे ? या खींचते थे ?

मँड़राते मोहित मत्त भृङ्ग, विकसित कुसुमों के अंग-अंग।

नरेन्द्र शर्मा

'अंग-अंग' के आगे 'पर' अपेक्षित है। 'पर' के अभाव में 'अंग-अंग' भी 'मँड़राते' क्रिया का कर्त्ता बन सकता है।

मंद पवन संदेश दे रहा, हृदय-कली पथ हेर रही।
उड़ो मधुप नंदन की दिशि में, ज्वालायें घर घेर रहीं॥

माखनलाल चतुर्वेदी

उत्तर में कूप यह कहना,
बंधु, यहाँ नीचे में रहना।

सियारामशरण गुप्त

जीवन-सरिता की लहर-लहर,
मिटने को बनती यहाँ प्रिये !

भगवतीचरण वर्मा

मधु-भीने सौरभ से लदकर
इठलाती चल रही पवन।
क्या इसने भी मेरे प्रिय का
देखा है सखि मंद गमन ?

हरिश्चन्द्रदेव वर्मा

प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे जो,
सुलग रहा तिल-तिल पल-पल, सखि !

दिनकर

बसते वसुधा पर देश कई।
जिनकी सुषमा सविशेष नई ॥

मैथिलीशरण गुप्त

दूसरी पंक्ति में क्रिया ही नहीं है।

कविता के पाठकों के लिये यह कोई मजबूरी की बात नहीं होनी चाहिये कि वे अपने पास था, थे, है, होगा आदि बटोरकर हरवक्त तैयार रक्खें और कवि की अपूर्ण क्रियाओं में अपने मन से जिसे जहाँ चाहें, जोड़ लें और तब कविता-गत भाव का अनुशीलन करें।

कोई कवि यदि सर्वसाधारण के लिये सुबोध भाषा लिखने में असमर्थ है, तो कविता लिखने से पहले उसका यह कर्तव्य है कि अपनी भाषा पर अधिकार करे। कवि भाषा का स्वामी नहीं, भाव का है। भाषा तो सर्व-साधारण की सम्पत्ति है। कवि अपने भावों के लिये उसका केवल उपयोग कर सकता है, उसे छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता।

क्रिया की अपूर्णता के साथ-साथ वाक्यों की अपूर्णता के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे :—

सखि, बसंत आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।

निराला

यहाँ 'मन' के आगे का 'में' ग़ायब है। इसी तरह—

कोई न छायादार पेड़ जिसके तले
बैठी हुई स्वीकार।

निराला

यहाँ 'स्वीकार' का आदि-अंत कुछ स्पष्ट नहीं है। यह तो एक सूत्र-सा दुरूह होगया है।

एक उदाहरण और लीजिये।—

हरियाली उट्ठी ऊपर को मिलने बारिदमाला।
पुलकित होकर उतर मेघ ने बारि करों को डाला॥

गुरुभक्तसिंह

'उठी' के उर्दू-प्रयोग 'उट्ठी' को आँख बचा जाइये, तब भी 'बारिदमाला' के आगे 'से' का अभाव तो खटकता ही है; और 'मेघ ने बारि करों को डाला' वाक्य कैसा भोंड़ा-सा लगता है। 'डाला' सकर्मक क्रिया में 'को' की तो आवश्यकता ही नहीं है।

शब्दों का रूप जब जैसा चाहा, विकृत कर लिया, महावरों को जहाँ चाहा बैठा दिया, इस प्रकार की उच्छृंखलताओं के भी कुछ उदाहरण लीजिये :—

सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है।
नियति बन कुशली चितेरा
रँग गई सुख-दुख रँगों से मृदुल जीवन-पात्र मेरा।
स्नेह की देती सुधा पर अश्रु खारे माँगता है।

महादेवी वर्मा

व्याकरण के नियम से 'कुशल' का स्त्री-लिंग 'कुशला' हो सकता है, न कि 'कुशली'। और 'नियति' के लिये 'कुशल' का 'कुशली' किया गया है, तो 'चितेरा' का 'चितेरी' क्यों नहीं किया गया?

इसी पद्य में 'जीवन-पात्र' के पहले 'मृदुल' शब्द है। वह वहाँ जीवन-पात्र की क्या विशेषता बढ़ा रहा है? उसके स्थान पर 'कोरा' का अर्थ देनेवाला कोई शब्द बैठा दिया गया होता तो पद्य के अर्थ में कुछ चमत्कार बढ़ भी सकता था।

अब 'प्रसादजी' का एक प्रयोग देखिये :—

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की भुरमुट छा जाने दो।
जीवन-धन इस जले जगत को वृंदावन बन जाने दो॥

'लतिकाओं की भुरमुट छा जाने दो' से कवि का क्या अभिप्राय है? 'भुरमुट' तो भाड़ियों और लताओं के एक समूह-विशेष को कहते हैं। वह न फैलता है और न कहीं छाता है। वह तो एक स्थान पर खड़ा रहता है, और विकार-ग्रस्त मानवों को लाज और भय से बचाता है।

प्रसादजी का एक प्रयोग और देखिये :—

मेरी आँखों की पुतली में, तू बनकर प्रान समा जा रे!
जिससे कन-कन में स्पंदन हो, मन में मलयानिल-चंदन हो—

'मलयानिल चंदन' क्या वस्तु है? 'मलयानिल' तो स्वयं एक स्वतंत्र शब्द है, जिसका अर्थ है, मलय का पवन। क्या कवि का यह अभिप्राय है कि मलय-पवन मन में चंदन की तरह शीतल या सुखद हो? पर पूर्वापर से इसका संबंध क्या है? पहले तो यही विवादास्पद है कि प्रियतम यदि प्राण बनकर आँखों की पुतली में समा जायगा, तो कण-कण में स्पंदन बढ़ेगा या प्रेम अथवा आनंदातिरेक से शैथिल्य? और यदि मान भी लिया जाय कि स्पंदन ही बढ़ेगा, तो मन में चंदन के लेप की वहाँ आवश्यकता क्या है?

एक प्रयोग और लीजिये:—

मेरे जीवन-तरु की डाली।
कितनी कोमल कितनी सुन्दर
कितनी मनमोहक है आली!
जीवन मदिरा पी झूम रही।
स्वच्छंद हवा में घूम रही॥

मनोरंजनप्रसाद

'जीवन-तरु की डाली जीवन की मदिरा पीकर झूम रही है' यही कम चिंत्य नहीं है, स्वच्छन्द हवा में डाली का घूमना देखकर तो सिर घूमने लगता है। पाठक को जड़ बना देनेवाला यह वाक्य अभीतक तो जादू और परियों की कहानियों ही में सुनाई पड़ता था।

अब 'ही' भी अपने स्थान पर नहीं बैठने पाता है। इसका एक उदाहरण लीजिये:—

पत्थलों की सीढ़ी पर शुभ्री-भरी,
स्नान कर बैठी थी अपूर्व एक सुन्दरी,
भीगा हुआ वस्त्र ही थी पहने।

सियारामशरण गुप्त

अंतिम चरण में 'ही' को 'भीगा' या 'हुआ' के आगे स्थान मिलेगा, तभी कवि के कथन की सार्थकता सिद्ध होगी।

महावरों के प्रयोग में भी बड़ी लापरवाही की जा रही है। महावरे सर्वसाधारण की निश्चित संपत्ति हैं। उनके स्वरूप को कोई कवि या महाकवि बदल नहीं सकता। 'होश उड़ गये' को कोई 'शान उड़ गया' नहीं कर सकता।

महावरे का एक दुरुपयोग देखिये:—

तम की काली छलनाओं में झिलमिल करते नभ के तारे।
फिर पीपल बरगद के तरु भी हुंकृत करते अपने नारे।

अञ्चल

'नारे बुलंद' करने का मुहावरा है, न कि हुंकृत करने का। और 'नारा' तो ज़ोर से चिल्लाने या सिंह-गर्जन के स्थान पर शोभा देता है, न कि पीपल और बरगद आदि वृक्षों की मर्मर-ध्वनि के स्थान पर।

एक उदाहरण और लीजिये :—

> इस करुणाकलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती।
> क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती!

प्रसाद

'वेदना गरजती' पर ध्यान दीजिये। वेदना करुणोत्पादक होती है और गर्जना वीरता-व्यञ्जक। दोनों का मेल नहीं हो सकता। वेदना सिसक सकती है, चीत्कार कर सकती है, गरज नहीं सकती।

छायावादी कवियों की कविता में कुछ शब्द भी ऐसे धृष्ट होगये हैं कि कहीं न कहीं आये बिना वे रुक नहीं सकते और कभी-कभी तो वे बड़े बेमौके भी घुस बैठते हैं। जैसे;

अनजान या अजान। पंतजी की शायद ही कोई कविता इस शब्द से वंचित हो।

मधुर और मृदुल। महादेवीजी वर्मा की कविता इन शब्दों के लिये एक निश्चित आश्रय-स्थान है।

अपलक। यह भी बहु-व्यवहृत शब्द है। जैसे,

> करस्पर्श-रहित और क्या है? अपलक, अपार।
> मेरे जीवन पर यौवन वन के बहार।

निराला

यहाँ 'अपलक' का क्या अर्थ है? ईश्वर ही जाने।

रे। इसका रोग तो आजकल बहुत ज़ोरों पर है। प्रसाद, निराला, पंत आदि ग्रहों के साथ उनके उपग्रह भी 'रे' की कंठी लटकाने लगे हैं।

कुछ कवियों की यह चेष्टा देखी जाती है कि वे संस्कृत के कठिन

से कठिन शब्द उठाकर मौके-बे-मौके अपनी कविता में जड़ देते हैं। इससे उनकी भाषा ऐसी जटिल बन जाती है कि या तो कोष देखिये, या चुपचाप सुनते या पढ़ते चले जाइये, इसके सिवा उद्धार का और कोई उपाय नहीं। यह दोष ज्यादातर छायावादी या रहस्यवादी कहे जानेवाले कवियों के मत्थे आ पड़ा है।

हरिऔधजी ने इसके पहले 'प्रिय-प्रवास' में एक कृत्रिम भाषा की रचना ज़रूर की थी, पर उस रूप में वह बहुत कम चल पाई थी कि नये कवियों ने उसे दूसरे रूप में विस्तार दे दिया। अब संस्कृत के कोषों से कठिन से कठिन और नितान्त अप्रचलित शब्द भी उठाकर हिन्दी-कविता की भाषा में ठूँसे जा रहे हैं। इस प्रयोग से हिन्दी का सौष्ठव और उसकी सरलता भी, जिसके लिये वह प्रसिद्ध है, नष्ट होती जा रही है। जिस भाषा में कविता लिखी गई हो, उसी भाषा के प्रचलित शब्दों में कवि अपना भाव व्यक्त कर सके, तभी उसका महत्व है। कोष-प्राप्त शब्दों से तो कवि की शब्द-रंकता ही साबित होती है।

एक उदाहरण लीजियेः—

रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शत-शेल-सम्वरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,

प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित वह्नि—राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लङ्कापति-मूर्च्छित-कपि-दल-बल-विस्तर,

अनिमेष-राम-विश्वजिद्दिव्य-शर-शर-भंग-भाव—
विद्धांग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर-रुधिर स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल बल,—
मूर्च्छित-सुग्रीवांगद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,—
वारित-सौमित्रि-भल्लपति-अगणित-मल्ल-रोष,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर,—
जानकी-भीर-उर-आशाभर, रावण-सम्बर।

निराला

इसपर जुलाई, १९३९ की सरस्वती (मासिक पत्रिका) में श्री ब्रजेश्वर नाम के किसी परिहास-निपुण समालोचक ने लिखा था—'बस, अंत में एक "छूः" और जोड़ दीजिये कि भूत झाड़ने का मंत्र बन जायगा।' एक प्रसिद्ध कवि के पद्य की इससे कम शब्दों में ऐसी ठीक बैठनेवाली मनोरंजक आलोचना शायद ही कभी किसी ने की हो।

इसकी रचना में कवि ने जितना समय दिया होगा, उतने समय को इससे अधिक उपयोगी काम में वह लगाता, तो कितना अच्छा होता।

केशवदास की जटिल भाषा का परिणाम क्या हुआ, इसे हमारे हिन्दी के कवि जानते हैं। फिर भी वे तुलसी की तरह प्रसाद-गुण पूर्ण रचना में सुरुचि नहीं प्रकट करते, यह आश्चर्य की बात है।

प्रसाद, निराला और सियारामशरणजी, इन तीनों कवियों ने स्वतंत्र छन्दों में भी रचनायें की हैं। पर प्रसाद और सियारामशरणजी के छन्दों में जो सरल प्रवाह है, वह निराला के छन्दों में नहीं है। निराला ने कम से कम प्रसाद ही का अनुसरण किया होता, तो उनकी रचना का एक दोष तो कम ही होगया होता। उदाहरणः—

प्रसाद—

आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे इतिहास भी कहेगा यही,
किंतु वह विजय प्रशंसा भरी मन की
एक छलना है।
कहेगी शतद्रु शत संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव
स्वत्व-रक्षा में प्रबुद्ध थे।

निराला—

वीणा अगल—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिसके सूर्य चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देश काल,
सम्राट! उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियङ्गु की डाल-डाल!

सियारामशरण—

वासव ने प्रश्न किया
मंजुघोष नामक जलद से—
भूलकर भद्र! किस स्वाधिकार मद से
जल भरपूर तुमने है बरसा दिया,
आर्य भूमि-खण्ड में सभी कहीं!
आर्य-खड में तो [illegible] वर्ष वृष्टि का विधान
था ही नहीं।

इस प्रकार खड़ीबोली की कविता का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा है। यदि ऐसी ही दशा रही, तो क्या भाषा, क्या भाव, दोनों प्रकार से यह थोड़े-से शिक्षित लोगों की सम्पत्ति रह जायगी। सर्वसाधारण इनसे तभी लाभ उठा सकेंगे, जब वे कवितागत भाव और उसकी भाषा समझने के लिए एक विशेष समतल पर आ जायँगे।

एक ओर तो हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानकर उसमें साधारण बोलचाल में प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी भरने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर उसकी कविता में बङ्गला की तरह संस्कृत के शब्दों का आधिपत्य भी बढ़ा रहे हैं। दो विरोधी बातों से एक उद्देश्य की पूर्ति कैसे होगी? फिर हम बोलचाल और कविता की भाषा के एक होने का दावा कैसे कर सकेंगे?

वास्तविक कवि

कविता का जन्म न सुख से हुआ है, न सुखियों से। उसका जन्म दुःख से हुआ है। दुखियों ने उसे देखा और उन्हीं में से कवि उत्पन्न हुये, जिन्होंने उसका चित्र बनाया। सुखियों ने सुख देखा नहीं, उसे भोगा है। अतएव जिस कविता में दुःखी हृदय की मर्मव्यथा नहीं रहती, वह कविता का ढाँचा मात्र है, उसमें प्राण नहीं।

हिन्दी की वर्तमान मनोधारा अब केवल शृङ्गार-रस की तरफ़ नहीं है। जनता में जागृति हो रही है, उठने के भाव एक केंद्र के आसपास एकत्र हो रहे हैं; उन्हीं भावों के पोषक पदार्थ अब वह अपने कवियों से चाहती है। विरह और प्रेम ऐसे शाश्वत पदार्थ हैं कि उनकी वह उपेक्षा नहीं कर सकती, पर वह उनको लेकर शिथिल होना भी नहीं चाहती। कवि-गण थोड़ी-बहुत मिठास के लिये उनको मात्रा रख सकते हैं, पर आलस्य उत्पन्न करनेवाली अधिक मिठास से जनता को अरुचि हो गई है, यह ध्यान में रखने की बात है।

हमने खड़ीबोली की कविता की जाँच छंद, भाषा, विषय और भाव-प्रदर्शन की कसौटी पर की है। इस जाँच के आधार पर हमें एक भी कवि ऐसा नहीं मिला, जिसे हम तुलसीदास के समकक्ष रख सकें। हम तो तुलसीदास को हिन्दी-कविता की अन्तिम सीमा मानते हैं। वहाँ तक जो पहुँचेगा, वही वास्तविक कवि कहा जायगा। पर इस समय तक खड़ीबोली में अंशतः जिनको कवि माना जा सकता है, उनको हमने तीन वर्गों में विभक्त कर दिया है।

वर्गीकरण इन आधारों पर किया गया है—

पहले वर्ग में वे कवि-गण हैं जो हिन्दी की प्रकृति और भारतीय संस्कृति के पोषक हैं।

दूसरे वर्ग में वे कवि-गण हैं, जो हिन्दी की प्राचीन और नवीन दोनों शैलियों की विचार-धाराओं के विस्तारक हैं।

तीसरे वर्ग में वे कवि-गण हैं, जो बिलकुल नवीन-धारा में प्रवाहित हो रहे हैं।

पहले वर्ग के कवि—

१ हरिऔध
२ गोपालशरणसिंह
३ हरिवंशराय 'बच्चन'
४ रामधारीसिंह 'दिनकर'

दूसरे वर्ग के कवि—

१ सुमित्रानंदन पंत
२ सियारामशरण गुप्त
३ भगवतीचरण वर्मा

तीसरे वर्ग के कवि—

१ जयशंकरप्रसाद
२ सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
३ महादेवी वर्मा

इस वर्ग का युग समाप्ति पर है। इनके दिये में जितना तेल था, क़रीब-क़रीब सब जल चुका है। बत्तियाँ तेल के अभाव में अब बुझने पर हैं। उनका उज्ज्वल और नवीन प्रकाश देखकर तेल के लिये एक टोली दौड़कर उनके आसपास पहुँची, पर अब केवल दिया शेष है। सामग्री की कमी से कुछ छायावादी कवि अब अन्य क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे हैं। जो नहीं हटेंगे, वे रूहों की तरह अपनी पूर्वस्मृति की समाधि सेयेंगे

अब जो शेष रह जाते हैं, उनमें कुछ तो कवि होने के निकट हैं और कुछ केवल पद्यकार हैं।

'कवि होने के निकट' वालों में नरेन्द्र शर्मा, आरसीप्रसाद, रामकुमार वर्मा और गोपालसिंह नेपाली के नाम उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान कवियों की श्रेणी में माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अपना अलग स्थान रखते हैं। इनका मुख्य क्षेत्र राजनीति है; कविता के क्षेत्र में ये कवि कहलाने की लालसा से नहीं, बल्कि मनोरंजन और राजनीतिक थकान मिटाने के लिये आते हैं। यदि ये केवल साहित्य-सृजन ही में लगे होते तो निस्संदेह प्रथम श्रेणी के कवियों में होते।

इसी तरह जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, मोहनलाल महतो, वंशीधर विद्यालंकार और अज्ञेय यदि कविता-पथ से अलग न हो गये होते तो इनका कवि-हृदय इन्हें बहुत ऊँचे ले जाता।

हिन्दी में बाल-साहित्य के कवि बहुत ही कम हैं। उनमें श्रीनाथसिंह सर्वश्रेष्ठ हैं।

यहाँ कवियों की सूची में मैथिलीशरणजी का नाम छूट जाता है। वास्तव में वे ऐसे मधुर मिश्रण हैं, कि उन्हें किसी वर्ग में रक्खा नहीं जा सकता। इससे उनकी चर्चा अलग करेंगे।

अब वर्गवाले कवियों के विषय में मैं अपनी स्वतंत्र सम्मति आगे लिखूँगा।

हरिऔध

हरिऔधजी प्रकृत कवि हैं। जीवन के पहले ही पहर से व्रजभाषा में कविता करते रहने और साहित्य के प्रायः सभी अंगों के गभीर अध्ययन से कवित्व गुण इनके हृदय का स्थायी पदार्थ हो गया है। इससे जो कुछ लिखते हैं, उसमें शब्दों का या भाव का कुछ न कुछ चमत्कार रखने की इनकी स्वाभाविक प्रेरणा रहती है। 'प्रिय-प्रवास' इनकी सर्व-श्रेष्ठ रचना है। इनकी व्रजभाषाकी कविता में भी मिठास है, पर वह अब असामयिक है।

'प्रिय-प्रवास' में यदि ये प्रकृति के लंबे-लंबे वर्णन कम कर दिये होते और मानव-स्वभाव ही के चित्रण को प्रमुखता दिये होते तथा उसकी भाषा को भी व्याकरण-सम्मत शुद्ध रक्खे होते तो वह केवल इस काल का नहीं, शताब्दियों का एक काव्य समझा जाता। 'प्रिय-प्रवास' की खड़ीबोली यद्यपि कृत्रिम हिन्दी है; पर कवि ने सानुप्रास भाषा लिखने की चेष्टा की है, विषय भी ऐसा चुना, जो पहले ही से लोक-प्रिय था, भावों का प्रदर्शन भी बहुत प्रभावोत्पादक किया है, इससे उसकी भाषा सह्य हो गई।

हरिऔधजी ने उर्दू और फ़ारसी के साहित्य का भी अनुशीलन किया है इससे भावों के प्रदर्शन में उसकी सहायता भी उन्हें मिल गई है। साथ ही भाषा में उर्दूपन का दोष भी आ गया है।—

सायं प्रातः प्रति पल घटी है उन्हें याद आती।
सोने में भी अवनि व्रज का स्वप्न वे देखते हैं॥

प्रिय-प्रवास

'अवनि व्रज' फ़ारसी या उर्दू का प्रयोग है, हिन्दी में व्रज-अवनि ही शुद्ध होगा।

हरिऔधजी ने जो खड़ीबोली बनाई है, वह संस्कृत शब्दों से ऐसी लदी हुई है कि बोलचाल में नहीं आ सकती; साथ ही ब्रजभाषा के शब्द भी उसमें यत्र-तत्र समाये हुये हैं।—

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है!
अति अनुपम मेवे औ रसीले फलों को।
बहु मधुर मिठाई दुग्ध को व्यंजनों को।

'लख', 'लौं' और 'औ' हिन्दी के नहीं, ब्रजभाषा के शब्द हैं।

हरिऔधजी की कविता की मुख्य विशेषता स्वाभाविकता है। 'प्रिय-प्रवास' में माता के हृदय का हरिऔधजी ने बड़ा ही करुणोत्पादक चित्र अंकित किया है। एक उदाहरण लीजिये :—

श्रीकृष्ण के विरह में यशोदा विलाप कर रही हैं :—

मेरी आशा नवल लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते, सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम, फल थे लाल गोमेदकों के।
पन्नों-द्वारा रचित उसकी सुंदरी डंठियाँ थीं।

उद्विग्ना औ विपुल विकला क्यों न सो धेनु होगी।
प्यारा लैरू बिलग जिसकी आँख से हो गया है।
ऊधो कैसे व्यथित फणि सो जी सकेगा बता दो।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है।

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जनमभर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।

पत्रों-पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे।
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे।

हरिऔधजी ने बोलचाल की भाषा में और भी कई पद्य-ग्रन्थ लिखे, पर उनमें उनका कवित्व बहुत कम स्थलों पर दिखाई पड़ता है। उनकी फुटकर रचनायें, जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रहती हैं, संस्कृत शब्दों से ऐसी गुँथी रहती हैं कि यह पता ही नहीं चलता कि वे किसके लिये लिखी गई हैं। संभवतः वृद्धावस्था के कारण मस्तिष्क में नवीन भावों की अपेक्षा शब्द-शृङ्खला अब आसानी से बन जाती है।

गोपालशरणसिंह

ठाकुर गोपालशरण सिंह ने यद्यपि हिन्दी-कविता की पुरानी ही परिपाटी का अनुसरण किया है, छन्द और विषय भी उनके पुराने ही हैं, पर भाषा की शुद्धता और भावों की नवीनता उनकी खास विशेषतायें हैं। उनकी भाषा में क्रिया और वाक्य की अपूर्णता का दोष कम पाया जाता है। फिर भी उनकी शब्द-योजना वैसी मधुर नहीं है, जैसी उनके जैसे भावुक कवि की होनी चाहिये थी।

ठाकुर साहब रीवाँ-राज्यांतर्गत नईगढ़ी राज के अधीश्वर हैं। शिक्षित और सम्मानित व्यक्ति हैं। रीवाँ की राजगद्दी पर तीन-तीन महाराजा ब्रजभाषा के कवि हो चुके हैं। अतएव ठाकुर साहब ने खड़ी-बोली के कवियों में एक प्रमुख स्थान पर अधिकार करके अपनी ही कीर्ति नहीं बढ़ाई, रीवाँ-राज्य की साहित्य-परम्परा भी क़ायम रक्खी है।

राजसी पुरुष होने पर भी उन्होंने दीन-दुखियों, उत्पीड़ितों और दुर्बलों के संबंध में सहानुभूति-युक्त कवितायें लिखी हैं, उनसे उनके हृदय की उदारता आँकी जा सकती है। फिर भी इस कोटि के व्यक्तियों

के जो स्वभाव-सिद्ध विषय होते हैं, ठाकुर साहब की ज्यादातर कवितायें उन्हीं विषयों पर हैं।

भाषा की दृष्टि से ठाकुर साहब की रचना के दो रूप हैं। शुरू-शुरू में उन पर मैथिलीशरणजी की शैली का प्रभाव पड़ा था, और वे भी एक बात को थोड़े शब्दों में, कम वाक्यों में न कहकर कई वाक्यों में फैलाकर कहने का प्रयास करते रहे। इससे उनकी पुरानी रचनाओं में भाव कम और विस्तार अधिक है। पर इधर की रचनाओं में उन्होंने पुरानी शैली छोड़ दी है और अब थोड़े शब्दों में अधिक भाव भरने में उनको खासी सफलता मिली है। उनकी कविता में पूर्वापर-विरोध बहुत ही कम मिलता है।

अभी उनकी खड़ीबोली का व्रजभाषा से मोह नहीं छूटा है और 'नेक' आदि खड़ीबोली में अप्रचलित शब्द आ ही जाते हैं:—

न चिन्ता हमको इसकी नेक—

(ज्योतिष्मती, ६५)

उनके शब्द उनके भावों का भार वहन करने में और उसे हृदय तक पहुँचा देने में समर्थ दिखाई पड़ते हैं।

भावों को व्यक्त करने की उनकी शैली आकर्षक है, और उसी ने उनको कवियों की पहली श्रेणी में खड़ा रक्खा है।

कुछ उदाहरण लीजिये।—

(१)

कबसे नौका पड़ी भँवर में।
सूझ नहीं पड़ता है कुछ भी अन्धकार है रत्नाकर में।
देव! बचाओ डूब न जाऊँ मैं अपने जीवन-सागर में॥

(२)

क्यों मैं नहीं सहूँ चुपचाप
निज जीवन के क्लेश-कलाप!

सुमन सूखकर झड़ जाते हैं, तो भी क्या कुछ कहते हैं!
शीत व्यथा सहकर भी तारे मौन सदा ही रहते हैं।
देव! तुम्हारी ओर देखती करुण दृष्टि से पल-पल में।
मौन सदा वसुधा रहती है व्यथा छिपाये अञ्चल में।

(ज्योतिष्मती)

(२)

अटल है जग-जीवन मधुमास,
चिरन्तन है ध्रुव विश्व--विकास।
सुमन खिलते हैं नित्य अनंत,
भ्रमर करते हैं ध्वनित दिगंत।
कहाँ है ह्रास? कहाँ है अन्त?
जहाँ पतझड़ है, वहीं बसंत।

हरिवंशराय 'बच्चन'

बच्चन और दिनकर दोनों प्रतिद्वन्द्वी कवि हैं। बच्चन की भाषा दिनकर से ज़ोरदार है, दिनकर के भाव बच्चन से अधिक उन्मादक, सारवान् और सामयिक हैं। दोनों में जो एक दूसरे को पहले ग्रहण कर लेगा, वही हिन्दी-कविता के वर्तमान और अगले युग का नेता होगा।

बच्चन भाषा की दृष्टि से हिन्दी के आगे आनेवाले युग के नेता-कवि हैं। कोष-वासी शब्द इनकी कविता में कम पाये जाते हैं। जनता के संचित शब्द-कोष ही का ये अधिक उपयोग कर लेते हैं। मुहावरे, जो भाषा की जान हैं, इनकी भाषा में काफी प्रयुक्त होते हैं। इनकी भाषा यद्यपि शुद्ध खड़ीबोली कही जा सकती है, पर उस पर उर्दू की छाप भी वर्तमान है। एक उदाहरण लीजिये :—

खोजता है द्वार, बन्दी!
भूल इसको जग चुका है, भूल इसको मग चुका है,
पर तुला है तोड़ने पर तीलियाँ-दीवार बन्दी!

'तीलियाँ-दीवार' प्रयोग उर्दू का है, हिन्दी में शुद्ध नहीं माना जायगा। और सारे गीत में कहीं यह निर्देश नहीं है कि बन्दी कौन है? मनुष्य या पक्षी? तीलियों का क़ैदखाना पक्षी के लिये ही होता है। और तीलियाँ हिन्दी की चीज़ भी तो नहीं हैं। भारतीय उपवन में न सैयाद होता है, न पक्षियों को फँसाने के लिये पिंजड़े ही टाँगे जाते हैं। यह उर्दू का प्रभाव है जो हमारी प्रकृति और संस्कृति दोनों से मेल नहीं खाता है।

बोलचाल की होने से इनकी भाषा में भाव-वहन की शक्ति बढ़ गई है। छोटे-छोटे वाक्यों में भावों को व्यक्त करने की इनकी शैली भी आकर्षक है। शब्दों के चुनाव में भी ये सावधानी रखते हैं। संगीत के सम्मिश्रण से इनकी कविता में रस उमड़ता रहता है।

उदाहरण लीजिये :—

(१)

मुझसे चाँद कहा करता है।

चोट कड़ी है काल प्रबल की, उसकी मुसकानों से हलकी,
राजमहल कितने सपनों का पल में नित्य ढहा करता है।

तू तो है लघु मानव केवल, पृथ्वी-तल का वासी निर्बल,
तारों का असमर्थ अश्रु भी नभ से नित्य बहा करता है।

तू अपने दुख में चिल्लाता, आँखों-देखी बात बताता,
तेरे दुख से कहीं कठिन दुख यह जग मौन सहा करता है।

(२)

अब वे मेरे गान कहाँ हैं?

टूट गई मरकत की प्याली, लुप्त हुई मदिरा की लाली,
मेरा व्याकुल मन बहलानेवाले अब सामान कहाँ हैं!

जगती के नीरस मरुथल पर, हँसता था मैं जिनके बलपर,
चिर वसंत-सेवित स्वप्नों के मेरे वे उद्यान कहाँ हैं!
किस पर अपना प्यार चढ़ाऊँ, यौवन का उद्गार चढ़ाऊँ,
मेरी पूजा को सह लेनेवाले वे पाषाण कहाँ हैं!

रामधारीसिंह 'दिनकर'

दिनकर का उदय हिन्दी-जगत् में ठीक स्थान से हो रहा है। हम उनका स्वागत करते हैं।

दिनकर की किरणें केवल कुसुमों का मुख चुम्बन ही नहीं करतीं, जाड़े की रात में, घुटनों को भुजाओं से जकड़कर, ऊपर से सिर का ढकन रखकर और हड्डी और चमड़े की चिमनी बनाकर उससे जो ग़रीब अपने जीवन-दीप को बुझने से बचाते हुये उनकी राह देखता रहता है, उसके भी हाथ और पैर को वह बन्धन-मुक्त कर देती हैं।

दिनकर की किरणों में फूलों को खिलाने ही की शक्ति नहीं, हिंस्र पशुओं की दहाड़ को बन्द कराने और उनको माँदों में छिपने के लिये विवश करने की शक्ति भी है। निर्बलों को बल देकर खड़ा करने की शक्ति, बालकों, युवकों और वृद्धों के जीवन में पोषक पदार्थ भरने की शक्ति और कोने-कोने से अन्धकार को हटाकर हरएक को अपना घर स्वच्छ और सुन्दर बनाने की प्रेरणा देनेवाली शक्ति भी उनमें है। अनेक रसों का ऐसा स्वादिष्ट सम्मिश्रण हिन्दी के और किसी वर्तमान कवि की कविता में नहीं मिलता, जैसा दिनकर की रचना में मिलता है।

दिनकर की कविता रौद्र-रस-प्रधान है। इनकी कविता में एक व्यथित और विक्षुब्ध समाज का धड़कता हुआ हृदय दिखाई पड़ता है।

इनके मस्तिष्क की सीमा बहुत विस्तृत है। इनकी दृष्टि समाज के अंतस्तल को भेदनकर दूर तक पहुँचती है और मस्तिष्क वहाँ का दृश्य

तत्काल उठा लेने में समर्थ है। ये जनता के कवि हैं। क्या ही अच्छा होता, अपनी भाषा को ये अधिक प्राञ्जल बना लेते।

इनकी भाषा यद्यपि अभी बिलकुल शुद्ध खड़ीबोली नहीं है, पर भावों के भारी भार को वहन करने में समर्थ होकर बलवती लगती है। वाक्यों में अपूर्ण क्रियाओं का दोष तो प्रत्येक कविता में विद्यमान है; वाक्य भी कहीं-कहीं अपूर्ण हैं :—

मचलता है उड़ुओं को देख,
निकलने जब कोई अरमान।

(हुङ्कार, ५)

यहाँ 'निकलने' से कवि का अभिप्राय 'निकलने के लिये' से है, जो केवल 'निकलने' से नहीं निकल सकता।

इनकी भाषा में उर्दू के प्रचलित शब्द भी काफ़ी आये हैं, और भाषा पर उर्दू की शैली का प्रभाव भी है।

हिन्दी में अप्रचलित संस्कृत शब्दों का बाहुल्य भी अभी इनकी भाषा की सीमा को संकुचित किये है :—

झींगुरों का सुन शिञ्जन-नाद
मिलन-आकुलता से द्युतिमान
भेद प्राची का कज्जल-भाल
बढ़ा ऊपर विधु वेपथुमान।

झींगुरों के नाद का विधु के उदय से क्या सम्बन्ध है? और विधु तो रजनी से मिलने के लिये आतुर होकर ऊपर को बढ़ रहा है, ऐसे सरस प्रसंग के साथ प्राची के कज्जल-भाल के फोड़ने की क्रिया प्रिय नहीं लगती। प्राची रजनी की कोई सौत तो है नहीं।

ब्रजभाषा के शब्द भी अभी इनकी भाषा में समाये हुये हैं।—

गिरि ने चीर लिया निज उर
मैं ललक पड़ा लख जलकी की धारा।

(हुङ्कार, १४)

दिनकर ने मानव-हृदय के कोमल भावों पर भी बहुत कुछ लिखा है, पर सब का एक केन्द्र राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करना ही है।

प्रकृति को पान करने की जो शक्ति पुराने पंत में थी, वह दिनकर में भी विद्यमान है। पर पंत रास्ते से मुड़ चले ; अब ऐसा दिखलाई पड़ता है कि उनकी मंज़िल दिनकर पूरी करेंगे।

उदाहरण :—

शब्द-वेध

खेल रहे हिलमिल घाटी में, कौन शिखर का ध्यान करे !
ऐसा वीर कहाँ कि शैल-रुह फूलों का मधुपान करे ?
लक्ष्य-वेध है कठिन, अमा का सूचि-भेद्य तमतोम यहाँ,
ध्वनि पर छोड़े तीर, कौन यह शब्द-वेध-संधान करे ?
"शूली ऊपर सेज पिया की" दीवानी मीरा सो ले,
अपना देश वही देखेगा जो अशेष बलिदान करे।
जीवन की जल गई फसल तब उगे यहाँ दिल के दाने
लहरायेगी लता, आग बिजली का तो सामान करे।
सब की अलग तरी अपनी, चलना दो का मिल साथ मना,
पार जिसे जाना हो वह तैयार स्वयं जल-यान करे।
फूल झड़े, अलि उड़े, वाटिका का मंगल मधु-स्वप्न हुआ,
दो दिन का है संग, हृदय क्या हृदयों से पहिचान करे ?
सिर देकर सौदा लेते हैं जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा,
फीका रंग रहा तो घर तज क्या गैरिक परिधान करे !

उस पद की मंजीर गूँजती हो नीरव सुनसान जहाँ,
सुनना हो तो तज वसन्त निज को पहले वीरान करे।
मणि पर तो आवरण, दीप से तूफ़ाँ में कब काम चला ?
दुर्गम पथ दूर जाना है, क्या पन्थी-अनजान करे ?
तरी खेलती रहे लहर पर, यह भी एक समाँ कैसा !
डाँड़ छोड़, पतवार तोड़कर कवि ! तू निर्भय गान करे।

(हुङ्कार, ४१)

सुमित्रानंदन पंत

पंत प्रकृत कवि हैं। हिन्दी के वर्तमान कवियों में पंत के समान प्रकृति के सौन्दर्य को आँखें भर-भरकर पान करनेवाला अभी तक दूसरा कवि नहीं हुआ। पंत शृङ्गार-प्रधान कवि हैं।

प्रसाद और पंत में बहुत अंतर है। प्रसाद ने सूक्ष्म और स्थूल प्रकृति से वेदनायें अधिक ली हैं, और पंत ने सौंदर्य। प्रसाद अपने करुणा-रस से हृदय के भार को बढ़ाते हैं और पंत सृष्टि के सौंदर्य का सुख भरकर हृदय का शोक-भार कम कर देते हैं।

पंत की पद्य रचना में दो खास विशेषतायें हैं—एक तो उनके सभी छन्द गेय हैं। दूसरे, अधिकतर लघु वर्णोंवाले शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है, जैसा तुलसीदास ने किया है। इससे उनकी शब्द-योजना बड़ी श्रवण-सुखद हो गई है। यह विशेषता हिन्दी के अन्य कवियों में बहुत ही कम पाई जाती है।

पर भाषा की दृष्टि से वे सफल कवि नहीं हैं। उनके शब्द सुन्दर हैं, वाक्य असुन्दर। क्योंकि वे अधिकतर अपने श्रोता या पाठक की दया पर अवलंबित होते हैं कि वह अपने पास से कुछ शब्द जोड़कर उनके वाक्यों को पूरा करे, तब वे ग्रहण-योग्य हों। भाषा की यह त्रुटि न होती तो पंत एक विलक्षण कवि माने जाते।

हर्ष की बात है कि पंत ने अपने वर्णनों में पूर्वापर-संबन्ध कायम रक्खा है। इससे वर्णन के अन्त में कुछ स्थायी रस उत्पन्न हो जाता है।

पंत की कविता के विषय के बारे में पहले लिखा जा चुका है। अपना पहला मार्ग छोड़कर पंत ने ख़ुद अपने साथ अन्याय किया है। उनका हृदय इस नये मार्ग के लिए बना ही नहीं है। उनकी 'युगवाणी' को देखकर कहना पड़ता है कि पंत हिन्दी-जगत् में कवि होकर आये और अब पद्यकार होकर लौटे जा रहे हैं। युगवाणी उनके पद्यों का संग्रह है, कविताओं का नहीं।

एक उदाहरण लीजिये —

अपने नये गीत-संग्रह 'युगवाणी' में पंत ने चींटी पर एक कविता लिखी है। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं:—

चींटी को देखा !
वह है पिपीलिका पाँति !
देखो ना, किस भाँति
काम करती वह संतत।
कन-कन कनके चुनती अविरत !
गाय चराती
धूप खिलाती
बच्चों की निगरानी करती,
लड़ती अरि से तनिक न डरती,
दल के दल सेना सँवारती,
घर आँगन जनपथ बुहारती,
देखो वह वल्मीकि सुघर
उसके भीतर है दुर्ग नगर

अद्भुत उसकी निर्माण कला,
कोई शिल्पी क्या कहे भला !

(युगवाणी)

इसमें कवित्व क्या है ? इससे तो अच्छा था कि यह गद्य में लिखा जाता। बच्चों की रीडरों में चींटी पर इससे कहीं अच्छी कवितायें मिलती हैं।

आगे कुछ ऐसी पंक्तियाँ दी जाती हैं, जिनमें पंत ने अपने सुन्दर शब्दों में प्रकृति के सौंदर्य का मनोहर चित्र अंकित किया है—

(१)

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम-प्रांत।
पत्रों के आनत अधरों पर, सोगया निखिल बन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

(२)

तरु शिखरों से स्वर्ण-विहग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में, रे किस मग !
मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील नील कोमल कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल।

(३)

मुसकरा दी थी क्या तुम प्राण !
आज गृह-वन उपवन के पास
लोटता राशि-राशि हिम-हास,
खिल उठी आँगन में अवदात
वृन्द कलियों की कोमल प्रात !
मुसकरा दी थी, बोलो प्राण !

आज छाया चहुँदिशि चुपचाप
मृदुल मुकुलों का मौनालाप,
रुपहली कलियों से कुछ लाल
लदगईं पुलकित पीपल डाल,
और वह पिक की मर्म पुकार
प्रिये ! झर झर पड़ती सभार,
लाज से गड़ी न जाओ, प्राण !

(४)

कलरव किसको नहीं सुहाता ?
कौन नहीं इसको अपनाता ?
यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर में है आजाता !
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता ।
यह लघु लहरों का विलास है, कलानाथ जिसमें खिँच आता ।
कलरव किसको नहीं सुहाता !

(५)

आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गई प्रभात ;
गूढ़ संकेतों में हिल पात कह रहे अस्फुट बात ;
आज कवि के चिर चंचल प्राण
पा गये अपना गान !

दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील-झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार स्वर्ग की परियों का संसार ;
वहीं उन पेड़ों में अज्ञात चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ स्वप्न आते उड़-उड़कर पास
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
[illegible] मिला कवि को निज गान !

'चहुँदिशि' ब्रजभाषा का शब्द है। प्रात और प्रभात पुल्लिंग हैं, जिनको स्त्रीलिंग बनाया गया है।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त सुप्रसिद्ध साहित्यिक मैथिलीशरणजी के छोटे भाई हैं। इससे सियारामशरणजी के कवि-जीवन के प्रारंभ में बड़े भाई का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। पर आगे चलकर इनकी प्रतिभा उस घेरे को तोड़कर अनेक मार्गों से उमड़ चली है।

सियारामशरण करुण-रस-प्रधान कवि हैं। ये हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति के समर्थक और लोक-कल्याण के इच्छुक एक सात्विक कवि हैं। सियारामशरण ने हिन्दी में सदाचार को प्रोत्साहन देनेवाले भाव भरे हैं।

इनकी भाषा अलंकारमयी और श्रवण-सुखद शब्दों से निर्मित है और उस पर बँगला का प्रभाव है। भावों में बाहर का गुञ्जन कम, भीतर का गुञ्जन अधिक सुनाई पड़ता है और स्वाभाविकता की पर्याप्त मात्रा रहती।

कुछ उदाहरण लीजिये :—

(१)

हे वीरो! बता कहाँ पाया
इस दारु-खंड में मन भाया
यह मंजु मधुर रव चित्तचोर!

(२)

जब किसी दूर वासी वन में,
सुरभित समीर के सन-सन में
तू थी नव कुसुमित लताकार।

यह कोमलता शुचिता तब की
कुछ ज्ञात नहीं जाने कब की
तू रही छिपाये किस प्रकार ।

मलयानिल को आगे करके
पीकर पराग-मधु जी भर के,
अब जब बसंत आया नवीन,

उसका विलास उच्छ्वास-भरित
चुपके चुपके करके सञ्चित
कर रक्खा था क्या आत्मलीन !

(२)

बाढ़

छोटे-से तृणांकुर से लेके
आजतक रातदिन स्नेह-नीर देके
अपने ही अंचल में जिनको खिलाया था,
अपने ही शीतल समीर से जिलाया था,
आज उन्हीं पादपों को एक ही झकोर में,
एक ही हिलोर में
जड़ से उखाड़ के बहा दिया,
हाय, यह क्या किया !

प्रतिदिन की ही भाँति तेरी दूब चरके
अगले पदों के बल नीचे को उतर के,
दीन यह श्यामा गाय
पीती थी सलिल हाय !
सहसा ज्यों वज्रपात,
इसी बीच तेरा हुआ प्रखर तरङ्गाघात,

बह के प्रवाह में
डूबी अखिल वह अगम अथाह में।
धनिक हो!
देखो यह दृश्य यहाँ आकर तनिक तो,
बचता नहीं है कुछ बाढ़ में,
काल की कराल क्रूर दाढ़ में,
सब कुछ जाता है।
कातर तुम्हारी ओर दृष्टि किये
बाढ़ की ही झोली लिये
दीनों का समूह यह हाय! दृष्टि आता है।
छोड़कर रुद्र रूप भिक्षुक का रूप धार
आई आज बाढ़ है तुम्हारे द्वार।
देकर दया का दान
कुछ तो मिटाओ क्षुधा इनकी महा महान।

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा रौद्ररस-प्रधान कवि हैं और हिन्दी में अपने ढंग के एक ही हैं। इनकी भाषा प्रौढ़ है और उसमें ओज-गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। भाषा पर उर्दू की छाया है। छंद मीठे और सरल चुने हैं। भाव सजीव और तरंगाकुलित हैं। कविता के विषय भी वर्तमान जगत् की पीड़ाओं को व्यक्त करने वाले हैं।

अपनी 'भैंसा-गाड़ी' शीर्षक कविता में एक दलित और उत्पीड़ित समाज का जैसा यथार्थ चित्र इन्होंने खींचा है, उससे इनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का पता चलता है। अच्छा होता, हिन्दी संसार इनको सदा कवि बनाये रखता।

इनकी भाषा और भाव-प्रदर्शन के कुछ उदाहरण लीजियेः—

(१)

इस दुख में पाओगी सुख की धुँधली एक कहानी ।
आहों के धुँधले शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी ।
रो रो देते मूर्ख यहाँ पर हँस हँस देते ज्ञानी ॥
अरी दिवानी ! सोच-समझकर सुनना कसक कहानी ॥

(२)

यह बन गया पलक में बन अपलक नयनों का पानी ।
स्मृति ही शेष रह गई विस्मृति की अब एक निशानी ॥
माया के घेरे में पड़कर नाच रहा था ज्ञानी ।
अरी दिवानी, बस इतनी सी मेरी कसक कहानी ॥

(३)

यहाँ कल्पना का संसार ।
'छाया' है जिसका आधार ।
मनसिज मलय मधुप मधुमास ।
कमल कुञ्ज उल्लास विलास ।
नवल उमंगों का उपहार ।
जीवन की सुखमा का सार ॥

(४)

कुछ क्षण, जीवन के कुछ छोटे-से क्षण ये ।
अस्तित्व-ज्ञान के कुछ बिखरे से कण ये ।
जिनमें कुरूपता जग की अपनेपन की ।
प्रतिबिंबित हैं, वे क्षत विक्षत दर्पण ये ॥

(५)

लेकर निज उर में आग नयन में पानी ।
कहने बैठा हूँ, इनकी आज कहानी ॥

नयन के स्थान पर 'दृगों' होता, तो कहानी शायद अधिक सजीव हो जाती ।

(१)

मधुकर क्या जाने प्रेम ! प्रेम है पीड़ा।
पीड़ा है अविकल त्याग, सौख्य की व्रीड़ा॥
कलिका का ले सर्वस्व, नष्ट कर उसको।
उड़ जाने ही में है मधुकर की क्रीड़ा॥
रस में मिल जाना ही रस का है पीना।
जो मिट न सका, वह नहीं जानता जीना॥

(२)

क्या भविष्य है ? नहीं जानता मुझको ज्ञात अतीत नहीं।
सुख से मुझको प्रीति नहीं है दुख से मैं भयभीत नहीं।
लड़ता ही रहता हूँ प्रतिपल बाधाओं से प्यार नहीं।
काल-चक्र के महासमर में हार नहीं है, जीत नहीं॥

जयशंकरप्रसाद

जयशंकरप्रसाद बड़े ही भावुक कवि थे। और किसी छायावादी कवि में उनके जैसी भावुकता नहीं मिलती। उनकी गहराई तक अभी-तक कोई छायावादी कवि नहीं पहुँचा है। पर उनके हृदय में भावों का जितना उफान उठता था, वह कुल उनके शब्दों में नहीं उतर पाता था। भाव के अनुपात से उनका भाषा-बल बहुत क्षीण था। भाषा उनके गद्य और पद्य दोनों की निर्जीव है।

विषयों का चुनाव वे अच्छा करते थे और उनके भावों में गंभीरता और सात्विकता की मात्रा भी अधिक रहती थी। वे प्रतिभा-शाली और अध्ययन-शील व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में उनकी अध्ययनशीलता के काफ़ी प्रमाण मिलते हैं।

प्रसादजी की कविता में मनुष्य-जीवन की अनेक अनुभूतियों के मनोहर चित्र मिलते हैं। उनसे विदित होता है कि प्रसादजी मनुष्य-

समाज के जीवन का निरीक्षण सूक्ष्मता से करते थे। पर एक कवि की तरह वे चमत्कार-प्रदर्शन में सफल नहीं हुये और इसका मुख्य कारण उनकी भाषा की असमर्थता थी। फिर भी छायावाद के अन्य कवियों से उनकी भाषा अधिक भाव वहन कर सकी है।

हिन्दी में छायावाद या रहस्यवाद के नाम से असंयत भावों के आदि प्रवर्त्तक प्रसादजी ही थे।

कुछ उदाहरण लीजिये—

(१)

छिल-छिलकर छाले फोड़े,
मल-मलकर मृदुल चरण से।
घुल-घुलकर बह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।

इनमें किसी पंक्ति से कोई पूरा सार्थक वाक्य नहीं बन सकता। भाषा की अस्त-व्यस्तता से भाव भी अस्पष्ट हो गया है। और मलने के लिये चरण को मृदुल कहना कहाँ तक युक्ति-संगत होगा!

(२)

मुख कमल समीप सजे थे
दो किसलय दल पुरइन के।
जल-बिन्दु सदृश ठहरे कब
इन कानों में दुख किनके!

'पुरइन के दो किसलय दल' कानों के लिये हिन्दी में बिलकुल नई उपमा है। भाषा की दृष्टि से 'दो' के स्थान पर उसका पर्यायवाची 'द्वय' या युग' होता तो छंद का प्रवाह और भी मधुर हो जाता। भाव की दृष्टि से ऐसी सुन्दर उपमा से जब मन में हर्ष उत्पन्न हो रहा था, तब कवि ने जल-बिन्दुओं की सदृशता के लिये दुःख का स्मरण दिलाकर

विरसता उत्पन्न कर दी है। ऊपर की तीन पंक्तियों में सभी दृश्यमान पदार्थ हैं; पर दुःख एक अदृश्य वस्तु है, दृश्य से अदृश्य की तुलना चिन्त्य है। और कानों में अगर दुःख पुरइन (कमल-पत्र) पर जल-बिन्दु के समान नहीं ठहरे तो इससे कानवाले का क्या महत्त्व बढ़ा ! कान का महत्त्व तो आर्त्तों के दुःख को ठहरा लेने ही में है।

(३)

चमकूँगा धूल-कणों में

सौरभ हो उड़ जाऊँगा।

पाऊँगा कहीं तुम्हें तो,

ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

अखीर की तीन पंक्तियाँ बड़ी ही सुंदर हैं। इन पंक्तियों में कोई प्रेमी अपने प्रियतम को कहता है कि, सौरभ होकर उड़ जाऊँगा; ग्रहों के मार्ग में टकराता फिरूँगा; तुम्हें कहीं तो पाऊँगा !—इतनी बड़ी खोज की उत्कंठा के साथ धूल-कणों में चमकने की उसकी लालसा खोज के उद्वेग को कम कर रही है। पहला चरण बहुत कमज़ोर है।

(४)

आँसू-वर्षा से सिंचकर

दोनों ही कूल हरा हो।

उस शरद-प्रसन्न-नदी में,

जीवन-द्रव अमल भरा हो।

'दोनों ही कूल हरा हो,' ग़लत वाक्य है; 'हरे हों' होना चाहिये।

(५)

अरे, कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करनेवाले को !

मेरी आँखों में आकर फिर आँसू बन ढरने वाले को !

सूने नभ में आग जलाकर, यह सुवर्ण-सा हृदय गलाकर,

जीवन-संध्या को नहलाकर रिक्त जलधि भरनेवाले को !

रिक्त-स्थान को भरने के लिए किसी का नहलाया जाना लोक-विश्रुत बात नहीं है। और आग जलाकर, उसमें सुवर्ण-सा हृदय गलाने से उससे जल कहाँ से आयेगा जो 'जलधि' शब्द में व्यक्त हो रहा है ! गाढ़े तीन पंक्तियों के भाव बड़े सुंदर हैं, पर अंत की आधी पंक्ति के 'रिक्त जलधि' ने सब को डुबो दिया है।

(६)

सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब
तनी संकुचित बैठी-सी।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये-सी ऐंठी-सी।

(कामायनी)

वधू बेचारी के लिये 'ऐंठी-सी' शब्द कैसा उपहास-जनक है !

वधू अपने प्रत्यक्ष खड़े प्रियतम से मान करती है, न कि 'प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति' से। मानवती के दिमाग़ में 'प्रलय-निशा की हलचल स्मृति' रहती ही नहीं। और सो भी, सेज पर तो हरगिज़ नहीं रहती। और 'बैठी-सी' क्या ! क्या वह पूरी बैठी नहीं थी !

अब भावों की गहराई वाले कुछ पद्यों का आनन्द लीजिये :—

(१)

प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

(२)

किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का यह थका चरण है।

(३)

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !
जब सावन-घन-सघन बरसते इन आँखों की छाया-भर थे।

(४)

अरे, आगई है भूली-सी
यह मधु-ऋतु दो दिन को।
छोटी-सी कुटिया मैं रच दूँ,
नई व्यथा-साथिन को।

(५)

तुमल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात, रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल।
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की बात, रे मन!

(६)

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे!

उस-विश्राम-क्षितिज-वेला से,
जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

छायावादी कवियों में ये सबसे अधिक गूढ़ हैं। संस्कृत के जितने शब्द निरालाजी ने अपनी कविता में लिये हैं, उतने शब्द और किसी ने शायद ही लिये होंगे। इनकी कविता की भाषा बहुत शिथिल और अस्पष्ट है; इससे भाव भी स्पष्ट नहीं हो पाये। भावों में पूर्वापर सम्बंध भी कम पाया जाता है, इससे रस का स्पष्टीकरण भी नहीं हुआ है। किसी विषय में कोई बात कितनी कहनी चाहिये, इसका भी कम ध्यान रखा गया है। कहीं-कहीं तो एक बात को दुहरा-तिहराकर इतना बड़ा

दिया गया है कि मुख्य विषय नीरस हो गया है। और कहीं इतना कम कहा गया है कि भाव ही नहीं पूरा पूरा खुल पाया।

निरालाजी के भाव भाषा के नियंत्रण में नहीं होते। इनके छंद, भाषा, विषय और भाव चारों में अस्त-व्यस्तता पाकर संदेह होने लगता है कि क्या ये भी कवि हैं! पर इनके कुछ पद्य इतने मार्मिक हैं कि स्वीकार करना पड़ता है कि ये हृदय के कवि हैं, मस्तिष्क के नहीं। इनकी अनियंत्रित भाषा ने इनके हृदय को दबा रक्खा है।

उदाहरण लीजिये :—

इनकी एक कविता का नाम है, धारा। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

१ बहने दो,
२ रोक-टोक से कभी नहीं रुकती
३ यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है!
४ गरज-गरज वह क्या कहती है! कहने दो—
५ अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
६ सुना, रोकने उसे कभी कुञ्जर आया था,
७ दशा हुई फिर क्या उसकी—
८ फल क्या पाया था!
९ तिनका-जैसा मारा मारा
१० फिरा तरङ्गों में बेचारा—
११ गर्व गँवाया—हारा;
१२ अगर हठ-वश आओगे।
१३ दुर्दशा कराओगे—बह जाओगे।
१४ देखते नहीं!—वेग से हहराती है—
१५ नग्न प्रलय का-सा तांडव हो रहा—

१६ चाल कैसी मतवाली—लहराती है।
१७ प्रकृति को देख, मींचती आँखें,
१८ आज खड़ी है—थर्राती है।
१९ आज हो गये ढीले बन्धन,
२० मुक्त हो गये प्राण
२१ रुका है सारा करुणा-क्रन्दन
२२ बहती कैसी पागल इसकी धारा।

अब इसकी पंक्तियों की अलग-अलग परीक्षा कीजिये:—

३—बाढ़ शब्द यौवन-मद और नदी दोनों के लिये आया है। पर नदी की बाढ़ तो झुकती ही चलती है, उसका स्वभाव ही ऐसा है। यदि बाढ़ का अर्थ धारा से भिन्न लेना है, तो कविता का शीर्षक 'बाढ़' रखना चाहिये था, न कि धारा। पर कवि का अभिप्राय 'बाढ़' से धारा ही का है। क्योंकि ४ थी पंक्ति में वह कहता है कि 'प्रबल वेग से बहने दो।'

६-७, ८-९, १०-११ — ६ ठी पंक्ति के बाद की पंक्तियाँ केवल वाक्य विलास है। उनके स्थान पर केवल एक-दो पंक्ति में कवि को अपना कवित्व प्रकट कर देना काफ़ी था।

१२-१३—इनमें कविता क्या है?

१४—वेग से हहराना सुनने का विषय है, न कि देखने का।

१५-१६—'नग्न प्रलय का-सा ताडव' और 'मतवाली चाल' दोनों साथ नहीं हो सकते।

१७-१८—किसकी? और कौन?

२१—किसमें रुका है? यौवन-मद और नदी के साथ करुणा-क्रंदन था ही कब?

अब इसी विषय को रस-सिद्ध कवि-तुलसीदास के शब्दों में सुनिये:—

आस्रम सागर, सांतरस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहिं रघुनाथ॥

बोरति ज्ञान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुबर कर भंगा॥
विषम विषाद तोरावति धारा। भयभ्रम भँवर अवर्त अपारा॥
केवट बुध विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ एक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥

नदी की एक धारा से संबंध रखनेवाले जितने विषय हो सकते हैं, तुलसीदास ने कवि की हैसियत से अनुप्रास-युक्त शब्दों में सब का उल्लेख कर दिया। गाँव की बोलचाल में नदी की धारा के प्रबल वेग को 'तोड़' कहते हैं। तुलसीदास ने 'तोरावति' शब्द से उसकी भी जानकारी प्रकट कर दी। दोहे में उन्होंने 'सागर' शब्द का प्रयोग किया है, पर अंतिम चौपाई में उसके लिये 'अंबुधि' लिखा; क्योंकि 'अकुलाई' और 'अंबुधि' के प्रथम अक्षरों में ध्वनि-साम्य होने से वह श्रवण-सुखद लगता है। दोहे में अनुप्रास की छटा का तो कहना ही क्या है! इस प्रकार शब्दों के माधुर्य का वे कितना ध्यान रखते थे।

निरालाजी को ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिये था, जो यौवन-मद और नदी की धारा दोनों के भाव वहन करते चलते; पर समस्त पंक्तियों में मुख्य वर्णन नदी की धारा ही का है। अतएव यौवन-मद के संबंध में कुछ और सुनने की लालसा पाठक के मन में बनी ही रहती है।

निरालाजी का एक भी गीत मुझे ऐसा नहीं मिला, जिसमें आदि से अंत तक कोई रस अखंड प्रवाहित हो।

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा संगीत, साहित्य और चित्राङ्कण तीनों कलाओं की मर्मज्ञा एक सुशिक्षिता महिला हैं। हिन्दी में ये विरह और प्रेम की पार-दर्शिका हैं। कविता में ये आकाश-विहारिणी हैं, पृथ्वी पर बहुत कम आती हैं।

अपनी भाषा में इन्होंने कर्ण-मधुर शब्द प्रयोग किये हैं, पर भाषा बहुत शिथिल है। इन्होंने प्रायः गीत ही लिखे हैं, जिन्हें राग-रागिनियों में गाया जा सकता है। पर बहुत ही कम गीते ऐसे हैं, जिनमें आदि से अंत तक किसी रस-विशेष का परिपाक हुआ हो। प्रसाद की तरह इनके भावों की गहराई भी अपरिमित है। अधिकांश गीतों की पहली कड़ी बड़ी ही सुंदर है।

गीतों के कुछ उदाहरण लीजिये :—

(१)

वनबाला के गीतों सा
निर्जन में बिखरा है मधुमास;
इन कुञ्जों में खोज रहा है,
सूना कोना मन्द बतास।

किन कुञ्जों में? और 'मन्द' या 'श्रमित'? मंद बतास को सूना कोना खोजने की आवश्यकता क्या हो सकती है? 'श्रमित' ही का सूना कोना खोजना स्वाभाविक है।

(२)

मैं बनी मधुमास आली!
आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी;
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी;
उमड़ आई री दृगों में
सजनि! कालिन्दी निराली!

'मधुर विषाद की करुण रात्रि का फिर आना' मधुमास का कोई लक्षण नहीं है। और उसके बाद ही 'सुधि के चन्द्रमा से पुलक की चाँदनी का छिटकना' कोई पूर्वापर मेल नहीं रखता। इसके बाद ही दृगों में कालिन्दी का उमड़ आना तो और भी कौतूहलोत्पादक है। पर वह मधुमास वाला रूप कहाँ है ?

(३)

नीरव नभ के नयनों पर हिलती हैं रजनी की अलकें।
जाने किसका पन्थ देखतीं बिछकर फूलों की पलकें।

'नीरव नभ के नयन' क्या होंगे ! शायद तारे हैं। और 'रजनी की अलकों' से शायद 'रजनी रूपी अलकों' का अभिप्राय है। पर रजनी तारों पर हिलती हुई कभी नहीं आती, और न किसी को उसकी अनुभूति ही हो सकती है। अगली पंक्ति में तो हम अलकों को नभ ही में छोड़कर एकदम भूमि पर गिर पड़ते हैं। दोनों पंक्तियों में पूर्वापर-संबंध भी नहीं है। दूसरी पंक्ति से रसोद्रेक होता भी है, पहली से बिलकुल नहीं होता।

(४)

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली।

पहले तो जाली ओढ़ने की चीज़ नहीं; दूसरे, 'बिखरा' शब्द साहित्य और बोलचाल में भी किसी वस्तु का ह्रास दिखलाने ही में प्रयुक्त होता है। यहाँ रजनी का वैभव बिखरा देखकर उजियाली, जो उसकी प्रतिस्पर्द्धिनी है, रोती है; इससे 'बिखरे' का अर्थ हमें 'विस्तृत' या 'फैले हुये' लेना पड़ेगा। पर 'बिखरा' का अर्थ लोक में छिन्न-भिन्न ही प्रसिद्ध है। और उजियाली का रोना किस तरह अन्वित किया जायगा ?

(५)

मैं नीर भरी दुख की बदली।
स्पन्दन में चिर निस्पंद बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली।

बदली से स्पन्दन, क्रन्दन, दीपक और निर्झरिणी का क्या सम्बंध है? कबीरदास की उलटबाँसी-सी मालूम पड़ती है।

(६)

तारकित नभ-सेज से वे
रश्मि-अप्सरियाँ जगातीं।

अप्सरा तो स्वयं स्त्रीलिंग है; स्त्री का स्त्रीलिंग 'अप्सरी' बनाने से स्त्रीत्व की अंतिम सीमा क्या होगी?

पंत ने भी अप्सरी का प्रयोग किया है।

(७)

प्रिय पथ के यह शूल मुझे अति प्यारे ही हैं।
हीरक सी वह याद बनेगा जीवन सोना।
जल जल तप तप किंतु खरा इसको है होना।
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं!
तम-तमाल ने फूल गिरा दिन-पलकें खोलीं।
मैंने दुख में प्रथम तभी सुख-मिश्री घोली।
ठहरें पलभर देव अश्रु यह खारे ही हैं।
ओढ़े मेरी छाँह रात देती उजियाला।
रज कण मृदु पद चूम हुये मुकुलों की माला।
मेरा चिर इतिहास चमकते तारे ही हैं।

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा।
विरह बना आराध्य द्वैत क्या ? कैसी बाधा ?
खाना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं।

किसी एक पंक्ति के भाव का संबंध दूसरी पंक्ति से नहीं मिलता है। अब कुछ हृदय की गहराई वाली पंक्तियाँ भी सुनियेः—

(१)

आलोक यहाँ लुटता है, बुझ जाते हैं तारागण।
अविराम जला करता है, पर मेरा दीपक-सा मन।

(२)

लाये कौन सँदेश नये घन !
चौंकी निद्रित
रजनी अलसित
श्यामल पुलकित कम्पित स्वर में
दमक उठे विद्युत् के कंकण।

(३)

क्या पूजा क्या अर्चन रे !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चंदन रे !
स्नेहभरा जलता है झिलमिल यह मेरा दीपक मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

हिन्दी में अबतक छायावाद के जितने कवि उदय-मञ्च पर आये हैं, उनमें प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा ही मुख्य हैं।

छायावाद के तीनों कवियों ने कवि का विशाल हृदय तो पाया है, पर कवि का मस्तिष्क इनके पास नहीं है। इनके हृदयों में भावों का तूफ़ान तो बड़े ज़ोर का उठता है, पर ये उसे मस्तिष्क से बाहर निकालने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

इनके हृदय में उमड़नेवाले भावों का बोझ जब इनका मस्तिष्क नहीं उठा सका, तब विवश होकर इन्होंने छंदों का बन्धन तोड़ा और भावों को जल्द-जल्द ढोने के लिये संस्कृत के शब्दों को बेगार में पकड़ा। पर भावों का भार फिर भी ये सँभाल न सके और यही कारण है कि इनके गीतों में भावों का देहाती मेला-सा लग गया है।

किसी छायावादी कवि का एक गीत या वस्तु-वर्णन ले लीजिये, किसी में भी रस का परिपाक हुआ नहीं मिलेगा; बल्कि विरोधी रसों का मिश्रण ही अधिक निकला हुआ है। एक पंक्ति में शृङ्गार रस है, तो दूसरी में करुण और तीसरी में हास्य। कभी-कभी किसी गीत में रस का अनुभव होने लगता है तो कवि एक शब्द या वाक्य की ऐसी ठोकर लगा देता है कि रस और उसका भोक्ता दोनों दूर जा पड़ते हैं। एक बात पूरी नहीं होने पाती कि कवि दूसरी उठा लेता है और उसे भी अधूरी ही छोड़कर तीसरी ले बैठता है।

प्रशंसकों के सामने बड़ी कठिन समस्या उपस्थित है।

मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरण गुप्त पर मैं व्यक्तिगत श्रद्धा रखता हूँ। उनकी सरलता, निरभिमानता और उनकी साहित्य-सेवा को ध्यान में रखते हुये यह जी नहीं चाहता कि उनके हृदय को ज़रा भी आघात पहुँचनेवाली कोई बात मैं लिखूँ। उन्होंने गत पचीस-तीस वर्षों से लगातार हिन्दी-साहित्य की सेवा की है और साहित्य को सात्विक भावों से सजीव किया

है। उनसे हज़ारों युवकों को मूक प्रेरणा मिली है और वे हिन्दी की सेवा में प्रवृत्त हुये हैं। हिन्दी-जगत् पर गुप्त जी का उपकार अतुलनीय है।

पर इस परिचय में हिन्दी-कविता पर अपनी निष्पक्ष राय प्रकट करने का जो कार्य मैंने हाथ में लिया है, वह बड़ी कठोरता का है। इसमें व्यक्तिगत संबंध को अलग रखकर, केवल साहित्य-सेवा के भाव को लक्ष्य में रखते हुये चलना है। अतएव जिस स्वतंत्रता से मैंने हिन्दी के अन्य कवियों की कृतियों पर विचार किया है, उसी स्वतंत्रता से मैं गुप्त जी की कृतियाँ भी हाथ में ले रहा हूँ।

गुप्त जी ने बहुत लिखा और उसका प्रचार भी काफ़ी हुआ। प्रचार का एक कारण यह भी है कि वे खड़ीबोली की कविता के प्रारंभिक काल के कवि हैं। जब देश दुःखी तो था, पर उसे अपने दुःखों की रूप-रेखा विदित नहीं थी, भारत-भारती ने उसके दुःखों की एक पद्य-बद्ध सूची बनाकर सामने रख दी, जिसे देखकर हिन्दी-भाषी जनता में उसके कवि की लोक-प्रियता का बढ़ना स्वाभाविक ही था।

पर कविता की कसौटी इस प्रकार की लोक-प्रियता से भिन्न है। भारत-भारती की बातें जब लोग गद्य में सुनने, पढ़ने और जानने लगे, तब उसकी आवश्यकता भी जाती रही। कविता की सच्ची लोक-प्रियता तो तुलसीदास को प्राप्त हुई थी, जो गत तीन सौ वर्षों से बराबर बढ़ ही रही है; क्योंकि वह सामयिक नहीं थी, शाश्वत थी।

गुप्त जी के समस्त काव्य-ग्रंथ—किसान, हिन्दू, गुरुकुल आदि दो-चार छोटे-छोटे पद्यात्मक निबंधों को छोड़कर—कोई न कोई प्राचीन आधार रखते हैं। कुछ तो बँगला के अनुवाद हैं और कुछ भारत की ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर लिखे गये हैं। इससे साहित्य के मार्ग में स्वतंत्र चलने की उनमें कितनी क्षमता अबतक थी, यह प्रकट नहीं होने पाया है।

उनका अंतिम ग्रंथ 'साकेत' है, जिस पर उनको 'मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक' भी मिला है। उसके सामने भी 'रामचरितमानस' था। लोक-हित की दृष्टि से उसके लिये उनको परिश्रम करने की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि 'मानस' से उसकी पूर्ति हो जाती है।

'स्वान्तः सुखाय' लिखा हो तो बात दूसरी है। पर 'साकेत' न लिख-कर यदि गुप्त जी ने 'रामचरितमानस' ही को खड़ीबोली में कर दिया होता, तो आज वे तुलसीदास ही की तरह अमर कीर्ति के अधिकारी बन गये होते।

'साकेत' गुप्त जी का अधिक प्रिय काव्य होने के कारण मुझे विश्वास था कि उसमें कवि का सर्वाङ्ग-सुन्दर रूप निखर आया होगा। इससे मैंने उसे कई बार पढ़ा। पर मैं बहुत निराश हुआ; क्योंकि उसकी पुरानी कथा में एक नये युग के कवि का कोई भी चमत्कार मुझे नहीं मिला। उलटे, कवि सूर्य-वंश की उज्ज्वल प्रभा पर बादलों की घटा बनकर छा गया है, और साथ ही अपनी पूर्वोपार्जित कीर्ति पर भी।

छन्द रचना की दृष्टि से गुप्त जी प्रथम श्रेणी के सर्व-श्रेष्ठ पद्यकार कहे जा सकते हैं। शुद्ध खड़ीबोली में शुद्ध छन्द बनाने में उनकी समता के कवि इने-गिने ही हैं। अच्छा से अच्छा तुक मिलाने का उनका गुण 'साकेत' में भी विद्यमान है। बल्कि तुकों ही का प्राधान्य सर्वत्र दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है कि तुक कवि को अपनी-अपनी गलियों में घसीट ले गये हैं और प्रत्येक गली से कवि का आर्त्तनाद सुनाई पड़ रहा है। तुकानुगामी कवि की यह कैसी दयनीय दशा है!

दूसरी त्रुटि यह है कि 'साकेत' विविध छन्दों में लिखा गया है। केशवदास ने भी रामचंद्रिका में विविध छन्दों का प्रयोग किया है। परिणाम यह हुआ है कि उसमें किसी एक रस का पूर्ण परिपाक कहीं नहीं

होने पाया है। छन्द भी रस के सहायक होते हैं। वीर-रस को 'भुजंग-प्रयात्' से जितना बल मिलेगा, उतना 'शिखरिणी' से नहीं। 'साकेत' में जहाँ छन्द बदले हैं, वहीं उसके कवि की रस-धारा भी टूट गई है। पाठक के हृदय में वहाँ कवि के लिये क्रोध अवश्य उत्पन्न हो जाता है। विविध छन्दों के प्रयोग का अभिप्राय हम केवल यही समझ पाये हैं कि कवि की छन्द-रचना की निपुणता सबको विदित हो जाय। यदि यही अभिप्राय रहा हो, तो खेद है कि कवि ने काव्य-रस को बहुत सस्ते पदार्थ से बदला।

एक बात को थोड़े शब्दों में न कहकर काफ़ी फैलाकर कहने की गुप्तजी की चिरभ्यस्त शैली है। 'साकेत' की शैली भी वही है। 'यशोधरा' की भी वही है। आदि से अबतक गुप्तजी ने अपनी शैली बदली ही नहीं। उनके प्रशंसकों ने उन्हें काफ़ी धोखे में रक्खा। जितनी चीनी से एक गिलास जल मीठा होता है, उतनी से एक घड़ा-भर पानी कैसे मीठा किया जा सकेगा! गुप्तजी ने ऐसा ही प्रयत्न किया है। पर मुफ्त पीने वाले मसखरे सच बोलते ही न थे। किसी का मुँह बिचका देखते, तो संभव है, गुप्तजी अपनी शैली बदल भी देते।

'साकेत' के कवि को बात करने की कला में बिलकुल अनभिज्ञ पाकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है। कोई भी संवाद ले लीजिये, वक्ता बे-सिलसिले की बातें देर तक बोलता हुआ मिलेगा। वह ख़ुद ही प्रश्न कर लेता है और ख़ुद ही उसका समाधान भी करता चलता है। कभी अकारण हँस देता है और कभी हँसानेवाली बात के बाद ही रोने का प्रसंग छेड़ लेता है। एक पंक्ति में कुछ कहता है, दूसरी में बिलकुल उससे असंबद्ध कोई अनोखी बात। 'साकेत' का कवि वार्त्तालाप में कहीं भी सफल नहीं हुआ है।

'साकेत' के कवि को लोक में प्रचलित मर्यादाओं का भी ध्यान

नहीं था। ज्ञान था या नहीं था, मालूम नहीं। किसको कब क्या करना चाहिये, इस बात का कवि ने कहीं नियंत्रण नहीं रक्खा है।

गुप्तजी की भाषा में संयुक्ताक्षरों और टवर्ग के अक्षरों से बने हुए शब्दों का बाहुल्य होता है। साथ ही अहो, अहा, हा, हहा, सर्वथा आदि का तो ठिकाना ही नहीं रहता कि मौके-बे-मौके कौन कब और कहाँ बेगार-सा पकड़कर बैठा दिया जायगा।

अकेले 'साकेत' ही में नहीं, कवि की पिछली समस्त कृतियों में संस्कृत शब्दों के बेढङ्गे प्रयोग ने उसकी कविता की भाषा को बड़ी ही कर्कश बना दिया है।

स्थानाभाव से हरएक प्रकार की त्रुटि के अलग-अलग उदाहरण हम नहीं दे सकते। आगे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, उनमें प्रायः सभी प्रकार की त्रुटियों के नमूने मिल जायँगे।

(१)

केवट राम से मिलने आया है, उस समय का प्रसंग है:—

१ प्रभु आये हैं समाचार सुनकर नया।
२ भेंट लिये गुहराज सपरिकर आ गया।
३ देख सखा को दिया समादर राम ने।
४ उठकर बढ़कर लिया प्रेम से सामने।
५ रहिये-रहिये उचित नहीं उत्थान यह।
६ देते हैं श्रीमान् किसे बहुमान यह।
७ मैं अनुगत हूँ; भूल पड़े कहिये कहाँ?
८ अपना मृगयावास समझ रहिये यहाँ॥
९ कुशलमूल इस मधुर हास पर भूल सब।
१० वारूँ मैं निज नील विपिन के फूल सब॥
११ सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब, किसे,
१२ क्यों न कहूँ मैं अहोभाग्य अपना इसे?

पाकर यह आनंद-सम्मिलन-लीनता।
भूल रही है आज मुझे निज हीनता।
मैं अभाव में भाव लेखता हूँ तुम्हें।
निज गृह में गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हें।
त्रुटियों पर पद-धूलि डालके आइये।
घर न देखकर, मुझे निहार निभाइये।
न हो योग्य आतिथ्य, अटल अनुरक्ति है,
चाहे मुझ में शक्ति न हो, पर भक्ति है।
अथवा मृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—
पड़ सकते हैं चारु चरण ये, पर कहाँ
आ सकती हैं बार बार माँ जानकी!—
कुल-देवी-सी मिली मुझे हाँ, जानकी।
भद्रे! भूले नहीं मुझे आहार वे,
मिथिलापुर के राज-भोग हैं याद वे।
पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही,
एक ग्रास में तृप्त न कर दूँ तो सही!
रूखा-सूखा खान-पान भी इष्ट है,
भाता किसको सदा मिष्ट ही मिष्ट है।
तुम सदैव सौभाग्यवती जीती रहो,
उभय कुलों की प्रीति-सुधा पीती रहो।
सिर गुह ने हँस उन्हें हँसाकर नत किया,
प्रभु ने तत्क्षण उसे अंक में भर लिया।
चौंका वह इस बार देखकर राम को—
शैवल-परिवृत यथा सरोरुह श्याम को।

गुह की बातें सुनाकर कवि ने राम से कहलाया—

३७ वचनों से ही तृप्त हो गये हम सखे!
३८ करो हमारे लिये न अब कुछ श्रम सखे!
३९ वन के व्रत हम आज तोड़ सकते नहीं।
४० तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं।

आइये, अब हरएक पंक्ति पर अलग-अलग विचार करके देखें:—

१—गुह का वर्णन 'साकेत' में इसी पंक्ति से शुरू होता है। इसके पहले वह कोई समाचार सुनता हुआ नहीं दिखाया गया है, तब राम के आगमन के समाचार के लिये 'नया' विशेषण की आवश्यकता क्या थी?

२—भेंट की चीज़ें उसने क्या कीं? संभवतः देना भूल गया।

३—'साकेत' में इसके पहले कहीं गुह और राम की मुलाक़ात नहीं कराई गई है। फिर यकायक वह 'सखा' कैसे कहा गया?

४—राम राज-पुत्र थे; राज-वंश के नियमों से परिचित और अभ्यस्त भी रहे होंगे। गुह, जो प्रजा-जन था, उसके लिये राम का उठना और आगे बढ़कर उसे लेना राज-मर्यादा के विरुद्ध बात है।

७—'अच्छा; कहिये, कहाँ भूल पड़े?' यह लखनौआ जुमला बहुत गहरे दोस्तों के लिये ही इस्तेमाल होता है। न यह गुह को शोभा देता है, न राम की मर्यादा ही के अनुकूल है।

५-६—ये वाक्य राम का बड़प्पन प्रमाणित करने के लिये कहलाये गये हैं। फिर तो राम का उठकर और बढ़कर मिलना एक भूल ही की बात साबित हुई। 'कहिये कहाँ भूल पड़े' कहनेवाले मित्र मित्र के स्वागत का उत्तर अधिक हर्ष प्रकट करके देते हैं, उपेक्षा करके नहीं।

७—कोई अनुगत 'भूल पड़े कहिये कहाँ?' कभी नहीं बोलता।

८—गुह ने राम को जवाब भी नहीं देने दिया। और यह मालूम किये

बिना ही कि राम यकायक वहाँ क्यों आ गये थे. गुह ने अपने घर को उनका शिकारगाह समझने का प्रस्ताव भी पेश कर दिया।

९—अभी राम को कुशल-प्रश्न पूछने का अवसर भी नहीं मिला कि गुह उनके मधुर हास पर लट्टू हो जाता है! क्या यह बे-मौके की रसिकता नहीं है?

१०—नील विपिन का अर्थ 'नीला जंगल' होता है, पर 'नीला जंगल' से कवि का क्या अभिप्राय है? अगर आकाश और तारों से अभिप्राय है तो 'निज' की संगति कैसे बैठेगी? और हास पर नीला जंगल क्यों वारा जायगा! हास का रंग तो हीरे की तरह उज्ज्वल माना गया है न!

११-१२—गुह स्वयं प्रश्न उपस्थित करके उसका उत्तर भी देता है। बातचीत का यह सबसे भोंडा तरीका है।

१६—गुह ऊपर तो एक बार राम को अपने घर को उनका मृगयावास समझने की सलाह देता है; यहाँ कहता है कि तुम्हारे रहने लायक मेरे घर में घरही नहीं है। ऊपर 'रहिये' और 'कहिये' शब्दों-द्वारा वह राम के लिये 'आप' शब्द का व्यवहार कर चुका है। ज़रा-सी ही देर में वह उन्हें 'तुम्हें' कहने लगा; और अगली पंक्ति में फिर 'आइये' कहता है। मानो वह होश में नहीं था!

१७-१८—सखा होने के नाते ऊपर तो वह बराबर वालों की तरह बातें करता रहा। इन दो पंक्तियों में उसे भय हुआ कि कहीं राम सचमुच उसके घर में ठहर न जायँ, और तभी वह घिघियाने-सा लगा है। सच्चे मित्र का लक्षण तो यह है कि वह मित्र के झोपड़े में भी अपने महल का सुख अनुभव करे।

१९-२०—यह विनय नहीं है, अभिमान है.

२१-२२-२३—खड़े ही खड़े राम को छोड़कर वह जानकी को बातें

सुनाने लगा। कोई भी शिष्ट सखा इस तरह की स्वतंत्रता पसंद नहीं करेगा।

२४—'हाँ' की उपस्थिति यहाँ किसलिये है ?

२५—राम के सामने खड़े होकर गुह दूरी पर बैठी हुई जानकी को सम्बोधन करके कहने लगता है। राम सामने खड़े हैं, उनकी उसे कुछ भी परवा नहीं है।

२६-२७—खड़े ही खड़े वह खाने की चर्चा भी छेड़ देता है और एक मरभुक्खे की तरह जनकपुर के पकवानों को याद करने लगता है। राम के सखा की यह आदत क्या प्रशंसनीय कही जायगी ?

३१—२८ वें पद्य की कुल-देवी को वह फिर आशीर्वाद भी देने लगता है।

३३—गुह क्यों हँसा ? और हँसकर उसने सिर क्यों झुका लिया ? उसको बिलकुल ही बुद्धू साबित करने का इरादा कवि ने कर लिया था क्या ?

३४—इतनी देर खड़े रहकर, गुह का लंबे और बे-सिलसिले का भाषण सुनकर तब राम ने उसे छाती से लगाया। गुह को राम के अंक से छुटकारा कब मिला ? कवि ने नहीं बताया।

३५—गुह श्याम सरोरुह को शैवल-परिवृत देखकर चौंका क्यों ? शैवल से सरोरुह को परिवृत तो वह रोज़ ही, नाव खेते वक्त, देखता रहा होगा।

३७—'हम तुम्हारी बातों ही से तृप्त हो गये' यह कोई हर्ष-सूचक मुहावरा नहीं है। यह तो प्रायः ताने के तौर पर बोला जाता है।

३९—ये दो पंक्तियाँ इस तरह होतीं तो अधिक सार्थक होतीं—

> वन का व्रत यदि आज तोड़ सकते कहीं,
> तो भाभी की भेंट छोड़ते हम नहीं।

क्योंकि 'तोड़ सकते' के साथ 'छोड़ सकते' रखने से दलील में बल

नहीं आता। और राम ने 'सखा' की खा से भाभी का नाता भी जोड़ लिया।

इस वर्णन से आपको विदित हो गया होगा कि 'साकेत' का कवि वार्त्तालाप के सुन्दर ढंग से बिलकुल परिचित नहीं है।

हमारे संस्कृत-साहित्य में नवागत के स्वागत के लिये छोटी-छोटी बातों तक का जिक्र मिलता है। 'साकेत' के कवि गुप्तजी संस्कृतज्ञ हैं और उसे जानते हैं:—

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद्दृश्यसे,
का वार्त्ता कुशलोऽसि बालसहितः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।

'आइये, विराजिये, यह आसन है, बहुत दिनों पर दिखाई पड़े, क्या हाल है? बालबच्चों-सहित सुख से तो हो? आपको देखकर बहुत हर्ष हुआ; इत्यादि।'

अब इसी प्रसंग का वर्णन तुलसीदास के शब्दों में सुनिये:—

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई॥
लिये फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हर्ष अपारा॥
करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहिं विलोकत अति अनुरागे॥
सहज सनेह विवस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई॥
नाथ कुसल पद-पंकज देखे। भयउँ भाग भाजनु जन लेखे॥
देव धरनि धनु धानु तुम्हारा। मैं जनु नीच सहित परिवारा॥
कृपा करिय पुर धारिय पाऊँ। थापिय जनु सब लोग सिहाऊँ॥

(अयोध्या-काण्ड)

दोनों वर्णनों में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। गुप्तजी का गुह शिष्टाचार के नियमों से अपरिचित, असभ्य और बड़ा बक्की-सा है। तुलसीदास का गुह शिष्ट, नम्र और अपनी और राम की मर्यादा का पद-पद पर ध्यान रखता हुआ दिखाई पड़ता है। वह दंड-

वत करके, भेंट की चीज़ें सामने रखकर, सहज सनेह से राम को देखने लगता है। उसका सनेह देखकर राम उसकी ओर आकर्षित होते हैं और एक शिष्ट पुरुष की तरह उसे पास बैठाकर उसका कुशल-मंगल पूछते हैं। कैसा स्वाभाविक वर्णन है! ऐसे अनुरागी और विनम्र व्यक्ति को सखा कहने में राम की महिमा बढ़ती है। केवट वर्ग के एक अंट-संट वक्ता को 'सखा' सिद्ध करने के लिये उससे एक राजकुमार की बराबरी कराने में 'साकेत' के कवि को गौरव नहीं मिल सकता। बल्कि कौटुम्बिक मर्यादाओं की उसकी अनभिज्ञता ही प्रमाणित होती है।

(२)

'साकेत' का एक और प्रसंग लीजिये। सामयिक पत्रों और पुस्तकों में इसे भी कुछ खुशामदी समालोचकों ने तुलसीदास के वर्णन से श्रेष्ठ बताया है।

जुड़ आई थीं वहाँ नारियाँ ग्राम की।
वे साधक ही सिद्ध हुईं विश्राम की।
सीता सबसे प्रेमभावपूर्वक मिलीं।
लतिकाओं में कुसुमकला-सी वे खिलीं।
शुभे! तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं।
गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।
वैदेही यह सरल भाव से कह गईं।
तब भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गईं।

(साकेत, पृष्ठ १३१)

'साकेत' के कवि की शब्द-योजना बड़ी कर्कश और प्रश्न और उत्तर दोनों नीरस हैं। इनमें कहीं भी कवि का कौशल नहीं दिखाई पड़ता। सीता ने लाठी-सी मार दी है। ग्रामीण स्त्रियों से 'शुभे' कहलाना बिलकुल अस्वाभाविक है। और अन्तिम दो पंक्तियों में अकारण तरल(!) हँसी हँसाकर तो सीता का फूहड़पन ही प्रकट किया गया है।

अब इसी प्रसंग को लेकर तुलसीदास का काव्य-कौशल देखिये :—

कोटि मनोज लजावनिहारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी।
सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी॥
तिनहिँ बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग-नयनी।
बोली मधुर बचन पिक-बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निजपति कहेउ तिनहिं सिय सैननि॥

(अयोध्या-कांड)

कैसा स्वाभाविक और सरस वर्णन है!

तुलसीदास ने 'को आहिं' शब्द से उस प्रांत का भी पता दे दिया है, जहाँ ग्रामीण स्त्रियाँ सीता को मिली थीं। कवि ने इस सरस प्रसंग को अपने रसीले शब्दों से ऐसा सँवारा है कि प्रत्येक पंक्ति से रस चू रहा है। चारोंओर से कवि की इस तरह की सावधानी का दृश्य 'साकेत' में कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

(२)

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना;

करता है पद-प्रहार वही।
मक्खी-सी भिन्ना रही मही।

(साकेत, पृ० २७०)

तन्तुवाय कहते हैं जुलाहे को। ऐसे ठेठ संस्कृत के शब्द के साथ मक्खी का भिन्नाना कैसा अरुचिकर है! और चारों पंक्तियों से कोई अर्थ निकालना तो असंभव ही दिखता है। आकाश को जाल माना जाय तो सूर्य-रूपी जुलाहे से उसका कहाँ मेल खायगा? जुलाहा जाल नहीं बुनता, मछुआ बुनता है। सूर्य-जुलाहा पद-प्रहार क्यों करता है? और फिर मही मक्खी-ऐसी भिन्नाती क्यों है? कुछ अजीब-सी उड़ान है।

(४)

जल से तट है सटा पड़ा,
तट के ऊपर अट्ट है खड़ा।
खिड़की पर उर्मिला खड़ी।
मुँह छोटा, आँखें बड़ी-बड़ी।

कम से कम दुःखिनी उर्मिला के वर्णन में तो कवि को टवर्ग के अक्षरों से भाषा को बचाना चाहिये था। तट से जल तो हमेशा ही सटा रहता है, इसे कहने की क्या आवश्यकता थी? 'मुँह छोटा' कोई सुन्दर मुहावरा नहीं है।

(५)

तब बोल उठी वियोगिनी,
जिसके सम्मुख तुच्छ योगिनी।
तम फूट पड़ा नहीं अटा,
यह ब्रह्माण्ड फटा, फटा, फटा।

(साकेत, पृ० ३२६)

तीसरे 'फटा' के बाद श्रोता या पाठक को धड़ाम से गिर पड़ने का अभिनय करना ही पड़ेगा। भगवान् ही रक्षा करें।

(६)

बरसें बीत गईं, पर अब भी है साकेत पुरी में रात।
तदपि रात चाहे जितनी हो उसके पीछे एक प्रभात॥
(साकेत, पृ० ३७०)

बरस पुल्लिंग शब्द है। उसका बहुवचन भी पुल्लिंग ही होना चाहिये; पर गुप्तजी ने यहाँ उसे स्त्रीलिंग लिखा है। पंजाब वाले अकसर 'तारें दौड़ती हैं', 'रथें चल रही हैं' आदि हास्यास्पद प्रयोग करते हैं। पर खड़ीबोली में यह क्षम्य नहीं है। कवि ने पहली पंक्ति में साकेत में बरसों तक रात के बने रहने का चमत्कार दिखाया है; पर दूसरी पंक्ति में वह प्रभात की याद दिलाकर पाठक को कहाँ से कहाँ फेंक देता है।

गुप्तजी के अन्य काव्यों में भी 'साकेत' ही का बिम्ब-प्रतिबिम्ब मिलता है। कुछ उदाहरण लीजियेः—

(७)

घूम रहा है कैसा चक्र !
वह नवनीत कहाँ जाता है, रह जाता है तक्र।
पिसो, पड़े हो इसमें जबतक,
क्या अन्तर आया है अबतक ?
सहें अन्ततोगत्वा कबतक—
हम इसकी गति वक्र ?
घूम रहा है कैसा चक्र॥
(यशोधरा)

यहाँ चक्र से अभिप्राय क्या मथानी से है ? यदि संसार-चक्र से है, तो नवनीत और तक्र किसके वाचक हैं ?

शेष पंक्तियों में किसी भी पंक्ति का भाव दूसरी पंक्ति से संबंध नहीं रखता है। इसी में आगे और लीजिये :—

बाहर से क्या जोड़ूँ-जाड़ूँ ?
मैं अपना ही पल्ला झाड़ूँ !
तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ,
रह भव-सागर-नक्र !
घूम रहा है कैसा चक्र !

(यशोधरा)

इन पंक्तियों में भी भाव-धारा खंडित हो गई है। अन्ततोगत्वा के साथ जोड़ूँ-जाड़ूँ का मेल भी नहीं बैठता और ये शब्द भी बे-तुके-से लगते हैं। पाठक को इस गीत के समझने में अपने गाँठ की अतिरिक्त अक्ल लड़ानी पड़ेगी। कवि के शब्दों से कुछ सहायता नहीं मिलेगी। बाहर से जोड़ना-जाड़ना, अपना पल्ला झाड़ना और भव-सागर-रूपी नक्र का दाँत उखाड़ना, ये साधारण पाठक के लिये पहेलियाँ ही हैं।

यह सब 'चक्र' के साथी तुकों की करामात है। तुक कवि को अपनी-अपनी गलियों में घसीट ले गये हैं, और कवि ने हरएक तुक को कुछ न कुछ आहार देकर अपना पिण्ड छुड़ाया जान पड़ता है।

(७)

माँ कह एक कहानी—,
बेटा, समझ लिया क्या तूने मुझको अपनी नानी !

(यशोधरा)

क्या ख़ूब जवाब है ! गोया कहानी नानी ही से पूछी जाती है।

(८)

शत-शत बाधा बन्धन तोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़ !

प्लावित कर पृथ्वी के पर्त्त,
समतल कर बहु गह्वर गर्त्त।
दिखलाकर आवर्त्त-विवर्त्त,
आता हूँ आलोड़ विलोड़।
निकल चला मैं पत्थर फोड़।।

यह झरने बेचारे की करुण-कथा है। सात पंक्तियों में हिन्दी के बिलकुल मामूली 'पत्थर फोड़' जैसे शब्द के साथ शत-शत, प्लावित, गह्वर, आवर्त्त-विवर्त्त और आलोड़-विलोड़-जैसे संस्कृत के कठिन शब्द कितने बेमेल लगते हैं। और कुछ शब्द उच्चारण में भी सुगम नहीं हैं। 'आलोड़ विलोड़' को जल्दी-जल्दी दो-तीन बार बोलकर देखिये तो सही।

अबतक दोष ही दोष दिखलाये गये। गुप्तजी की रचनाओं में गुण भी हैं। एक मुख्य गुण तो यह है कि गुप्तजी ने हिन्दी को नैतिक भावों की प्रचुर राशि दान की है। उन्होंने उपदेशात्मक पद्य बहुत अच्छे लिखे हैं।

कुछ उदाहरण लीजिये।—

(१)

हमें ऐतिहासिक घटनायें जो शिक्षा दे जाती हैं।
स्वयं परीक्षा लेने उसकी लौट लौटकर आती हैं॥

(साकेत, ३७५)

(२)

मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं।
किन्तु हलाहल भव-सागर का शिवशंकर ही पीते हैं॥

(साकेत, ३७५)

कवि-सम्राट्

हिन्दी में 'सम्राट्' शब्द का भी बाज़ार-भाव गिर रहा है; जैसे, अंग्रेज़ी राज में 'राजा' का गिर चुका है। कितने ही ख़ुशामदी, डरपोक और गँजेड़ी-भँगेड़ी भी तो 'राजा' हैं। वैसे ही सम्पादकों की कृपा से कितने ही 'कवि-सम्राट्' हो गये हैं। सम्राट् तो एक ही होता है, पर हिन्दी में कवि-सम्राटों की गिनती ही नहीं है।

कवि-सम्मेलन

हिन्दी-कविता के प्रचार में कवि-सम्मेलनों से भी बड़ी सहायता मिलती है। पर जिस तरह से आजकल के कवि-सम्मेलन होते हैं, उससे लाभ कम, हानि अधिक हो रही है। कवि-सम्मेलनों में अच्छे और निकृष्ट सभी श्रेणियों के कवि कविता-पाठ करते हुये पाये जाते हैं; इससे श्रोताओं के सामने उच्च कोटि की कविता का कोई आदर्श ही नहीं आने पाता। यदि उर्दू-मुशायरों की तरह इसमें भी सुप्रसिद्ध कवि या किसी कवि से सिफ़ारिश-प्राप्त युवक ही कविता पढ़ने पायें, तो कुछ ही दिनों में अच्छी कविता की ओर लोगों की रुचि बढ़ जायगी और जिसको कविता पढ़नी होगी, वह सुन्दर रचकर लायेगा भी।

यह एक कौतूहलोत्पादक बात है कि कवि-सम्मेलनों से आजकल ब्याह-शादियों, जलसों और पार्टियों में मनोरंजन का भी काम लिया जाने लगा है। अब कवि-सम्मेलन के कारण रसिकों को भाँड़ों और रंडियों का अभाव खटकता नहीं। समाज-सुधार की दृष्टि से यह बुरा न हो, पर साहित्यिक दृष्टि से कविता का महत्व अवश्य घट रहा है। कविता एक तमाशे की चीज़ बन रही है। अतएवसाहित्य की वृद्धि के लिये कवि-सम्मेलनों की कोई रूप-रेखा शीघ्र निश्चित होनी चाहिये।

हिंदी के सम्पादक और समालोचक

यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी में आज, सन् १९३९ के अंत तक, एक भी समालोचक ऐसा नहीं दिखाई पड़ता, जो समालोचना-शास्त्र का विशेषज्ञ और एक अधिकारी व्यक्ति कहा जा सके। यों तो सामयिक पत्रों में रोज ही समालोचनायें निकलती रहती हैं और कुछ नामी कवियों की रचनाओं पर समालोचनात्मक पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं; पर उनसे उनके लेखकों की अनधिकार चेष्टा ही अधिक प्रकट हुई है, साहित्य का कुछ लाभ नहीं पहुँचा है।

एक ताज़ा उदाहरण लीजिये :—

इलाहाबाद की एक सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका सरस्वती (जिसके संपादक स्व० पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे) के जुलाई, १९३९ के अंक में किन्हीं ब्रजेश्वर महाशय ने आनन्दकुमार की 'सारिका' और उदयशङ्कर भट्ट के 'विसर्जन' की आलोचना छपवाई है। दोनों के कुछ विचारणीय अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं :—

"सारिका—लेखक श्रीयुत आनन्दकुमार हैं। पृष्ठ-संख्या ४८ और मूल्य आठ आना है। काग़ज़, छपाई-सफ़ाई अच्छी है।

इस छोटी-सी पुस्तक में कवि जी की २८ रचनायें हैं। कुछ बेतुकी हैं, कुछ तुकबन्द। एक-दो पंक्तियाँ अच्छी भी बन पड़ी हैं, शेष नये कवि के प्रयास-मात्र हैं। दूसरों की दिल्लगी उड़ाना उतना ही आसान है जितना कठिन स्वयं कुछ करके दिखाना है। एक-दो नमूने देखिए—

चारोंओर वनों में, कुसुम भरी क्यारियों में
करती विहार है पवन अभिसारिका।
इस मधु-मास में सरोवरों में देखता हूँ
श्याम-मधुपों ने है बसाई नई द्वारिका।

नवल वधू-सी आज सजके खड़ी है यह
यौवन-प्रभात में प्रकृति सुकुमारिका।
पुष्पबाण लिये फिरता है कामदेव-कवि
और काम-छन्द पढ़ती हैं पिक-सारिका।

कितना अस्त-व्यस्त वर्णन है। पहले पवन अभिसारिका दिखाई देती है। फिर द्वारिका का चित्र सामने आता है। तीसरे चरण में नव-यौवना प्रकृति-सुन्दरी के दर्शन होते हैं और चौथे चरण में स्वयं कवि जी कामदेव बने हुये पुष्प-शर ताने फिरते हैं। यही नहीं, एक नवीन संज्ञा 'काम-छन्द' भी देखने में आई; बधाई है। पूर्णचित्र बनाना सीखना हो तो इनसे सीखे।

"मृदु मुसुकानों की मणियों से, प्रिय अधरों ने थाल सजाये" इसमें एक तो मणियाँ थाल में सजाई गई, जो शायद कवि जी ने अपने यहाँ होते देखा हो, फिर "प्रिय अधर' तो कर्ता बन गये 'ने' चिह्न के अनुरोध से; थाल क्या रहे ? काँसी के, पीतल के या जर्मन-सिलवर के !

शायद आठ आना मूल्य का औचित्य सिद्ध करने के लिये ही पुस्तक में दस-बारह पृष्ठ भी जोड़ दिये गये हैं। आठ आना व्यय करके जो साहित्य-प्रेमी इस कोरे और रद्दी काग़ज़ों के बंडल को पायेगा वह अपने मन में क्या सोचेगा ! अच्छा हो यदि ऐसे कवि पैदा होते ही अपनी रचनाओं को प्रेस के गले में ठूँसने का प्रयत्न न किया करें।

विसर्जन—लेखक, श्रीयुत उदयशङ्कर भट्ट और प्रकाशक, श्रीयुत मदनलाल सूरी-सूरी ब्रदर्स, गणपति रोड, लाहौर हैं। छपाई-सफ़ाई अच्छी, पृष्ठ संख्या १२८ और मूल्य १।) है।

भट्ट जी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। सभी रचनायें आधुनिक ढंग की हैं जिनमें कवि के नवयुवक हृदय की झाँकी पंक्ति-पंक्ति में मिलती है। भाव-चित्रण भी सूक्ष्म और सुन्दर है। नमूना देखिए—

मज़दूर—

दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हें आराम मिला।
बलि दे देने को प्राण मिले, हण्टर को सूखा चाम मिला।
कुछ रूखे-सूखे टुकड़ों पर, बच्चों का गला हलाक किया।
बीबी की आशा कुचल-मसल, जीवन यों ही बेबाक किया।

× ×

मैं उलट-पुलट दूँगा समाज अपने अपार बलिदानों से।
अब और न माँगूँगा भिक्षा, गिड़गिड़ा कभी धनवानों से।

पुस्तक युवक कवियों का मार्ग प्रदर्शन करेगी और नवयुवक पाठकों के निकट आदरणीय होगी, इसकी हमें पूर्ण आशा है।"

अब ज़रा ग़ौर तो कीजिये :—

'सारिका' में किसी की दिल्लगी नहीं उड़ाई गई है, फिर भी समालोचक महाशय छाती पर चढ़े हुये विजयी पहलवान की तरह चबुवा रहे हैं कि 'दूसरों की दिल्लगी उड़ाना उतना ही आसान है जितना कठिन स्वयं कुछ करके दिखाना है।' इससे जान पड़ता है कि वे सारिका के लेखक से किसी दूसरी जगह का बुग़्ज़ दिल में लिये थे और उसका बदला चुकाने का मौक़ा पा गये हैं। समालोचक ने यह नहीं सोचा कि वह 'सारिका' पुस्तक की आलोचना लिखने बैठे हैं, न कि उसके रचयिता की।

ऐसी कलुषित मनोवृत्ति और बदला लेने की कुत्सित नीति से जब कविता की समालोचना की जायगी, तब किसी कवि के साथ न्याय की आशा कैसे की जा सकती है?

फिर 'मृदु मुसुकानों की मणियों से प्रिय अधरों ने थाल सजाये' का मज़ाक़ उड़ाते हुये समालोचक महाशय लिखते हैं—'शायद कवि जी ने अपने यहाँ होते देखा हो।' किसी नवागंतुक कवि के लिये यह परिहास समालोचक की मानसिक क्षुद्रता का एक नग्न चित्र है। किसी पुस्तक

की आलोचना करते समय उसके रचयिता के घर की हालत पर दृष्टि दौड़ाना क्या एक घोर अशिष्टता नहीं है !

और कहीं अगर यह प्रमाणित हो जाय कि 'सारिका' के कवि को थाल में सजी हुई मणियाँ देखने का अवसर मिल चुका है, तब तो किसी प्रेस में गुलामी करनेवाले समालोचक को कितनी बार छाती पीटनी पड़ेगी, यह एक देखने लायक़ तमाशा होगा।

जायसी ने ओठों का वर्णन करते हुये कहा है:—

हीरा लेय सो विद्रुम धारा। बिहसत जगत होय उजियारा।

अर्थात् '(पद्मावती की) हँसी रूपी हीरे का ज्योति जब मूँगे के समान लाल ओठों पर धारा की तरह बहती है, तब उस हँसी से संसार में उजाला हो जाता है।' यहाँ भी 'सारिका' के उक्त समालोचक महाशय निस्संदेह यह कहकर अपनी साहित्य-विमूढ़ता प्रकट करने में न चूकेंगे कि 'शायद जायसी ने अपने यहाँ ऐसा होते देखा हो।' उनको जानना चाहिये कि कवि वर्णन करने का अधिकारी होता है, वर्णन के अनुसार सामग्री उपस्थित करना उसका काम नहीं होता।

आगे समालोचक ने पुस्तक के प्रकाशक पर भी फबतियाँ उड़ाई हैं, यद्यपि प्रकाशक उनका समालोच्य विषय नहीं था। समालोचक ने यह तो बिलकुल ही झूठ लिखा है कि 'शायद आठ आना मूल्य का औचित्य सिद्ध करने के लिये ही पुस्तक में दस-बारह पृष्ठ भी जोड़ दिये गये हैं।' सारिका में कहीं दस-बारह पृष्ठ नहीं जोड़े गये हैं। और यदि ऐसा किया ही गया होता तो उससे कवि की कविता का क्या संबंध था ?

इस तरह के दलिद्दर दिमाग़वाले समालोचक हिन्दी-कविता की समालोचना करने में डटे हैं। इसे हिन्दी-कविता का दुर्भाग्य ही समझिये।

अब 'विसर्जन' की आलोचना पर आइये:—

जो ब्रजेश्वर महाशय 'सारिका' को कोरे और रद्दी कागज़ों का

बंडल बता चुके हैं, उनमें कविता के परखने की तमीज़ कितनी है, ज़रा इसका मुलाहज़ा कीजियेः—

समालोचक ने भट्टजी के सूक्ष्म और सुन्दर भाव-चित्रण का जो नमूना दिया है, उसकी पहली पंक्ति में मज़दूर कहता है—'दिन उनको मुझको रात मिली', इसमें कवित्व क्या है? इसका अर्थ क्या यह नहीं हो सकता कि मज़दूर अपने को उल्लू या चोर बता रहा है?

अन्त की चार पंक्तियों में मज़दूर के मुख से भट्टजी ने कहलाया है कि 'वह अपने अपार बलिदानों से समाज (को?) उलट पलट देगा।' पर एक व्यक्ति का बलिदान तो एक ही बार होता है, वह अपार नहीं हो सकता। और अंतिम चरण में 'गिड़गिड़ा' पदार्थ क्या कोई खिलौना है? निश्चय ही वहाँ भाषा की त्रुटि है; वहाँ 'गिड़गिड़ाकर' या उसका बोधक कोई दूसरा शब्द होना चाहिये था, जो समालोचक की पहुँच के बाहर है। और इस पूरे नमूने में कवि का चमत्कार तो किसी चरण या किसी शब्द में भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। इस नमूने से तो समालोचक ही की समझदारी की कलई खुल गई है। मैं भट्टजी से परिचित हूँ। 'विसर्जन' को भी पढ़ चुका हूँ। 'विसर्जन' में उसके कवि की प्रतिभा के चमत्कार-प्रदर्शन के लिये अन्य कितनी ही पंक्तियाँ हैं, जो नमूने के रूप में आकर भट्टजी का गौरव बढ़ातीं; पर खेद है, पूर्व-जन्म के किसी अपराध के फल-स्वरूप भट्टजी एक अनधिकारी समालोचक (!) के हाथों में पड़ गये।

इस उद्धरण से हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि इस ज़माने तक ज़्यादातर व्यक्तिगत बातों को लेकर और कुत्सित मनोवृत्ति से प्रेरित होकर समालोचनायें लिखी जा रही हैं और 'सरस्वती' जैसी सर्वश्रेष्ठ पत्रिका में स्थान भी पाती हैं।

यह एक नमूना है। इसी तरह की आलोचनायें हिन्दी के अन्य पत्रों में भी निकलती रहती हैं, जिनमें ख़ुशामद के लिये या दलबंदी के

खयाल से, समालोचक-गण, जिनमें पत्रों के सम्पादक और कुछ नव-युवक एम० ए०, बी० ए० भी शामिल हैं, अपने कवि की नीरस से नीरस पंक्तियाँ उद्धृत करके उसमें अमृत का समुद्र लहराता हुआ बताकर, उस मृग-जल पर अन्य रसिकों को आकर्षित करने का उपहासास्पद प्रयत्न करते रहते हैं। उनके चुने हुये पद्यों से उनकी काव्य-मर्मज्ञता का खोखलापन ही ज़्यादा ज़ाहिर होता है, और तब उनके साहस पर दया आती है।

हिन्दी के सम्पादक हिन्दी-साहित्य की प्रगति को रोकने और साहित्य-कारों को गुमराह करने में समालोचकों से भी आगे बढ़े हुये हैं। उनको अपने पत्र-पत्रिकाओं के लिये मुफ़्त में कविता चाहिये। जो भेज देता है, उसके वे भाँट या चारण बन जाते हैं। समालोचना के लिये उनके पास पुस्तकें जाती हैं, उठाकर इधर-उधर डाल देते हैं। तकाज़े करने पर पुस्तक हाथ में ली, इधर-उधर पन्ने उलटे और अगर उसका लेखक उनके दल का हुआ तो दो-चार प्रशंसा के कंठस्थ वाक्य लिख दिये और एक-दो उदाहरण दे दिये; बस, कर्तव्य-पालन हो गया। अपने दल का न हुआ तो दो-चार पंक्तियाँ चुनकर उसकी खिल्ली उड़ा दी। ख़ुद को फ़ुरसत न रही, तो पुस्तक किसी नौसिखिये लेखक को थमा दी। उसने जो कुछ समझ में आया, उलटा-सीधा लिख दिया। कवि ने पढ़ा, विष के घूँट पीकर रह गया।

पर संपादक को यह न भूलना चाहिये कि वह शिक्षितों के बीच में बैठा है, जहाँ चारोंओर से उसकी योग्यता और अयोग्यता पर नज़र पड़ रही है। काग़ज़, स्याही, टाइप और उसका पद उसकी अयोग्यता या त्रुटियों को ढककर नहीं रख सकते, बल्कि ये तो उसे अधिक प्रकाश में लाने ही में सहायक होते हैं।

कोई सम्पादक साहित्य के हरएक विषय का समालोचक भी हो, यह संभव नहीं है। पर हिन्दी में प्रायः ऐसा ही चलता है कि चाहे जिस

विषय की पुस्तक हो, संपादक उससे परिचित हो या नहीं, वह उसकी उड़ती-पड़ती समालोचना कर ही देगा। और इतनी कायरता भी प्रकट कर देगा कि अपना नाम न देकर कोई कल्पित नाम दे देगा। जैसे, उपर्युक्त आलोचना में व्रजेश्वर का नाम है। व्रजेश्वर को हिन्दी में कोई नहीं जानता कि वे कौन हैं? और कविता समझने की उनमें कहाँ तक लियाक़त है? स्पष्टतः यह कायरता है और किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति या पत्र-पत्रिका के लिये गौरव-वर्द्धक नहीं है।

हिन्दी में दलबंदियों का भी प्राबल्य ज़ोरों पर है। पढ़े-लिखे लोग अपने मित्र या परिचित कवि या लेखक को लेकर विभिन्न दलों में बँट गये हैं और अपने-अपने नायक की प्रशंसा और दूसरों की निंदा या उपेक्षा में प्रयत्न-शील हैं; इससे साहित्य का असली रूप क्या है, और क्या होना चाहिये, यह स्पष्ट नहीं होने पा रहा है।

एक एम० ए० महाशय ने, जो प्रोफेसर भी हैं, मैथिलीशरण गुप्त-जी की कला पर एक पुस्तक लिखी है। गुप्तजी की कला के उन्होंने उदाहरण भी दिये हैं। उनसे यह भी पता चलता है कि उन्होंने ख़ुद कला को क्या समझ रक्खा है।

वे लिखते हैं :—

'हरिऔध' जी के 'प्रिय-प्रवास' के आरंभ की जिन पंक्तियों की प्रशंसा कुछ साल पूर्व बड़े-बड़े समालोचना-शास्त्रज्ञों ने इसलिये की थी कि उनमें परिपाटी-मुक्त तथा आडंबर-शून्य रस का सहज आह्लादकारी स्रोत प्रवाहित है। यदि उन पंक्तियों के समक्ष 'पंचवटी' या 'साकेत' के आरम्भ की पंक्तियाँ रखदी जायँ तो केवल उपाध्यायजी की रचना ही निस्तेज न हो जायगी, वरन् नैसर्गिक, सरल तथा आह्लादक प्रसाद किसे कहते हैं, इसे भी समझा जा सकेगा।

(गुप्तजी की कला, पृ० १४, १५)

मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।

अब 'प्रियप्रवास' के आरंभ की पंक्तियाँ पढ़कर तब गुप्तजी की उन पंक्तियों को भी पढ़ लीजिये, जिनके समक्ष, समालोचक के कथनानुसार, 'प्रियप्रवास' (हरिऔधजी) की रचना निस्तेज हो जाती है ।

'प्रियप्रवास' की प्रारंभिक पंक्तियाँ ये हैं:—

दिवस का अवसान समीप था ।
गगन था कुछ लोहित हो चला ।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ।

इन पंक्तियों से जिनको श्रेष्ठ कहा गया है, वे ये हैं:—

रात्रि-वर्णन

चारु चंद्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में ।
श्वेत वसन सा बिछा हुआ है, अवनि और अंबरतल में ॥
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से ।
मानो झूम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से ॥

(पंचवटी)

प्रातःवर्णन

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ ।
किन्तु देखो रात्रि का जाना हुआ ।
क्योंकि उसके अङ्ग पीले पड़ गये !
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ गये ॥

(साकेत)

अब दोनों पर विचार कीजिये ।—

'प्रियप्रवास' की उपर्युक्त पंक्तियों में प्रसाद-गुण की कमी क्या है ? कर्ण-सुखद सुमधुर शब्दावलियों से अलंकृत तीन वाक्यों में चार पंक्तियाँ समाप्त हुई हैं । एक भी शब्द दुरूह नहीं है ।

'पञ्चवटी' वाली दूसरी पंक्ति में अवनि और अंबरतल 'में' श्वेत

वसन-सा बिछा हुआ है, सही होगा ? या अवनि और अंबरतल 'पर' ! वसन वस्तु 'पर' बिछता है, वस्तु 'में' नहीं। और तीसरे चरण में 'धरती हरित तृणों की नोकों से पुलक प्रकट करती है', कहा गया है, पर हरित तृणों की नोकें तो दिन में भी रहती हैं, खासकर रात में उन में क्या नयापन प्रकट हुआ, जिसे धरती की पुलक कहा गया ! और रात में तृणों की हरीतिमा का पता भी तो नहीं चल सकता; क्योंकि सब हरी चीज़ें काली दिखाई पड़ती हैं। अतएव तृणों का हरित विशेषण वहाँ व्यर्थ ही है। चौथे चरण में 'झीम' शब्द है, जो हिन्दी-साहित्य में अप्रचलित और ग्राम्य है। न तीसरी पंक्ति में और न चौथी ही में, कोई उपमा है, फिर किसके लिए 'मानो' आया है ?

'साकेत' के 'प्रातः वर्णन' की तीसरी पंक्ति में रात्रि के जाने का यह लक्षण बताया गया है कि उसके अंग पीले पड़ गये हैं। पर किसी के अंग पीले पड़ जाने से तो केवल उसका भयभीत या रुग्ण होना ही प्रमाणित होता है। चौथे चरण में रात्रि के रम्य रत्नाभरणों के ढीले पड़ जाने का भी उल्लेख है। रात्रि के रम्य रत्नाभरण चाँद और तारे हो सकते हैं। वे फीके पड़ जाते हैं, पर ढीले क्यों पड़ेंगे ? पद्यकार ने तुक के लिये 'ढीले' शब्द चुना है, यह स्पष्ट होने पर भी समालोचक को उसमें कला का दर्शन हुआ है, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

हरिऔधजी की पंक्तियाँ गुप्तजी की पंक्तियों से कहीं अधिक दोष-हीन, सरस और प्रसाद-गुण पूर्ण हैं। पहले तो गुप्तजी को हरिऔधजी से श्रेष्ठ साबित करने का प्रयत्न ही एक अशिष्टता है। दूसरे, साहित्य-सेवा के खयाल से करना ज़रूरी ही हो, तो गुप्तजी की निर्दोष पंक्तियाँ चुननी चाहिये थीं।

इससे हमारे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि किस तरह अनधिकारी या खुशामदी समालोचक और सम्पादक हिन्दी-साहित्य की प्रगति में बाधक हो रहे हैं।

उपसंहार

कविता क्यों की जानी चाहिये ? इस प्रश्न पर आइये, हम एक बार फिर विचार कर लें।

सन् १९२० में, छठें गुजराती साहित्य-परिषद् के सभापति के आसन से विश्व-वन्द्य कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हिन्दी में एक भाषण किया था। उसका एक अंश, उन्हीं की हिन्दी में, यहाँ हम उद्धृत करते हैं :—

"कवि की साधना है क्या चीज़ ? वह और कुछ नहीं, बस आनन्द के तीर्थ में, रस-लोक में, विश्व-देवता के मन्दिर के आङ्गन में, सर्व-मानव का मिलन-गान से विश्व-देवता की अर्चा करना। सब राहों की चौमुहानी पर कवि की बाँसुरी टेर से यह सुनाने के लिये है कि जिस प्रेम की राह में मुझको ईश्वर बुला रहे हैं, वहाँ जाने का सम्बल है दुःख को स्वीकार करना, अपने को भरपूर दान करना; और उस राह का परम लाभ है वह, जो है मेरी परमा सम्पत्, मेरा परम लोक और मेरा परम आनन्द। भगवान् के वह चरण-पद्म में सारा भारत का चित्त एक हो जावे, यही एक भाव सारा दुनिया के ऐक्य की राह दिखलावेगा।"

अब आइये, इसी समय कविता के सम्बन्ध में एक और सर्वश्रेष्ठ पुरुष की क्या राय है, उसे भी सुन लीजिये :—

२१ नवम्बर, १९२४ के "हिन्दी नवजीवन" में श्रीयुत दिलीपकुमार राय और महात्मा गाँधी का एक वार्तालाप प्रकाशित हुआ है। महात्मा जी ने कला के विषय में श्रीयुत राय से यह कहा था—

"कलाकार जब कला को कल्याणकारी बनावेंगे और जनसाधारण के लिये उसे सुलभ कर देंगे, तभी उस कला को जीवन में स्थान रहेगा। जब कला सब लोगों की न रहकर थोड़े लोगों की रह जाती है, तब मैं मानता हूँ कि उसका महत्त्व कम हो जाता है।"

"हरएक ऐसे बुद्धि के व्यापार का मूल्य, जि.में कुछ विशेषता हो,

अर्थात् जिससे ग़रीब लोगों को वञ्चित रहना पड़ता हो, उस वस्तु से अवश्य कम है जो सर्वसाधारण के लिये होगी। वही काव्य और वही साहित्य चिरञ्जीवी रहेगा जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे। जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।"

एक ही समय के दो सर्वमान्य व्यक्तियों की सम्मतियों में हमें कवि का एक ही कर्तव्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है, और वह है लोक-कल्याण। रवीन्द्र ने कवि को सब राहों की चौमुहानी पर खड़े होकर चारोंओर के मानव-समाज को प्रेम-गान सुनाने का आदेश किया है। महात्मा गाँधी कला को—कविता को—कल्याणकारी बनाना और सर्वसाधारण के लिये सुलभ करना आवश्यक बताते हैं। इन कसौटियों पर अपनी खड़ीबोली की कविता को कसकर देखिये।

कवितागत जो भाव मनुष्यों में अनीति और आलस्य फैलाते हैं, पहले तो उन्हें रोकना होगा। हमने माना कि खड़ीबोली के कवियों ने शृङ्गार-रस की अश्लील कविताओं का बहिष्कार लोक-कल्याण की कामना ही से किया है, पर उसके बदले में वे समाज को देते क्या हैं? केवल ऐसे कल्पित चित्र, जिनमें कोई रूप नहीं; और यदि है भी, तो ऐसा, जिसे देखने के लिये सर्वसाधारण के पास वैसे अनुभव की आँखें नहीं। ऐसे चित्र केवल थोड़े से ऐसे लोगों को लाभदायक या मनोरञ्जक हो सकते हैं, जिनके अनुभव की आँखें हैं। महात्मा गाँधीजी की दृष्टि में ऐसी कला का महत्त्व कम है जिससे सर्वसाधारण वंचित रह जायँ।

यह विषय हिन्दी के उन नवीन कवियों के लिये अधिक विचारणीय है, जो कठिन शब्दों से लदी हुई भाषा में रचना करते हैं और उसमें भी अस्पष्ट भावों की सृष्टि।

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग।
३० दिसम्बर, १९३९

रामनरेश त्रिपाठी

कविता-कौमुदी

दूसरा भाग

हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र बङ्गाल के इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में थे। सेठ अमीचन्द के दोनों पुत्र राय रतनचन्द बहादुर और शाह फतहचन्द काशी में आ बसे थे। शाह फतहचन्द के पौत्र बाबू हरखचन्द ने बहुत धन कमाकर उसका सद्व्यय किया और बड़ी प्रसिद्धि लाभ की। बाबू हरखचन्द के पुत्र बाबू गोपालचन्द्र हुये, जिन्होंने हिन्दी में चालीस ग्रन्थ रचे। कविता-कौमुदी के प्रथम भाग में उनकी जीवनी प्रकाशित हुई है। उन्हीं बाबू गोपालचन्द्र के सुपुत्र बाबू हरिश्चन्द्र हुये।

बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल सप्तमी, सं० १९०७ (ता० ९ सितम्बर, १८५०) में हुआ। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। जब ये ५, ६ वर्ष के थे, उस समय इनके पिता बाबू गोपालचन्द्रजी "बलराम कथामृत" की रचना कर रहे थे। इन्होंने उनके पास जाकर खेलते खेलते कहा—हम भी कविता बनावेंगे। पिता ने हँसकर कहा—तुम्हें उचित तो यही है। उस समय बाणासुर का प्रसंग लिखा जा रहा था। इन्होंने तुरन्त यह दोहा बनाकर पिता को दिखाया—

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥

पिता ने प्रेम-गद्गद होकर प्यारे पुत्र को गले से लगा लिया और कहा—तू हमारे नाम को बढ़ावेगा।

एक दिन बाबू गोपालचन्द्र की सभा में कुछ कवि बैठे थे। कवि लोग उनके "कच्छप कथामृत" के मङ्गलाचरण के एक पद की व्याख्या कर रहे थे। पद यह था—"करन चहत जस चारु, कछु कछुवा भगवान को।" बालक हरिश्चन्द्र भी वहाँ आ बैठे थे। किसी ने "कछुवा (उस) भगवान को," किसी ने "कछु कछुवा (कच्छप) भगवान को" ऐसा अर्थ किया। हरिश्चन्द्र चट बोल उठे—नहीं नहीं, बाबूजी, आपने कुछ कुछ जिस भगवान् को छू लिया है, (कछुक छुवा भगवान को) उसका यश आप वर्णन करना चाहते हैं। बालक की इस नई उक्ति पर सभा के सब लोग मुग्ध हो गये और पिता ने आँखों में आँसू भरकर, अपने प्यारे पुत्र का मुँह चूमकर, अपने भाग्य की सराहना की।

एक दिन पिता को तर्पण करते देख ये पूछ बैठे—बाबूजी, पानी में पानी डालने से क्या लाभ? यह सुनकर पिता ने माथा ठोंका और कहा—जान पड़ता है तू कुल बोरैगा। समय पाकर पिता का आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही फलीभूत हुए।

नौ वर्ष की अवस्था में ही हरिश्चन्द्रजी पितृहीन हो गये। इससे इनकी स्वतंत्र प्रकृति को और भी स्वच्छन्दता मिल गई। उसी समय इनकी पढ़ाई का सिलसिला शुरू हुआ। ये कालेज में भरती किये गये। परीक्षा में ये सदा उत्तीर्ण होते रहे। उस समय काशी के रईसों में राजा शिवप्रसाद ही अँग्रेज़ी के अच्छे ज्ञाता थे। ये भी कुछ दिनों तक उनके पास अंग्रेज़ी पढ़ने जाया करते थे। तीन चार वर्ष तक तो पढ़ने का क्रम ज्यों त्यों करके चला; परन्तु सन् १८६४ में जब ये अपनी

माता के साथ श्रीजगदीशजी की यात्रा को गये, उस समय से इनका पढ़ना-लिखना बिल्कुल छूट गया।

यात्रा से लौटने पर इनकी रुचि कविता और देशहित की ओर विशेष फिरी। इनको निश्चय हो गया कि पाश्चात्य शिक्षा के बिना कुछ नहीं हो सकता। इसलिये इन्होंने स्वयं पठित विषयों का अभ्यास प्रारम्भ किया और अपने घर पर एक स्कूल भी खोल दिया, जिसमें महल्ले के लड़के आकर पढ़ने लगे। यही स्कूल उन्नति करते करते आज "हरिश्चन्द्र हाई स्कूल" के नाम से शिक्षा का विस्तार कर रहा है। सन् १८६८ में इन्होंने "कवि-वचन-सुधा" नामक मासिक-पत्र निकाला, जिसमें नये पुराने सब हिन्दी-कवियों के अप्रकाशित ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे। कुछ समय के उपरान्त "कवि-वचन-सुधा" को इन्होंने पाक्षिक और साप्ताहिक कर दिया। उस समय उसमें केवल पद्य ही नहीं, बल्कि राजनीति तथा समाज-सुधार-विषयक गद्य-लेख भी निकलते थे।

सन् १८७० में ये आनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाये गये। किन्तु कुछ दिनों के बाद इन्होंने स्वयं उस पद को छोड़ दिया। सन् १८७३ में इन्होंने "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" भी निकालना प्रारम्भ किया। किन्तु वह केवल आठ ही अंक निकलकर बन्द हो गया। १८७३ में ये खूब परिमार्जित भाषा में गद्य-पद्य-लेख लिखने लग गये थे। इसी वर्ष इन्होंने "पेनी रीडिंग" नामक समाज स्थापित किया था। जिसमें भद्र लोग स्वयं विविध विषयों के अच्छे अच्छे लेख लिखकर लाते और पढ़ते थे। इसी समय "कर्पूरमंजरी," "सत्य हरिश्चन्द्र," और "चन्द्रावली" की रचना हुई। १८७३ में इन्होंने "तदीय समाज" नाम की सभा स्थापित की। जिसमें प्रेम और धर्म सम्बन्धी विषयों पर विचार हुआ करता था। दिल्ली दरबार के समय इस समाज ने गोरक्षा के लिये एक लाख प्रजा के हस्ताक्षर करवाये थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बड़े उदार पुरुष थे। कितने ही लोगों को पुरस्कार दे देकर इन्होंने कवि और सुलेखक बना दिया। ये सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। गाने-बजाने, चित्रकारी, पुस्तक-संग्रह, अद्भुत पदार्थों का संग्रह, सुगन्ध-संग्रह, उत्तम कपड़े, खिलौने, पुरातत्व की वस्तु, लम्प, अलबम, फ़ोटोग्राफ़ आदि सभी प्रकार की वस्तुओं से इनको बड़ा शौक था। इनके पास कोई गुणी आ जाता तो वह विमुख कभी नहीं फिरता था। बीस बाईस वर्ष में इन्होंने अपने तीन चार लाख रुपये खर्च कर डाले। कवि परमानन्द को "बिहारी सतसई" का संस्कृत अनुवाद करने पर ५००) पारितोषिक दिया था। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी को निम्नलिखित एक दोहे पर १००) और अंग्रेज़ी रीति पर अपनी जन्मपत्री बनवाकर ५००) दिये थे :—

राजघाट पर बँधत पुल, जहँ कुलीन की ढेरि।
आज गये कल देख के, आजहिं लौटे फेरि॥

उदारता से ही अंत में ये ऋणग्रस्त हो गये।

हिन्दी को राजभाषा बनाने का पहले-पहल उद्योग हरिश्चन्द्र ने ही किया था। अपनी कौतुक-प्रियता के कारण "लेवी प्राण लेवी" और मर्सिया लिखकर ये गवर्नमेंट की कोप-दृष्टि में भी पड़े थे। किन्तु इन्होंने किसी की कुछ परवा नहीं की। अपने अटल प्रेम और आनन्द में ये मस्त रहे।

हिन्दी के प्रचार में बाबू साहब ने बड़ा उद्योग किया। हिन्दी इनकी चिरऋणी रहेगी। हिन्दी के समस्त समाचार-पत्रों ने १८८० में इन्हें भारतेन्दु की पदवी से विभूषित किया था। इस उपाधि का आदर राजा और प्रजा दोनों ने किया।

सब से पहली सवैया इन्होंने यह बनाई थी :—

यह सावन सोक नसावन है मनभावन यामैं न लाजै भरो।
जमुना पै चलौ सु सबै मिलिकै अरु गाइ बजाइ कै सोक हरो॥
इमि भाषत हैं हरिचन्द प्रिया अहो लाड़िली देर न यामें करो।
बलि झूलो झुलाओ झुको उझको यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं धरो॥

भारतेन्दु आशु कवि थे। बातें करते जाते थे, कविता रचते जाते थे। अन्धेर-नगरी एक ही दिन में लिखी गई। विजयिनीविजय-वैजयन्ती भी एक ही दिन की रचना है। स्वरचित ग्रन्थों में इन्हें ये ग्रन्थ बहुत पसन्द थे—प्रेम फुलवारी, सत्य हरिश्चन्द, चन्द्रावली, तदीय सर्वस्व, काश्मीर कुसुम, भारत दुर्दशा।

इनके लिखे सम्पूर्ण ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं:—

नाटक

प्रवास (अपूर्ण, अप्रकाशित), सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, विद्या-सुन्दर, धनञ्जय-विजय, चंद्रावली, कर्पूरमंजरी, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, भारत-जननी, पाषण्ड विडम्बन, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, अन्धेर नगरी, विषस्य विषमौषधम्, प्रेम योगिनी (अपूर्ण), दुर्लभबन्धु (अपूर्ण), सती प्रताप (अपूर्ण), नव मल्लिका (अपूर्ण, अप्रकाशित), रत्नावली (अपूर्ण), मृच्छकटिक (अपूर्ण, अप्रकाशित, अप्राप्य)।

आख्यायिका, उपन्यास

रामलीला, हमीरहठ (अपूर्ण, अप्रकाशित), राजसिंह (अपूर्ण), कुछ आप बीती कुछ जग बीती (अपूर्ण), सुलोचना, मदालसोपाख्यान, शीलवती, सावित्री चरित्र।

काव्य

गीत गोविन्दानन्द (गाने के पद्य), प्रेम माधुरी (शृङ्गार रस के कवित्त सवैया), प्रेम फुलवारी (गाने के पद्य), प्रेम मालिका (गाने),

प्रेम प्रलाप (गाने), प्रेम तरंग (गाने), मधुमुकुल (गाने), होली, मानलीला, दानलीला, देवी छद्मलीला, कार्तिक स्नान, विनय पचासा, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेम सरोवर (दोहे), फूलों का गुच्छा (लावनी), जैन कुतूहल, सतसई शृङ्गार (बिहारी सतसई पर कुण्डलियाँ), नये ज़माने की मुकरी, विनोदिनी (बङ्गला), वर्षा विनोद (गाने), प्रात समीरन, कृष्ण चरित्र, उरहना, तन्मय लीला, रानी छद्मलीला, चित्र काव्य, होली लीला।

स्तोत्र

श्रीसीतावल्लभ स्तोत्र (संस्कृत), भीष्मस्तवराज, सर्वोत्तम स्तोत्र, प्रातस्मरण मङ्गल-पाठ, स्वरूप चिन्तन, प्रबोधिनी, श्रीनाथाष्टक।

अनुवाद

नारदसूत्र, भक्ति-सूत्र-वैजयन्ती, तदीय सर्वस्व, अष्टपदी का भाषार्थ, श्रुति-रहस्य, कुरान शरीफ़ का अनुवाद (अपूर्ण), श्री वल्लभाचार्य कृत चतुश्श्लोकी, प्रेम-सूत (अपूर्ण)।

परिहास

पाँचवें पैगम्बर, स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, सबै जाति गोपाल की, बसन्त पूजा, वेश्या स्तोत्र, (पद्य), अंगरेज़-स्तोत्र (गद्य), मदिरास्तवराज, कङ्कड़ स्तोत्र, बकरी-विलाप (पद्य), स्त्री-दण्ड-संग्रह, परिहासिनी, फूल बुझौवल, मुशाइरा, स्त्री-सेवा-पद्धति, रुद्री का भावार्थ, उर्दू का स्यापा, मेलाझमेला, बन्दर-सभा।

धर्म, इतिहास आदि

भक्त-सर्वस्व, वैष्णव-सर्वस्व, वल्लभीय सर्वस्व, युगल सर्वस्व, पुराणोपक्रमणिका, उत्तरार्द्ध भक्तमाल, भारतवर्ष और वैष्णवता।

माहात्म्य

गो-महिमा, कार्तिक-कर्मविधि, वैशाख-स्नान-विधि, माघ-स्नान विधि, पुरुषोत्तम-मास-विधि, मार्गशीर्ष-महिमा, उत्सवावली, श्रावण-कृत्य।

ऐतिहासिक

काश्मीर-कुसुम, बादशाह-दर्पण, महाराष्ट्र देश का इतिहास, उदयपुरोदय, बूँदी का राजवंश, अग्रवालों की उत्पत्ति, खत्रियों की उत्पत्ति, पुरावृत्त-संग्रह, पञ्च पवित्रात्मा, रामायण का समय, श्रीरामानुज स्वामी का जीवनचरित्र, जयदेवजी का जीवनचरित्र, सूरदासजी का जीवनचरित, कालिदास का जीवन-चरित्र, विक्रम और बिल्हण, काष्ठ-जिह्वा स्वामी, पंडित राजाराम शास्त्री, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, नेपोलियन, जज द्वारकानाथ मित्र, लार्ड म्यो, लार्ड लारेंस, ज़ार काल-चक्र, सीतावट-निर्णय, दिल्ली-दर्बार-दर्पण।

राजभक्ति

भारत-वीरत्व, भारत-भिक्षा, मुँह दिखावनी, मानसोपायन, मनोमुकुल माला, लुइसा-विवाह, राजकुमार-विवाह-वर्णन, विजयिनी-विजय-वैजयन्ती, सुमनोञ्जलि, रिपनाष्टक, विजय-वल्लरी, जातीय संगीत, राजकुमार-सुस्वागत पत्र।

स्फुट ग्रन्थ, लेख, व्याख्यान, यात्रा आदि

नाटक, हिन्दी-भाषा, संगीतसार, कृष्णपाक, हिन्दी-व्याकरण-शिक्षा, कमीशन में साक्षी, तहक़ीक़ाते पुरी की तहक़ीक़ात, प्रशस्ति-संग्रह, प्रतिमा-पूजन-विचार, रस-रत्नाकर, ख़ुशी, हिन्दी, भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, मेवाड़-यात्रा, जनकपुर-यात्रा, सरयूपार की यात्रा, वैद्यनाथ-यात्रा, भूगोल सम्बन्धी बातें, भंडरी वर्षमालिका, मध्यान्ह-सारिणी मूक-

प्रशस्ति, वृत्त-संग्रह, राजा जन्मेजय का दानपत्र, मङ्गलीश्वर का दानपत्र, मणिकर्णिका, काशी, पम्पासर का दानपत्र, कनौज, नागमङ्गला का दानपत्र, चित्रकूटस्थ रमाकुण्ड-प्रशस्ति. गोविन्ददेवजी के मन्दिर की प्रशस्ति, प्राचीन-काल का सम्वत-निर्णय, शिवपुर का द्रौपदी-कुण्ड, भ्रूणहत्या, हाँ हम मूर्तिपूजक हैं, दुर्जन-चपेटिका, ईशूख्रष्ट और ईश-कृष्ण, शब्द में प्रेरक शक्ति, भक्ति ज्ञानादिक से क्यों बड़ी है ? पब्लिक ओपिनियन, बङ्गभाषा की कविता, विनय-पत्र, कुरान-दर्शन, इन्द्रजाल, चतुरङ्ग, लाजवन्ती, पतिव्रत, कुलवधूजनों को चितावनी, स्त्री, वर्षा, सती चरित्र ? रामसीता सम्वाद ? वसन्त और कोकिला ? सरस्वती और सुमति का सम्वाद ? लवली और मालती सम्वाद ? प्रेम-पथिक ? (चिह्न वाले लेख सन्दिग्ध हैं, वे हरिश्चन्द्र ही के लिखे हैं या दूसरों के ?), मित्रता, अपव्यय, किसका शत्रु कौन है ?, भूकम्प, नौकरों को शिक्षा, बुरी रीतें, सूर्योदय, आशा, लाख लाख बात की एक बात, बुद्धिमानों के अनुभूत सिद्धान्त, भगवत् स्तुति, अङ्कमय जगत् वर्णन, ईश्वर के वर्तमान होने के विषय में, इङ्गलैंड और भारतवर्ष, वज्राघात से मृत्यु, त्योहार, होली, वसन्त, लेवी प्राण लेवी, मर्सिया ।

सम्पादित, संगृहीत

सुन्दरी तिलक, राधासुधा शतक, सुजानशतक, कवि-हृदय-सुधाकर, चमनिस्ताने हमेशा बहार चार भाग, गुलज़ारे पुर बहार, जरासन्ध-वध महा-काव्य, भागवत-शङ्का-निराशवाद, मलारावली, शृङ्गार सप्तशती, भाषा-व्याकरण (पद्य), इत्यादि ऐसे सम्पादित और संगृहीत पुस्तकों की संख्या ७५ है ।

भारतेन्दुजी बड़े रसिक और प्रेमी जीव थे । जिस समय ये प्रेमावेश में होते थे, इन्हें अपने शरीर की सुध न रहती थी । भगवान् श्रीकृष्ण के ये अनन्य भक्त थे । ये प्रायः कहा करते थे :—

श्रीराधा माधव युगल प्रेमरस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥
इतबार न हो तो देख न ले क्या हरिश्चचन्द्र का हाल हुआ।
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥

सांसारिक भोग-विलास में फंसे रहने पर भी ये अपने को भूले न थे। एक स्थान पर ये कहते हैं :—

जगत जाल में नित बँध्यो, परयो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचंद॥

"प्रेम-जोगिनी" में सूत्रधार के मुँह से कहलाते हैं—

"कहेंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।"

इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दुजी का यह कथन अक्षरशः सत्य हुआ।

अपने विषय में ये अभिमानपूर्वक कहा करते थे :—

चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत के नेम।
पै दृढ़ श्रीहरिचंद को, टरै न अविचलप्रेम॥

मेवाड़-नरेश महाराणा सज्जनसिंह का इन पर बड़ा स्नेह था। उन से मिलने के लिये ये सन् १८८२ में उदयपुर गये। वहाँ से लौटने पर बीमार हो गये। बीमारी की हालत में भी इनका लिखना पढ़ना न छूटा। शरीर क्षीण होने लगा। क्षय का रोग हो गया। मरने से महीना डेढ़ महीना पहले इनका हृदय शांतिरस की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ था। १८८५ की दूसरी जनवरी को इन्हें यकायक भयानक ज्वर आया। तीसरे दिन खांसी का प्रकोप हुआ। ६ जनवरी को सवेरे तबीयत बहुत ठीक रही अन्तःपुर से दासी स्वास्थ्य का समाचार पूछने आई। इन्होंने हँसकर कहा :—

"हमारे जीवन-नाटक का प्रोग्राम नित्य नया नया छप रहा है। पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खांसी की सीन हो चुकी, देखें लास्ट नाइट कब होती है।"

उसी दिन दोपहर को स्वास्थ्य फिर खराब हो चला। धीरे-धीरे रात के नौ बजे का समय आ पहुँचा। ये यकायक पुकार उठे—"श्रीकृष्ण! राधाकृष्ण! हे राम! आते हैं, मुख दिखलाओ।" कंठ कुछ रुकने लगा। एक दोहा-सा कहा, जो साफ़ साफ़ सुना नहीं गया! बस, पौने दस बजे भारतेन्दु अस्त हो गया। इनकी मृत्यु से भारतवर्ष भर के विद्वान् बहुत दुःखी हुये थे। सारे देश में शोक सभायें हुईं। अङ्गरेज़ी, उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी आदि प्रायः सब भाषाओं के पत्रों ने महीनों शोक-चिन्ह धारण किया।

भारतेन्दु अपने समय के एक सर्वप्रिय विद्वान् और सुकवि थे; इनकी सब से अंतिम रचना यह पद है :—

डङ्का कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई॥
जब चलना ही निहचै है तो लै किन माल लदाई।
हरीचंद हरिपद बिनु नहिं तौ रहि जैहौ मुँह बाई॥

नीचे हम भारतेन्दु के काव्य-ग्रन्थों से इनकी कुछ ललित रचनाओं का नमूना उद्धृत करते हैं :—

(१)

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत॥

सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मन-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल मण्डन भवखण्डन सुर-सरबस॥

शिव-सिर-मालति-माल भगीरथ नृपति-पुण्य-फल।
ऐरावत-गज-गिरि-पति-हिम-नग-कण्ठहार कल॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जलमात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हूँ नहिं तजी रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥

धवल धाम चहुँ ओर फरहरत ध्वजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥

कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि वदन करन अतिही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत॥

सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई।
गङ्गा-छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई॥

(२)

प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले।
मन्द परे रिपुगन तारा सम जन-भय-तम उनमूले॥
बसे चोर लम्पट खल।लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो।
मागध बन्दी सूत चिरैयन मिलि कल रोर मचायो॥
तुव जस सीतल पौन परसि चटकीं गुलाब की कलियाँ।
अति सुख पाइ असीस देत कोइ करि अँगुरिन चट अलियाँ॥
भये धरम में थित सब द्विजजन प्रजा काज निज लागे।
रिपु-जुवती-मुख-कुमुद मन्द, जन-चक्रवाक अनुरागे॥
अरथ सरिस उपहार लिये नृप ठाढ़े तिनकहँ तोखौ।
न्याय कृपा सों ऊँच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ॥

(३)

सोई मुख जेहि चन्द बखान्यो। सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यो॥
सोई भुज जो प्रिय गर डारें। सोइ भुज जिन नर विक्रम पारें॥
सोई पद जिहि सेवक बन्दत। सोई छबि जेहि देखि अनन्दत॥
सोइ रसना जहँ अमृत बानी। जेहि सुनि के हिय नारि जुड़ानी॥
सोई हृदय जहँ भाव अनेका। सोई सिर जहँ निज बच टेका॥
सोई छबि-मय अंग सुहाये। आजु जीव बिनु धरनि सुहाये॥
कहाँ गई वह सुन्दर सोभा। जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत। ताकहँ आजु सबै मिलि दाहत॥
फूल बोझ हू जिन न सहारे। तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी। करत कपाल-क्रिया तिन केरी॥
छिनहूँ जे न भये कहुँ न्यारे। तेऊ बन्धु तन छोड़ि सिधारे॥
जो दृगकोर महीप निहारत। आजु काक तेहि भोज बिचारत॥
भुज बल जे नहिं भुवन समाये। ते लखियत मुख कफन छिपाये॥

नरपति प्रजा भेद बिनु देखे। गने काल सब एकहिं लेखे ॥
सुभग कुरूप अमृत बिख साने। आजु सबै इक भाव बिकाने ॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं। रहे नाँवही ग्रन्थन माँहीं ॥

(४)

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर नारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी।
अन्धकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डरपावई।
सँग दादुर झींगुर रुदन धुनि, मिलि स्वर तुमुल मचावई ॥

(५)

सहत विविध दुख मरि मिटत, भोगत लाखन सोग।
पै निज सत्य न छाँड़हीं, जे जग साँचे लोग ॥
बरु सूरज पच्छिम उगै, विन्ध्य तरै जल माहिं।
सत्य बीरजन पै कबहुँ, निज बच टारत नाहिं ॥

(६)

जय जय जगदीश राम, श्याम धाम पूर्ण काम, आनन्द घन ब्रह्म विष्णु, सतचित सुखकारी। कंस रावनादि काल, सतत प्रनत भक्तपाल, सोभित गल मुक्तमाल, दीनताप-हारी ॥ प्रेमभरण पापहरण, असरन जन सरन चरन, सुखहि करन दुखहि दरन, वृन्दावनचारी। रमावास जग निवास, रमा रमन, समन त्रास, बिनवत हरिचंद दास, जय जय गिरिधारी ॥

(७)

जिनके हितकारक पंडित हैं तिनको कहाँ शत्रुन को डर है।
समुझैं जग मैं सब नीतिन्ह जो तिन्हैं दुर्ग बिदेस मनो घर है ॥

जिन मित्रता राखी है लायक सों तिनकों तिनकाहू महासर है।
जिनकी परतिज्ञा टरै न कवौं तिनकी जय ही सब ही थर है॥

(८)

जगत में घर की फूट बुरी। घर के फूटहि सों बिनसाई सुवरन लंकपुरी॥ फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो। जाको घाटो या भारत में अबलों नहिं पुजयो॥ फूटहि सों जयचन्द बुलायो जवनन भारत धाम। जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम॥ फूटहि सों नवनन्द बिनासे गयो मगध को राज। चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आपु नसे सह साज। जो जग में धन मान और बल अपुनो राखन होय। तो अपुने घर में भूले हू फूट करौ मति कोय॥

(९)

करि मूरख मित्र मिताई, फिरि पछितैहो रे भाई। अन्त दगा खैहौ सिर धुनिहौ रहिहौ सबै गँवाई॥ मूरख जो कछु हितहु करै तौ तामैं अंत बुराई। उलटो उलटो काज करत सब दैहै अन्त नसाई॥ लाख करौ हित मूरख सों पै ताहि न कछु समझाई। अन्त बुराई सिर पै ऐहै रहि जैहौ मुँह बाई॥ फिरि पछितैहो रे भाई॥

(१०)

जग सूरज चंद टरैं तो टरैं पै न सज्जन नेहु कवौं विचलै।
धन संपति सर्वस गेहु नसौ नहिं प्रेम की मेंड़ सों एँड़ टलै॥
सतवादिन को तिनका सम प्रान रहै तो रहै वा ढलै तो ढलै।
निज मीत की प्रीति प्रतीति रहौ इक और सबै जग जाउ भलै॥

(११)

विचक्षणा।—गोरे तन कुमकुम सुरँग, प्रथम न्हवाई बाल।
राजा।—सो तो जनु कंचन तप्यो, होत पीत सों लाल॥

विच० ।—इन्द्रनीलमणि पैंजनी, ताहि दई पहिराय ।
राजा ।—कमल कली जुग घेरि कै, अलि मनु बैठे आय ॥
विच० ।—सजी हरित सारी सरिस, जुगुल जंघ कहँ घेरि ।
राजा ।—सो मनु कदली पात निज, खंभन लपट्यो फेरि ॥
विच० ।—पहिराई मनि किंकिनी, छीन सुकटि तट लाय ।
राजा ।—सो सिंगार मंडप बँधी, बन्दनमाल सुहाय ॥
विच० ।—गोरे कर कारी चुरी, चुनि पहिराई हाथ ।
राजा ।—सो साँपिन लपटी मनहुँ, चंदन साखा साथ ॥
विच० ।—निज कर सों बाँधन लगी, चोली तब वह बाल ।
राजा ।—सो मनु खींचत तीर भट, तरकस ते तेहि काल ॥
विच० ।—लाल कंचुकी में उगे, जोबन जुगुल लखात ।
राजा ।—सो मानिक संपुट बने, मन चोरी हित गात ॥
विच० ।—बड़े बड़े मुक्तान सों, गल अति सोभा देत ।
राजा ।—तारागन आये मनौं, निज पति ससि के हेत ॥
विच० ।—करनफूल जुग करन में, अतिही करत प्रकास ।
राजा ।—मनु ससि ले द्वै कुमुदिनी, बैठ्यो उतरि अकास ॥
विच० ।—बाला के जुग कान में, बाला सोभा देत ।
राजा ।—स्रवत अमृत ससि दुहुँतरफ, पियत मकर करि हेत ॥
विच० ।—जिश्र रञ्जन खंजन दृगनि, अञ्जन दियो बनाय ।
राजा ।—मनहुँ सान फेरयो मदन, जुगुल बान निज लाय ॥
विच० ।—चोटी गुथि पाटी सरस, करि कै बाँधे केस ।
राजा ।—मनहुँ सिंगार एकत्र ह्वै, बँध्यो बार के बेस ॥
विच० ।—बहुरि उढ़ाई ओढ़नी, अतर सुबास बसाय ।
राजा ।—फूलतला लपटी किरिन, रवि ससि की मनु आय ॥

विच० ।—एहि विधि सों भूषित करी, भूषन बसन बनाय ।
राजा ।—काम बाग झालरि लई, मनु बसंत ऋतु पाय ॥

(कर्पूरमंजरी से)

(१२)

परम प्रेम-निधि रसिकबर, अति उदार गुन-खान ।
जग-जन-रञ्जन आशु कवि, को हरिचन्द्र समान ॥
जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस ।
ता सुत श्रीहरिचन्द्र को, को न नवावै सीस ॥
जग जिन तृन-सम करि तज्यो, अपने प्रेम-प्रभाव ।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव ॥

(१३)

लगौंहीं चितवनि औरहि होति ।
दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम झलक की जोति ॥
घूँघट में नहिं थिरत तनिक हूँ अति ललचौंहीं बानि ।
छिपत न कैसहु प्रीति निगोड़ी अन्त जात सब जानि ॥

(१४)

हौं तो याही सोच में विचारत रही री काहे
दरपन हाथ ते न छिन बिसरत है ।
त्यौंहीं हरिचन्द जू वियोग औ संयोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है ॥
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात
तू तौ परम पुनीत प्रेमपथ बिचरत है ।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति ताहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है ॥

(१५)

इन दुखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यो
यांही सदा व्याकुल विकल अकुलायगी।
प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औध जो पै
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी॥
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछितायँगी।
बिना प्रानप्यारे भये दरस तिहारे हाय
देखि लीजो आखैं ये खुली ही रहि जायँगी॥

(१६)

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर को, सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत॥ १॥

कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत निज सोभा।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिके कर बहु पीय कों, टेरत निज ढिग सोहई॥
कै पूजन को उपचार लै, चलति मिलन मन मोहई॥ २॥

कै पिय पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृङ्गन मिस अस्तुति उच्चारत॥

कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस-हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ, ब्रजमण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि, करि सतधा निज जल धरत॥३॥

तिन पै जेहि छिन चन्द जोति राका निसि आवति।
जल मैं मिलि कै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कवि जो छबि कहि सकै, ताछन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत, छबि इक-सी नभ तीर की॥४॥

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रास रमन मैं हरि मुकुट, आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति, वा प्रतिबिम्ब लखात है॥५॥

कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरङ्ग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बाल गुड़ी नभ मैं उड़ी, सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ, ब्रजरमनी जल आवती॥६॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥

कै कालिन्दी नीर तरङ्ग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत, कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि, उठि बैठत कसरत करत॥७॥

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जलकुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर विविध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे, तट सोभा सब जिय धरत॥८॥

कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये।
रत्नरासि करि चूर कूल में मनु बगराये॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर में, ब्रजनिवास लखि हिय हरसि॥९॥

(१७)

तू केहि चितवति चकित मृगीसी।
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यों अकुलाति लखाति ठगीसी॥
तन सुधि करु उघरत री आँचर कौन ख्याल तू रहति खगीसी।
उतर न देत जकी सी बैठी मद पीया कै रैन जगीसी॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिसि सपने पिय देखति उमगीसी।
भूलि बैखरी मृगछौनी ज्यौं निज दल तजि कहुँ दूर भगीसी॥
करति न लाज हाट घर बर की कुल मरजादा जाति डगीसी।
हरीचन्द ऐसिहि उरझी तौ क्यों नहिं डोलत संग लगीसी॥

(१८)

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दर।
तहँ महजिद बन गई होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोअत सिवा चहुँ दिसि लखियत खँडहर॥
जहँ धन बिद्या बरसत रही; सदा अबै वाही ठहर।
बरसत सब ही बिधि बेबसी, अब तो चेतो बीरवर॥

(१९)

कहँ गये बिक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर॥
कहँ छत्री सब मरे बिनसि सब गये कितै गिर।
कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत है चिर॥
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
उठि अजौं न मेरे बस्सगन, रच्छहि अपुनो आर्य मग॥

(२०)

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ ध्रुव॥

सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सब के पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो॥
सब के पहिले जो रूप रङ्ग रस भीनो।
सब के पहिले बिद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ १॥

जहँ भये शाक्य हरिचन्दरु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती॥

जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ २ ॥

लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी॥
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी।
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी॥
भये अन्ध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ ३ ॥

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सब के ऊपर टिकस की आफ़त आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ ४ ॥

(२१)

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाये।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो॥
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो।
बिधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचारयो॥

रोकि बिलायत गमन कूपमण्डूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किये हिन्दू घबराई॥

(२२)

जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि बैन गँवाई। जागो जागो रे भाई॥
निसि की कौन कहै दिन बीत्यौ काल राति चलि आई॥
देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस आई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई॥
अबहूँ चेति पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताये कछु नहिं ह्वै है रहि जैहो मुँह बाई॥

(२३)

सोओ सुखनिंदिया, प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे बारे,
सोओ सुखनिंदिया, प्यारे ललन।
भई आधीरात बन सनसनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात,
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात,
पातहु नहिं पावत तरुन हलन॥सोओ०॥
झलमलत दीप सिर धुनत आय,
मनु प्रिय पतंग हित करत हाय,
सतरात अंग आलस जनाय,
सनसन लगी सीरी पवन चलन॥सोओ०॥

सोये जग के सब नींद घोर,
जागत कामी चिंतित चकोर,
बिरहिन बिरही पाहरू चोर,
इन कहँ छन रैनहुँ हाय कल न ॥ओऔ०॥

(२४)

प्यारी बिन कटत न कारी रैन।
पल छिन न परत जिय हाय चैन।
तन पीर बड़ी सब छुट्यो धीर।
कहि आवत नहिं कछु मुखहु बैन॥
जिय तड़फड़ात सब जरत गात।
टप टप टपकत दुख भरे नैन॥
परदेस परे तजि देस हाय।
दुख मेटनहारो कोउ है न॥
सजि बिरह सैन यह जगत जैन।
मारत मरोरि मोहि पापी मैन॥

(२५)

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥ध्रुव॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहिं ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहै।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करिहै चारहुँ ओर प्रकासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥१॥

इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहुँ ओर पसरिहै।
बीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सबही दासवृत्ति अनुसरिहै॥
ह्वै जैहैं चारहु बरन शूद्र बनि दासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥२॥

ह्वै हैं इतके सब भूत पिशाच उपासी।
कोऊ बनि जैहैं आपुहि स्वयं प्रकाशी॥
नसि जैहैं सगरे सत्य धर्म अविनासी।
निज हरि सो ह्वै हैं विमुख भरत भुववासी॥
तजि सुपथ सबहि जन करिहैं कुपथ विलासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥३॥

अपनी वस्तुन कहँ लखिहैं सबहि पराई।
निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई॥
तुरकन हित करिहैं हिन्दू संग लराई।
यवनन के चरनहिं रहिहैं सीस चढ़ाई॥
तजि निज कुल करिहैं नीचन संग निवासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥४॥

रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह देहैं जियसो सबही बात बिसारी॥
हरि विमुख धरम बिनु धन बलहीन दुखारी।
आलसी मन्द तन छीन छुधित संसारी॥
सुख सों सहिहैं सिर यवनपादुका त्रासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥५॥

(२६)

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींच रनरंग जमाओ॥
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि सजि रनकंकन बाँधौ॥
जौं आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृह कलहहि अपनी कुल मरजाद विचारैं॥
तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी॥
पदतल इन कहँ दलहु कीट तृन सरिस जवन चय।
तनिकहुँ संक न करहु धर्म्म जित जय तित निश्चय॥
आर्य्यवंश को बधन पुन्य जा अधम धर्म्म में।
गोभच्छन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म्म में॥
तिनको तुरितहि हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किएहूँ पुन्य सदाहीं॥
चिउँटिहु पदतल दबे डसत ह्वै तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतच्छ अरि इनहि उपेछै जौन ताहि धिक॥
धिक तिन कहँ जे आर्य्य होइ जवनन को चाहैं।
धिक तिन कहँ जे इनसों कछु सम्बन्ध निबाहैं॥
उठहु बीर तलवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य बल जवन हृदय पर॥
मारू बाजे बजैं कहौ धौंसा घहराहीं।
उड़हि पताका सत्रु हृदय लखि लखि थहराहीं॥
चारन बोलहि आर्य सुजस बन्दी गुन गावैं।
छुटहि तोप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं॥

चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हींसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥
छन महँ नासहिं आर्य नीच जवनन कहँ करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

(२७)

चूरन अमलबेद का भारी। जिसको खाते कृष्ण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालेदार। जिसमें खट्टे की बहार॥
मेरा चूरन जो कोइ खाय। मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन ऐसा हट्टा कट्टा। कीना दाँत सभी का खट्टा॥
चूरन चला डाल की मंडी। इसको खायेंगी सब रण्डी॥
चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रुशवत तुरत पचावैं॥
चूरन नाटकवाले खाते। इसकी नक़ल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते॥
चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग॥
चूरन खावैं एडिटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पुलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥
ले चूरन का ढेर। बेचा टके सेर।

(२८)

जग में पतिव्रत सम नहिं आन।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान।
अनुसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान।

पतिदेवता तीय जग, धन धन गावत वेद पुरान ॥
धन्य देस कुल जहँ निवसत हैं नारी सती सुजान ।
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य व्याह असथान ॥
सब समर्थ पतिबरता नारी इन सम और न आन ।
याही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन गान ॥

(२६)

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होइ ॥
स्याम हरित दुति होइ, परे जा तन की झाईं ।
पाँय पलोटत लाल, लखत साँवरे कन्हाई ॥
श्रीहरिचन्द वियोग, पीतपट मिलि दुति हेरी ।
नित हरि जा रङ्ग रङ्गे, हरो बाधा सोइ मेरी ॥१॥

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात ।
मनौं नीलमनि सैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात ॥
आतप पर्‌यो प्रभात, किधौं बिजुरी घन लपटी ।
जरद चमेली तरु तमाल, मैं सोभित सपटी ॥
प्रिया रूप अनुरूप, जानि हरिचन्द बिमोहत ।
स्याम सलोने गात, पीतपट ओढ़े सोहत ॥२॥

इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरजोई नाहिं ।
देखे बनैं न देखते, बिन देखे अकुलाहिं ॥
बिन देखे अकुलाहिं, बावरी ह्वै ह्वै रोवैं ।
उघरी उघरी फिरैं, लाज तजि सब सुख खोवैं ॥
देखे श्रीहरिचन्द, नयन भरि लखै न सखियाँ ।
कठिन प्रेम गति रहत, सदा दुखिया ये अँखियाँ ॥३॥

(३०)

भई सखी ये अँखिया बिगरैल।
बिगरि परी मानत नहिं देखे बिना साँवरो छैल॥
भईं पतवार धरत पग डगमग नहिं सूझत कुल गैल।
तजि कै लाज साज गुरुजन को हरि की भईं रखैल॥
निज चवाव सुनि औरहु हरखत करत न कछु मन मैल।
हरीचन्द सब संक छाँड़ि कै करहिं रूप की सैल॥

(३१)

राधे तुव सोहाग की छाया जग में भयो सोहाग।
तेरी ही अनुराग छटा हरि सृष्टि करन अनुराग॥
सब चित तुव कृति सों विलगाने लीला प्रिय जन भाग।
सुनि हरिचन्द अनन्द होत लहि तुव पद पदुम पराग॥

(३२)

पियारे याको नाँव नियाव।
जो तोहि भजै ताहि नहिं भजनो कौनो भलो बनाव॥
बिन कछु किये जानि अपनो जन दूनो दुख तेहि देनो।
भली नई यह रीति चलाई उलटो अवगुन लेनो॥
हरीचन्द यह भलो निबेरयो ह्वै के अंतरजामी।
चोरन छाँड़ि छाँड़ि कै डाँड़ो उलटो धन के स्वामी॥

(३३)

भरोसो रीझन ही लखि भारी।
हमहूँ को विश्वास होत है मोहन पतित उधारी॥
जो ऐसो सुभाव नहिं हो तो क्यों अहीर कुल भायो।
तजि कै कौस्तुभ सो मनि गल क्यों गुंजाहार धरायो॥

क्रीट मुकुट सिर छोड़ि पखौआ मोरन को क्यों धारयो।
फेंट कसी टेंटिन पै मेवन की क्यों स्वाद बिसार्‌यो॥
ऐसी उलटी रीझ देखि कै उपजत है जिय आस।
जग निन्दत हरिचन्दहु को अपनावहिंगे करि दास॥

(२४)

सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पेंच कसि राखहु अलक सँवारी॥
हिय हलकत बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दे राखो कङ्कन फँसन निवारी॥
नूपुर लेहु चढ़ाय किंकिनी खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसि कै बाँधो हो बनवारी॥
हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहि दीनों तारी।
बानो जुगओ नीके अब की हरीचन्द की बारी॥

(३५)

रहे क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि रस छायो तेहि क्यों भावै कोय॥
जा तन मन में रमि रहे मोहन तहाँ ज्ञान क्यों आवै।
चाहो जितनी बात प्रबोधो ह्याँ को जो पतियावै॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन को मूरख जो भूलै।
हरीचन्द ब्रज तो कदलीबन काटौ तो फिरि फूलै॥

(३६)

चमक से बर्क की उस बर्कवश की याद आई है।
घुटा है दम, छुटी है जाँ, घटा जब से ये छाई है॥
कौन सुनै कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदा बदी जिय लेत हैं, ये बदरा बदराह॥

बहुत इन ज़ालिमों ने आह अब आफ़त उठाई है ॥

अहो पथिक कहियो इती, गिरिधारी सों टेर ।
दृग झर लाई राधिका, अब बूड़त ब्रज फेर ॥
बचाओ जल्द इस सैलाब से प्यारे दुहाई है ॥

बिहरत बीतत श्याम संग, जो पावस की रात ।
सो अब बीतत दुख करत, रोअत पछुरा खात ॥
कहाँ तो वह करम था अब कहाँ इतनी रुलाई है ॥

विरह जरी लखि जींगनिन, कहै न उहि कइ बार ।
अरी आव भजि भीतरैं, बरसत आज अगार ॥
नहीं जुगनू है यह बस आग पानी ने लगाई है ॥

लाल तिहारे विरह की, लागी अगिन अपार ।
सरसै बरसै नीरहू, मिटै न झर झझार ॥
बुझाने से है बढ़ती आग यह कैसी लगाई है ॥

बन बागनि पिक बटपरा, तकि बिरहिन मन मैन ।
कुहो कुहो कहि कहि उठै, करि करि रातें नैन ॥
ग़ज़ब आवाज़ ने इन ज़ालिमों के जान खाई है ॥

पावस घन अँधियार में, रह्यो भेद नहिं आन ।
रात द्योस जान्यो परै, लखि चकई चकवान ॥
नहीं बरसात है यह इक क़यामत सिर प आई है ॥

वेई चिरजीवी अमर, निधरक फिरो कहाइ ।
छिन बिछुरे जिनको न कहि, पावस आयु सिराइ ॥
यहाँ तो जाँ बलब है जब से सावन की चढ़ाई है ॥

बामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस ॥

भला शरमाओ कुछ तो जी में यह कैसी ढिठाई है ॥

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अङ्ग ।
तुलसी चातक प्रेम की, नित नूतन रुचि रङ्ग ॥

दिलों में खाक उड़ती है मगर मुँह पर सफाई है ॥

जौ घन बरसै समय सिर, जौ भरि जनम उदास ।
तुलसी जाचक चातकहि, तऊ तिहारी आस ॥

सिवा खंजर यहाँ कब प्यास पानी से बुझाई है ॥

चातक तुलसी के मते, स्वातिहुँ पिये न पानि ।
प्रेम तृषा बाढ़त भली, घटे घटेगी कानि ॥

शहीदों ने तेरे बस जान प्यासे ही गँवाई है ॥

ऐसो पावस पाइहू, दूर बसे ब्रजराइ ।
धाइ धाइ हरिचन्द क्यों, लेहु न कंठ लगाइ ॥

रसा* मंजूर मुझ को तेरे क़दमों तक रसाई है ॥

(६७)

प्रीति तुव प्रीतम की प्रगटैयै ।
कैसे के नाम प्रगट तुव लीजै कैसे कै पिया सुनैयै ॥
को जानै समुझै जग जिन सों खुलि के भरम गँवैयै ।
प्रगट हाय करि नैननि जल भरि कैसे जगहि दिखैयैं ।
कबहुँ न जानै प्रेम रीति कोउ मुख सों बुरे कहैयै ।
हरीचन्द पै भेद न कहिये भले ही मौन मरि जैयै ॥

(६८)

काहे तू चौका लगाये, जयचँदवा ।
अपने स्वारथ भूलि लुभाये काहे चोटीकटवा बुलाए, जयचँदवा ।
अपने हाथ से अपने कुल के काहे तैं जड़वा कटाये, जयचँदवा ।

*"रसा" हरिश्चन्द्र का उपनाम था ।

फूट कै फल सब भारत बोये बैरी के राह खुलाये, जयचँदवा।
औरो नासि तैं आपौ बिलाने निज मुँह कजरी पुताये, जयचँदवा।

(३९)

दिल मेरा ले गया दग़ा करके।
बेवफ़ा हो गया वफ़ा करके॥
हिज्र की शब घटा ही दी हमने।
दास्ताँ जुल्फ़ की बढ़ा करके॥
शुअ़जारू कह तो क्या मिला तुझको।
दिलजलों को जला जला करके॥
वक्ते रेहलत जो आए बालीं पर।
ख़ूब रोए गले लगा करके॥
सर्वक़ामत ग़ज़ब की चाल से तुम।
क्यों क़यामत चले बपा करके॥
ख़ुद बख़ुद आज जो वो बुत आया।
मैं भी दौड़ा ख़ुदा ख़ुदा करके॥
क्यों न दावा करे मसीहा का।
मुर्दे ठोकर से वह जिला करके॥
क्या हुआ यार छिप गया किस तर्फ़।
इक झलक सी मुझे दिखा करके॥
दोस्तो कौन मेरी तुरबत पर।
रो रहा है रसा रसा करके॥

(४०)

पहिले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेर रूप सुधा मधि कीनो नैनहूँ पयान है। हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई रसिकाई मिलि मति पय पान है॥ मोहि मोहि मोहन मई री मन मेरो भयो 'हरीचन्द' भेद

ना परत कछु जान है। कान्ह भये प्रानमय प्रान भयो कान्हमय हिय मैं न जान्यो परै कान्ह कि प्रान है॥

(४१)

बोल्यो करै नूपुर श्रवन के निकट सदा पद तल लाल मन मेरे बिहरयो करै। बाजी करै बंसी धुनि पूरि रोम रोम मुख मन मुसुकानि मन्द मनहिं हरयो करै॥ 'हरीचन्द' चलनि मुरनि बतरानि चित छाई रहै छबि जुग दृगन भरयो करै॥ प्रान हूँ ते प्यारो रहै प्यारो तू सदाई तेरो पीरो पट सदा जिय बीच फहरयो करै॥

(४२)

जिय पै जु होइ अधिकार तो बिचार कीजै लोकलाज भलो बुरो भले निरधारिये। नैन श्रौन कर पग सबै परबस भये उतै चलि जात इन्हें कैसे कै सम्हारिये। 'हरीचन्द' भई सब भाँति सों पराई हम इन्हैं ज्ञान कहि कहो कैसे कै निवारिये। मन में रहै जो ताहि दीजिये बिसारि मन आपै बसै जामें ताहि कैसे कै बिसारिये॥

(४३)

प्यारो पैये केवल प्रेम में।
नहीं ज्ञान में नहीं ध्यान में नहीं करम कुल नेम में॥
नहिं मन्दिर में नहिं पूजा में नहिं घंटा की घोर में।
हरीचंद वह बाँध्यो डोलै एक प्रेम की डोर में॥

(४४)

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी दुखी सी रहति कछु नाहिं सुधि देह की। मोही सी लुभाई कछु मोदक से खाये सदा बिसरी सी रहै नेक खबर न गेह की॥ रिस भरी रहै कबौं फूली न समाति अङ्ग हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की। पूछे ते खिसानी

होय उत्तर न आवै तोहि जानी हम जानी है निसानी या सनेह की ॥

(४५)

याकी गति अङ्गन की मति परि गई मन्द सूख झाँझरी सी ह्वै कै देह लागी पियरान। बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई सुख के समाज जित तित लागे दूर जान॥ 'हरीचन्द' रावरे बिरह जग दुख मयो भयो कछु और होनहार लागे दिखरान। नैन कुम्हिलान लागे बैनहुँ अथान लागे आओ प्राननाथ अब प्रान लागे मुरझान॥

(४६)

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल॥
धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकल हत रचि न सकत कल॥
जीवत बिदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत॥

बदरीनारायण चौधरी

पण्डित बदरीनारायण चौधरी भारद्वाज गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण खोरिया उपाध्याय थे। इनके दादा पण्डित शीतलप्रसाद चौधरी मिर्ज़ापुर के एक प्रतिष्ठित रईस, महाजन, व्यापारी और ज़मींदार थे। इन्होंने अपने बाहुबल से प्रचुर सम्पत्ति, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त की। इनके एकमात्र पुत्र पंडित गुरुचरणलाल उपाध्याय हुए, जो अपने पैतृक और सांसारिक

कार्यों को करते हुए ब्राह्मण गुणों के अद्वितीय आदर्श थे। विद्याधन की श्रेष्ठता और परमावश्यकता में ध्रुव विश्वास होने के कारण, स्ववंशधन्य उपाध्याय जी ने कई संस्कृत की पाठशालाएँ खोलीं, जिनमें प्रधान श्री अयोध्याजी का ब्राह्मण वैदिक विद्यालय (सरजूबाग) ने उस पुरी में पहले-पहल विद्या-प्रचार का कार्य आरम्भ किया। इसमें से अनेक पंडित होकर उनके यश की पताका-से वर्तमान हैं। पश्चिम वयस् में उन्होंने त्रिवेणी के तटस्थ अकेला पेड़, (जिसे व्यासतीर्थ भी कहते हैं,) झूसी में १५ वर्ष से अधिक एक स्थान पर निवास कर पञ्चयज्ञों को अविरत सम्पादन करते, मानों आजकल की दैवी सम्पत्ति-सम्पादन से विमुख द्विजाति-समाज को शिक्षा देते हुये, अपने जीर्ण शरीर का त्याग किया।

उनके ज्येष्ठपुत्र हमारे चरितनायक पंडित बदरीनारायण चौधरी का जन्म संवत् १९१२, भाद्रपद कृष्ण षष्ठी को हुआ। प्रायः पाँच वर्ष की अवस्था के पूर्व इनकी सुशीला और सुशिक्षिता माता ने इन्हें हिन्दी के अक्षरों का अभ्यास कराना आरम्भ कर दिया था। फ़ारसी की भी शिक्षा इन्हें समयानुसार दी जाने लगी। कुछ कालानन्तर ये गोंडे में अङ्गरेज़ी की शिक्षा के सिलसिले में भेजे गए, जहाँ अवधेश महाराज सर प्रतापनारायण सिंह, लाल त्रिलोकीनाथ सिंह और राजा उदयनारायण सिंह का साथ हो जाने से इन्हें अश्वारोहण, गजसञ्चालन, लक्ष्य-वेध और मृगया से अधिक अनुराग हो गया और यही मानों इनके बाल्यावस्था में क्रीड़ा की सामग्री थी। यहाँ तक कि ये निज सहचरों के संग प्रायः घोड़दौड़ करते और शिकार खेलते थे।

संवत् १९२४ में ये गोंडा से फ़ैज़ाबाद चले आये और वहाँ के ज़िला स्कूल में पढ़ने लगे। उसी वर्ष इनका विवाह बड़ी धूमधाम से ज़िला जौनपुर के समंसा ग्राम में हुआ था। सं० १९२५ में इनके

पितामह का स्वर्गवास होने से इन्हें मिरज़ापुर के ज़िला स्कूल में आना पड़ा। यहाँ गृह के कार्य्यों में भी सहायक होने से घर पर मास्टर द्वारा पढ़ना आरम्भ करना पड़ा। इस सुअवसर को पाकर इनके पिता ने, जो हिन्दी, फ़ारसी के अतिरिक्त संस्कृत में अच्छे पंडित और उसके विशेष अनुरागी थे, इन्हें संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करा दिया। उन्हें प्रायः अन्य नगरों और विदेशों में भ्रमण करना पड़ता था। इससे उन्होंने अपने पारिषदवर्गों में से पं० रामानन्द पाठक को, जो विद्वान और काव्य-रसज्ञ थे, हमारे चरितनायक को पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिया। जिनकी सुशिक्षा ने इन्हें कविता में अनुराग उत्पन्न कर, साहित्यरसोन्मुख किया और यही मानों इनके कविता-गुरु भी हुए। इन्हीं के कवित्वशक्ति-अभिज्ञान से हमारे चरितनायक के हृदय में उसी समय से कविता करने की अपनी शक्ति में विश्वास हो गया। किन्तु सम्पत्तिवान् होने के कारण इसी शिक्षा के साथ आनन्दविनोद की ओर भी प्रकृति उन्मुख हुई और सामग्रियाँ प्रस्तुत हो चलीं। साहित्य के साथ संगीत से भी अनुराग हो गया। ताल-सुर की परख बेहद बढ़ चली और चित्त दूसरी ही ओर लय चला। इसी के साथ घर के भाँति-भाँति के कार्य्यों से भिन्न-भिन्न नगरों के परिभ्रमण से अनेक भाषाओं का ज्ञान भी प्राप्त हुआ, जिसका उदाहरण "भारत-सौभाग्य" में मिलता है।

संवत् १९२८ में ये प्रथम बार कलकत्ते गए और वहाँ से लौटने पर बरसों बीमार पड़े रहे। इसी समय इनको साहित्य-सम्बन्धी ब्रजभाषा के बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने और सुनने का अवसर मिला। इसी समय इनसे पं० इन्द्रनारायण शंगलू से मित्रता हुई, जो बहुत कुशाग्रबुद्धि, कार्य्यपटु और नवीन विचार तथा देशहित करनेवाले मनुष्य थे। इन्हीं के द्वारा सभा, समाज, समाचार-

पत्रों और उर्दू शायरी में उत्साह बढ़ा। यहाँ तक कि इन्होंने अपना उपनाम उस भाषा के लिए 'अब्र' रखा और हिन्दी के लिए "प्रेमघन"। शंगलूजी के द्वारा ही भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी से जान-पहचान हुई और 'सतां सप्तपदी मैत्री' क्रमशः बड़ी घनिष्ट होती गई। जिसका अन्त तक पूर्ण निर्वाह भी हुआ।

संवत् १९३० में इन्होंने "सद्धर्म-सभा" और १९३१ में "रसिक-समाज" मिरज़ापुर में स्थापित किया। तथा योंही क्रमशः और कई सभाएँ स्थापित कीं। इस समय चौधरीजी ने कई कवितायें लिखीं। सं० १९३३ में "कवि वचन-सुधा" प्रकाशित होती थी। इससे उसमें भी इनके कई एक लेख छपे। उत्साह मित्रों की रसिकता और गुणग्राहकता से बढ़ चला और १९३८ में 'आनन्द-कादम्बिनी' मासिक पत्रिका की प्रथम माला प्रकाशित हुई। मासिक पत्रिका से न सन्तुष्ट हो इन्होंने १९४९ में 'नागरी-नीरद' साप्ताहिक पत्र का सम्पादन आरम्भ किया। इनमें इनके अनेक गद्य और पद्य लेख और ग्रंथ छपे, जो अद्यावधि स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित न हो सके। इनकी अनेक कवितायें और सद्ग्रंथ, वरन् यों कहना चाहिये कि इनकी कविता का उत्तमांश उन पत्र पत्रिकाओं में भी नहीं मिल सकता। इससे इन पत्रों का संग्रह विशेष कष्ट-साध्य समझ चौधरीजी ने छोड़ दिया। इनकी केवल वही कवितायें प्रकाशित हो सकीं, जो समय के अनुरोध से अत्यावश्यक जान पड़ीं और शीघ्र निकल गई; जैसे "भारत-सौभाग्य नाटक", 'हार्दिक हर्षादर्श' 'भारत-बधाई', आर्य्याभिनन्दन, इत्यादि; अथवा जो बहुत आग्रह की माँग के कारण लिखी गई; यथा 'वर्षा बिन्दु', 'कजली-कादम्बिनी' और 'प्रयाग रामागमन'। चौधरीजी के ग्रंथों के प्रकाशित न होने का एकमेव कारण यह है कि इनकी कविता का उद्देश्य निज मन का प्रसादमात्र था।

इसीसे ये उनके प्रचार वा प्रकाशित करने के विशेष इच्छुक न हुए, और न उसके द्वारा धन, मान या ख्याति के अभिलाषी हुए, जैसे कि कवि हुआ करते हैं। मन की मौज जिस समय जिस विषय पर आई, उसे लिखा, और जहाँ से मन उचटा, छोड़ दिया। तब भी जो कुछ अब तक प्रकाशित हुआ है, इनकी विशद कवित्वशक्ति, रसज्ञता और बहुज्ञता का पूर्ण परिचय देता है।

चौधरीजी को ब्रजभाषा से बड़ा प्रेम था। उसे ही ये कवियों की भाषा मानते थे। इसीसे इनकी कवितायें खड़ीबोली में "आनन्द-अरुणोदय" के अतिरिक्त और नहीं हैं और यह इन्होंने केवल यह देखने को लिखा था कि कविता खड़ीबोली में कैसी होती है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने, जिसका तीसरा अधिवेशन कलकत्ते में, १९१२ में हुआ था, इनको सभापति का आसन देकर अपनी गुणग्राहकता प्रकट की थी। उस अवसर पर जो वक्तृता इन्होंने दी थी, वह बड़ी गवेषणापूर्ण है।

चौधरीजी ने एक दिन संध्या समय स्वयं पधारकर प्रयाग में मुझे दर्शन दिया था। उस समय गृहस्थी-सम्बन्धी कुछ मानसिक चिन्ता से पीड़ित दिखाई पड़ते थे। खेद है कि सं० १९८० में प्रेमघनजी संसार से चले गये।

यहाँ चौधरीजी की कविता के कुछ नमूने उनके प्रकाशित ग्रंथों से लेकर दिये जाते हैं—

(१)

भागो भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा विपत की कारी॥

सब गये बनज व्यापार इते सों भागी।
उद्यम पौरुष नहि दियो बनाय अभागी॥
अब बची खुची खेती हूँ खिसकन लागी।
चारहुँ दिसि लागी है महँगी की आगी॥
सुनिये चिलायँ सब परजा भई भिखारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥१॥

हम बनज करैं पर उलटी हानि उठावैं।
हम उद्यम करके लागत भी नहिं पावैं॥
हम खेती करके बेञ्ज विसार गँवावैं।
औ करजा कै सरकारी जमाँ चुकावैं॥
फिर खायँ कहाँ से यह नहिं जाय विचारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥२॥

हम करैं नौकरी बहुत, तलब कम पाते।
थे किसी तरह से अब तक पेट जिलाते॥
इस महँगी से नित एकादशी मनाते।
लड़के बाले सब घर में हैं चिल्लाते॥
है देखो हाहाकार मचो दिसि चारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥३॥

अब नहीं यहाँ खाने भर को भी जुरता।
नहिं सिरपर टोपी नहीं बदन पर कुरता॥
है कभी न इसमें आधा चावल चुरता।
नहिं साग मिले नहिं कन्दमूल का भुरता॥
नहिं जात भूख की भई पीर संभारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥४॥

(२)

(दादाभाई नौरोजी के पार्लामेंट के मेम्बर होने के अवसर पर, १८९२ ई० में, विरचित।)

कारन सों गोरन कों घिन को नाहिन कारन।
कारन तुम हीं या कलङ्क के करन निवारन॥
कारन ही के कारन गोरन लहत बड़ाई।
कारन ही के कारन गोरन की प्रभुताई॥
कार नहीं है कारन को गोरन गोरन मैं।
कारन पै जिय देन चहत गोरन हित मन मैं॥
कारन का है गोरन मैं भगती साँचे चित।
कारन की गोरन हीं सों आशा हित की नित॥
कारन की गोरन की राजसभा मैं आवन।
को कारन केवल कहि कै निज दुख प्रगटावन॥
कारन करन नहीं शासन गोरन पै मन मैं।
कारन के तौ का कारन बिन जो कारन मैं॥
गोरन की जो कहत नकारन कारन रोकौ।
नहिं बैठे ए गोरन मध्य कहूँ अवलोकौ॥
महामन्त्रि को बचन मेटि तुमहीं बिन कारन।
गोरन राजसभा में कारन के बैठारन॥
के कारन तुम अहौ, अहो प्रिय साँचे लिबरल।
कारन के अबतौ तुमहीं कारन कारन बल॥
कारो निपट नकारो नाम लगत भारतियन।
यदपि न कारे तऊ भागि कारी बिचारि मन॥
अचरज होत तुमहुँ सन गोरे बाजत कारे।
तासों कारे कारे शब्दहु पर हैं वारे॥

अरु बहुधा कारन के हैं आधारहिं कारे।
विष्णु कृष्ण कारे कारे सेसहु जगधारे॥
कारे काम, राम, जलधर जल बरसनवारे।
कारे लागत ताही सन कारन को प्यारे॥
तासों कारे है तुम लागत औरहु प्यारे।
यातें नीको है तुम कारे जाहु पुकारे॥
यहै असीस देत तुम कहँ मिलि हम सब कारे।
सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुमारे॥
वे कारे घन से कारे जसुदा के बारे।
कारे मुनिजन के मन में नित विहरनहारे॥
मङ्गल करें सदा भारत को सहित तुमारे।
सकल अमंगल मेटि रहैं आनँद विस्तारे॥

(२)

(हीरक जुबली के अवसर पर लिखा गया, १८९६ ई०)

तिन सब में है मुख्य राज भारत को उत्तम।
जाहि विधाता रच्यो जगत के सीस भाग सम॥
जहाँ अन्न, धन, जन, सुख, सम्पति रही निरन्तर।
सबै धात, पसु, रतन, फूल, फल, बेलि वृच्छ वर॥
झील, नदी, नद, सिन्धु, सैल, सब ऋतु मनभावन।
रूप, सील, गुन, विद्या, कला कुसल असंख्य जन॥
जिनकी आशा करत सकल जग हाथ पसारत।
आस्रत औरन के न रहे कबहूँ नर भारत॥
वीर, धर्मरत, भक्त, त्यागि, ज्ञानी, विज्ञानी।
रही प्रजा सब पै निज राजा हाथ बिकानी॥
निज राजा अनुसासन मन, बच, करम धरत सिर।

जगपति सी नरपति में राखत भक्ति सदा थिर ॥
सदा सत्रु सों हीन, अभय, सुरपति छवि छाजत ।
पालि प्रजा भारत के राजा रहे विराजत ॥
पै कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे अब ।
दुरभागनि सों इत फैले फल फूट बैर जब ॥
भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत ।
भये बीर बर सकल सुभट एकहि सँग गारत ॥
मरे विबुध नरनाह सकल चातुर गुन मण्डित ।
बिगरो जन समुदाय बिना पथ-दर्शक पण्डित ॥
सत्य धर्म के नसत गयो बल, बिक्रम, साहस ।
विद्या, बुद्धि विवेक, विचाराचार रह्यो जस ॥
नये नये मत चले, नये झगरे नित बाढ़े ।
नये नये दुख परे सीस भारत पै गाढ़े ॥
छिन्न-भिन्न ह्वै साम्राज्य लघु राजन के कर ।
गयो परस्पर कलह रह्यो बस भारत में भर ॥
रही सकल जग व्यापी भारत राज बड़ाई ।
कौन बिदेसी राज न जो या हित ललचाई ॥
रह्यो न तब तिन मैं इहि ओर लखन को साहस ।
आर्यराज राजेसुर दिगविजयिन के भय बस ॥
पै लखि बीरबिहीन भूमि भारत की आरत ।
सबै सुलभ समझ्यो या कहँ आतुर असि धारत ॥
तेरो प्रबल प्रताप सकल सम्राट दबायो ।
खींस बाय कै फरासीस जातें सिर नायो ॥
जरमन जर मन माँहि बनो जाको है अनुचर ।
रूम रूम सम, रूस रूस बनि फूस बराबर ॥

पाय परसि तुव पारस पारस के सम पावत।
पकरि कान अफगान राज पर तुम बैठावत॥
दीन बनो सो चीन, पीन जापान रहत नत।
अन्य छुद्र देशाधिप गन की कौन कहावत॥
जग जल पर तुव राज थलहु पर इतो अधिकतर।
सदा प्रकासत जामें अस्त होत नहिं दिनकर॥

(४)

[यह हिन्दी के कचहरियों में प्रवेश पाने के उपलक्ष्य में,
सन् १९०३ में लिखी गई]

पै भागनि सों जब भारत के सुख दिन आये।
अङ्गरेज़ी अधिकार अमित अन्याय नसाये॥
लह्यो न्याय सब ही छीने निज स्वत्वहिं पाई।
दुरभागिन बचि रही यही अन्याय सताई॥
लह्यो देशभाषा अधिकार सबै निज देसन।
राजकाज आलय विद्यालय बीच ततच्छन॥
पै इत विरचि नाम उर्दू को "हिन्दुस्तानी।"
अरबी बरनहुँ लिखित सके नहिं बुध पहिचानी॥
"हिन्दुस्तानी" भाषा कौन? कहाँ तें आई?
को भाषत, किहि ठौर कोऊ किन देहु बताई?
कोउ साहिब खपुष्प सम नाम धयो मनमानो।
होत बड़न सों भूलहु बड़ी सहज यह जानो॥
हरि हिन्दी की बोली अरु अच्छर अधिकारहिं।
लै पैठारे बीच कचहरी बिना विचारहिं॥
जाको फल अतिशय अनिष्ट लखि सब अकुलाने।
राजकर्म्मचारी अरु प्रजा-वृन्द बिलखाने॥

संसोधन हित बारहि बार कियो बहु उद्यम।
होय असम्भव किमि सम्भव कैसे खल उत्तम॥
हिन्दी भाषा सरल चहो लिखि अरबी बरनन।
सो कैसे ह्वै सकै विचारहु नेक बिचच्छन॥
मुगलानी, ईरानी, अरबी, इङ्गलिस्तानी।
तिय नहिं हिन्दुस्तानी बानी सकत बखानी॥
ज्यों लोहार गढ़ि सकत न सोने के आभूषन।
अरु कुम्हार नहिं बने सकत चाँदी के बरतन॥
कलम कुल्हाड़ी सों न बनाय सकत कोउ जैसे।
सूमा सों मखमल पर बखिया होत न तैसे॥
कैसे हिन्दी के कोउ सुद्ध शब्द लिखि लैहैं।
अरबी अच्छर बीच लिखेहुँ पुनि किमि पढ़ि पैहैं॥
निज भाषा को सबद लिखो पढ़ि जात न जामें।
पर भाषा को कहौ पढ़ैं कैसे कोउ तामें॥
लिख्यो हकीम औषधी में 'आलू बोखारा'।
उल्लू बनो मोलवी पढ़ि 'उल्लू बेचारा'॥
साहिब 'किस्ती चहीं' पठाई मुनसी 'कसबी'।
'नमक पठायो भई 'तमस्सुक' की जब तलबी॥
पढ़त 'सुनार' सितार 'किताब' 'कबाब' बनावत।
'दुआ' देतहूँ 'दगा' देन को दोष लगावत॥
मेम साहिबा 'बड़े बड़े मोती' चाह्यो जब।
बड़ी बड़ी मूली पठवायो तसिल्दार तब॥
उदाहरन कोउ कहँ लगि याके सकै गनाई।
एकहु सबद न एक भाँति जब जात पढ़ाई॥
दस औ बीस भाँति सो तौ पढ़ि जात घनेरे।

पढ़े* हज़ार प्रकारहु सों जाते बहुतेरे ॥
ज़ेर ज़बर अरु पेस स्वरन को काम चलावत।
बिन्दी की भूलनि सौ सौ विधि भेक बनावत ॥
चारि प्रकार जकार, सकार, अकार तीन विधि।
होत हकार, तकार, यकार उभय विधि छल-निधि ॥
कौन सबद केहि बरन लिखे सों सुद्ध कहावत।
याको नियम न कोऊ लिखित लेखहिं लखि आवत ॥
यह विचित्रताई जग और ठौर कहुँ नाहीं।
पँचमेली भाषा लिखि जात बरन उन माहीं ॥
जिनसे अधम बरन को अनुमानहुँ अति दुस्तर।
अवसि जालियन सुखद एक उर्दू को दफ़तर ॥
जिहि तें सौ सौ साँसति सहत सदा बिलखानी।
भोली भाली प्रजा इहाँ की अतिहि अयानी ॥
भारत सिंहासन स्वामिनि जो रही सदा की।
जग में अब लौं लहि न सक्यो कोऊ छबि जाकी ॥
जासु बरनमाला गुन खानि सकल जग जानत।
बिन गुन गाहक सुलभ निरादर मन अनुमानत ॥
राजसभा सों अलग कई सौ बरस बितावत।
दीन प्रवीन कुटीन बीच सोभा सरसावत ॥
बरसावत रस रही ज्ञान, हरि-भक्ति, धरम नित।
सिच्छा अरु साहित्य-सुधा-सम्वाद आदि इत ॥
कियो न बदन मलीन पीन बरु होत निरन्तर।
रही धीरता धारि ईस-इच्छा पर निरभर ॥

---

*भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उर्दू में एक शब्द को १००० प्रकार से पढ़ा जाना सिद्ध किया था।

(५)

[श्रीप्रयागराज के सनातन-धर्म-महासम्मेलन के अवसर पर, १६०६ ई० में लिखा गया]

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका॥
अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती॥
उद्यम रूप सुखद मलयानिल दक्षिण दिश से आता।
शिल्प कमल कलिका कलाप को बिना बिलम्ब खिलाता॥
देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
शुभ आशा सुगन्ध फैलाता मन मधुकर ललचाता॥
वस्तु विदेशी तारकावली करती लुप्त प्रतीची।
विद्वेषी उलूक छिपने की कोटर बनी उदीची॥
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा लखाई।
खग 'वन्देमातरम' मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई॥
तजि उपेक्षालस निद्रा उठि बैठा भारत ज्ञानी।
ध्यान परम करुणा वरुणालय बोला शुभप्रद बानी॥
"उठो आर्य्य सन्तान सकल मिलि बस न बिलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातन्त्र्यमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ॥
देखो तो जग मनुज कहाँ से कहाँ पहुँच कर भाई।
धर्म, नीति, विज्ञान, कला, विद्या, बल, सुमति सुहाई॥
की उन्नति निज देश जाति भाषा सभ्यता सुखों की।
तुम सब ने सीखी वह बान रही जो खान दुखों की॥
बीती जो उसको भूलो सँभलो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाई बँध एक प्रेम धागे से॥

आर्य्यवंश को करो एक, अब द्वैत भेद बिनसाओ।
मन वच कर्म एक हो वेद विदित आदर्श दिखाओ॥
बैठो सब थल एक ध्याय सर्वेश एक अविनाशी।
एक विचार करो थिर मिलकर जग आतङ्क प्रकाशी॥
मिथ्याडम्बर छोड़ धर्म का सच्चा तत्व विचारो।
चारो वेद कथित चारो युग प्रचलित प्रथा प्रचारो॥
चारो वर्णाश्रम के चारो भिन्न धर्म के भागी।
निज निज धर्माचरण यथाविधि करो कपट छल त्यागी॥
सत्य सनातन धर्म ध्वजा हो निश्चल गगन उड़ाओ।
श्रौत स्मार्त कर्म्म अनुशासन के दुन्दुभी बजाओ॥
फूँको शङ्ख अनन्य भक्ति हरि, ज्ञान प्रदीप जलाते।
जगत प्रशंसित आर्य्यवंश जय जय की धूम मचाते॥

(६)

अब तो लखि ये अलि ये अलियन
कलियन मुख चुम्बन करन लगे।
पीवत मकरन्द मनो माते, ज्यों अधर सुधारस में राते,
कहि केलि कथा गुंजरन लगे॥
रस मनहुँ प्रेमघन बरसत घन, निज प्यारी के करि आलिङ्गन
लिपटे लुभाय मन हरन लगे॥

(७)

सम्पति सुजस का न अन्त है विचारि देखा,
तिसके लिये क्यों सोक सिन्धु अवगाहिये।
लोभ की ललक में न अभिमानियों के तुच्छ,
तेवरों को देख उन्हें शंकित सराहिये॥
दीन गुनी सज्जनों से निपट विनीत बने,

प्रेमघन नित्य नाते नेह के निवाहिये ॥
राग रोष औरों से न हानि लाभ कुछ,
उसी नन्द के किसोर की कृपा की कोर चाहिये ॥

(८)

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिये तिहि त्यागी तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने, तिन बीच बियोग बुलाइये ना ॥
घनप्रेम बढ़ाय कै प्रेम अहो, बिथा बारि बृथा बरसाइयै ना।
चिते चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलबे की चलाइये ना ॥

(९)

मन की मौज मौज सागरसी सो कैसे ठहराऊँ?
जिसका वारापार नहीं उस दर्या को दिखलाऊँ?
तुमसे नाजुक दिल को भारी भौंरों में भरवाऊँ?
कहो प्रेमघन मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ? ॥ १ ॥

तिरछी तिउरी देख तुमारी क्योंकर सीस नवाऊँ?
हो तुम बड़े खबीस जानकर अनजाना बन जाऊँ?
हर्फ़ शिकायत जबाँ प आए कहीं न यह डर लाऊँ?
कहो प्रेमघन मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ? ॥ २ ॥

लूट रहे हो भली तरह मैं जानूँ वले छुपाऊँ।
करते हो अपने मन की मैं लाख चहे चिल्लाऊँ ॥
डाह रहे हो खूब परा परबस मैं गो घबराऊँ।
कहो प्रेमघन मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ? ॥ ३ ॥

(१०)

सोहै न तोके पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीच क्यों पहिनि बने बैमून, साँ० गो०।
काली सूरत पर काला कपड़ा देख किए रञ्ज दून, साँ० गो०।

अंगरेज़ी कपड़ा छोड़हु कितौ ल्याय लगावः मुहें चून, साँ० गो० ।
दाढ़ी रखि कै बार कटावत और बढ़ाए नाखून, साँ० गो० ।
चलत चाल बिगरैल घोड़ सम बोलत जैसे मजनून, साँ० गो० ।
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन काहें मलहु दुऔ जून, साँ० गो० ।
चूसहु चुरुट लाख पर लागत पान बिना मुँह सून, साँ० गो० ।
अच्छर चारि पढ़ेहु अंगरेज़ी बनि गये अफ़लातून, साँ० गो० ।
मिलहि मेम तोहें कैसे जेकर फेयर फेस लाइक दी मून, साँ० गो० ।
बिसकुट, केक, कहाँ तू पैव्या चाभः चना भले भून, साँ० गो० ।
डियर प्रेमघन हियर दयाकर गीत न गावो लेम्बवून, साँ० गो० ।

(११)

जय जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी ।।
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ।
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी ।।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सबहिं सुझानी ।
भये असंख्य जहाँ जोगी तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी ।।
बिबुध विप्र विज्ञान सकल विद्या जिनते जग जानी ।
जग विजयी नृप रहे कबहुँ जहँ न्याय निरत गुन खानी ।
जिन प्रताप सुर असुरनहू की हिम्मत बिनसि बिलानी ।
कालहु सम अरि तृन समझत जहँ के क्षत्री अभिमानी ।।
वीर वधू बुध जननि रहीं लाखन जित सती सयानी ।
कोटि कोटि जित कोटि पती रत बनित बनिक धन दानी ।।
सेवत शिल्प यथोचित सेवा सूद समृद्ध बढ़ानी ।
जाको अन्न खाय ऐँडति जग जाति अनेक अघानी ।।

जाकी सम्पत्ति लुटत हजारन बरसनहूँ न खोटानी।
सहस सहस बरिसन दुख नित नव जो न ग्लानि उर आनी॥
धन्य धन्य पूरव सम जग नृपगन मन अजहुँ लोभानी।
प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोरि जुग पानी॥
जिनमें झलक एकता की लखि जग मति सहमि सकानी।
ईस कृपा लहि बहुरि प्रेमघन बनहु सोई छवि छानी॥
सोइ प्रताप गुणजन गर्वित ह्वै भरी पुरी धन धानी।

विनायकराव

पण्डित विनायकराव का जन्म सं० १९१२ की पौष शुक्ला १० को ज़िला सागर में हुआ। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके बचपन में ही इनके पिता का देहान्त हो गया था। सागर में ही इनका विद्यारम्भ हुआ। वहीं के हाई स्कूल से इन्होंने एंट्रेंस पास किया। फिर वहाँ से ये जबलपुर चले आये और सन् १८७५ में वहीं से इन्होंने एफ० ए० की परीक्षा पास की। बी० ए० पढ़ने के लिए इन्हें सरकार से १५) मासिक की छात्र-वृत्ति मिली। किन्तु उन दिनों बी० ए० पढ़ने के लिए लखनऊ जाना पड़ता था। क्योंकि मध्यप्रदेश में कहीं इसके लिये प्रबन्ध नहीं था। कई कारणों से ये लखनऊ न जा सके और यहीं इनकी शिक्षा समाप्त हो गई।

सन् १८७६ में मुड़वारा के मिडिल स्कूल में २५) मासिक पर ये अध्यापक नियुक्त हुये। कुछ दिनों के बाद सागर के हाई स्कूल में सहकारी शिक्षक होकर चले गये, और तीन ही मास पीछे ५०) मासिक पर हेडमास्टर होकर फिर मुड़वारा चले आये। वहाँ से डेढ़ वर्ष पीछे

६०) मासिक पर जबलपुर के नार्मल स्कूल में चले गये। वहाँ से ७०) मासिक वेतन पर फिर मुड़वारा गये। डेढ़ वर्ष मुड़वारा में रहकर फिर कुछ दिनों के लिये १५०) मासिक वेतन पर मध्यप्रदेश शिक्षा-विभाग के इन्सपेक्टर-जनरल के दफ्तर में चले गये। कुछ समय पीछे १००) मासिक पर होशंगाबाद हाई स्कूल के हेडमास्टर नियुक्त हो गये। इनकी पढ़ाई का फल बहुत अच्छा हुआ करता था। जिस समय ये होशंगाबाद हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, उस समय इनके स्कूल से मेट्रिकुलेशन में भेजे गये सब छात्र पास होगये थे। उस प्रान्त में इनकी बहुत प्रसिद्धि होगई थी। एक बार वहाँ के चीफ़ कमिश्नर ने तार-द्वारा इन पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी।

कुछ समय के पश्चात् ये १७५) मासिक पर जबलपुर के नार्मल स्कूल के सुपरिण्टेण्डेण्ट नियत हुये, और वहाँ ५ वर्ष तक रहे। फिर २२५) पर नागपुर के ट्रेनिङ्ग इंस्टीट्यूशन में बदल दिये गये। वहाँ इन्होंने कई बी० ए० पास लोगों को पढ़ाकर पास कराया।

इसके पीछे जब ट्रेनिङ्ग इंस्टीट्यूशन जबलपुर उठकर चला आया, तब ये भी उसी के साथ वहीं आ गये। इस तरह ३४ वर्ष तक इन्होंने शिक्षाविभाग में बड़ी योग्यता से काम करके ख़ूब प्रसिद्धि पाई। चीफ़ कमिश्नर की वार्षिक रिपोर्ट और कितने ही अंगरेज़ अफ़सरों के दिये हुये सार्टिफिकेटों से इनकी योग्यता का अच्छा पता चलता है। ये कुछ वर्षों से सरकारी पेंशन पाते थे और सकुटुम्ब जबलपुर में रहते थे। इनके तीन पुत्र तथा तीन कन्यायें हैं। ज्येष्ठ पुत्र पं० परशुराम बी० ए० पहले हरदा में स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर थे। आजकल नौकरी से इस्तीफ़ा देकर ये विरक्त हो रहे हैं। गीता, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ पर उनमें विशेष श्रद्धा जागृत हुई है और वे उसी में तन्मय हो रहे हैं। देखें ईश्वर उनके द्वारा देशहित का क्या कार्य

कराना चाहता है। मुड़वारा ज़िला स्कूल में जब पण्डित विनायकरावजी हेडमास्टर थे, तब वहाँ इन्होंने एक संस्कृत पाठशाला खोली थी, जो अभी तक अच्छी तरह से चल रही है।

पण्डित विनायकरावजी हिन्दी-भाषा के बड़े प्रेमी थे। इन्होंने १६ पुस्तकें लिखी थीं। जिनमें से कई मध्यप्रदेश के स्कूलों में पढ़ाई भी जाती हैं। हिन्दी की पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकों के लिए इन्हें १०००) पारितोषिक भी मिला था। वैज्ञानिक-कोश के सम्पादन के समय काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की प्रार्थना पर मध्य-प्रदेश के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने इन्हें प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। उसी समय से ये नागरी-प्रचारिणी-सभा के सभासद होगये।

जबलपुर के श्रीभानु-कवि-समाज से इन्हें "कवि नायक" और भारत धर्म महामण्डल से "साहित्य-भूषण" की उपाधि मिली थी। खेद है कि गतवर्ष इनका देहान्त हो गया।

पण्डितजी ने नौ वर्ष के परिश्रम से तुलसी-कृत रामायण की बड़ी ललित "श्रीविनायकी टीका" लिखी थी। इनकी रची हुई कुल पुस्तकों के नाम ये हैं:—

क्षेत्र व्यवहारिक तत्व का हल, स्वच्छता की पहली पुस्तक, संसार की बाल्य अवस्था, व्याख्या-विधि, हिन्दी की चौथी पुस्तक का सुगम पंथ, संक्षिप्त पदार्थ-विज्ञान-विटप, आरोग्य-विद्या-प्रश्नोत्तरी, व्यवहारिक रेखागणित, जटल काफ़िया, हिन्दी की पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी पुस्तक, परीक्षा पास, शिक्षा-प्रबंध, रामचरितमानस की श्रीविनायकी टीका, अयोध्या-रत्न-भण्डार, काव्य-कुसुमाकर प्र० भा०, काव्य-कुसुमाकर द्वि० भा०।

आगे हम इनकी कविताओं के उदाहरण लिखते हैं:—

(१)

धारिये धीरज धर्म सनातन सत्य सदा समता न बिसारिये।
सारिये भक्ति करोर कलान कै मत्त मलीन महामन मारिये॥
मारिये मोह मदादिक मत्सर गाय गोविन्द गुमानहिं गारिये।
गारिये द्वैतविचार "विनायक" नायक रामसिया 'चित धारिये'॥

(२)

आतम ही रथवान प्रमान शरीरहिं जो रथ रूप बनावै।
बुद्धि बनै वर सारथी आय सु मानस केरि लगाम लगावै॥
इन्द्रिय बाजि जुते जब जाय कुचाल सयत्न सुचाल चलावै।
सत्य "विनायक" विष्णु समीप अपारहि मारग पार सु पावै॥

(३)

कलिकाल बिहाल किये नरनारि कहूँ दुशकाल विरोध अहै।
पुनि फूट परस्पर है न विवेक अजानपने को सँचार रहै॥
धरि के मन धीर विचार समेत हमेश रमेश पदाब्ज गहै।
"कवि नायक" पार पयोनिधि को रघुनायक नाम अधार लहै॥

(४)

पुन्यहि पूरण पाप विनाशन निर्मल कीरति भक्ति बढ़ावन।
दायक ज्ञान रु घायल मोह विशुद्ध सु प्रेममई मुद पावन॥
श्रीमद्रामचरित्र सु मानस नीर सुभक्ति समेत नहावन।
"नायक" ते जन सूरज रूप जहान के ताप को ताप नसावन॥

(५)

भासत एक गुरू मदिरा गुरु दो मिलि मत्तगयन्द गह्यौ।
गोल समेत चकोर भयो सुमुखी सत जा लग चन्द लह्यो॥
आठहु भागन होत किरीट सु दुर्मिल सागण आठ चह्यो।
भासत रा अरसात सुपिङ्गल जासत यागण वाम कह्यो॥

(६)

जनक दुलारी सुकुमारी सुधि पाई पिय,
चहत चलन वन इच्छा नरनाह की।
उठि अकुलाय घबराय संग जान हेतु,
सकुचति विनय सुनाई चित चाह की॥
सासु समझाई राम विविध बुझाई कहि,
वन दुखदाई कठिनाई बहु राह की।
पति पद प्रेम लखि "नायक" कहत सत्य,
तिया हुती पतिव्रता मानी नाहीं नाह की॥

(७)

प्रसन्नता जो न लही सुराज से।
गही न ग्लानी बनवास दुःख से॥
मुखच्छवी श्रीरघुनाथ की अहो!
हमें सदा सुन्दर मंगलीय हो॥

(८)

अहो सोच कन्या विवाह का वृथा हृदय नर धरते हैं।
सर्वशक्तियुत ईश कृपानिधि जोड़ी निर्मित करते हैं॥
भावी वर को जन्म प्रथम दे कन्या पीछे रचते हैं।
"नायक" सोच करो मत कोई विधि के अङ्क न बचते हैं॥

(९)

गाथा रामचरित्र की, सांसारिक व्यवहार।
ईशभक्ति नृप गुरु भगति, मात पिता को प्यार॥
मात पिता को प्यार, सत्यता की दृढ़ताई।
अटल तिया पति प्रेम, मन्त्रिवर की चतुराई॥

कहत विनायकराव, भाइ भाई को साथा।
सेवक सेव्य सुप्रेम, पूर्ण रघुनायक गाथा॥

(१०)

कन्या सुन्दर वर चहै, मातु चहै धनवान।
पिता कीर्त्ति युत स्वजन कुल, अपर लोग मिष्ठान॥

(११)

नहिं सराहिये स्वर्ण गिरि, जहँ तरु तरुहि रहाहिं।
धन्य मलयगिरि जहँ सकल, तरु चन्दन हुइ जाहिं॥

(१२)

कविगण कविता करहिं जो, ज्ञानवान रस लेइ।
जन्म देइ पितु पुत्र को, पुत्रि पतिहि सुख देइ॥

प्रतापनारायण मिश्र

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म आश्विनकृष्ण ९, सं० १९१३ में हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित संकटाप्रसाद था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण बैजे गाँव (ज़िला उन्नाव) के मिश्र थे। पण्डित संकटाप्रसाद अच्छे ज्योतिषी थे। वे प्रतापनारायण को भी ज्योतिर्विद् बनाना चाहते थे। पर इनका चित्त ज्योतिष में लगता ही न था। तब इनके पिता ने लाचार होकर इन्हें स्कूल में भर्ती करा दिया। वहाँ भी इनका जी न लगा। तब सं० १९३२ के लगभग इन्होंने स्कूल से अपना पिंड छुड़ाया। इसके कुछ दिन बाद पंडित संकटाप्रसाद की मृत्यु हो गई। इससे इनकी शिक्षा एक दम से बन्द ही हो गई। स्कूल में इनकी दूसरी भाषा हिन्दी थी।

अंग्रेज़ी का इनको बहुत साधारण ज्ञान था। परन्तु अपने परिश्रम से बड़े होने पर इन्होंने उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

प्रतापनारायण का रंग गोरा, नाक बहुत बड़ी, शरीर दुबला और कमर जवानी ही में झुक गई थी। ये सिर पर बड़े-बड़े बाल और आगे दोनों ओर काकुलें रखते थे। इनको लम्बी दाढ़ी रखने का भी शौक़ था। इनकी नाक दिन भर नास फाँका करती थी। इससे इनकी दाढ़ी और मूछों पर भी थोड़ा बहुत नास छाया रहता था।

प्रतापनारायण बड़ी मौजी तबीयत के थे। हमेशा अपने ही रंग में मस्त रहते थे। ये ऐसे स्वच्छन्द स्वभाव के मनुष्य थे कि जब कभी कोई ज़रा भी इनकी तबीयत के खिलाफ़ कुछ कह देता या कोई काम कर बैठता, तब ये उसका ज़रा भी मुलाहिज़ा न करते थे। कभी-कभी ये साधारण बातों पर भी बिगड़ उठते थे। जिन लोगों से इनका मैत्री-भाव था, कभी कभी उनके यहाँ ये दिन दिन भर पड़े रहते थे और कभी हज़ार बार आरज़ू मिन्नत करने पर भी न जाते थे।

प्रतापनारायण मिश्र जब स्कूल में थे, तब बाबू हरिश्चन्द्र का "कवि-वचन-सुधा" नामक पत्र बहुत उन्नति पर था। उसमें बड़े ही मनोरंजक गद्य-पद्य-मय लेख रहते थे। मिश्रजी उसे तथा बाबू हरिश्चन्द्र की अन्यान्य रचनाओं को बड़े ही चाव से पढ़ा करते थे। उन्हीं को पढ़ने से प्रतापनारायण की प्रवृत्ति कविता की तरफ़ हुई। उन दिनों कानपुर में लावनी गाने वालों का बड़ा ज़ोर-शोर था। प्रसिद्ध लावनी-बाज़ बनारसी उस समय प्रायः कानपुर में ही रहा करता था। पंडित प्रतापनारायण मिश्र को लावनी सुनने का बड़ा चस्का लग गया। ये स्वयं भी मौके मौके पर लावनी की रचना करने लगे। कानपुर के प्रसिद्ध कवि पंडित ललिताप्रसाद त्रिवेदी धनुष-यज्ञ कराने में बड़े निपुण

थे। उन्हीं से प्रतापनारायण ने छंदःशास्त्र के नियम सीखे। "ललित" जी को ही ये अपना गुरु मानते थे।

हिन्दी-पत्र पढ़ने का इन्हें लड़कपन से ही शौक़ था। इसी शौक़ से उत्साहित होकर १५ मार्च, १८८३ से इन्होंने "ब्राह्मण" नामक १२ पृष्ठ का एक मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण के लेख हास्यरसमय, व्यंगपूर्ण और शिक्षाप्रद होते थे। यह पत्र कोई दस वर्ष तक चलता रहा। बीच में, १८८७ में, एक बार कुछ दिनों के लिये यह बन्द भी हो गया था। मिश्रजी की मृत्यु के बाद खड्गविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीन सिंह ने उसे फिर चलाया। किन्तु वह चला नहीं, बन्द ही हो गया।

सन् १८८६ में पंडित प्रतापनारायण कालाकाँकर गये और वहाँ हिन्दी "हिन्दोस्थान" के सहकारी सम्पादक नियत हुये। किन्तु स्वच्छंद स्वभाव होने के कारण वहाँ अधिक दिन रह न सके।

जब मिस्टर ब्रैडला विलायत से यहाँ आये थे, तब इन्होंने 'ब्रैडला स्वागत' शीर्षक एक कविता रची थी। उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। विलायत तक में उसकी चर्चा हुई थी।

पंडित प्रतापनारायण बड़े काहिल थे। उनके बैठने के स्थान पर कूड़े करकट, अखबार, चिट्ठियाँ कागज़ बिखरे पड़े रहते थे। चिट्ठियों के उत्तर देने में बड़े ही लापरवाह थे। पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र को इन्होंने एक चिट्ठी लिखी थी। उसमें एक जगह चिट्ठियों का उत्तर न देने के विषय में आप लिखते हैं—को सारेन की खैंहसि माँ परै।

मिश्रजी नाटक खेलने में बड़े निपुण थे। एक बार स्त्री का पार्ट लेने के लिये इन्होंने दाढ़ी मोंछ सब मुड़ा डाली थी। ये पूरे मसखरे, दिल्लगीबाज़ और एक प्रकार से फक्कड़ थे। नाटक में अपना पार्ट ये बड़ी ख़ूबी से करते थे।

सामाजिक और धार्मिक बन्धनों की ये अधिक परवा न करते थे। धर्मान्धता इनमें न थी। इनका सिद्धान्त था—"प्रेम एव परोधर्मः।" ये काँग्रेस के पक्षपाती थे और उसे अच्छा समझते थे। मद्रास और प्रयाग की काँग्रेस में ये कानपुर से प्रतिनिधि होकर गये भी थे। इनका शरीर रोग का घर था।

प्रतापनारायण हिन्दी, हिन्दुस्तान के परम भक्त, सुकवि और लेखक थे। इनकी कविता में इनका देशप्रेम अच्छी तरह झलकता है।

इन्होंने १२ पुस्तकों का भाषानुवाद किया और २० पुस्तकें लिखीं। अनुवादित पुस्तकों के नाम ये हैं:—

राजसिंह, इन्दिरा, राधारानी, युगलांगुलीय, चरिताष्टक, पञ्चामृत, नीति-रत्नावली, कथामाल, संगीत शाकुन्तला, वर्णपरिचय, सेनवंश और सूबे बंगाल का भूगोल।

लिखित पुस्तकों के नाम ये हैं:—

कलिकौतुक-रूपक, कलि-प्रभाव नाटक, हठी हमीर नाटक, गोसंकट नाटक, जुआरी-खुआरी-प्रहसन, प्रेम-पुष्पावली, मन की लहर, शृंगार-विलास, दंगल खंड, लोकोक्ति-शतक, तृप्यन्ताम्, ब्रैडला-स्वागत, भारत-दुर्दशा, शैव-सर्वस्व, प्रताप-संग्रह, रसखान-शतक, मानस-विनोद, वर्णमाला, शिशु-विज्ञान और स्वास्थ्यरक्षा।

इनकी कविता सरस और प्रभावोत्पादक होती थी। मन की लहर में इनकी संस्कृत और फ़ारसी कविता के भी नमूने मिलते हैं। इनका देहान्त आषाढ़ शुक्ल ४, सं० १९५१ को हुआ।

यहाँ हम इनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं:—

कभी कभी मिश्रजी "ब्राह्मण" की क़ीमत तक, दानग्राही ब्राह्मण की तरह, कविता में माँगते थे। एक नमूना देखिये:—

(१)

चार महीने हो चुके, ब्राह्मण की सुधि लेव।
गंगा माई जै करैं, हमैं दच्छिणा देव ॥ १ ॥
जो बिनु माँगे दीजिए, दुहुँ दिशि होय अनन्द।
तुम निचिन्त हो हम करैं, माँगन की सौंगंद ॥ २ ॥
तुर्त दान जौ करिय तो, होय महा कल्यान।
बहुत बकाये लाभ का, समुझ जाव जजमान ॥ ३ ॥
रूपराज की कगर पर, जितने होयँ निसान।
तिते वर्ष सुख सुजसयुत, जियत रहो जजमान ॥ ४ ॥

(२)

आठ मास बीते जजमान, अब तो करो दच्छिना दान।
आजु कालिह जौ रुपया देव, मानो कोटि यज्ञ करि लेव ॥
माँगत हमका लागै लाज, पर रुपया बिन चलै न काज ॥
जो कहुँ देहौ बहुत खिझाय, यह कौनिउ भलमंसी आय ॥
हँसी खुशी से रुपया देव, दूध पूत सब हमसे लेव ॥
काशी पुन्नि गया माँ पुन्नि, बाबा बैजनाथ माँ पुन्नि ॥

(३)

चहहु जु साँचौ निज कल्यान। तो सब मिलि भारत संतान ॥
जपो निरन्तर एक ज़बान। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥
तबहिं सुधरिहै जन्म निदान। तबहिं भलो करिहै भगवान ॥
जब रहिहै निसिदिन यह ध्यान। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥

(४)

केहि विधि वैदिक कर्म होत कब कहा बखानत ऋक, यजु, साम।
हम सपनेहूँ में नहिं जानैं रहैं पेट के बने गुलाम ॥

तुमहिं लजावत जगत जनम ले दुहु लोकन में निपट निकाम ॥
कहैं कौन मुख लाइ हाइ फिर ब्रह्मा बाबा तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥
देख तुम्हारे फ़रज़न्दों का तौरो-तरीक़ तुमाश्रो कलाम ॥
खिदमत कैसे करूँ तुम्हारी अक़्ल नहीं कुछ करती काम ॥
आवे गङ्ग नज़र गुज़रानूँ या कि मये-गुलगूँ का जाम ॥
मुन्शी चितरगुप्त साहब तसलीम कहूँ या तिरपिन्ताम ॥ २ ॥

(५)

हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन ।
करत धरत कछु बनतै नाहीं कहाँ जान औ कैस करन ॥
छिन भरि चटक छिनै माँ मद्धिम जस बुझात खन होय दिया ॥
तैसे निखवख देख परत हैं हमरी अकिल के लच्छन ॥ १ ॥
अस कुछ उतरि जाति है जीते बाजी बेरियाँ बाजी बात ।
कैस्यो सुधि ही नाहीं आवति मूँड़ इ काहे न दै मारन ॥
कहा चहौं कुछ निकरत कुछु है जीभ राँड़ का है यहु हालु ।
कोऊ इहि का बात न समझै चाहे बीसन दाँय कहन ॥ २ ॥
दाढ़ी नाक याक माँ मिलिगै बिन दाँतन मुहुँ अस पोपलान ।
दढ़िही पर बहि बहि आवति है कबौं तमाखू जो फाँकन ॥
बार पाकि गे रीरी झुकिगै मूँड़ौ सासुर हालन लाग ।
हाथ पाँव कछु रहे न आपन केहि के आगे दुख रावन ॥ ३ ॥
यही लकुटिया के बूते अब जस तस डोलित डालित है ।
जेहि का लै कै सब कामेन मा सदा खखारत फिरत रहन ॥
जियत रहैं महराज सदा जो हम ऐस्यन का पालत हैं ।
नाहीं तो अब कोधौं पूँछे केहि के कौने काम के हन ॥ ४ ॥

(६)

गैया माता तुमका सुमरौं कीरत सब ते बड़ी तुम्हारि ।

करौ पालना तुम लरिकन के पुरिखन वैतरनी देउ तारि ॥
तुम्हरे दूध दही की महिमा जानैं देव पितर सब कोय।
को अस तुम बिन दूसर जिहि का गोबर लगे पवित्तर होय ॥ १ ॥

जिनके लरिका खेती करिकै पालैं मनइन के परिवार।
ऐसी गाइन की रक्षा माँ जो कुछ जतन करौं सो थ्वार।
घास के बदले दूध पियावैं मरि के देंय हाड़ औ चाम।
धनि वह तन मन धन जो आवै ऐसी जगदम्बा के काम ॥ २ ॥

आल्ह खंड की पोथी लै कै ग्वाखौ तनुक लिखा कस आय।
"जहाँ रोसैंयाँ है ऊदन कै भुवरा मुगुल पछारै गाय।"
को अस हिन्दू ते पैदा है जो अस हाल देखि एक साथ।
रकत के आँसुन रोय न उठिहै माथे पटकि दुहत्था हाथ ॥ ३ ॥

सब दुख सुख तो जैसे तैसे गाइन की नहिं सुनै गुहार।
जब सुधि आवै मोहि गैयन की नैनन बहै रकत की धार।
हियाँ की बातैं तौ हियनैं रहिँ अब कम्पू कै सुनो हवाल।
जहाँ के हिन्दू तन मन धन से निसदिन करैं धरम प्रतिपाल ॥४॥

(७)

वो बदखू राह क्या जाने वफ़ा की।
'अगर ग़फ़लत से बाज़ आया जफ़ा की' ॥१॥
न मारी गाय गोचारन किया बन्द।
'तलाफ़ी की जो ज़ालिम ने तो क्या की' ॥ २ ॥
मियाँ आये हैं बेगारी पकड़ने।
'कहे देती है शोख़ी नक़शे पा की' ॥३॥
पुलिस ने और बदकारों को शह दी।
'मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की' ॥४॥

जो काफ़िर कर गया मन्दिर में बिद्अत।
 'वो जाता है, दुहाई है ख़ुदा की' ॥५॥
शबे क़त्ल आगरे के हिन्दुओं पर।
 'हक़ीक़त खुल गई रोज़े जज़ा की' ॥६॥
ख़बर हाकिम को दें इस फ़िक्र में हाय !
 'घटा की रात औ हसरत बढ़ा की' ॥७॥
कहा, अब हम मरे साहब कलक्टर।
 'कहा, मैं क्या करूँ मरज़ी ख़ुदा की' ॥८॥
ज़मीं पर किसके हो हिन्दू रहें अब।
 'ख़बर ला दे कोई तहतुस्सरा की' ॥९॥
कोई पूछे तो हिन्दुस्तानियों से।
 'कि तुमने किस तवक़्क़ा पर वफ़ा की' ॥१०॥
उसे मोमिन न समझो ऐ "बरहमन"।
 'सताये जो कोई खिलक़त ख़ुदा की' ॥११॥

(८)

बिवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे कैसे।
 'कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे कैसे ॥१॥
जहाँ देखिये म्लेच्छ सेना के हाथों।
 मिटे नामियों के निशाँ कैसे कैसे ॥२॥
बने पढ़ के गौरण्ड-भाषा द्विजाती।
 'मुरीदाने पीरे-मुगाँ कैसे कैसे' ॥३॥
बसो मूर्खते देवि, आर्यों के जी में।
 'तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे कैसे' ॥४॥
अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा।
 'हमारे भी हैं मिहरबाँ कैसे कैसे' ॥५॥

न आई दया हाय गो-भक्तियों को।
    'तड़पते रहे नीमजाँ कैसे कैसे' ॥६॥
विधाता ने याँ मक्खियाँ मारने को।
    'बनाये हैं खुशरू जवाँ कैसे कैसे' ॥ ७ ॥
अभी देखिये क्या दशा देश की हो।
    'बदलता है रङ्ग आसमाँ कैसे कैसे' ॥ ८ ॥
हैं निर्गन्ध इस भारती-वाटिका के।
    'गुलो लाल ओ अरगवाँ कैसे कैसे' ॥ ९ ॥
हमैं वह दुखद हाय भूला है जिसने।
    'तवाना किये नातवाँ कैसे कैसे' ॥ १० ॥
प्रताप अब तो होटल में निर्लज्जता के।
    'मज़ेलूटती है जवाँ कैसे कैसे' ॥ ११ ॥

(९)

शरणागतपाल कृपाल प्रभो! हम को इस आस तुम्हारी है।
तुम्हरे सम दूसर और कोऊ नहिं दीनन को हितकारी है॥
सुधि लेत सदा सब जीवन की अति ही करुना बिस्तारी है।
प्रतिपाल करैं बिनही बदले अस कौन पिता महतारी है॥
जब नाथ दया करि देखत हौ छुटि जात बिथा संसारी है।
बिसराय तुम्हें सुख चाहत जो अस कौन नदान अनारी है॥
परवाहि तिन्हें नहिं स्वर्गहु की जिनको तव कीरति प्यारी है।
धनि है धनि है सुखदायक जो तव प्रेम सुधा अधिकारी है॥
सब भाँति समर्थ सहायक हौ तव आश्रित बुद्धि हमारी है।
"परताप नरायण" तौ तुम्हरे पद पंकज पै बलिहारी है॥ १॥
पितु मात सहायक स्वामि सखा तुमही इक नाथ हमारे हौ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुमही रखवारे हौ॥

सब भाँति सदा सुखदायक हौ दुख दुर्गुन नासनहारे हौ।
प्रतिपाल करौ सगरे जग को अतिसै करुणा उर धारे हौ॥
भुलिहै हमही तुमको तुमतो हमरी सुधि नाहिं बिसारे हौ।
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो विस्तारे हौ॥
महराज महा महिमा तुम्हरी समुझैं बिरले बुधवारे हौ।
शुभ शान्तिनिकेतन प्रेमनिधे! मन मन्दिर के उजियारे हौ॥
यहि जीवन के तुम जीवन हौ इन प्रानन के तुम प्यारे हौ।
तुम सों प्रभु पाय "प्रताप हरी" किहि के अब और सहारे हौ॥

(१०)

साधो मनुवाँ अजब दिवाना।
माया मोह जनम के ठगिया तिनके रूप भुलाना॥
छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि गाना।
फिकिर तहाँ की तनिक नहीं है अन्त समय जहँ जाना॥
मुखते धरम धरम गोहरावत करम करत मनमाना।
जो साहब घट घट की जानै तेहि तें करत बहाना॥
तेहि ते पूछत मारग घर को आपहि जौन भुलाना।
'हियाँ कहाँ सज्जन कर बासा' हाय न इतनौ जाना॥
यहि मनुवाँ के पीछे चलि के सुख का कहाँ ठिकाना।
जो "परताप" सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना॥

(११)

जागो भाई जागो रात अब थोरी।
काल चोर नहिं करन चहत है जीवन धन की चोरी॥
औसर चूके फिर पछितैहो हाथ मीजि सिर फोरी।
काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी॥

जो कुछ बीती बीत चुकी सो चिन्ता ते मुख मोरी।
आगे जामे बनै सो कीजै करि तन मन इक ठौरी॥
कोऊ काहू को नहिं साथी मात पिता सुत गोरी।
अपने करम आपने संगी और भावना मोरी॥
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी॥
नाहि तु फिर "परताप हरी" कोऊ बात न पूछहि तोरी॥

(१२)

क्रन्दन

तब लखिहौ जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालै।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालैं॥
नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहँ दीन प्रजा कहँ॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देशिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन भारन।
तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन॥
जहँ महीप लगि रजीडण्ट सों यहि डर डरहीं।
अस न होय कहुँ तनक रूठि धन धामहिं हरहीं॥
तहँ साधारन लोगन की तौ कहाँ चलाई।
नित घेरे ही रहत दुसह दारिद दुचिताई॥
यहि कर केवल हेतु यहै जो नए नए नित।
कर अरु चन्दा देन परैं प्रति प्रजहि अपरिमित॥

कछू काम कोउ करैं कहूँ ते कोऊ आवै।
कहुँ कछु घटना होय हिन्द ही द्रव्य लगावै॥
लेनहार सुख दुःख आय व्यय कबहुँ न पूछैं।
देत देत सब भाँति होहिं हम छिन छिन छूछैं॥
जे अनुशासन करन हेत इत पठये जाहीं।
ते बहुधा बिन काज प्रजा सों मिलत लजाहीं॥
जिते दिवस ह्याँ रहहिं तितेकहु लघु अवसर महँ।
जनरञ्जन हित करहिं न स्वीकृत कछुक कष्ट कहँ॥
तनिकहु भोग विलास माँहि त्रुटि करन न चहहीं।
नेकहि ग्रीषम लखे पर्वतन कर पथ गहहीं॥
निज इच्छा अनुसार करहिं सब सेत कृष्ण कृति।
कछु दिन महँ चल देहिं बिलायत यह कुजोग अति॥
चलत जिते कानून इहाँ उनकी गति न्यारी।
जस चाहहिं तस फेरि सकहिं तिन कहँ अधिकारी॥
बड़े बड़े बारिस्टर बहुधा बकि बकि हारैं।
पै हाकिम जन जस जिय चाहैं तस करि डारैं॥
निर्धन निहछल निस्सहाय कर कहुँ न निबाहू।
धनिक चलाक सपच्छ पुरुष पावहिं जय लाहू॥
प्रजा न जानहिं कौन इकट केहि अर्थ बन्यो कब।
पै यह अचरज! तेहिँ बन्धन महँ कसे रहैं सब॥
समय परे पर खोय मान धन दण्ड सहैहैं।
घर बाहर के काज छोड़ि दौरतहि रहैहैं॥
उदर हेत जे सिर बेचन पलटन महँ जाहीं।
गोरे रँग बिनु ठीक आदरित वेऊ नाहीं॥
गोर स्याम रँग भेद भाव अस दस दिसि छायो।

जिहि नेटिव नामहिं कहँ तुच्छ प्रतिच्छ दिखायो ॥
वे बधहू करि कबहुँ कबहुँ कोरे बचि जाहीं।
पै ये कहुँ कहुँ लकुट लेत हू धमकी खाहीं ॥
उनके सुख हित जतन करत हाकिम सब रहहीं।
इनके जिय सत संक उठहि जब निज दुख कहहीं ॥

विजयानन्द त्रिपाठी

पण्डित विजयानन्द त्रिपाठी, विद्यारत्न, का जन्म गाँव बेलौंटी (जि० आरा) में संवत् १६१३, पौष शुक्ल प्रतिपदा, रविवार को हुआ था। इनके पिता पंडित महादेवदत्त बड़े विद्वान्, शान्त और सदाशय पुरुष थे।

इनका विद्यारम्भ घर ही पर हुआ। इन्होंने अपने पिताजी ही से सारस्वत-चन्द्रिका, सिद्धान्त-कौमुदी, रघुवंश और माघ के कुछ सर्ग पढ़े। १२ वर्ष की अवस्था में ये काशी के क्वीन्स कालेज में भर्त्ती हुए और १३ वर्ष तक इन्होंने पढ़ने का सिलसिला जारी रक्खा। इतने समय में इन्होंने संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी अङ्गों से पूरा परिचय कर लिया। विशेषतः व्याकरण, साहित्य और दर्शन-शास्त्रों में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। ये पठनावसर में अपनी योग्यता का परिचय देते हुए सदा कालेज से पुरस्कार और वृत्ति पाते रहे। उस समय की प्रथा के अनुसार इनको कालेज से जो प्रशंसा-पत्र प्राप्त हुआ है, उससे इनकी योग्यता, सच्चरित्रता और सद्व्यवहार आदि का पूरा-पूरा पता मिलता है। कालेज छोड़ने के बाद, संवत् १६३५ में, बड़हर की महारानी के दरबार में, जो उस समय काशी में रहती थीं, त्रिपाठीजी

दानाध्यक्ष हुए।

ये जब कालेज में थे, तभी से इनका प्रेम हिन्दी पर हो गया था। उस समय भारतेन्दुजी के अनवरत उद्योग से काशी में साहित्य की खूब चर्चा थी। सभा-सोसाइटियों की भी बड़ी धूम थी। ये उन सब में जाने लगे। इससे इनका परिचय बड़े-बड़े लोगों से हो गया। जब कालेज छोड़कर ये बड़हर दरबार में नौकर हुए, तब इन्होंने बाबू रामकृष्ण वर्मा को एक पत्र निकालने और साहित्य की पुस्तकें छापने के लिये उत्साहित किया। लिखने-पढ़ने में सहायता देने का वचन भी दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से प्राचीन हिन्दी-काव्य प्रकाशित हुए और भारत-जीवन नामक साप्ताहिक-पत्र का अवतार भी हुआ।

जब से भारतजीवन का जन्म हुआ, तब से पण्डित विजयानन्द ने अन्यान्य लेखों के सिवा ५२ अङ्कों तक उसके लिये प्रारम्भिक छप्पय नियमित रूप से लिखे। इन की अनुपस्थिति में कभी-कभी भारतेन्दुजी छप्पय लिख दिया करते थे।

उन्हीं दिनों इन्होंने "महामोहविद्रावण" नामक एक पुस्तक संस्कृत से और "सच्चा सपना" बंगला से हिन्दी में लिखी। उक्त दोनों पुस्तकें भारत-जीवन प्रेस में छपीं। भारतेन्दुजी की अन्धेर-नगरी नामक पुस्तक के अधिकार के सम्बन्ध में "भारत-जीवन" और "खड्गविलास" प्रेस में परस्पर मुक़द्दमेबाज़ी हो गई। जीत "खड्गविलास" प्रेस की हुई। उस समय त्रिपाठीजी ने "महा अन्धेरनगरी" नामक एक प्रहसन लिखा, जो बहुत अच्छा निकला। उस समय ये उचितवक्ता, सार-सुधानिधि, कवि-वचन-सुधा, धर्म-दिवाकर, वैष्णव-तोषिणी, हिन्दी-प्रदीप और पीयूष-प्रवाह आदि सभी सामयिक पत्रों में गद्य-पद्य लेख दिया करते थे।

इस बीच में काशी के राम-मन्दिर का झगड़ा खड़ा हुआ। वहाँ के सुजन-समाज ने मन्दिर-रक्षिणी समिति (Temple Protection Committee) की स्थापना करके इस विषय में सरकार से प्रार्थनायें की। पूजा-पाठ में सहायता करने के कारण बड़हर-दरबार से इस मन्दिर का गाढ़ा सम्बन्ध था। इसीसे इनको लोगों ने समिति का सञ्चालक नियत कर दिया। त्रिपाठीजी के यह पद छोड़ने के बाद, १८९१ में, बलवा हुआ। बलवा करने का आरोप इन्हीं पर लगाया गया। ये वहाँ पर उपस्थित न थे। इससे उसका प्रतिवाद न कर सके। उसके १५ वर्ष बाद इन पर मुक़द्दमा चलाया गया, पर वह इन पर साबित न हो सका और ये बेदाग़ बच गये।

इनके भाई पंडित शिवनन्दन त्रिपाठी उस समय विहार-बन्धु के सम्पादक थे। अतएव ये बिहारबन्धु में लेख लिखने लगे। उस में इन्होंने हिन्दी के एक दो उपन्यास भी धारावाहिक रूप से निकाले। उसी समय बिहारबन्धु में इनकी कविताओं का संग्रह अन्योक्ति मुक्तावली के नाम से निकला। जिस सुप्रसिद्ध संस्कृत मासिक-पत्रिका संस्कृत-चन्द्रिका में सरस्वती-सम्पादक भी कभी-कभी लिखते थे, उसी में ये लाला श्रीनिवासदास के रणधीर-प्रेम-मोहिनी नाटक का संस्कृतानुवाद निकालते थे। पात्र-भेद से उसमें जैसे अनेक प्रकार की भाषायें हैं, वैसे ही संस्कृतानुवाद में भी इन्होंने प्राकृत, शौरसेनी, मागधी आदि भाषाओं का आश्रय लिया है। इनका यह नाटक सम्पूर्ण और सटीक तैयार है। उसे देखकर इनकी बहुभाषाभिज्ञता पर आश्चर्य्य होता है। सुप्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी राजा कमलानन्दसिंह उसे पुस्तकाकार प्रकाशित कराना चाहते थे, पर वे अकस्मात् परलोक-वासी हो गये। अतएव वह नाटक (प्रेम-साम्राज्यादर्श) योंही रह गया।

पूर्वोक्त मुक़द्दमे का अन्त हो चुकने पर ये बाँकीपुर के बी० एन०

कालेज में वर्षों तक प्रोफ़ेसरी करते रहे। जब वह पद उठा दिया गया, तब बी० एन० कालेजियट स्कूल में हेड पंडित हुए। बाँकीपुर ही में इनका स्वर्गवास हो गया।

बाँकीपुर में रहते हुए इन्होंने हिन्दी की कई पुस्तकें लिखीं। जिस रत्नावली नाटिका की प्रस्तावना-मात्र का गद्यमय अनुवाद भारतेन्दुजी ने किया था, उसका पूरा अनुवाद इन्होंने गद्य-पद्य में कर दिया है। वह प्रकाशित भी हो गया है। इन्होंने विक्रमोर्व्वशी, मालविकाग्निमित्र और प्रियदर्शिका के भी गद्य-पद्यात्मक अनुवाद कर डाले थे। इनकी "भारतीय इतिहास-पंजिका" नाम की एक पुस्तक भी निकली थी। मेघदूत के समवृत्त और समश्लोकी हिन्दी अनुवाद की भी रचना इन्होंने की थी। संस्कृत में इनकी बनाई नीति-मुक्तावली नाम की भी एक पुस्तक "शारदा" में छपी थी।

इनके लेख पढ़ने और व्याख्यान सुनने में बड़ा आनन्द आता था। जब कभी ये किसी सामयिक स्थिति पर विचार करने और उसका मर्म बताने लगते थे, तब इनकी वक्तृत्व-शक्ति देखकर आदमी दङ्ग रह जाते थे। कभी-कभी ये ऐसी बातें बनाते और ऐसी नक़ल करते थे कि हँसी रोके नहीं रुकती थी। ये सुबह-शाम संस्कृत पढ़ाते थे। इससे संस्कृत-विद्यार्थियों का ठट्ट इनके यहाँ जमा रहता था। अवशिष्ट समय में ये हिन्दी लिखते पढ़ते थे। इनका स्वभाव बहुत मिलनसार था। निस्पृह तो ये इतने थे कि मुफ़्त काम करते-करते इनका जी ऊब जाता था। लेख लिखाने, सभा-समितियों में पढ़ने के लिये कविता बनवाने और विज्ञापन आदि तैयार कराने के लिये इनके यहाँ बहुत लोग आया करते थे। ये बड़े स्पष्टवक्ता, दयाशील, मिष्टभाषी और श्रमी पुरुष थे। पुराने ढर्रे के पण्डित होने पर भी इन में यथेष्ट सामयिकता थी। कविता में इनका उपनाम "श्रीकवि" था।

भारतेन्दु का किया हुआ रत्नावली का अनुवाद विष्कम्भक तक ही मिलता है। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है—"इस नाटिका में मूल संस्कृत में जहाँ छन्द थे, वहाँ मैंने भी छन्द दिये हैं"। यह प्रतिज्ञा करके भी उन्होंने माङ्गलिक श्लोकों के अनुवाद पद्य में नहीं किये। पर त्रिपाठीजी ने अनुवाद पद्य में किये हैं। देखिये, मूल श्लोक यह है—

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने
ह्रीमत्याः शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन् कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः ॥

पद्यानुवाद

सेवा के समै में शम्भुशीश पै चढ़ाइबे को
फूल भरी अञ्जली पधारी उमा नेह सों।
लखि ललचाने तीन लोचन त्रिलोचन के
थहरी, पसीजी, लजी, पुलकित देह सो॥
बार बार एड़ी अलगाय के उचकि लफी,
गई लचि बहुरि पयोधर विदेह सो।
बिखरति देखि दई बीच ही में छोड़ि जाको
जग की सहाय होवे प्रियता सदेह सो॥

अब हिन्दी का एक संस्कृतानुवाद सुनिये। पद्माकर का एक कवित्त है—

सिन्धु के सपूत सुत सिन्धुतनया के बन्धु मन्दिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के। कहै पदमाकर गिरीस के बसे हो सीस तारन के ईस कुल-कारन कन्हाई के॥ हाल ही के बिरह बिचारि ब्रजबाल ही पै ज्वाल से जगावत हो ज्वाल ही जुन्हाई के। ऐरे मतिमन्द चन्द! आवत न तोको लाज है कै द्विजराज काज करत कसाई के॥

संस्कृतानुवाद

त्वं सिन्धोस्तनयश्च सिन्धुतनयावन्धुः सुधामन्दिरं
तारेशश्च गिरीशशेखरमणिः श्रीकृष्णवंशाङ्कुरः।
भूत्वापि द्विजराज आः विरहिणीस्तैरंशुभिस्तापय—
स्त्वं जिह्रेषि न चन्द्र! मन्द किमरे कुर्वन्पशुप्रक्रियाम्॥

इस हिन्दी-संस्कृत कविता को यदि अलग-अलग पढ़ें तो स्वतन्त्र कविता का आनन्द मिलता है।

त्रिपाठीजी की अन्य हिन्दी-कविताएँ सुनिये—

(१)

पर न किसी की दशा एकसी नित रहती है,
पछिवा पुरवा हवा बदलती ही बहती है।
बख़तियार ने अख़तियार जब किया यहाँ पर,
रहा ख़ार ही ख़ार बहार गयी अपने घर।
बदल गया एक बार ही, मगध बिहार असार हो।
सुख-समृद्धि कैसे रहैं, जहाँ न उचित विचार हो॥

(बिहार-गौरव से)

(२)

चूनि कै चूनरी है पहिरावति भाव कै जावक देति है पैंया।
आपने हाथन पाटी सँवारि सिँगार सिँगारि कै लेति बलैया॥
कैसी भई कछु जानि परै नहीं 'श्रीकवि' पूछे पै भाषित है या—
जीवननाथ की जीवनमूरि ये मेरिऊ जीवनमूरि है दैया॥

(३)

ध्यावत ही मन बावरो होत मझावत ही मति होति है भोरी
मोहिनी ती की रुमावली की छवि 'श्रीकवि' भाषत है बरजोरी॥

आपने हाथ मनोज कहार ने खैंचि धरी जुग सोनी कमोरी।
नाभी गभीर सुधारस कूप लों है लरकी मखनूल की डोरी॥

(४)

बहत सुगन्ध मन्द सीतल समीर जहाँ भृङ्ग पुञ्ज गुञ्जित निकुञ्ज के कुटीर मैं। रति विपरीत रची दम्पति सप्रीति तहाँ झुकि झुकि झूमि झूमि कीरति लली रमै॥ भनत विजयानन्द विथुरति केश पाश बगरयौ तिया के गौर सुन्दर शरीर मैं। जनु कनकारविन्द लुण्ठित सेवारन से मन्द मन्द डोलत कलिन्दजा के नीर मै॥

(५)

सीतल सुगन्ध मन्द बहति बयारि जहाँ भृङ्ग-पुञ्ज गुञ्जित निकुञ्ज के बसेरे मैं। रति विपरीत हेत लाडिली निहोरे लाल सूधी हुती आय गई नागर के फेरे मैं॥ झूमिबे में गूजरी ललाट ते उचटि परी हीरकनी रूरी डांक बींदुली सो हेरे मैं। 'श्रीकवि' विराजे घनश्यामजू के हीतल पै "गरक गई है मानो बीजुरी अंधेरे मैं"॥

(६)

भारती अरथ वारि वीचि बिम्ब प्रतिबिम्ब सरिस अभिन्न भये दोऊ दुहूँ हेरे मैं। दूसरो लखे ना मोहि य'तें अकुलानी सती जानकी समानी रामही तल बसेरे मैं॥ दूसरी लखे ना मोहूँ रामहु छिपे ता ही मैं यातें कढ़ी भारती विवस क्रम फेरे मैं। बीजुरी मैं मानो भये गरक अँधेरो अरु "गरक गई है मानो बीजुरी अंधेरे मैं"॥

(७)

कैधों हेमशैल शृङ्ग जुग पै सिमिट राजै घन की घटा धों पाय पटली उरोज की। कैधों रतिरानी के सोहाग के सिँधोरे नग नीलम जड़ित शोभा अति चित चोज की॥ 'श्रीकवि' धों मत्त ये मिलिन्द जुग सोये

आन पलिका बिछाय मृदु कलिका सरोज की। दीरघ द्दगों के उच्च कुच पै चुचुक कैधों कैधों सुधा-कुम्भ मुख मोहर मनोज की॥

(८)

कैधों काम-राज-अभिषेक हेम घट राजै कैधों कोक जुग हार प्रभा वाहिनी को है। कैधों मत्त मार गजराज के विराजे कुम्भ कैधों केलि कन्दुक मनोजभामिनी को है॥ कैधों कन्द सुभुज मृणालिका को 'श्रीकविजू' कैधों फल लीलालता मनभाविनी को है। कैधों दो सरोज कैधों सम्पुट रतन मञ्जु कैधौं विधि उन्नत उरोज कामिनी को है॥

(९)

केलि के सदन सों गहन भयो बाँसवारो त्रिविध समीर सी बयारि भयी लहरी। भूमि भई सेज सी पराग अंगराग सो भो ग्रीवा भयो गदुआ सो भार सो मसहरी॥ 'श्रीकवि' सँकाने विरहागि भरसाने दोऊ मिलि सरसाने को बखाने प्रीति गहरी। सूर भयो चन्द सो प्रकाश भयो चाँदनी सो शरद निशा सी भई जेठ की दुपहरी॥

अम्बिकादत्त व्यास

साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने बिहारी-विहार में "संक्षिप्त निज वृतान्त" स्वयं लिखा है। उन्हीं के शब्दों में हम यहाँ उनके संक्षिप्त वृत्तान्त का भी संक्षिप्त उद्धृत करते हैं। इससे पाठकों को जीवनी के साथ ही साथ व्यासजी के गद्य का भी ढंग मालूम हो जायगा।

"राजपुताने में जयपुर के समीप भानपुर (मानपुर ?) नामक ग्राम चिरकाल से प्रसिद्ध विद्वत्स्थान है। वहाँ के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद पं० ईश्वररामजी गौड़ थे। इनके प्रपौत्र पंडित हरिजी रामजी राजाश्रय

के कारण रावतजी की धूला नामक ग्राम में रह गये। परन्तु उनके पुत्र पं० राजारामजी धूला से सम्बन्ध छोड़ सकुटुम्ब काशी में आ बसे, और अपने गुण-गौरव से काशी के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी कहाये। इनके अनेक सन्तानों में चिरञ्जीवी दो ही पुत्र हुये—ज्येष्ठ पंडित दुर्गादत्तजी और कनिष्ठ पंडित देवीदत्तजी। ये पंडित दुर्गादत्तजी वे ही हैं जो कवि-मंडल में दत्त कवि प्रसिद्ध हैं। ये कभी जयपुर में भी जाके कुछ दिन रह जाते थे और कभी काशी में भी रहते थे। इनके द्वितीय पुत्र का जन्म जयपुर ही में सिलावटों के महल्ले में, सं० १६१५, चैत्र शुक्ल ८ को हुआ; वही मैं हूँ। सं० १६१६ में मेरे पूज्य पिता पंडित दुर्गादत्त जी जयपुर से काशी आये।

शास्त्रानुसार पंचम वर्ष से मेरी शिक्षा का आरम्भ किया गया। मेरी माता, बड़ी बहनें और दादी तथा चाची भी पढ़ी थीं। मेरी शिक्षा चतुरस्र होने लगी। दस वर्ष के वय में मैं हिन्दी-भाषा में कुछ-कुछ कविता करने लग गया था। परन्तु मेरी कविता जो सुनता था, वह कहता था कि इनकी बनाई कविता नहीं है, पिताजी से बनवाई है। सं० १६२६ में जोधपुर के राजगुरु ओझा तुलसीदत्तजी काशी में आये। इनने भी मेरी कविता सुन वही आशंका की कि इस छोटे वय में ऐसी अच्छी कविता का होना बहुत कठिन है। इस संदेह की निवृत्ति के लिये उनने एक दिन समस्या दी और कहा कि मेरे सामने पूरी करो।

समस्या—मूँदि गईं आँखैं तब लाखैं कौन काम की।

मैंने तत्क्षण कवित्त बनाया, सो यह है :—

चमकि चमाचम रहे हैं मनिगन चारु
सोहत चहूँघा धूम धाम धन धाम की।
फूल फुलवारी फल फैलि कै फबे हैं तऊ
छवि छटकीली यह नाहिन अराम की॥

काया हाड़ चाम की ले राम की बिसारी सुधि
जामकी को जाने बात करत हराम की।
अम्बादत्त भाखैं अभिलाषैं क्यों करत झूठ
मूँदि गईं आँखैं तब लाखैं कौन काम की॥

ओझाजी ने पारितोषिक, सर्वाङ्ग के दिव्य वस्त्र तथा प्रशंसापत्र देकर गुण-ग्राहिता प्रकट की। गुणियों के समाज में इसी समय मेरा नाम फैला।

ग्यारह वर्ष के वय में मैं अमरकोष, रूपावली और कुछ काव्य समाप्त कर पंडित कृष्णदत्तजी से लघुकौमुदी पढ़ने लगा। श्रीमद्भागवत दशम स्कंध पिताजी से पढ़ता था, और पंडित ताराचरण तर्करत्न भट्टाचार्य के यहाँ साहित्य-दर्पण और सिद्धान्त-लक्षण पढ़ना आरम्भ किया।

जिस समय मेरा बारह वर्ष का वय था, उसी समय एक तैलङ्ग वृद्ध अष्टावधान काशी में आये और प्रसिद्ध गुणिप्रिय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी के यहाँ अपना अष्टावधान-कौशल दिखलाया। बाबू हरिश्चन्द्रजी ने पंडित की ओर दृष्टि देकर कहा कि इस समय काशी-वासी भी कोई चमत्कार इनको दिखलाते तो काशी का नाम रह जाता। यह सुन सब तो चुप रहे, परन्तु मेरे पूज्य पिता ने कहा कि अच्छा, यह बालक एक सरस्वती मंत्र कविता करता है सो देखिये। मेरे आगे लेखनी, मसि, पत्र, खसकाये गये। मैंने एक पत्र पर आठ-आठ कोष्ठ की चार पंक्ति वाला आयत यंत्र बनाया और पूछा कि किस पदार्थ का वर्णन हो। बाबू हरिश्चन्द्र के सहोदर अनुज बाबू गोकुलचन्द्रजी ने कौतुकपूर्वक कहा कि इस घड़ी का वर्णन कीजिए। मैंने कहा—"इन कोष्ठों में जहाँ-जहाँ कहिये, मैं कोई-कोई अक्षर लिखता जाऊँ, सूधा बाँचने में श्लोक होगा"। इसका भावार्थ तैलङ्ग शतावधान को समझा

दिया गया। वे जिस-जिस कोष्ठ में बताते गये, वहाँ-वहाँ मैं अक्षर लिखता गया। अन्त में यह श्लोक प्रस्तुत हुआ—

घटी सवृत्ता सुगतिर्द्वादशाङ्क समन्विता।
उन्निद्रां सततं भाति वैष्णवीव विलक्षणा॥

साधुवाद के अनन्तर शतावधान ने कहा—"सुकविरेषः"। बाबू हरिश्चन्द्र ने "इससे बढ़ के आपको क्या दें" कहा। एक प्रशंसापत्र लिख दिया, उसमें "काशी-कविता-वर्द्धिनी सभा" से सुकवि पद मिला, इसकी सूचना दी।

तेरह ही वर्ष के वय में मैं पितृचरण - सहित डुमराँव राजधानी में आया। यहाँ के राजा महाराज राधिकाप्रसादसिंह मेरी कविता सुन अति प्रसन्न हुये।

क्रमशः मुझको इधर तो सांख्य, योग, वेदान्त पढ़ने का व्यसन हुआ और उधर संगीत में सितार, जलतरंग, नसतरंग आदि का। सं० १९३२ में काशी में गवर्नमेंट कालिज में ऐंग्लो संस्कृत विभाग में मैंने नाम लिखाया। अंग्रेज़ी भी कुछ कुछ समझ चला। अपने बहनोई पंडित वासुदेवजी से वैद्य-जीवनादि छोटे-छोटे वैद्यक ग्रन्थ भी पढ़ने लगा। मैंने बंगभाषा में भी परिश्रम आरम्भ किया और धीरे-धीरे हिन्दी के लेख लिखने लगा। इन दिनों मेरा और भारत-जीवन के सम्पादक बाबू रामकृष्ण का अधिक संघट्ट रहता था और बाबू देवकीनन्दन, बाबू अमीरसिंह और बाबू कार्तिकप्रसाद प्रभृति हम लोगों के अंतरंग मित्र थे।

महाराज मिथिलेश का राज्याभिषेक-समय आसन्न था। उनके पं० युगलकिशोर पाठकजी के द्वारा राजाज्ञा पाकर मैंने महाराज के लिए प्रसिद्ध सामवत नाटक बनाया।

सं० १९३४ में ऐंग्लों की उत्तम वर्ग तक की पढ़ाई मैंने समाप्त

की। इसी वर्ष अभिनव स्थापित काश्मीराधीश के संस्कृत कालेज में मैंने नाम लिखवाया। वहाँ परीक्षा दी। कालिज की प्रधान अध्यक्षता जगत्प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्दजी के हाथ में थी। इनने यावत्पंडितों के समक्ष मुझे व्यास पद दिया। यों तो मैं पहले ही से व्यासजी कहा जाता था; परन्तु अब वह पद और भी पक्का हो गया।

सं० १६३७ में काशी गवर्नमेंट कालिज में मैंने आचार्य परीक्षा दी। इस वर्ष साहित्य में १३ और व्याकरण में १५ छात्र परीक्षा देने गये थे। उनमें साहित्य में केवल मैं उत्तीर्ण हुआ और व्याकरण में २ छात्र उत्तीर्ण हुए। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के कारण गवर्नमेंट से मुझे साहित्याचार्य-पद मिला। सं० १६३१ में तो मेरी माता का परलोक होगया था। सं० १६३७ के आरम्भ ही में मेरे पूज्य पिता का भी काशीवास हो गया। इस कारण मैं अति दुःखित था। ऋण अधिक हो गया। और आश्चर्य यह है कि इसी अवस्था में मुझे आचार्य-परीक्षा पास करना पड़ा था, जो ईश्वर की कृपा ही से हुआ।

थोड़े ही दिनों के अनन्तर पोरबंदर के गोस्वामी बल्लभ-कुलावतंस श्रीजीवनलालजी महाराज से मुझे परिचय हुआ। वे मुझसे कुछ पढ़ने लगे। उनके साथ-साथ कलकत्ते गया। वहाँ सनातन-धर्म के विभिन्न विषयों पर मेरी २८ वक्तृताएँ हुईं। कई सभाओं में बंगदेशीय पंडितों से गहन शास्त्रार्थ हुए।

काशी में आने पर मैंने वैष्णव-पत्रिका नामक मासिक-पत्र निकाला। उस समय मुझे ऐसा अभ्यास हो गया था कि २४ मिण्ट में १०० श्लोक बना लेता था। इसको देखकर काशी के ब्रह्मामृत-वर्षिणी सभा के सभ्य पंडितों ने सं० १६३८ के माघ मास में मुझे "घटिका-शतक" पद सहित एक चांदी का पदक दिया।

जीविका के अभाव से मैं कष्टग्रस्त था, और ऋण सिर पर सवार

था। सं० १९३० में बनारस कालिज के प्रिंसिपल ने मुझे मधुबनी संस्कृत स्कूल का अध्यक्ष बना दरभंगे ज़िले में भेज दिया। सं० १९४३ में इंस्पेक्टर ने मुज़फ्फ़रपुर ज़िला स्कूल में मुझे हेड पंडित नियत किया। सं० १९४४ में भागलपुर ज़िला स्कूल क्षतिग्रस्त हो रहा था। इन्स्पेक्टर ने मुझे वहाँ भेज दिया। सं० १९४५ में सामवत नाटक खड्गविलास में छपकर तैयार हुआ। महाराज मिथिलेश के अर्पित हुआ। महाराज बहादुर ने भी अपनी योग्यतानुसार मेरा सम्मान किया। सं० १९४८ में बिहारी-बिहार कई वर्ष के परिश्रम से मैंने बनाकर समाप्त किया। पर किसी ने यह पुस्तक हस्तलिखित ही चुरा लिया। पुनः इसको बहुत श्रम से तैयार किया। सं० १९५० में छुट्टी लेकर देश-भ्रमण के लिये मैं चला। काशी की महासभा में कांकरौली-नरेश गोस्वामी बालकृष्ण लाल महाराज ने मुझे "भारतरत्न" पद सहित सुवर्ण-पदक दिया। सनातन-धर्म-महामंडल दिल्ली से "बिहारभूषण" पद के साथ सोने का तगमा मुझे मिला। महाराजाधिराज श्रीअयोध्यानरेश ने मुझे "शतावधान" पद सहित सुवर्ण-पदक तथा सम्मान-पत्र दिये और बम्बई में श्रीगोस्वामी घनश्यामलालजी महाराज ने सभा कर "भारत-भूषण" पद सहित सुवर्ण-पदक दिया।

एक समय महाराज जयपुर के प्रधान सेनापति ठाकुर हरिसिंह ने मुझे वेद के मंत्रार्थ की समस्या दी। मैं उसी दिन आमेर का महल* देख के आया था, सो यह पूर्ति की—

प्रविश्य राजभवने प्रतिबिम्बैर्न को भवेत्।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥"

---

* इसी महल की प्रशंसा में बिहारी ने भी कहा है :—

प्रतिबिम्बित जयसाह दुति, दीपति दर्पन धाम।
सब जग जीतन को कियो, कामव्यूह जनु काम॥

व्यासजी ने यहाँ तक अपनी जीवनी स्वयं लिखी है, जो बिहारी-बिहार में प्रकाशित है। इसके आगे का हाल यह है।—

भागलपुर से व्यासजी की बदली छपरा को हुई थी। उस समय व्यासजी की संतान में सात वर्ष के एक पुत्र राधाकुमार* और एक कन्या थी। इसके बाद इन्हें गवर्नमेंट पटना कालेज में प्रोफेसर का पद मिला। परन्तु ये शरीर से अस्वस्थ रहते हैं। मानो दैव ने उस पद का भोग इनके भाग्य में लिखा ही न था। सं० १९५७ (१९ नवम्बर, सन् १९००) में, काशी में व्यासजी ने शरीर त्याग किया।

बिहार में जो सब से बड़ा काम व्यासजी ने किया, वह "संस्कृत-संजीवनी समाज" का स्थापित करना है। इस समाज के द्वारा बिहार की अनिश्चित शिक्षा-प्रणाली का ऐसा सुधार हुआ कि जिससे अब सैकड़ों छात्र प्रति वर्ष संस्कृत शिक्षा पाकर उपाधि प्राप्त करते हैं। व्यासजी शतावधान थे। अनेक गुणों के लिए प्रख्यात थे। राजा महाराजाओं के यहाँ सम्मान पाते थे। संस्कृत के सिवा बंगला, मराठी, गुजराती और अंग्रेज़ी आदि भाषायें भी जानते थे। किन्तु इतने पर भी अर्थाभाव से दुःखी और ऋण-ग्रस्त थे।

व्यासजी ने संस्कृत और हिन्दी में छोटी-बड़ी मिलाकर कुल ७८ पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से कुछ प्रकाशित, कुछ अप्रकाशित और कुछ अपूर्ण हैं। पुस्तकों के नाम नीचे लिखे जाते हैं :—

प्रस्तार-दीपक, गणेश-शतक, शिव-विवाह, संख्या-सागर-सुधा, पातञ्जलि-प्रतिबिम्ब, कुण्डली-दर्पण, सामवत नाटक, इतिहास संक्षेप, रेखा-गणित (श्लोक-बद्ध), ललिता नाटिका, रत्नपुराण, आनन्द-मंजरी,

*खेद है, कि पंडित राधाकुमार का भी सं० १९७७ में देहान्त हो गया।

चिकित्सा-चमत्कार, अबोध निवारण, गुप्ताशुद्धि-प्रदर्शन, ताश-कौतुक पचीसी, समस्या-पूर्ति-सर्वस्व, रसीली कजरी, द्रव्य-स्तोत्र, चतुरङ्ग-चातुरी गोसंकट नाटक, महाताश-कौतुक पचासा, तर्क-संग्रह भाषाटीका, सांख्य तरङ्गिणी, क्षेत्र-कौशल, पंडित प्रपंच, आश्चर्य वृत्तान्त, छन्दः प्रबंध, रेखागणित भाषा, धर्म की धूम, दयानन्द-मत-मूलोच्छेद, दुःख-द्रुम-कुठार, पावस-पचासा, दोषग्राही, श्रो गुणग्राही उपदेश-लता, सुकवि-सतसई, मानस-प्रशंसा, आर्य-भाषा-सूत्रधार, भाषा भाष्य, पुष्पवर्षा, भारत-सौभाग्य, बिहारी-बिहार, रत्नाष्टक, मन की उमंग, कथा-कुसुम पुष्पोपहार, मूर्तिपूजा, संस्कृताभ्यास पुस्तक, कथा-कुसुम-मालिका, प्राकृत-प्रवेशिका, संस्कृत-संजीवन, प्राकृत गूढ़ शब्दकोष, अनुष्टुल्ल क्षणोद्धार, शिवराज-विजय, बाल व्याकरण, हो हो होरी, झूलन-झमक, स्वर्ग-सभा, विभक्ति-विभाग, पढ़े पढ़े पत्थर, सहस्रनाम रामायण, गद्य-काव्य-मीमांसा (संस्कृत), मरहट्ठा नाटक, साहित्य-नवनीत, वर्ण-व्यवस्था, बिहारी-चरित, आश्रम-धर्म-निरूपण, अवतार कारिका, अवतार-मीमांसा, बिहारी-व्याख्याकार-चरितावली, पश्चिम यात्रा, स्वामि-चरित, शीघ्र लेख-प्रणाली, गद्य-काव्य-मीमांसा (हिन्दी), घनश्याम-विनोद, राँची-यात्रा, निज वृतान्त।

"बिहारी-बिहार" में व्यासजी ने बिहारी के दोहों पर कुण्डलियाँ रची हैं। बिहारी ने दोहे-रूपी छोटे-छोटे घड़ों में जो अमृत भरा है, व्यासजी ने कुण्डलियों की लपेट से उसे छलका कर बाहर लाने का प्रयत्न किया है। कविता में ये अपना उपनाम "सुकवि" रखते थे।

आगे हम व्यास जी की हिन्दी-कविता के कुछ नमूने उनके ग्रन्थों से लेकर उद्धृत करते हैं :—

(१)

"मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, श्याम हरित दुति होय।
श्याम हरित दुति होय परत तन पीरी झाईं।
राधाहू पुनि हरी होत लहि स्यामल छाईं॥
नयन हरे लखि होत रूप अरु रङ्ग अगाधा।
"सुकवि" जुगुल छवि धाम हरहु मेरी भव बाधा॥

(२)

"सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर, आतप पर्यो प्रभात॥"
आतप पर्यो प्रभात ताहि सों खिल्यो कमल मुख।
अलक भौंर लहराय जूथ मिलि करत विविध सुख॥
चकवा से दोउ नैन देखि इहिँ पुलकत मोहत।
"सुकवि" बिलोकहु स्याम पीतपट ओढ़े सोहत॥

(३)

"इन दुखियाँ अँखियान कौं, सुख सिरजोई नाहि।
देखे बनैं न देखते, अनदेखे अकुलाहिँ॥"
अनदेखे अकुलाहिँ हाय आँसू बरसावत।
नेह भरेहू रूखे ह्वै अति जिय तरसावत॥
"सुकवि" लखतहू पलक कलप सत सरिस सुहाइ न।
प्रान जाइ जो तोऊ दोऊ दृग को दुख जाइ न॥

(४)

गुञ्जा री तू धन्य है, बसत तेरे मुख स्याम।
यातें उर लाये रहत, हरि तोकों बसु जाम॥

(५)

मोर सदा पिउ पिउ करत, नाचत लखि घन श्याम।
यासों ताकी पाँखहूँ, सिर धारी घनश्याम॥

लाला सीताराम

लाला सीताराम का जन्म २० जनवरी, सन् १८५८ को अयोध्या में हुआ। ये जाति के श्रीवास्तव (दूसरे) कायस्थ हैं। इनके पूर्वज पहले जौनपुर में रहते थे। किन्तु इनके पिता बाबा रघुनाथदास के शिष्य थे। इससे वे अयोध्या में जा बसे थे।

लाला सीताराम का विद्यारम्भ बाबा रघुनाथदास ही ने कराया था। पीछे से एक मौलवी साहब इन्हें उर्दू-फ़ारसी पढ़ाने के लिये नियत हुये। मौलवी साहब हिन्दी भी जानते थे। इन्होंने उनसे हिन्दी भी सीख ली। इनके पिता वैष्णव-धर्मावलम्बी थे। उन्हें धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों से बड़ा प्रेम था। उनके संसर्ग से इन्हें भी उन ग्रन्थों के पढ़ने का शौक हुआ। इसीसे धर्म की ओर विशेष प्रवृत्ति होने के साथ ही साथ इन्हें हिन्दी का भी अच्छा ज्ञान हो गया।

इनका क्रमशः संक्षिप्त जीवन-चरित इस प्रकार है :—

विद्योपार्जन

सात बरस की अवस्था से घर पर फ़ारसी, अरबी और हिन्दी पढ़कर जुलाई १८६६ ईस्वी में अयोध्या-स्कूल के चौथे क्लास में भरती हुये।

सितम्बर मास की परीक्षा में कक्षा में पहला नम्बर पाकर उत्तीर्ण हुये। दो बरस में चार क्लास उत्तीर्ण होकर अयोध्या में स्थानाभाव से फैजाबाद के तीसरे क्लास में पहुँचे, जो अब आठवाँ कहलाता है।

१८७४ ई० में इंट्रेंस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर लखनऊ कैनिङ्ग कालेज के एफ० ए० क्लास में भरती हुये।

१८७६ ई० की परीक्षा में पहला नम्बर पाकर बी० ए० क्लास में आये।

१८७९ ई० के जनवरी मास की परीक्षा में कलकत्ता-विश्वविद्यालय में सबसे ऊँचा स्थान पाया और गणित में सर्वश्रेष्ठ रहे।

कलकत्ते में पढ़ने का बुलावा आया और १००) मासिक की छात्र-वृत्ति मिली। पर पिता के अनुरोध से कलकत्ते न जा सके।

इसके उपरान्त विद्याभ्यास में सुगमता देखकर स्कूल की नौकरी कर ली।

१८८६ ई० में जजी की वकालत की परीक्षा में उत्तीर्ण हुये।

१८८७ ई० में अवध लोकल लॉ ज की परीक्षा पास की।

१८९० ई० में हाईकोर्ट वकील की परीक्षा में उत्तीर्ण हुये।

अर्थोपार्जन

१८७९ ई० में बनारस कालेज के थर्ड मास्टर नियत हुये।

१८८० ई० में सीतापुर हाईस्कूल के हेडमास्टर कर दिये गये।

१८८२ ई० में फैजाबाद में कालेज क्लास खुलने पर केमिस्ट्री पढ़ाने के लिये फैजाबाद भेजे गये।

१८८३ ई० में बनारस कालेज में सेकंड मास्टर हुये और इस पद पर जून, १८८३ तक रहे। यहीं कठिन परिश्रम से संस्कृत अध्ययन

किया और वेद, उपनिषद्, ज्योतिष, दर्शन-शास्त्र, काव्य और नाटक पढ़ डाले और भाषा-कविता करने लगे।

१८८७ ई० में फैजाबाद की बदली हुई। पर तीन महीना पीछे कानपुर हाईस्कूल के हेडमास्टर कर दिये गये।

इसी साल एक महीना पीछे इलाहाबाद डिवीजन के असिस्टेंट इन्स्पेक्टर हुये।

१८८८ ई० में मेरठ हाईस्कूल के हेडमास्टर हुये; पर पत्नी के रोग-ग्रस्त होने के कारण छुट्टी लेली।

१८८९ ई० में अपने स्थान पर फैजाबाद लौट आये।

१८८३ ई० में फैजाबाद हाई स्कूल के हेडमास्टर रहे और दो बरस तक कालेज के दर्जे को पढ़ाया। जिसका परिणाम यह हुआ कि इनके शिक्षित लड़कों ने परीक्षा में प्रथम और द्वितीय स्थान पाया।

१८९४ ई० में आगरे के असिस्टेंट इन्स्पेक्टर हुये।

१८९५ ई० में डिप्टी कलक्टर हुये और १९११ में ३२ बरस सर्कार की सेवा करके पेन्शन ले ली।

साहित्य-सेवा

१८७९ ई० में कालेज छोड़ने पर उर्दू के प्रसिद्ध समाचार-पत्र "अवध अखबार" में तीन बरस तक विज्ञान-विषय के लेख लिखे।

१८८१ ई० में उर्दू में मिस्वाहुल अर्ज़ (प्राकृतिक भूगोल) छपाया।

१८८२ ई० में उर्दू में शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद किया।

१८८३ ई० में 'मेघदूत' का और 'चाणक्य-शतक' का पद्यात्मक भाषानुवाद छपाया।

१८८४ ई० में 'पार्वती-पाणि-ग्रहण' के नाम से 'कुमार-संभव'

के सात सर्गों का पद्यात्मक भाषानुवाद छपाया। इसी साल शेक्सपियर के 'कमिडी आफ़ एरर्स' का उर्दू-अनुवाद 'भूल-भुलैयाँ के नाम से छपा।

१८८५ ई० में 'श्रीसीताराम-चरितामृत' के नाम से 'रघुवंश' के सात सर्गों का पद्यात्मक भाषानुवाद प्रकाशित किया गया और पंच-तन्त्र का पाँचवाँ तंत्र भी भाषा-गद्य में छपा।

१८८६ ई० में रघुवंश के सात सर्गों का पद्यात्मक भाषानुवाद 'रघु-चरित' के नाम से छपा।

१८८७ ई० में 'नागानन्द' का गद्य-पद्यात्मक भाषानुवाद छपा।

१८८८ ई० में शेक्सपियर के 'मच अडू अबौट नथिंग' का उर्दू अनुवाद 'दामे मुहब्बत' छपा।

१८९० ई० में शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' का उर्दू-अनुवाद 'दरियाय तिलिस्म' नाम से छपा।

१८९१ ई० में श्री अयोध्या-नरेश की आज्ञा से 'शंकरोपासना-चिन्ह' छपा।

१८९२ ई० में 'सावित्री' और संपूर्ण 'रघुवंश' का पद्यात्मक भाषा-नुवाद प्रकाशित किया गया।

१८९३ में 'मेघदूत' आदि के साथ 'ऋतु-संहार' का भाषानुवाद छपा। शेक्सपियर का 'किंग लियर' उर्दू में छपा।

१८९७ ई० में प्राचीन नाटक-मणिमाला के तीन नाटक 'महावीर-चरित' 'उत्तरराम-चरित' और 'मालती-माधव' के भाषानुवाद छपे।

१८९८-९९ ई० में शेष तीन नाटक 'मालविकाग्निमित्र' 'मृच्छ-कटिक' और 'नागानन्द' शुद्ध करके छापे गये।

१९०० ई० में 'हिन्दी-शिक्षावली' के छः भाग लिखे गये।

१९०१ ई० में 'प्रजा के कर्त्तव्य-कर्म' नामक ग्रन्थ अनुवादित किया गया।

१९०२ ई० में 'किरातार्जुनीय' का पूर्वार्द्ध भाषा-छन्दों में प्रकाशित किया गया। इसी साल 'हितोपदेश' पूर्वार्द्ध का भाषानुवाद छपा।

१९०३ ई० में 'हितोपदेश' उत्तरार्द्ध का भाषानुवाद प्रकाशित किया गया।

१९०४ ई० में प्राचीन ज्योतिष-मरीचि-माला का अङ्कगणित प्रकाशित किया गया।

१९०५ ई० में 'इपिक्टिटस' का उर्दू-अनुवाद प्रकाशित किया गया। इसी साल इन्डियन प्रेस रीडर्स की आलोचना की गई और 'गुलिस्ताँ' पूर्वार्द्ध का भाषानुवाद 'नीति-वाटिका' के नाम से लिखा गया।

१९०७ ई० में प्राचीन ज्योतिष-मरीचिमाला का दूसरा अंक बीजगणित प्रकाशित हुआ।

१९१३ ई० में भारतवर्ष का इतिहास छपा।

१९१४ ई० में भारतीय इतिहास के नायक, हिन्दुस्तान के इतिहास की सरल कहानियाँ' 'सूर्यकुमारी' 'सीताराम' 'कृष्णचन्द की बाललीला' और 'पंच-तंत्र की कहानियाँ' छपीं और मैकमिलन की स्टोर्स रीडर्स के पाँच भाग फिर से लिखे गये।

१९१५ ई० में शेक्सपियर के पाँच नाटकों के अनुवाद, रामकथा और महाभारत के उपाख्यान छपे।

आपने वृद्धावस्था में अयोध्या का इतिहास लिखा और हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट भी तैयार की, जो हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित हुई।

लाला सीताराम बड़े विद्या-व्यसनी थे। ये युक्त-प्रदेश की सरकार के रिपोर्टर, टेक्स्टबुक-कमिटी के मेम्बर और स्पेशल मजिस्ट्रेट थे। इतने झंझटों के होते हुये, वृद्धावस्था में भी ये हिन्दी-साहित्य की उन्नति में लगे रहते थे। इन्होंने तुलसीदास-कृत अयोध्याकांड को राजा-

पुर की प्रति से ठीक-ठीक मिलाकर छपवाया था। कलकत्ता-युनिवर्सिटी के लिये इन्होंने कई खंडों में हिन्दी का कोर्स बड़े परिश्रम से तैयार किया था। अंग्रेज़ी में इनका लिखा हुआ सिरोही राज्य का इतिहास छपकर प्रकाशित हुआ है।

लाला सीताराम सीताराम के बड़े भक्त थे। सरकारी काम से इन्हें जो कुछ अवकाश मिलता था, उसे ये भगवद्-भजन या साहित्य के अनुशीलन में लगाते थे। हिन्दी-साहित्य के सर्वोत्तम ज्ञाताओं में से ये एक थे। भारतधर्म-महामण्डल ने इनको "साहित्य-रत्न" की उपाधि दी थी।

इनके चार पुत्र हैं। चारों ग्रेजुएट हैं। एक डाक्टर हैं और तीन भिन्न भिन्न विभागों में सरकारी नौकर हैं।

लाला सीताराम निम्नलिखित भिन्न-भिन्न सरकारी और ग़ैर सरकारी संस्थाओं के सदस्य, सहायक और कार्यकर्त्ता रह चुके थे और इनमें से कितने पदों पर ये अंत समय तक थे।

१—आनरेरी फ़ेलो आफ़ दि युनिवर्सिटी आफ़ एलाहाबाद।

२—मेम्बर आफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आफ़ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड।

३—मेम्बर आफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बेंगाल।

४—मेम्बर आफ़ प्रोविंशल टेक्स्टबुक-कमिटी, यू० पी०

५—मेम्बर आफ़ प्रोविंशल म्यूज़ियम कमिटी।

६—मेम्बर आफ़ एलाहाबाद पब्लिक लाइब्रेरी कमिटी।

७—मेम्बर आफ़ यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी।

८—जेनरल सेक्रेटरी वर्नाक्युलर साइंटिफ़िक सोसाइटी।

९—मेम्बर आफ़ आल इण्डिया मिन्टो मेमोरियल कमिटी।

१०—एग्ज़ामिनर इन कलकत्ता एण्ड इलाहाबाद युनिवर्सिटीज़।

११—वाइस प्रेसिडेंट हिन्दू-सभा, इलाहाबाद।

१२—प्रेसिडेंट स्मार्त-धर्मावलम्बिनी सभा।

१३—आनरेरी लेकचरर ऑन रेलिजन एण्ड मोरेलिटी टु दी जुवेनाइल्स इन एलाहाबाद सेंट्रल प्रिज़न।

१४—मेम्बर आफ़ दी रूरल एजुकेशन एण्ड एक्सपर्ट कमिटी, डिस्ट्रिक्ट फैमिन रिलीफ़ कमिटी एलाहाबाद, डिस्ट्रिक वार फंड कमिटी, डिस्ट्रिक्ट वार लोन कमिटी इत्यादि।

लाला सीताराम हिन्दी, अँग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी, फ्रेंच, संस्कृत, बँगला, गुजराती और मराठी आदि भाषाओं तथा कई बोलियों के ज्ञाता थे।

१ जनवरी, सन् १९३७ में इलाहाबाद के मुट्ठीगंज महल्ले में अपने घर पर ही इनका देहावसान हुआ।

यहाँ हम रघुवंश के पद्यानुवाद से लालाजी की रचना का कुछ नमूना उद्धृत करते हैं :—

रघुवंश

भये प्रभात धेनु ढिग जाई। पूजि रानि माला पहिराई॥
बच्छ पियाइ बाँधि तब राजा। खोल्यो ताहि चरावन काजा॥
परत धरनि गो चरन सुहावन। सो मग धूरि होत अति पावन॥
चली भूप तिय सोइ मग माँही। स्मृति श्रुति अर्थ संग जिमि जाहीं॥
चौ सिन्धुन थन रुचिर बनाई। धरनिहि मनहु बनी तहँ गाई॥
प्रिया फेरि अवधेश कृपाला। रक्षा कीन्ह तासु तेहि काला॥
व्रत महँ चले गाय करि आगे। सेवक शेष सकल नृप त्यागे॥
इक केवल निज वीर्य अपारा। मनु-सन्तति-तन रक्षनहारा॥
कबहुँक मृदु तृन नोचि खिआवत। हाँकि माछि कहुँ तनहिं खुजावत॥

जो दिशि चलत चलत सोई राहा। यहि विधि तेहि सेवत नरनाहा॥
जहँ बैठी सोइ धेनु अनूपा। बैठे तहँहिं अवधपुर भूपा॥
खड़े ताहि ठाढ़ी नृप जानी। चले चलत धेनुहि अनुमानी॥
पियत नीर कीन्हों जल पाना। रहे तासु सङ्ग छाँह समाना॥
राज-चिन्ह यद्यपि सब त्यागे। तऊ तेज बस नृप सोइ लागे॥
छिपे दान रेखा के सङ्गा। होत मनहुँ मद-मत्त मतंगा॥
केश लता सब बाँधि बनाये। बन विचर्‌यो धनुवान चढ़ाए॥
ऋषय धेनु रत्तक जनु होई। आयो पशुन सुधारन सोई॥
बरुन सरिस धरि तेज प्रभाऊ। चले जदपि सेवक बिनु राऊ॥
तरु पंछिन करि शब्द सुहावा। जनु चहुँ दिसि जय घोष सुनावा॥
जानि निकट कोशलपति आए। फूल वायु बस लता गिराए॥
जिमि नरेश निजपुर जब आवहिं। धान नगर कन्या बरसावहिं॥
चले जदपि नृप कर धनु धारी। तउँ दयाल तेहि हरिनि विचारी॥
निरखत तासु शरीर मनोहर। लोचन फल पायो तेहि अवसर॥
भरि भरि पवन रन्ध्र युत बाँसा। वेणु शब्द तब करत प्रकासा॥
बन देविन कुञ्जन महँ जाई। नृप कीरति तहँ गाइ सुनाई॥
जानि घाम बस ग्वाल सरीरा। लै सुगन्ध सोइ मिलत समीरा॥
बन रत्तक तेहि आवत जानी। विना वृष्टि बन आगि बुझानी॥
बाँध्यो सबल निबल पशु नाहीं। भे फल फूल अधिक बन माहीं॥
करि पवित्र दिसि चहुँ दिसि जाई। धेनु साँझ आश्रम कहँ आई॥
यज्ञ श्राद्ध साधन सोई साथा। इमि सोहत तहँ कोशल नाथा॥
श्रद्धा मनहुँ दृश्य तनु धारी। सोहत संत प्रयत्न मँझारी॥
जल सन उठत बराह समूहा। चलत रूख दिस नभचर जूहा॥
हरी घास जहँ बैठ कुरंगा। चल्यो लखन सोइ सौरभि सङ्गा॥
एक भरे थन भार दुखारी। धरे शरीर एक अति भारी॥

मन्द चाल सन दोउ तहँ आई। तपवन सोभा अधिक बढ़ाई॥
चलत वशिष्ठ धेनु के पाछे। लौटत अवध भूप छवि आछे॥
प्यासे दृगन विलास विसारी। लख्यो ताहि मगधेस कुमारी॥
आगे खड़ी रानि मग माहीं। पीछे भूप मनहुँ परछाहीं॥
सोहत बीच धेनु यहि भाँती। संध्या सङ्ग मनहुँ दिन राती॥
अछत पात्र कर धरे सयानी। फिरी गाय चहुँ दिसि तब रानी॥
चरन बन्दि गो माथ बिसाला। पूज्यो अवध-रानि तेहि काला॥
मिलन हेत बच्छहिं अकुलानी। यद्यपि रही धेनु गुनखानी॥
पूजन काज रही सोई ठाढ़ी। सो लखि प्रीति भूप मन बाढ़ी॥
समरथ चहत देन फल जेही। प्रथम प्रसाद जनावत तेही॥
पुनि सन्ध्या बिधि नृप निपटाई। सादर गुरु पद कमल दबाई॥
जिन नृप भुज बल शत्रु गिराए। दुहन अन्त गो सेवन आए॥
पुनि पत्नी सङ्ग भूप दिलीपा। धारि धेनु आगे बलि दीपा॥
सोए तहँ तेहि सोवत जानी। जागे जगी धेनु अनुमानी॥
सन्तति हित सेवत यहि भाँती। बीते त्रिगुण सप्त दिन राती॥
भक्त चित्त परखन इक बारा। हिम गिरि गुहा धेनु पग धारा॥
मनहुँ न सकहिं जन्तु यहि मारी। यह नरेश मन माहिं बिचारी॥
नग छवि लगे लखन नरराई। धेनुहि धरयो सिंह इक धाई॥
तड़पत सिंह गुहा के द्वारा। भयो तुरत तहँ शब्द अपारा॥
भूप दृष्टि भूधर पति लागी। परी धेनु पर नग दिसि त्यागी॥
सिंहहि लख्यो धेनु पर कैसा। गेरू गुहा लोध तरु जैसा॥
भयो क्रोध नाहर बध काजा। खैंचन चह्यो तीर तब राजा॥
नख छवि कङ्क-पत्र महँ डारी। अँगुरिन विशिख पुंख तहँ धारी॥

नाथूराम शङ्कर शर्मा

कविराज पंडित नाथूराम शंकर शर्मा का जन्म संवत् १९१६ की चैत्र शु० पंचमी को हरदुआगंज (अलीगढ़) में हुआ था। इनके पिता पं० रूपरामजी शर्मा गौड़ ब्राह्मण थे। शङ्करजी की माता इन्हें साल सवा साल का छोड़कर परलोकवासिनी हो गई थीं। अतएव बचपन में इनका लालन-पालन इनकी नानी और बुआ ने किया था।

शङ्करजी पढ़ाई समाप्त करके कानपुर चले गए और वहाँ नहर के दफ़्तर में नक़्शा-नवीस हो गए। कानपुर में कोई साढ़े छः बरस रहकर ये फिर हरदुआगंज वापस आए और इन्होंने चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ कर दिया। इनकी चिकित्सा की बड़ी प्रसिद्धि हुई। ये पीयूष-पाणि वैद्य समझे जाते थे।

शङ्करजी को कविता करने का शौक़ कोई तेरह साल ही की अवस्था से था। ये स्कूल में पढ़ते समय इतिहास और भूगोल के पाठ को पद्य का रूप देकर याद किया करते थे। इस प्रकार के पचासों शेर इनको याद थे। कानपुर में स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र से इनकी गहरी मित्रता हो गई थी। वहाँ ख़ूब साहित्य-चर्चा रहती थी। कानपुर से लौटने पर शङ्करजी की प्रतिभा-शक्ति का ख़ूब विकास हुआ। उस समय समस्या-पूर्ति सम्बन्धी पत्रों और कवि-समाजों का बड़ा ज़ोर था। सभी साहित्य-सेवी सज्जन पूर्तियाँ करते थे। पर शङ्करजी की पूर्तियाँ विशेष आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं। इनका नम्बर प्रायः सब से ऊँचा रहता था। इनकी उत्तम पूर्तियों के उपलक्ष

में पदक, पुस्तक, उपाधि, घड़ी, पगड़ी, दुशाले आदि उपहार-स्वरूप मिले। जिन्हें इस विषय में अधिक जानना हो और समस्या-पूर्तियाँ पढ़नी हों, उन्हें 'कवि व चित्रकार,' 'काव्य-सुधाधर', 'रसिकमित्र' आदि पत्रों की पुरानी फ़ाइलें देखनी चाहिएँ।

इसके बाद शंकरजी ने सामयिक प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में लिखना आरम्भ किया। इससे इनकी कविता की और भी ख्याति हुई। समस्या पूर्ति करने तक शंकरजी अधिकतर व्रजभाषा में कविता करते थे। पर पीछे इन्होंने खड़ी-बोली को अपनाया और उसमें ये बड़ी सरल, सरस और सुन्दर कविता करने लगे। जो लोग कहा करते हैं कि खड़ी बोली की कविता में व्रजभाषा का सा आनन्द नहीं आता, उन्हें शंकर जी की कविता पढ़नी चाहिए।

शंकरजी को कविता करने का बड़ा अभ्यास था। ये मिनटों में अच्छी कविता कर डालते थे। एक बार कविता करने में ये इतने तल्लीन होगए कि सामने गाजे-बाजे से गुज़रती हुई बरात की भी इनको कुछ खबर न हुई। ये सब रसों में, विविध विषयों पर, कविता लिखते थे। बहुत वर्षों से ये अपनी कविता में एक बड़े कड़े नियम का निर्वाह कर रहे थे। वह यह कि ये मात्रिक और मुक्तक छन्दों में भी वर्णों की समान संख्या रखते थे। वर्ण-वृत्त में तो ऐसा होता ही है, पर मात्रिक छन्दों में इस नियम का निभाना बहुत कठिन काम है।

शंकरजी एक समस्या की अनेक रसों में पूर्तियाँ कर सकते थे। एक बार जयपुर के एक सुप्रसिद्ध साहित्य सेवी संस्कृत-विद्वान ने इनको "इमि कंज पै सोहि रह्यो चतुरानन" समस्या देकर उसकी पूर्ति वीभत्स-रस में चाही। कविजी ने उक्त समस्या की पूर्ति ऐसी उत्तमता से की कि पण्डितजी महाराज दंग हो गए और इनकी कल्पना-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

बहुत दिनों से हिन्दी में कितने ही छन्द विना नाम के प्रचलित हो रहे थे। शंकरजी ने उनका नामकरण कर दिया और अब वे छन्द इनके दिए हुये नामों से पुकारे जाने लगे। 'मिलिन्द-पाद,' 'शंकर छन्द' 'राज- गीत' आदि नाम शंकरजी ही के रक्खे हुए हैं।

शंकरजी को कई संस्थाओं से कितने ही सोने-चाँदी के पदक प्राप्त होने के सिवा 'कविराज', 'भारत-प्रज्ञेन्दु', 'कविता-कामिनी-कांत' इत्यादि उपाधियाँ भी मिल चुकी थी। शारदा-मठ के जगद्गुरु श्री-शंकराचार्य ने इनको 'कवि-शिरोमणि' को उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया था।

शंकरजी ने छोटी-मोटी कितनी ही पुस्तकें लिखी थीं; जिनमें से कुछ तो छप गई और कुछ अप्रकाशित और अपूर्ण पड़ी हैं। छपी हुई पुस्तकों में, 'शंकर-सरोज,' 'अनुराग-रत्न,' 'गर्भरण्डा-रहस्य' और 'वायस-विजय' मुख्य हैं। काव्य-मर्मज्ञों ने इन पुस्तकों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यदि कविजी के फुटकर लेखों का संग्रह किया जाय तो उससे भी एक बड़ी पुस्तक बन सकती है।

शंकरजी उर्दू में भी अच्छी कविता कर लेते थे। ये संस्कृत और फ़ारसी में भी दखल रखते थे। स्वभाव के ये बड़े ही सरल और मिलन-सार थे। प्रेम और दया के भाव इन में कूट-कूट कर भरे थे। इनमें हँस-मुखता, सचाई और स्पष्टवादिता प्रसिद्ध गुण थे। घंटों बैठे रहने पर भी इनके पास से उठने को जी नहीं चाहता था। साफ़ कहने में ये किसी की रियायत नहीं करते थे। दियानतदारी इनकी यहाँ तक थी कि जायदाद सम्बन्धी कितने ही बड़े-बड़े मुकदमों में ये पंच और सरपंच बनाये गये और इनके निर्णय को दोनों पक्षों ने प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार किया।

इनको अपने गाँव से बाहर जाना बहुत ना पसंद था। अधिक

आर्थिक लाभ होने पर भी ये चिकित्सार्थ बहुत कम बाहर जाते थे। अनेक सभा-समाजों तथा राजाओं महाराजाओं के निमन्त्रण पाकर भी ये कहीं नहीं गये। अधिक आग्रह पूर्वक बुलाने पर ये छतरपुर और अमेठी इन दो राज्यों के अतिथि हुए थे। पर दो-दो चार-चार दिन रहकर अपने घर चले आए।

कविजी की वक्तृत्व-शक्ति बहुत अच्छी थी। इनका भाषण बड़ा प्रभाव-पूर्ण होता था। जीविकार्थ चिकित्सा में समय लगाने के अतिरिक्त ये अपना शेष समय कविता और ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी बातों के विचारने में व्यय करते थे। वृद्धावस्था में इनके दो पुत्रों का देहान्त हो जाने से इनके मन पर बहुत शोक छा गया था। वृद्धावस्था में यह कष्ट असहनीय था।

कविता-प्रेमी सज्जन शङ्करजी की कविता का बड़ा आदर करते हैं। इनके पास बड़े-बड़े विद्वानों के प्रायः नित्य प्रशंसा-परक पत्र आते रहते थे।

शंकरजी का सम्बन्ध आर्य-समाज से था। अतएव इन्होंने अधिकतर समाज-सम्बन्धी कवितायें ही लिखी हैं। आर्य-समाज के जलसों में गाये जाने के लिये इन्होंने बड़े प्रभावशाली भजन बना दिये हैं। पर समाज में अच्छी कविता की क़द्र न होने से कभी-कभी इनको बड़ा दुःख होता था। समाज की खान-पान-सम्बन्धी भ्रष्टता और लोगों की अनधिकार चेष्टा को ये अच्छा नहीं समझते थे।

शङ्करजी के पुत्रों में एक पंडित हरिशंकर शर्मा भी खड़ी-बोली के बड़े अच्छे कवि और सुलेखक हैं।

सन् १९३२ में शंकरजी परमधाम को पधारे।

यहाँ इनकी कविता के नमूने दिये जाते हैं:—

(१)

शंकर के सेवक दुलारे गुरु लोगन के
नीति के निकेत निगमागम पढ़त हैं।
जीवनके चारोंफल चाखन की चाह कर
उन्नति की ओर निशि बासर बढ़त हैं।
भारती के भूषण प्रतापशील पूषण से
जिनकी कृपा से पर दूषण कढ़त हैं।
ऐसे नर नागर तरेंगे भवसागर को
प्यारे परमारथ के पोत पै चढ़त हैं।

(२)

नीकी करनी संसार में, नामी नर कर जाते हैं। टेक।
जो ध्रुव धर्मवीर होते हैं, पर दुख देख देख रोते हैं;
सो विशाल संसृति सागर को पल में तर जाते हैं॥
वृथा काल को खोने वाले, बीज पाप के बोने वाले;
कादर क्रूर कुपूत कुचाली योंहीं मर जाते हैं॥
धर्म कर्म का मर्म न जानै, केवल मनमानी तक तानै,
ऐसे बकवादी समाज में संशय भर जाते हैं॥
मिट गये नाम नीच कपटिन के, शंकर सुयश शेष हैं तिनके,
जिनके जीवन के अनुगामी जीव सुधर जाते हैं॥

(३)

साँची मान सहेली परसों पीतम लैवे आवैगो री। टेक।
मात, पिता, भाई, भौजाई, सब सों राख सनेह सगाई,
दो दिन हिल-मिल काट वहाँ से फिर को तोहिं पठावैगो री॥
अब को छेता नाहिं टरैगो, जानो पिय के संग परैगो,
हम सब को तेरे बिछुरन को दारुण शोक सतावैगो री॥

चलने की तैयारी कर ले, तोशा बाँध गैल को धर ले,
हालाँ हाल बिदा की बिरियाँ को पकवान बनावैगो री ॥
पुर बाहर लौं पीहरवारे, रोवत साथ चलेंगे सारे,
शंकर आगे आगे तेरौ डोला मचकत जावैगो री ॥

(४)

सैयाँ न ऐसी नचावो पतुरियाँ।
गाने पै रीझौ बजाने पै रीझौ, बन्दी की छाती में छेदौ न छुरियाँ।
पापों की पूँजी पचैगी न प्यारे, खाते फिरोगे हकीमों की पुरियाँ॥
होलोगे डाली डुलाते डुलाते, हाथों में पूरी न होंगी अँगुरियाँ।
जो हाय शंकर दशा होगी ऐसी, तो मेरी कैसे बचा लोगे चुरियाँ॥

(५)

शैल विशाल महीतल फोड़ बढ़े तिनको तुम तोड़ कढ़े हौ।
लै लुढ़की जलधार धड़ाधड़ ने धर गोल-मटोल गढ़े हौ॥
प्राण विहीन कलेवर धार बिराज रहे न लिखे न पढ़े हो।
हे जड़देव शिला-सुत शंकर भारत पै करि कोप चढ़े हौ॥

(६)

द्विज वेद पढ़ैं सुविचार बढ़ैं बल पाय चढ़ैं सब ऊपर को।
अविरुद्ध रहैं ऋजु पंथ गहैं परिवार कहैं वसुधा भर को॥
ध्रुव धर्म धरैं पर दुःख हरैं तन त्याग तरैं भवसागर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को॥

(७)

विदुषी उपजैं क्षमता न तजैं व्रत धार भजैं सुकृती वर को।
सधवा सुधरैं विधवा उबरैं सकलंक करैं न किसी घर को॥
दुहिता न बिकैं कुटनी न टिकैं कुलबोर छिकैं तरसैं दर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शङ्कर को॥

(८)

नृपनीति जगै न अनीति ठगै भ्रम भूत लगै न प्रजाधर को ।
झगड़े न मचैं खल खर्व लचैं मद से न रचैं भट संगर को ॥
सुरभी न कटैं न अनाज घटै सुख भोग डटैं डपटैं डर को ।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को ॥

(९)

महिमा उमड़ै लघुता न लड़ै जड़ता जकड़ै न चराचर को ।
शठता सटकै मुदिता मटकै प्रतिभा भटकै न समादर को ॥
विकसैं विमला शुभकर्म कला पकड़ै कमला श्रम के कर को ।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शङ्कर को ॥

(१०)

मत जाल जलैं छलिया न छलैं कुल फूल फलैं तज मत्सर को ।
अघ दम्भ दबैं न प्रपञ्च फबैं [illegible] नवैं न निरक्षर को ॥
सुमरैं जप से निरखैं तप [illegible] से तुझ अक्षर को ।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि शङ्कर को ॥

(११)

मैं समझता था कहीं भी कुछ पता तेरा नहीं ।
आज 'शंकर' तू मिला तो अब पता मेरा नहीं ॥

(१२)

अबलों न चले उस पद्धति पै जिस पै व्रतशील विनीत गये ।
वह आज अचानक सूझ पड़ी श्रम के दिन आधन बीत गये ॥
प्रभु "शङ्कर" की सुधि साथ लगी मुख मोड़ हठी विपरीत गये ।
चलते चलते हम हार गये पर पाय मनोरथ जीत गये ॥

(१३)

जिस अविनाशी से डरते हैं।
भूत देव जड़ चेतन सारे ॥ टेक ॥
जिसके डरसे अम्बर बोले, उग्र मन्द गति मारुत डोले।
पावक जले प्रवाहित पानी, युगल वेग वसुधा ने धारे ॥
जि० अ० ड० भू० दे० ज० चे० सारे ॥
जिसका दण्ड दशों दिसि धावे, काल डरे ऋतु चक्र चलावे।
बरसे मेघ दामिनी दमके, भानु तपै चमकें शशि तारे ॥
जि० अ० ड० भू० दे० ज० चे० सारे ॥
मन को जिसका कोप डरावे, घेर प्रकृति को नाच नचावे।
जीव कर्म फल भोग रहे हैं, जीवन जन्म मरण के मारे ॥
जि० अ० ड० भू० दे० ज० चे० सारे ॥
जो भय मान धर्म धरते हैं, शंकर कर्मयोग करते हैं।
वे विवेक वारिधि बड़भागी, बनते हैं उस प्रभु के प्यारे ॥
जि० अ० ड० भू० दे० ज० चे० सारे ॥

(१४)

चलोगे बाबा, अब क्या प्रभु की ओर ॥ टेक ॥
खेल पसारे बालकपन में, उकसे रहे किशोर।
आगे चल के चन्द्रमुखी के, चाहक बने चकोर ॥
पकड़े प्राणप्रिया वनिता ने, बतलाये चितचोर।
मारे कन्दुक मदन दर्प के, गोल उरोज कठोर ॥
दुहिता पुत्र घने उपजाये, भोग बटोर बटोर।
अगुआ बने बड़े कुनबा के, पकड़ा पिछला छोर ॥
पटके गाल अंग सब भूले, अटके संकट घोर।
शंकर बीत जरा ने जकड़े, उतरी मद की खोर ॥

(१५)

हे वैदिक दल के नर नामी, हिन्दू मण्डल के करतार।
स्वामि सनातन सत्य धर्म के, भक्ति भावना के भरतार॥
सुत बसुदेव देवकीजी के, नन्द यशोदा के प्रिय लाल।
चाहक चतुर रुक्मिणीजी के, रसिक राधिका के गोपाल॥ १॥
मुक्त अकाय बने तन-धारी, श्रीपति के पूरे अवतार।
सर्व सुधार किया भारत का, कर सब शूरों का संहार॥
ऊँचे अगुआ यादव-कुल के, वीर अहीरों के सिरमौर।
दुविधा दूर करो द्वापर की, ढालो रङ्ग ढङ्ग अब और॥ २॥
भड़क भुला दो भूतकाल की, सजिये वर्तमान के साज।
फैशन फेर इंडिया भर के, गोरे गॉड बनो ब्रजराज॥
गौर वर्ण वृषभानु सुता का, काढ़ो काले तन पर तोप।
नाथ उतारो मोर मुकुट को, सिर पै सजो साहिबी टोप॥ ३॥
पौडर चन्दन पोंछ लपेटो, आनन की श्री ज्योति जगाय।
अंजन अँखियों में मत आँजो, आला ऐनक लेहु लगाय॥
रबधर कानों में लटका लो, कुंडल काढ़ मेकराफून।
तज पीताम्बर कम्बल काला, डाटो कोट और पतलून॥ ४॥
पटक पादुका पहिनो प्यारे, बूट इटाली का लुक़दार।
डालो डबल वाच पाकट में, चमके चेन कञ्चनी चार॥
रख दो गाँठ गठीली लकुटी, छाता बेंत बगल में मार।
मुरली तोड़ मरोड़ बजाओ, बाँकी बिगुल सुने संसार॥ ५॥
फरिया चीर फाड़ कुबरी का, पहिनालो पँचरङ्गी गौन।
अबलक लेडी लाल तिहारी, कहिये और बनेगी कौन॥
मुँदना नहीं किसी मन्दिर में, काटो होटल में दिन रात।
पर नजलौआ ताड़ न जावें, बढ़ियाँ खानपान की बात॥ ६॥

वैनतेय तज व्योमयान पै, करिये चारों ओर विहार।
फक फक फू फूँ फूँ को चुरटें, उगलें गाल धुआँ की धार॥
यों उत्तम पदवी फटकारो, माधो मिस्टर नाम धराय।
बाँटो पदक नई प्रभुता के, भारत जातिभक्त हो जाय॥ ७॥

कह दो सुबुध विश्वकर्मा से, रच दें ऐसा हाल विशाल।
जिस पै गरमी नरमी बारें, कांगरेस कुल की पण्डाल॥
सुर नर मुनि डेलीगेटों को, देकर नोटिस टेलीग्राम।
नाथ बुला लो उस मण्डप में, बैठें जेंटिलमैन तमाम॥ ८॥

उमगें सभ्य सभासद सारे, सर्वोपरि यश पावें आप।
दर्शक रसिक तालियाँ पीटें, नाचें मंगल मेल मिलाप॥
जो जन विविध बोलियाँ बोलें, टर्रीली गिटपिट को छोड़।
रोको उस गोबर गणेश को, करे न सर भाषा की होड़॥ ९॥

वेद पुराणों पर करते हैं, आरज हिन्दू वादविवाद।
कान लगाकर सुन लो स्वामी, सब के कूट कटीले नाद॥
दोनों के अभिलषित मतों पै, बीच सभा में करो विचार।
सत्य झूठ किसका कितना है, ठीक बता दो न्याय पसार॥१०॥

देव आदि के अधिवेशन में, पूरे करना इतने काम।
हिप हिप हुर्रा के सुनते ही, खाना टिफ़न पाय आराम॥
झंझट झगड़े मतवालों के, जानो सब के खंड विभाग।
तीन चार दिन की बैठक में, कर दो संशोधन बेलाग॥११॥

बनिये गौर श्यामसुन्दरजी, ताक रहे हैं दर्शक दीन।
हमको नहीं हँसाना बन के, बाघ वितुंडी कछुआ मीन॥
धार सामयिक नेतापन को, दूर करो भूतल का भार।
निष्कलङ्क अवतार कहेंगे, शंकर सेवक बारम्बार॥१२॥

(१६)

कर सुन्दर शृङ्गार चलीं चुपचाप लुगाईं।
बटुत्रों में भर भेंट मुदित मन्दिर में आईं॥
अटकी काल कुचाल कुसङ्गति ने मति फेरी।
मुझको लेकर साथ सधन पहुँची माँ मेरी॥१॥
साधन सर्व सुधार सजीले सदुपदेश के।
दर्शन को झट खोल दिये पट गोकुलेश के॥
श्री गुरुदेव दयाल महाछवि धार पधारे।
सब ने धन से पूज देह जीवन मन वारे॥२॥
अबला एक अधेड़ अचानक आकर बोली।
हिलमिल खेलो फाग उठो अब सुन लो होली॥
लाल गुलाल उड़ाय कीच केशर की छिड़की।
सब को नाच नचाय सुगति की खोली खिड़की॥३॥
फैल गया हुरदंग होलिका की हलचल में।
फूल फूल कर फाग फला महिला-मंडल में॥
जननी भी तज लाज बनी ब्रजमक्खो सब की।
पर मैं पिंड छुड़ाय जवनिका में जा दबकी॥४॥
कूद पड़े गुरुदेव चेलियों के शुभ दल में।
सदुपदेश का सार भरा फागुन के फल में॥
अड़ के अङ्ग उघार पुष्ट प्रण के पट खोले।
सब के जन्म सुधार कृपा कर मुझ पै बोले॥ ५॥
जिसने केवल मन्त्रयुक्त उपदेश लिया है।
अब तक योगानन्द महामृत को न पिया है॥
वह रङ्गलीला छोड़ कहाँ छुप गई छबीली।
सुन प्रभु से संकेत चली कुटनी नचकीली॥ ६॥

मुझको दबकी देख अड़ीली आकर अटकी।
मुख पै मार गुलाल अछूती चादर झटकी॥
घेर घुमाय घसीट घुड़क लाई दङ्गल में।
फिर यों हुआ प्रवेश अमङ्गल का मङ्गल में॥ ७॥

मेरा बदन विलोक घटी दर दारागण की।
करता है शशि मन्द यथा छवि तारागण की॥
वृषवल्लभ गोस्वामि बने कामुक दुर्मति से।
मनुज मोहनी मान मुझे दौड़े पशुपति से॥ ८॥

परखा पाप प्रचण्ड प्रमादी पामरपन में।
उपजा उग्र अदम्य रोष मेरे तन मन में॥
लमकी लटकी देख लाय तलवार निकाली।
गरजी छन्द कृपाण सुनाकर सुमरी काली॥ ९॥

वीर भयानक रुद्र रूप समझी रणचण्डी।
सुन मेरी किलकार गिरी गच पै हुरखण्डी॥
मूत रहे न पुरीष रुका पटकी पिचकारी।
रस बीभत्स बहाय दुरे प्रभु प्रेम पुजारी॥ १०॥

भङ्ग हुआ रसरङ्ग भयातुर हुल्लड़ भागा।
निरखि नर्तनागार छुपा रसराज अभागा॥
लौट गया हुरदंग भुजा मेरी फिर फड़की।
भड़की उर में आग क्रोध की तड़िता तड़की॥ ११॥

बोली रसिक सुजान फाग अब आकर खेलो।
सर्व समर्पण रूप आँस इस असि की झेलो॥
निकलो खोल कपाट निरख लो नारि नवेली।
फिर न मिलेगी और जन्म भर मुझसी चेली॥१२॥

गुप्त रहे गुरुदेव न भीतर से कुछ बोले।
भूल गये रस रीति अनीति किवाड़ न खोले॥
कुटनी भी भयभीत ससकती रही न बोली।
अस्त हुई इस भाँति मस्त गुरुकुल की होली॥१३॥

(गर्भरंडा-रहस्य)

(१७)

सीस पग तीर नीर गौरता तरंग तुंड
त्रिवली चिबुक नाभि भँवर परत हैं।
खाड़ी भुज पाद मध्य मेरु कुच शृङ्ग हिम
कंचुकी की ओट ठीक दीख न परत हैं॥
केश कोल कच्छप कपोल श्रुति सीप जोंक
भृकुटी कुटिल झष लोचन चरत हैं।
'शंकर' रसिक सुख भोगी बड़-भागी लोग
ऐसे रूप सागर में मज्जन करत हैं॥

(१८)

ताकत ही तेज न रहैगो तेजधारिन में
मंगल मयंक मन्द पीले पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे तड़ागन में
डूब डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे॥
खायगो कराल काल केहरी कुरंगन को
सारे खंजरीटन के पंख झड़ जायँगे।
तेरी अँखियान सों लड़ेंगे अब और कौन
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायँगे॥

(१९)

भौंड़े मुख लार बहै आँखिन में गीड़ राँधि
कान में सिनक रैंट भीतन पै डार देति।
खौंस खौंस खुरच खुजावे ठाढ़ी पेड़ू पेट
टूँड़ी लों लटकते कुचन को उघार देति॥
लौट लौट चीन घाघरे की बार बार फिर
बीन बीन डींगर नखन धर मार देति।
लूगरा गँधात खड़ी चीकट सी गात
मुख धोवे न अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति॥

(२०)

यौवन मानसरोवर में कुच हंस मनोहर खेलन आये।
मौतिन के गल हार निहार अहार विहार मिले मन भाये॥
कंचुकी कुञ्ज पतान की ओट दुरे लट नागिन के डरपाये।
देखि छिपे छिपके पकड़े धर 'शंकर' बाल मराल के जाये॥

(२१)

आनन की ओर चले आवत चकोर मोर
दौर दौर बार बार बेनी झटकत हैं।
बैठ बैठ 'शंकर' उरोजन पै राजहंस
हारन के तार तोर तोर पटकत हैं॥
झूम झूम चखन को चूम चूम चंचरीक
लट की लटन में लिपट लटकत हैं।
आज इन बैरिन सौं बन में बचावे कौन
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं॥

(२२)

देखत की भोरी, मन श्याम, तन गोरी,
गारी देत कोरी कोरी गोरी नेक न सँकाति हो।
मेरी गेंद चोरी, तापै ऐसी सीनाजोरी,
रिस थोरी करो, 'शङ्कर' किशोरी क्यों रिसाति हो॥
खोल के गहावो, नहीं चोली दिखलाओ,
जो न होय घर जाओ, आवो काहे सतराति हो।
सारी सरकावो, अंचरा में न चुरावो,
लावो, कंचुकी में कंदुक चुराये कहाँ जाति हो॥

(२३)

मङ्गल करनहारे कोमल चरण चारु
मङ्गल से भान मही गोद में धरत जात।
पङ्कज की पाँखुरी से आँगुरी अंगूठन की
जाया पञ्चबाणजी की भाँवरी भरत जात॥
'शङ्कर' निरख नख नग से नखत श्रेणी
अम्बर सों छूट छूट पायन परत जात।
चाँदनी में चाँदनी के फूलन की चाँदनो पै
हौले हौले हंसन की हाँसी सी करत जात॥

(२४)

मुँदे न राखति दीठ त्यों, खुले न राखति लाज।
पलक-कपाट दुहून के, पलपल साधत काज॥

(२५)

सास ने बुलाई घर बाहर की आई,
सो लुगाइन की भीर मेरो घूँघट उघारे लगी।

एक तिनमें की तृण तोरि तोरि डारै लगी,
दूसरी सरैया राई नौन की उतारै लगी॥
शंकर' जेठानी बार बार कछु वारै लगी,
मोद मढी ननदी अटोक टोना टारै लगी।
आली पर साँपिन सी सौति फुसकारै लगी,
हेरि मुख हा! कर निशाकर निहारै लगी॥

(२६)

राजा तू सदेह सदा स्वर्ग में रहैगो ऐसौ,
'शंकर' असीस जाके मुखते निकसिगो।
ताही गाधिनन्दन कौ योगबाल पाय उड़ो,
तीर सो त्रिशुंकु नभमण्डल में धँसिगो॥
वासव ने मारो त्राहि त्राति सो पुकारो,
मिलो मुनि को सहारो अधवर ही में बसिगो।
आयो न मही पर न पायौ लोक देवन को,
चुम्बक युगल बीच मानो लोह फँसिगो॥

(२७)

भरिबो है समुद्र को शम्बुक में छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बँधिबो है मृणाल सों मत्त करी जुही फूलसो सैल विदारिबो है॥
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रेणु सों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है॥

(२८)

शब्द अर्थ सम्बन्ध युक्त भाषा विशाल थल।
शक्ति सरोवर गद्य पद्य रचना विशुद्ध जल।
आशय मूल प्रबन्ध नाल भूषण सुन्दर दल।
'शंकर' नवरस फूल ग्रन्थ मकरन्द मोद फल।

परहित पराग छकि छकि मुदित, रसिक भृङ्ग गण गुञ्जरत।
नित या 'साहित्य-सरोज' को उन्नति कवि-कुल-रवि करत॥

(२६)

बोझ लदे हय हाथिन पै खर खात खड़े नित जात खुजाये।
बन्धन में मृगराज पड़े शठ स्यार स्वतन्त्र पुकारत पाये।
मानसरोवर में विहरें बक, 'शंकर' मार मराल उड़ाये।
मान घटो गुरु लोगन को, जग वंचक पामर पञ्च कहाये॥

(३०)

लम्बे लम्बे झोंटन सों झूलत ही सौतिन की,
बिरवा की डारन में पटली अटक गई।
लागत ही झटका उखड़ गयो आसन पै,
ताड़िका सी डोरिन को पकड़े लटक गई॥
'शंकर' छिनार पट्ट पाथर पै टूट पड़ी,
फूटो सिर, फाटी नर, पिलही पटक गई।
छूट गई नारी सीरी पड़ गई सारी आज
मर गई दारी, मेरे मन की खटक गई॥

(३१)

ईस गिरिजा को छोड़ यीशु गिरजा में जाय,
'शंकर' सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पतलून, कोट, कम्फ़टर, टोपी डाट,
जाकट की पाकट में 'वाच' लटकावेंगे॥
घूमेंगे घमण्डी बने रंडी का पकड़ हाथ,
पियेंगे बरण्डी मीट होटल में खावेंगे।
फ़ारसी की छारसी उड़ाय इंगरेज़ी पढ़,
मानो देव-नागरी का नाम ही मिटावेंगे॥

(३२)

बाहर बाँध गिरीश गये हरि को मुख हेरन नन्द गली को।
डील फुलाय कुडौल भयो हम रोक सके न बिजार बली को॥
लाखन गाय रम्हाय रहीं खुल खाय गयो सब न्यार खली को।
हा! अब चूँस न जाय कहूँ, यह शंकर को वृष भानुलली को॥

(३३)

मन चंचल और नपुंसक है इस भाँति विचार बसीठ बनाया।
वह पास गया जिसके उसने रस खेल खिलाय वहीं बिरमाया॥
निशि बीत चुकी पर भामिनि को अबलों कवि शङ्कर साथ न लाया।
पद पाठ महामुनि पाणिनि के हमने फल हाय! भयानक पाया॥

(३४)

सावन में सारे झील झाबर झिलार गये
धार से कछार चढ़े बाँगर भरन लगे।
घेर घेर अम्बर भदैंया घन गाज रहे,
बोरे न नदी की बाढ गाँव के डरन लगे॥
मेंह और मारी के लताड़े लोग भाग रहे,
'शङ्कर' पयान चारों ओर को करन लगे।
अम्मा जी पतोहू जो न चाहती हो दूसरा तो,
भेजो रथ मायके में मूसटा मरन लगे॥

(३५)

बुढ़ापा नातवानी ला रहा है।
ज़माना ज़िन्दगी का जा रहा है॥
किया क्या खाक? आगे क्या करेगा?
अखीरी वक्त दौड़ा आ रहा है॥

(३६)

सुख भोगे भर पूर, उमा वर वामदेव को।
रहती है कब दूर, त्याग रति कामदेव को॥
प्रेम-भक्ति अपनाय, बनी सिय शक्ति राम की।
उलही प्रिया कहाय, रुक्मिणी रसिक श्याम की॥
यों सधवा-धर्म-प्रचारिणी, तज तुकड़-कुल जार को।
हे कविता, मङ्गलकारिणी! भज शंकर भरतार को॥

(३७)

शङ्कर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अम्बर तें ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं हल में पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी॥
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायगी॥

(३८)

पास के गये पै एक बूंद हू न हाथ लगै,
दूरसों दिखात मृग- तृष्णिका में पानी है।
शङ्कर प्रमाण सिद्ध रङ्ग को न सङ्ग पर,
जान पड़े अम्बर में नीलिमा समानी है॥
भावमें अभाव है अभावमें त्यों भाव भरयो,
कौन कहे ठीक बात काहू ने न जानी है।
जैसे इन दोउन में दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरी कमर की अकथ कहानी है॥

(३६)

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घनमण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥

(४०)

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं।
शंकर कि भारती के भावने भवन पर,
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किंवा लट नागिनी की साँवली सँपेलियां ने,
आधे विधु-बिम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी कहो,
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है॥

(४१)

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मङ्गल मयंक मन्द मन्द पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे॥
चौंक चौंक चारोंओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खञ्जन खिलाड़ियों के पङ्ख झड़ जायँगे।

बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे ॥

(४२)

आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छवि ने छपाकर की छाती पै छवाई है॥
कौन मान लेगा कीर तुण्ड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर,
ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है॥

(४३)

अम्बर में एक यहाँ दौज के सुधाकर दो
छोड़ें वसुधा पै सुधा मन्द मुसकान की।
फूले कोकनद में कुमुदनी के फूल खिले
देखिये विचित्र दया भानु भगवान की॥
कोमल प्रवाल कैसे पल्लवों पै लाखा लाल
लाखे पर लालिमा विलास करै पान की।
आज इन ओठों का सुरङ्गी रस पान कर
कविता रसीली भई शंकर सुजान की॥

(४४)

उन्नति के मूल ऊँचे उर अवनीतल पै,
मन्दिर मनोहर मनोज के यमल हैं।
मेल के मनोरथ मथैंगे प्रेम-सागर को,
साधन उतङ्ग युग मन्दर अचल हैं॥

उद्धत उमङ्ग भरे यौवन खिलाड़ी के ये,
शङ्कर से गोल कड़े कन्दुक युगल हैं।
तीनों मत रूखे रसहीन हैं, उरोज पीन,
सुन्दर शरीर सुरपादप के फल हैं॥

(४५)

कंज से चरण कर कदली से जंघ देखो,
क्षुद्रतण्डुला से दो उरोज गोल गोल हैं।
कृष्णकुण्डला से कान भृङ्गवल्लभा से दृग,
किंसुक सी नासिका गुलाब से कपोल हैं॥
चञ्चरीक पटली से केश नई कोंपल से,
अधर अरुण कलकण्ठ के से बोल हैं।
शङ्कर बसन्तसेना बाई में बसन्त के से,
सोहने सलक्षण अनेक अनमोल हैं॥

(४६)

बाग़ की बहार देखी मौसिमे बहार में तो,
दिले अन्दलीब को रिझाया गुलेतर से।
हम चकराते रहे आसमाँ के चक्कर में;
तो भी लौलगी ही रही माह की महर से॥
आतिशे मुसीबत ने दूर की कुदूरत को,
बात की न बात मिली लज्जते शकर से।
शङ्कर नतीजा इस हाल का यही है बस,
सच्ची आशिकी में नफ़ा होता है ज़रर से॥

(४७)

केरल की तारा

माँग देकर पाटियों में पीठ पर चोटी पड़ी।
फाड़ मुँह फैलाय फन छबिराशि पै नागिन अड़ी॥
भाल पर चाहक चकोरों का बड़ा अनुराग था।
क्यों न होता चन्द्र का वह ठीक आधा भाग था॥
भ्रू नहीं मैंने कहा रसराज के हथियार हैं।
काम के कमठा लिये तारुण्य की तलवार हैं॥
मीन खंजन मृग मरें दृग देह-द्रुम के फूल हैं।
इन्दु मङ्गल मन्द से तीनों गुणों के मूल हैं॥
फूल अँबर के न कानों को बताकर चुप रहा।
रूप सागर के सजीले सीप हैं यों भी कहा॥
गोल गुदकारे कपोलों को कड़ी उपमा न दी।
पुलपुली मोयन पड़ी फूली कचौड़ी जान ली॥
नाक थी किंवा कुटी छवि की छपाकर पै नई।
लौंग लटकन की कि बिजली लौ दिया की बन गई॥
खिलखिलाकर मुख बतीसी को कहा बेलाग यों।
कुन्द की कलियाँ कमल के कोश में छिपती हैं क्यों॥
सब जड़ाऊ भूषणों के सोहने शृङ्गार थे।
कण्ठ में केवल मनोहर मोतियों के हार थे॥
पीन कृश उकसे कसे कोमल कड़े छोटे बड़े।
गुप्त सारे अंग साड़ी की सजावट में पड़े॥

जगन्नाथप्रसाद "भानु"

बाबू जगन्नाथप्रसाद का जन्म श्रावण शुक्ल १०, संवत् १९१६ को हुआ था। इनके पिता श्रीयुत बख्शी राम पल्टन में जमादार थे। वे बड़े अच्छे कवि थे। उनका बनाया हनुमान नाटक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। मध्यप्रदेश में उसका अच्छा आदर है।

स्कूल में अँग्रेज़ी तथा हिन्दी की साधारण शिक्षा पाकर बाबू जगन्नाथप्रसाद १५) मासिक पर शिक्षा-विभाग में नौकर हुए और अपनी योग्यता से इन्होंने क्रमशः यहाँ तक उन्नति की कि एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर और असिस्टेंट सेटिलमेंट आफ़िसर तक हो गये। कुछ दिनों के लिये ये सेटिलमेंट आफ़िसर भी रह चुके हैं। यह पद यद्यपि केवल सिविलियनों ही को मिलता है, तो भी सिविलियन न होकर ये उस पद तक पहुँच चुके हैं। और अब लगातार ३४ वर्षों तक सरकारी सेवा करके इन्होंने पेंशन ले ली है। अब बिलासपुर (मध्यप्रदेश) में रहते हैं। सरकारी नौकरी के समय इन्होंने प्रजा-हित के कई कार्य किये हैं। खँडवा ज़िले में इन्होंने पचास नये रैयतवारी गाँव बसाकर उनका बहुत ही हलका बंदोबस्त किया। अकाल और विशेषकर प्लेग, विशूचिका आदि के समय इनके द्वारा दीन-दुखियों को अच्छी सहायता मिला करती है। यहाँ तक कि खँडवा में इनके नाम के भजन गाये जाते हैं। प्रजा और सरकार दोनों ही इन्हें बराबर सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

इन्हें बहुत दिनों से मातृ-भाषा हिन्दी पर बड़ा अनुराग है और ये सदा उसकी सेवा की चिन्ता में लगे रहते हैं। इनका अधिकांश समय

साहित्य-सेवा ही में बीतता है। काव्य पर इनका प्रेम बहुत अधिक है और ये उस शास्त्र के अच्छे ज्ञाता भी हैं।

अबतक इन्होंने काव्य-प्रभाकर, छन्दःप्रभाकर, नवपंचामृत रामायण, काव्य-कुसुमाञ्जलि, छंदः सारा-वली, हिन्दी-काव्यालंकार, अलंकार-प्रश्नोत्तरी, रस-रत्नाकर, काव्य-प्रबंध, नायिकाभेद, शंकावली, अंक-विलास, काल-प्रबोध, इत्यादि ग्रन्थ हिन्दी में लिखे हैं और गुलज़ारे सखुन और गुलज़ारे फ़ैज़ नामक पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं। छन्दः-प्रभाकर और काव्य-प्रभाकर से इनके काव्यशास्त्र-सम्बन्धी पांडित्य का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। ये दोनों ग्रन्थ हिन्दी-काव्य के अच्छे रत्न हैं। इनके लिखने में कई वर्षों का परिश्रम और बहुत धन लगा है। छन्दःप्रभाकर तो भारतवर्ष में इतना लोक-प्रिय हुआ है कि अभी तक उसके कई संस्करण निकल चुके हैं। ये उर्दू में भी बहुत अच्छी कविता करते हैं और उसमें इनका उपनाम "फ़ैज़" रहता है। बिलासपुर में इनका निज का एक "जगन्नाथ प्रेस" है।

पेंशन लेने के बाद इन्होंने बड़ा प्रयत्न करके बिलासपुर में को-आपरेटिव संट्रल बैंक लिमिटेड की स्थापना की है। बहुत समय तक उसके आनरेरी सेक्रेटरी का काम करके अब ये उसके प्रेसीडेंट चुन लिये गये हैं। यह बैंक मध्य-प्रदेश के समस्त को-आपरेटिव बैंकों में, कई बातों में, आदर्श-रूप है।

सन् १८८५ के लगभग एक बार ये काशी आकर बाबू रामकृष्ण वर्मा के यहाँ ठहरे थे। यहाँ अनेक विद्वानों के सामने इन्होंने पिंगल-शास्त्र का चमत्कार दिखाया था। इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता देख सब लोगों ने चकित होकर कहा था—"आप तो साक्षात् पिंगलाचार्य हैं। कवियों में भानु हैं।" तभी से लोग इन्हें "भानु कवि" कहने लगे।

जबलपुर, सागर, खँडवा, बैतूल, नरसिंहपुर आदि कई शहरों में इन्हीं के नाम पर "भानुकवि-समाज" स्थापित हैं। ये यथाशक्ति इन समाजों में सहायता तथा उत्साह-दान देते हैं। इन समाजों में किसी से कुछ चन्दा नहीं लिया जाता। इनके उद्योग से कुछ दिनों तक दो काव्य-सम्बन्धी मासिक-पत्र चलते रहे। पर अन्त में कई झगड़ों से वे बन्द हो गये।

सरकार तथा देशी रजवाड़ों में भी इनकी बहुत अच्छी प्रतिष्ठा है। गत दिल्ली-दरबार के अवसर पर इन्हें शाही सनद और दिल्ली-दरबार-पदक मिला था। इन्हें सन् १९२१ के प्रारम्भ में रायसाहिब की और सन् १९२५ के प्रारम्भ में रायबहादुर की उपाधि सरकार से मिली है। ये अव्वल दर्जे के आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हैं। इन्होंने सन् १९२५ के दिसम्बर मास में अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन के सभापति के आसन को भी सुशोभित किया था। उस समय इन्होंने जो भाषण दिया था, वह महत्वपूर्ण और मर्मस्पर्शी था। कई वर्तमान-पत्रों ने उसे पूरा-पूरा ससम्मान प्रकाशित किया था। हैदराबाद के भूतपूर्व निज़ाम इनसे बहुत स्नेह रखते थे। सन् १९०३ में रीवाँनरेश इनसे खँडवा में मिलकर बड़े प्रसन्न हुए थे। एक बार मैहर के महाराज ने इनसे मिल और इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर इन्हें एक मान-पत्र दिया था। रायगढ़ के स्वर्गवासी राजा बहादुर भी इनसे बड़ा प्रेम रखते थे। उन्होंने इनकी कवित्व-शक्ति से प्रसन्न होकर इन्हें "साहित्याचार्य" की उपाधि से विभूषित किया था। अभी थोड़े दिन हुए, भारत-धर्म-महा-मंडल ने इन्हें रौप्य-पदक और मान-पत्र दे सम्मानित किया है।

भानु कवि का हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, मराठी और उड़िया भाषाओं पर भी अच्छा अधिकार है। साथ ही इनकी संस्कृत और अँग्रेज़ी की भी योग्यता बहुत अच्छी है। ये सहृदय, गुणग्राही और मधुरभाषी हैं। वयोवृद्ध होने पर भी ये कुछ न कुछ करते ही रहते हैं।

इनका अधिकांश समय काव्यशास्त्र-विनोद में बीतता है। शायद ही ऐसा कोई दिन बीतता हो, जिस दिन इनके यहाँ एक न एक पंडित, गुणी, गायक या कवि का पदार्पण न होता हो। ये यथाशक्ति सब का सम्मान करते हैं।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं :—

(१)

गावत गजानन सकुचि एक आनन तें,
जात चतुरानन हू बैठि बश लाज के।
मौन गहि रहे शंभु कहि पंच आनन तें,
भाषत षड़ानन ना सामुहें समाज के॥
कहौ पुनि कौन विधि गाइये गुणानुवाद,
'भानु' लघु आनन तें देव सिरताज के।
शेष जब गावें सहसानन तें तौ हूँ गुन,
गाये ना सिरात ब्रजराज महाराज के॥

(२)

गोपियों का उपालंभ अष्टक

ब्रजललना जसुदासों कहतीं, अर्ज सुनो इक नँदरानी।
लाल तुम्हारे पनघट रोकैं, नहीं भरन पावत पानी॥
दान अनोखो हमसों माँगैं, करैं फजीहत मनमानी।
भयो कठिन अब ब्रज को बसबो, जतन करो कछु महरानी॥१॥
हँडलि सीसगिरि टननन मोरी, तुचक पुचक कहुँ ढरकानी।
चुरियाँ खनकीं खननन मोरी, करक करक भुइँ बिखरानी॥
पायजेब बज छननन मोरी, टूट टूट सब छहरानी।
बिछियाँ झनकें झननन मोरी, हेरतहू नहिं दिखरानी॥२॥

लालन बरजो ना कछु तरजो, करौ कछू ना निगरानी।
जाय कहेंगे नन्दबबा से, न्याव कछुक दैहैं छानी॥
कहि सकुचानी दृग ललचानी, जसुदा मन की पहिचानी।
बड़ी सयानी अवसर जानी, बोली बानी नय सानी॥३॥
भरमानी घरबर बिसरानी, फिरो अरी क्यों इतरानी।
अबै लाल मेरो बारो भोरो, तुम मदमाती बौरानी॥
दीवानी सम पाछे डोलौ, लाज न कछु तुम उर आनी।
जाव जाव घर जेठन के ढिग, उचित न अस कहिबो बानी॥४॥
उतते आये कुँवर कन्हाई, लखी मातु कछु घबरानी।
कह्यो मातु ये झूठी सब मुहिं, पकर लेत बालक जानी॥
माखन मुख बरजोरी मेलत, चूमि कपोलन गहि पानी।
नाच अनेकन मोहिं नचावैं, रंग तरंगन सरसानी॥५॥
ए मैया मुँहि दै दै गुलचा, बड़ी करत री हैरानी।
कोउ कहै मोरि गैया दुहिदे, साँझ बेर अब नियरानी॥
कोउ देवन सों बर बर माँगैं, बार बार हिय लपटानी।
जस तस कर जो भागन चाहूँ, दूजी आय गहत पानी॥६॥
भागतहूँ ना पाछो छाड़ैं, बड़ी हठीली गुनमानी।
मुहिं पहिरावत लहँगा लुगरा, पहिरि चीर कोई मरदानी॥
थेइ थेइ थेइ मुहिं नाच नचावत, नित्य नेम मन महँ ठानी।
मनमोहन की मीठी मीठी, सुनत बात सब मुसुकानी॥७॥
सुनि सुनि बतियाँ नन्दलाल की, प्रेमफन्द सब उरझानी।
मन हर लीनो नटनागर प्रभु, भूलि उरहनों पछितानी॥
मातु लियो गर लाय लाल को, तपन हिये की सियरानी।
भानु निरखि तब बालकृष्ण छवि, गोपि गईं घर हरखानी॥८॥

(३)

देखि कालिका को जंग सब होय जात दङ्ग,
मति कविहू की पंग नहीं सकत बखान।
कहूँ देखो न जहान नहिं परो कहूँ कान,
ऐसो युद्ध भो महान महाप्रलय लखान॥
यातुधान कुल हान देखि देव हरखान,
मन मुदित महान हनें तबल निशान।
जब झमकि झमकि पग ठमकि ठमकि,
चहूँ लमकि लमकि काली मारी किरपान॥

(४)

रूप देखि विकराल काँपे दसो दिगपाल
अब हैं है कौन हाल शेषनाग घबरान।
महाप्रलय समान मन कीन अनुमान राम
रावण को युद्ध काहू गिनती न आन॥
लखि देवन अंदेश विधि हरि औ महेश
तब साथ ले सुरेश करी अस्तुति महान।
माई कालिका की जय माई कालिका की जय
माई हूजे अब शांत खूब मारी किरपान॥

(५)

सुनि विनय अमान रूप छाड़ो है भयान सब
मन हरखान करें माई गुणगान।
चढ़ि चढ़ि के विमान देव छाये आसमान
लिये पूजा को समान बहु फूल बरखान॥

थाके बेद औ पुरान माई करत बखान
यश तेरो है महान किमि कहै लघु भान।
दीजै यही बरदान दास अपनो ही जान
रहै बैरिन पै सान चढ़ी तोरी किरपान॥

श्रीधर पाठक

पण्डित श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण थे। लगभग ग्यारह सौ वर्ष पहले इनके पूर्वज पंजाब से आकर आगरा ज़िले के जोन्धरी नामक गाँव में बसे थे। इनके तायाजी पंडित धरणीधर न्याय-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे, और पिता पंडित लीलाधर यद्यपि एक साधारण पंडित थे, किन्तु बड़े ही सच्चरित्र और भगवद्भक्ति-परायण थे। संवत् १९६३ में उनका शरीरान्त हुआ। उनके शोक में पाठकजी ने "आराध्य-शोकाञ्जलि" नामक कुछ संस्कृत पद्यों की एक पुस्तिका रची, जो बड़ी ही करुणा-पूर्ण है।

पाठकजी का जन्म माघ कृष्ण चतुर्दशी, संवत् १९१६, ता० ११ जनवरी सन् १८६० ई० को जोन्धरी गाँव में हुआ। प्रारम्भ में इन्हें संस्कृत पढ़ाई गई। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। इससे १०, ११ ही वर्ष की अवस्था में ये संस्कृत बोलने और लिखने लगे थे। इसके बाद पढ़ना-लिखना छोड़कर, दो-तीन वर्ष खेल-कूद में बिताकर, १४ वर्ष की अवस्था में इन्होंने फिर पढ़ना प्रारम्भ किया। पहले कुछ फ़ारसी पढ़ी। फिर सन १८७५ में तहसीली स्कूल से हिन्दी की प्रवेशिका-परीक्षा

पास की। इस परीक्षा में ये प्रान्त भर में सब से प्रथम हुये। सन् १८७६ में आगरा कालेज से इन्होंने अंग्रेज़ी मिडिल की परीक्षा में भी प्रान्त भर में सर्वोच्च स्थान पाया और सन् १८८० में एँन्ट्रेंस की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की।

पाठकजी पहले-पहल कलकत्ते में सेंसस कमिश्नर के दफ़र में नौकर हुए। इसी नौकरी में इन्हें शिमला जाकर हिमालय का सौन्दर्य देखने का अवसर मिला। वहाँ से लौटने पर ये लाट साहब के दफ़र में नौकर हुए, और दफ़र के साथ नैनीताल गये। एक वर्ष तक ये भारत गवर्नमेन्ट के दफ़र में डिप्टी सुपरिन्टेन्डेण्ट और सुपरिन्टेन्डेण्ट भी रहे।

पाठकजी सरकारी काम बड़े परिश्रम और सावधानी से करते थे। इनको रिश्वत, अन्याय, ख़ुशामद और सुस्ती से बड़ी चिढ़ थी। उत्तम अँगरेजी लिखने के लिये ये विख्यात थे। १८९८-९९ की इरीगेशन रिपोर्ट में इनकी प्रशंसा छपी है। सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद पर इनको ३००) मासिक मिलता था। अंत में पेंशन लेकर के प्रयाग के लूकरगंज में पद्मकोट नाम का एक बहुत सुन्दर बँगला बनवाकर सकुटुम्ब वहीं बस गये थे। इनके दो पुत्र और एक कन्या हैं। दिन में किसी समय 'पद्मकोट' में जाने से पाठकजी किसी कमरे में बैठे साहित्यानुशीलन में निमग्न मिलते थे। कविता का इन्हें पक्का व्यसन था।

पाठकजी प्राकृतिक सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। इनकी कविता पढ़ने से पता लगता है कि सृष्टि-सौन्दर्य का अध्ययन इन्होंने बड़े मनोयोग से किया था। पाठकजी बड़े मिलनसार, सरस हृदय और आनन्दी पुरुष थे। प्रयाग में रहने से मुझे प्रायः इनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ ही करता था। जितना समय इनकी संगति में कट जाता था वह बहुत सुखमय होता था।

पाठकजी खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में कविता करते थे।

यद्यपि इनकी खड़ीबोली की कविता में बहुत से क्रियापदों का प्रयोग विशुद्ध खड़ीबोली का नहीं होता था, तो भी लोग इन्हें खड़ीबोली का आचार्य भी कहते थे। इन्होंने गोल्डस्मिथ के तीन ग्रन्थों का पद्यानुवाद "एकान्त-वासी योगी", "ऊजड़ग्राम" और "श्रान्त-पथिक" नाम से बड़ी योग्यता-पूर्वक किया है। श्रान्त-पथिक में अँग्रेजी पद्य की एक पंक्ति का हिन्दी की एक पंक्ति में अनुवाद हुआ है।

पाठकजी की साहित्यिक योग्यता पर मुग्ध होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने लखनऊ में अपने पंचम अधिवेशन का इन्हें सभापति बनाया था। सन् १९२८ में प्रयाग में पाठकजी लोकांतरित हुये।

इनके जितने ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, उनके नाम ये हैं :—

आराध्य-शोकाञ्जलि, श्रीगोखले-प्रशस्ति, एकान्त-वासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रान्त-पथिक, जगतसचाई-सार, काश्मीर-सुखमा, मनोविनोद, श्रीगोखले गुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुँदरी, गोपिका-गीत, भारत गीत।

इनकी कविता के कुछ नमूने यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

(१)

जगत सचाई सार से

ध्यान लगा कर जो तुम देखो सृष्टी की सुघराई को।
बात बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को॥
ये सब भाँति भाँति के पक्षी ये सब रङ्ग रङ्ग के फूल।
ये बन की लहलही लता नव ललित ललित शोभा के मूल॥
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौंरों की गुञ्ज।
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की कुञ्ज॥

ये पर्वत की रम्य शिखा औ शोभा सहित चढ़ाव उतार।
निर्मल जल के सोते झरने सीमा-रहित महा विस्तार॥
छै प्रकार की ऋतु का होना नित नवीन शोभा के सङ्ग।
पाकर काल वनस्पति फलना रूप बदलना रङ्ग-बिरङ्ग॥
चाँद सूर्य की शोभा अद्‌भुत बारी से आना दिन रात।
त्यों अनन्त तारा-मण्डल से सज जाना रजनी का गात॥
यह समुद्र का पृथ्वी-तल पर छाया जो जलमय विस्तार।
उसमें से मेघों के मण्डल हो अनन्त उत्पन्न अपार॥
लरजन गरजन घन-मण्डल की बिजली बरषा का सञ्चार।
जिसमें देखो परमेश्वर की लीला अद्‌भुत अपरम्पार॥

(२)

एकान्तवासी योगी से

साधारण अति रहन-सहन मृदुबोल हृदय हरनेवाला।
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर मनुज वंश का उजियाला॥
सभ्य, सुजन, सत्कर्म-परायण, सौम्य, सुशील, सुजान।
शुद्ध चरित्र, उदार, प्रकृति-शुभ, विद्या-बुद्धि-निधान॥
प्राण पियारे की गुण गाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं हीं चुक जाऊँ॥
विश्व-निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारों त्रिभुवन धन उस पर वारों काम करोर॥

(३)

ऊजड़ ग्राम से

कबहुँ न तहाँ पधारि ग्राम्यजन पग अब धरिहैं।
मधुर मुलौनी माँहिं नित्य चिन्ताहि बिसरिहैं॥

ना किसान अब समाचार तहँ आय सुनैहैं ।
ना नाऊ की बातैं सब को मन बहलैहैं ।।
लकड़हार को विरहा कबहुँ न तहँ सुनि परिहैं ।
तान श्रवन आनन्द-उदधि कबहूँ न उमरिहैं ।।
माँथौ पोंछि लुहार काम को तहँ रुकिहै ना ।
भारी बलहि ढिलाय सुनन बातें झुकिहै ना ।।
घर को स्वामी आपु दीखिहै तहँ अब नाहीं ।
झाग उठे प्याले को फिरवावत सब पाहीं ।।
धनी करहु उपहास तुच्छ मानहु किन मानो ।
दीनन की यह लघु सम्पति साधारन जानो ।।
मोहि अधिक प्रिय लगै अधिक ही मो हिय भाई ।
सबरी बनावटनि सों एक सहज सुघराई ।।

(४)

श्रान्त पथिक से

उक्त शब्द से दीपित मेरी प्रतिभा पङ्ख लगाती है ।
पश्चिमीय-वारिधि-वसंत-सेवित ब्रिटेन को जाती है ।।
शीतल मृदुल समीर चतुर्दिक सुखित चित्त को करती है ।
कोमल कल संगीत सरस ध्वनि तरु तरु प्रति अनुसरती है ।।
सकल सृष्टि की सुघर सौम्य छवि एकत्रित तहाँ छाई है ।
अति की बसै मनुष्यों ही के मन में अति अधिकाई है ।।
मनन-वृत्ति प्रति हृदय-मध्य दृढ़ अधिकृत पाई जाती है ।
अति गरिष्ट साहसिक लक्ष्य उत्साह अमित उपजाती है ।।
गति में गौरव गर्व, दृष्टि में दर्प धृष्टता-युत धारी ।
देखूँ हूँ मैं इन्हें मनुज-कुल-नायकता का अधिकारी ।।

सदा वृहत व्यवसाय-निरत, सुविचारवन्त दीखें सारे।
सुगम स्वल्प आचार शील और शुद्ध प्रकृति के गुण धारे॥
स्वाभाविक दृढ़ चित्त अटल उद्धत असीम साहसकारी।
निज स्वत्वों के व्रती निपट निर्भय स्वतंत्र-सत्ताधारी॥
कृषिकर भी प्रत्येक स्वत्व को जाँच गर्वयुत करता है।
त्यों मनुष्य होने का मान सबके समान मन धरता है॥
जिस स्वतंत्रता को ब्रिटेनजन इतना लाड़ लड़ाते हैं।
सामाजिक सम्बन्ध उसी से खंडित अपने पाते हैं॥
आवेगा एक समय जब कि सौभाग्य-शून्य होकर यह देश।
वीरों का पितृगेह विज्ञ विद्वानों का आवास अशेष!!
धन-तृष्णा का घृणित एक सामान्य कुण्ड बन जावेगा।
नृपति, शूर, विद्वान आदि कोई भी मान नहिं पावेगा॥
स्वतंत्रता का हो सकता है यह सब से बढ़कर उद्देश।
व्यक्ति व्यक्ति पर रहे भार शासन का शक्ति-अनुसार अशेष॥

(५)

काश्मीर-सुखमा से

कै यह जादू भरी विश्व बाजीगर-थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली॥
पुरुष प्रकृति कौं किधौं जबै जोबन-रस आयौ।
प्रेम-केलि-रस-रेलि करन रङ्ग-महल सजायौ।
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार-पिटारी॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥

विमल-अम्बु-सर मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन मन वारति॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
यहिं अमरन कौ ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥

(६)

गोपिका-गीत से

महर नन्द का पुत्र तू नहीं, निखिल सृष्टि का साक्षि-रूप है।
उदित है हुआ वृष्णि-वंश में, व्यथित विश्व के त्राण के लिए॥
तव सुधामयी प्रेम-जीवनी, अघ-निवारिणी क्लेशहारिणी।
श्रवण-सौख्यदा विश्व-तारिणी, मुदित गा रहे धीर-अग्रणी॥

(७)

सुसंदेश

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुञ्जार आ रही है॥
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्‌भुत मिला रही है॥
अलक्ष्य पर्दों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है॥
कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोग-तप्ता सी भोग-मुक्ता हृदय के उद्‌गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन कभी विनय है।
दया है दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में हैं जितने तारे हुये हैं मदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों दो उँगलियों पर नचा रही है॥

सुनो तो सुनने की शक्ति वालो सको तो जाकर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में कि इतनी चुलबुल मचा रही है॥

(८)

जहाँ मनुष्यों को मनुष्य-अधिकार प्राप्त नहिं।
जन जन सरल सनेह सुजन व्यवहार व्याप्त नहिं॥
निर्धारित नरनारि उचित उपचार आप्त नहिं।
कलि-मल-मूलक कलह कभी होवै समाप्त नहिं॥
वह देश मनुष्यों का नहीं, प्रेतों का उपवेश है।
नित नूतन अघ उद्देश थल, भूतल नरक निवेश है॥

(९)

घन-विनय

हे घन! किन देशन महँ छाये, वर्षा बीति गई।
फिरहु कहाँ भरमाये, क्या यह रीति नई॥
सावन परम सुहावन, पावन सोभा जोय।
सो बिन तुम्हरे आवन, रह्यो भयावन होय॥
गयो सलूनो सूनो, तुम बिन निपट उदास।
दुख बाढ़ै दिन दूनो, चहुँ दिसि परि रह्यो त्रास॥
सरवर सरित सुखानी, रजमय मलिन अकास।
ऊबि अवनि अकुलानी, खग मृग मरि रहे प्यास॥
कहँ सब साज सजाये, करि रहे कहँ घन घोर।
दल बादल कहँ छाये, जिहि लखि नाचत मोर॥
विकट भयङ्कर ग्रीसम, ऊसम तपत प्रचंड।
दहि रह्यो दस दिसि भीसम, उत्कट अतिव उदंड॥

निर्दय सतत सतावत, तापत सो महि लोक।
विलपावत कलपावत, सब जग परि रह्यो सोक॥

तुम बिन कौन उबरि है, करि है तिनकर मान।
हरि है धीर उधरि है, हे जगजीवन प्रान॥

तुम अम्बुध जगजीवन, जीवन नाम तुम्हार।
चाहत तुव पय पीवन, जीव नवीन उदार॥

भादों हूँ अस बीती, बिन जल बिन्दु अकास।
सूखी रूखी रीती, निर्धन सून्य अकास॥
जहँ अगाध जल दलदल, पुल बिन नहिं उतराव।
तहँ पैदलहि पथिक दल, चलि रहे बहु बिन नाव॥
कहुँ कहुँ कूपहु सूखे, हरे हरे झुरि गये सूख।
एक तुम्हरे भये रूखे, हमहिं सबहिं भये रूख॥
हे घन! अबहुँ न चितवहु, इत बहु बिपति निहारि।
तुम सुख दिन कित बितवहु, हम कहँ दुख महँ डारि॥
हे वारिद! नव जलधर! हे धाराधर नाम!
हे पयोद! पय सुन्दर, हे अतिशय अभिराम!!
हे प्रानद आनँद-घन, हे जगजीवन सार!
हे सजीव जीवन-घन, हे त्रिभुवन-आधार!!
हे घनश्याम परम प्रिय, हे आनन्द घनस्याम!
मुदित करनहार जन-हिय, हे हरि तनुज मुदाम!!
हे जग जीय जुड़ावन, भीय - छुड़ावनहार!
हे बक-तीय उड़ावन, हीय - बढ़ावनहार!!
हे रन बंक धनुष धर, सर तरकस जलधार!
भीसम-बिसम कलुस-हर, रबि-कर प्रखर प्रहार!!

हे गिरि-तुङ्ग-शिखर चर, हे निर्भय नभ-यान !
हे नित नूतन तन धर, हे पवमान विमान !!
तुम भारत के धन बल, गुन गौरव आधार।
तुम ही तन तुम ही मन, तुम प्रानन पतवार॥
परम पुरातन तुम्हरो, भारत सँग सत प्रेम।
जिहि जानत जग सगरौ, मानत निहिचल नेम॥
सो तुम को नहिं चहियत, छाँड़न हित सम्बन्ध।
अटल सदैवहि कहियत, पूरन प्रकृति प्रबन्ध॥
सोचहु सुमिरि सुजस निज, हे उज्जल जसभौन।
इन दुखियनहि तुमहिँ तज, घन अवलम्बन कौन ?
पठवहु परम सुहावनि, पावनि पूरब पौन।
सुभ सन्देस सुनावनि, जल झर लावनि जौन॥
स्यामघटा लै धावहु, छावहु नभहिं दबाय।
दिव्य छटा फैलावहु, लावहु दलहि सजाय॥
घोरहु घुमड़ि घमंकहु, घेरहु दसहु दिसान।
दामिनि द्रुतहि दमंकहु, धारहु धनुस निसान॥
करखा कुपित गवावहु, जिहि सुनि हिय हरसाय।
बरखा बिपुल मचावहु, जिहि लखि जिय भरि जाय॥
गरजन गहन सुनावहु, रन बत बीर समान।
लरजन ललित दिखावहु, बाँधहु धुर धुरवान॥
मुग्ध मयूर नचावहु, निज घन घोर सुनाय।
दादुर भेक बुलावहु, नव अभिषेक कराय॥
कहुँ कहुँ कड़कि सुनावहु, बिज्जु पतन ठनकार।
कहुँ मृदु श्रवन करावहु, झिल्ली गन झनकार॥

मन बन कीट पतङ्गन, घर घर तिय गन तान।
पुरवहु रङ्ग बिरंगन, हे बहु ढंग-निधान!!
बीर बहूटिन के हित, हरि हरि घास बिछाउ।
करहु नवेलिन के चित, रति-रस केलि उछाउ॥
पोखर नदी तड़ागन, बागन बगियन बीच।
गैल गली घर आँगन, भरहु मचावहु कीच॥
कजरी मधुर मलारन, की धुनि पुनि सुनवाउ।
मंगल मोर मनावन, की चरचा चलवाउ॥
झूलन फूल हिँडोलन, काम किलोल कराउ।
पुनि पुनि पिय पिय बोलन, पपियन प्यास बुझाउ॥
करि कृतकृत्य किसानन, सम्बतसर सरसाउ।
सींचि सस्य तृन धानन, तब निज धाम सिधाउ॥
समै समै पुनि आवहु, पुनि जावहु इहि रीति।
सहज सुभाग बढ़ावहु, गहि मग प्राकृत नीति॥
प्रथित प्रेम रस पागहु, पूरन प्रनय प्रतीत।
सदा सरस अनुरागहु, हे घन! विनय विनीत॥

(१०)

स्मरणीय भाव

बन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज-अभिमानी हों।
बान्धवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों॥
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज-अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥

(११)

भारत-सुत

एहो ! नव युव वर, प्रिय छात्र-वृन्द !
भारत-हृदि-नन्दन, आनन्द-कन्द !!
जीवन-तरु-सुन्दर-सुख-फल अमन्द !
भारत-उर-आशा-आकाश-चन्द !!
आरज-गृह-गौरव-आधार-थम्भ !
भारत-भुवि-सर्वस प्रानावलम्ब !!
तुमही तिहि तन, मन, धन, रजत-जोति !
हीरा, मनि, मरकत, मानिक्य, मोति !!
तुमही तिहि आतम-अन्तर-शरीर !
प्रानाधिक-प्रियतम सुत, धीर, वीर !!
तुम्हरे नव विकसित सुठि सबल अंग ।
उन्नत मति चंचल चित, चपल ढंग ॥
शैशव-गुन-संभव, नव-नव तरङ्ग ।
नव वय, नव विद्या, नव-युव-उमंग ॥
बाढ़हु भुवि स्वर्गिक सेवा के हेतु ।
फहरै जग भारत-कीरति कौ केतु ॥

(१२)

बन-शोभा

चारु हिमाचल आँचल में एक साल बिसालन कौ बन है ।
मृदु मर्मर शील झरैं जल-स्रोत हैं पर्वत-ओट है निर्जन है ॥
लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन प्रवीन विहंगन कौ गन है ।
भटक्यौ तहाँ रावरौ भूल्यौ फिरै, मद बावरौ सौ अलि कौ मन है ॥

भारत में वन ! पावन तूही, तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जग-तत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था ॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा वन-वास की थी तब और प्रभाव पवित्र अनूपम था ॥

(१३)

सान्ध्य-अटन

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनि का उदय था ॥
प्रसव के काल की लालिमा में लसा
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सु—
विशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा ॥
दिव्य दिं नारि की गोद का लाल सा
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
पारणा-रक्त-रस लिप्सु, अन्वेषणा-
युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु
या अतिव क्रोध-सन्तप्त जर्मन्य नृप
सा किया अभ्र बैलून उर में छिपा
इन्द्र, या इन्द्र का छत्र या ताज या
स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज या
कर्ण उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था।
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था ॥
विजन वन शान्त था चित्त अभ्रान्त था।
रजनि-आनन अधिक हो रहा कान्त था ॥

स्थान-उत्थान के साथ ही चन्द्र-मुख
भी समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।
उस विमल विम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में विन्दु सा लख पड़ा
स्याह था रंग कुछ गोल गति डोलता
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा,
उतरते उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा।
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती
प्रेम आलिंगिता मालती की लता
बस उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ाकार एक शब्द सा सुन पड़ा
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पक्षियो में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ और चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्ति-युत कातर स्वर, तथा शीघ्रता
युत उड़ाहट भरा दृश्य इस दिव्य-छवि
लुब्ध दृग युग्म को घृणित अति दिख पड़ा।
चित्त अति चकित अत्यन्त दुःखित हुआ॥

(१४)

म्युनिसिपेलिटी-ध्यानम्

शुक्ल-श्यामांग-शोभाढ्यां, गौन-साड़ी-विभूषिताम्।
महा-मोह-लसद्भालां, करालां, काल-सोदराम्॥

चन्दा चुङ्गीं विचिन्वन्तीं, खुली नालीं निकालतीम्।
डालतीं च नज़र अपनी, चारों जानिब रुआब से॥
टौनहाले महाभीमे, टेब्लि-चेयर-शतान्विते।
लैम्प लोलुप सन्दीप्ते, प्यून भृत्य निषेविते॥
उच्चासन समासीनां, पेपर पेन-चलत्कराम्।
महा विचार में मग्नां, मनोलग्नां धनागमे॥
तां श्री महाम्युनिश्चिपेलिटीति।
ख्यातां सतीं भारत-भाग्य-देवीम्॥
सर्वे वयं नम्र-विनीत-शीर्षाः।
पुनः पुनः पौरजना नमामः॥

सुधाकर द्विवेदी

महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी पंडित कृपालदत्त के पुत्र थे। पंडित कृपालदत्त ज्योतिष-विद्या में बड़े निपुण और भाषाकाव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके पूर्वज चैनसुख नामक एक सरयूपारी दुबे ब्राह्मण काशी में संस्कृत पढ़ने के लिये आये थे और शिवपुर के पास मंडलाई गाँव में एक उपाध्यायजी के यहाँ अध्ययन करने लगे थे। उपाध्यायजी निस्सन्तान थे। इससे चैनसुख ही उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए। चैनसुख ही के वंश में सुधाकरजी हुये।

सुधाकरजी के जन्म के समय इनके पिता मिर्ज़ापुर में थे। इनके चचा दरवाज़े पर बैठे थे। डाकिये ने 'सुधाकर' नामक पत्र उनके

हाथ में दिया। उसी समय घर में से लड़का पैदा होने का समाचार आया। उन्होंने कहा कि लड़के का नाम सुधाकर हुआ।

सुधाकरजी का जन्म सं० १९१७, चैत्र शुक्ला चतुर्थी, सोमवार को हुआ था। ६ मास की अवस्था होते ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इससे इनके पालन-पोषण का भार इनकी दादी पर पड़ा।

आठ वर्ष की अवस्था तक इनकी शिक्षा का कुछ प्रबन्ध नहीं हुआ। इसके बाद जब ये पढ़ाये जाने लगे, तब इन्होंने अपनी धारणा शक्ति का अद्‌भुत चमत्कार दिखलाया। एक बार पढ़ने ही से पद्य इन्हें कंठस्थ हो जाते थे।

बालकपन से ही इनकी रुचि ज्योतिष की ओर अधिक थी। केवल लीलावती पढ़कर ही ये गणित के बड़े बड़े प्रश्न सहज में हल करने लग गये थे। इनकी ऐसी प्रतिभा देखकर पंडित बापूदेव शास्त्री ने क्वींस कालेज के प्रिंसिपल ग्रिफ़िथ साहब से इनकी प्रशंसा की। इससे इनका उत्साह बहुत बढ़ गया। पंडित बापूदेव शास्त्री के पीछे ये बनारस के संस्कृत कालेज में गणित और ज्योतिष के अध्यापक हुये और अन्त-काल तक उस पद पर सुशोभित रहे।

पंडित सुधाकरजी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्रों में से थे। इन्होंने हिन्दी-भाषा में १७ पुस्तकें रचीं। तुलसी, सूर, कबीर तथा हिन्दी के अन्य प्रसिद्ध कवियों की कविता में इनकी अच्छी गति थी। इनकी रहन-सहन सादी, स्वभाव सीधा और चाल-ढाल सर्वप्रिय थी। ये अनेक वर्षों तक काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के सभापति रहे। इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर गवर्नमेंट ने इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि दी थी। योरोप तक इनकी कीर्ति फैली हुई थी।

इनका देहान्त २८ नवम्बर, सन् १९१० को काशी में हुआ। इन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की। ये सरल हिन्दी के बड़े पक्षपाती थे।

एक जगह ये लिखते हैं:—मैं तो समझता हूँ, संस्कृत-काव्य से बढ़कर हिन्दी काव्य में आनन्द मिलता है।

इनकी कविता के कुछ नमूने आगे उद्धृत किये जाते हैं :—

दोहे

राजा चाहत देन सुख, पर परजा मतिहीन।
पर जामत ही चहत हैं, भूमि करन पग तीन ॥ १ ॥
यहि सुराज महँ एकरस, पीअत बकरी बाघ।
छन महँ दौरत बीजुरी, सागर हू को लाँघ ॥ २ ॥
छपि छपि कर परकास भे, लुप्त रहे जे ग्रंथ।
पढ़ि पढ़ि के पंडित भए, बने नये बहु पन्थ ॥ ३ ॥
आगि पानि दोऊ मिले, जान चलावत जान।
बिना जान सब जन लिये, राजत लखहु सुजान ॥ ४ ॥
अरनी की करनी गई, चकमक चकनाचूर।
घर घर गंधक गंध में, आगि रहति भरपूर ॥ ५ ॥
बाप चलाईं एक मत, बेटा सहस करोर।
भारत को गारत किये, मतवाले बरजोर ॥ ६ ॥
मत झगरन महँ मत परहु, इन महँ तनिक न सार।
नर हरि करि खर घोर वर, सब सिरजो करतार ॥ ७ ॥
सबही को यह जगत महँ, सिरज्यौ विधिना एक।
सब महँ गुन अवगुन भरे, को बड़ छोट विवेक ॥ ८ ॥
काज पड़े सबही बड़ा, बिना काज सब छोट।
पाई हेतु भँजावते, रुपया मोहर लोट ॥ ९ ॥
गुन लखि सब कोइ आदरै, गारी धक्का खाय।
कौन पिटाई डुगडुगी, रेल चढ़हु हे भाय ॥१०॥

देखत देखत रात दिन, गुनि जन को नहि मान।
रेल छाँड़ि अब चहत हैं, उड़न लोग असमान ॥११॥
सौ गुन ऊपर मैं चलउँ, बात बनाइ बनाइ।
कैसे रीझे पियरवा, जानि मोहिं हरजाइ ॥१२॥
अपनी राह न छाँड़िये, जौ चाहहु कुसलात।
बड़ी प्रबल रेलहु गिरत, और राह में जात ॥१३॥
मतवालन देखन चला, घर ते सब दुख खोय।
लखि इनकी विपरीत गति, दिया सुधाकर रोय ॥१४॥
मल से उपजा मल बसा, मल ही का व्यवहार।
नाम रखाया संत हम, ऐसे गुरू हज़ार ॥१५॥
का ब्राह्मन का डोम भर, का जैनी क्रिस्तान।
सत्य बात पर जो रहै, सोई जगत महान ॥१६॥
समरथ चाहै सो करै, बड़ा खरो लघु खोट।
नोहर मोहर से बढ़ी, लघु कागज की लोट ॥१७॥
सिद्ध भये तो क्या भया, किये न जग उपकार।
जड़ कपास उनसे भला, परदा राखनहार ॥१८॥
सहजहि जौं सिखयो चहहु, भाइहि बहु गुन भाय।
तौ निज भाषा मैं लिखहु, सकल ग्रंथ हरखाय ॥१९॥
बाना पहिरे बड़न का, करैं नीच का काम।
ऐसे ठग को ना मिलैं, नरकहु में कहुँ ठाम ॥२०॥
बिन गुन जड़ कुछ देत हैं, जैसे ताल तलाब।
भूप कूप की एक गति, बिनु गुन बूँद न पाव ॥२१॥
बातन में सब सिद्धि है, बातन में सब योग।
ये मतवाले होय गए, मतवाले सब लोग ॥२२॥

धन दे फिर लेवैं नहीं, जगत-सेठ ते आहिँ।
विद्या-धन देइ लेहिँ नहिँ, सो गुन पंडित माहिँ ॥२३॥
जहाँ तार की गति नहीं, अंजन हूँ बेकाम।
तहाँ पियरवा रमि रहा, कौन मिलावै राम ॥२४॥
भाषा चाहे होय जो, गुन गन हैं जा माहिँ।
ताहीं सों उपकार जग, सबै सराहहिं ताहि ॥२५॥
अब कविता के। समय नहिं, निरखहु आँख उघारि।
मिलि मिलि कर सीखो कला, आपन भला बिचारि ॥२६॥

विनय-पत्रिका के एक पद का संस्कृत अनुवाद

पद

ऐसी मूढ़ता या मन की।

परिहरि रामभक्ति सुरसरिता, आस करत ओस कन की ॥
धूम समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिँ तहँ शीतलता न वारि पुनि, हानि होत लोचन की ॥
ज्यों गच काँच बिलोकि स्येन जड़, छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥
कहँलौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निजपन की ॥

अनुवाद

एतादृशी मूढ़ता मनसः।

रामभक्ति सुरसरितं हित्वा वाञ्छति कणं कुपयसः ॥
धूमपटलमवलोक्य चातको बुध्वा यथा भ्रमलसः।
लभते तत्र न शीतलमम्भो दृग्वैरिणं च वयसः।

श्येनः काच कुट्टिमे दृष्ट्वा सं विम्बं मतिरभसः।
पतित तत्र परपतन्निरूपे हानिमुपैति च वचसः॥
मनसः किं वर्णये जड़त्वं करुणानिधे कुयशसः।
कृत्वाऽऽत्म पणन्त्रपा जनस्यापहर दुःखमति तपसः॥

वन-विहार-पञ्चपदी

(१)

पिया हो, कसकत कुस पग बीच।
लखन लाज सिय पिय सन बोली हरुए आइ नगीच॥
सुनि तुरन्त पठयो लखनहिं प्रभु जल हित दूरि सुजान।
लेइ अङ्क सिय जोवत कुस कन धोवत पद अँसुआन॥
बार बार झारत कर सों रज निरखत छत बिललात।
हाय, प्रिये, मान्यो न कह्यो लखु नहिं बन बिच कुसलात॥
सहस सहचरी त्यागि सदन मधि सासु ससुर सुखकारि।
हठ करि लगि मो संग सहत तुम हा हा यह दुख भारि॥
कहत जात यों प्रभु बहु बतियाँ तिया पिया की छाँह।
देइ गलबहियाँ चली बिहँसि कहि यह सुख नाथ अथाह॥

(२)

नाथ कुस साथरी साथ सुहाई।
जो सुख सुखनिधान निसि पाई सो क्यों हूँ न कहाई॥
चहल पहल निसि राज महल बिच चेरिन को समुदाई।
सासु ससुर के अदब न दबकत दुसह तुम्हार जुदाई॥
मन भावन मन भावत बतियाँ बतराई तहँ नाहीं।
तातें तहँ तें सौगुन सुख बन बिहरत दे गलबाहीं॥

गगन मगन सोभा मन लोभा देखत नखत निकाई ।
जा छवि आगे सीस महल की पवि छवि प्रगट फिकाई ॥
आलस तजि आरसी विलोकहु मंगल द्विज जुति भाई ।
बिनु गुनमाल भली छवि पिय हिय कहि सिय मुरि मुसुकाई ॥

(३)

पिया, जब देखी मैं फुलवरियाँ ।
अस मन भयो धाइ गर लागौं त्यागि सकल कुल गलियाँ ॥
लखन लाल मोहि सेष सों लागे विष सी सँग की आलियाँ ।
लाज भुअंगिनि हँ करत वाढ़ी निरखि बाग के मलियाँ ॥
मन चाह्यो पिय सँग सँग डोलूँ चुनूँ कुसुम की कलियाँ ।
गूँथि गूथि अभरन पहिराऊँ करि पिय सँग रँगरलियाँ ॥
मन महँ धँसी साँवरी सूरत फँसी पिता पन जलियाँ ।
प्रेम नेम दुविधा तरंग उठि मची हिये खलबलियाँ ॥
धनुष भंगि पितु नेम प्रेम मय राखि लियो विधि भलियाँ ।
सो इच्छा इकांत बिहरन अब पुरई भुज गर डलियाँ ॥

(४)

पिया हो ! मन की मनहीं माहिं रही ।
तुव सन निज कर केस सँवारन लाजन नाहिं कही ॥
सो घर जरउ जहाँ निज मन भरि पिय मन रखि न रही ।
चाहि चाहि मन पछितायो बहु नाहक नाहिं कही ॥
सहस सहचरी नित घर घेरत परी लाज के फंद ।
अँखिया भरि कबहूँ नहीं निरखी तुव मुख पूरन चन्द ॥
यह बन निज कर नाथ सँवारत बेनी गुँथत बनाय ।
को बड़ भागिनि मो सम तिहुँ पुर यह सुख जाहि जनाय ॥

कोटि मनोज लजावन भावन तुव छवि पीयत पीय ॥
अँखियाँ बहुत दिनन की प्यासी नेक आघात न हीय ॥

(५)

जियत नहिं बे पानी को मीन।
रतनाकर करिवर की मोतिया वे पानी छवि हीन ॥
बे पानी सर राजहंस लखि होत बहुत बेहाल।
तान अलाप मृदङ्ग न भावत बे पानी को ताल ॥
लहलहात खेतन बिच शाली बे पानी जु सुखात।
लोह घाव हू बे पानी के छन छन बहुत दुखात ॥
प्राननाथ बे पानी व्यञ्जन कोऊ न सरस सुहात।
बे पानी के नर नारी जग अति खल नीच लखात॥
हम अबला पुनि चार पानि कर पकर्‌यो आप बनाय।
बे पानी अब तुव अनुगामी कहो अनत कस जाय ॥

शिवसम्पति

पंडित शिवसम्पति सुजान शर्मा का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल ५, सं० १९२० को ग्राम उदियाँव ज़िला आज़मगढ़ में हुआ। इनके पिता का नाम पंडित रघुबीर शर्मा और माता का रामकेशी था। ये भूमिहार ब्राह्मण हैं। सं० १९२८ में विद्याध्ययन आरंभ करके सं० १९३८ तक ये शिक्षा पाते रहे। हिन्दी और फ़ारसी पर इनका अच्छा अधिकार है। साधारण संस्कृत भी जानते हैं। अध्यापकी ही इनकी प्रारम्भ से जीविका थी। अब अध्यापकी छोड़कर ये घर

पर रहते हैं। घर पर कुछ जमींदारी का भी काम होता है। उसका प्रबन्ध इनके अनुज परमेश्वर मिश्र बड़ी योग्यता से करते थे। ये चार भाई थे। किन्तु अब यही जीवित हैं। संतान में चार कन्यायें थीं। अब एक भी जीवित नहीं।

सं० १९५६ या ५७ के लगलग ये मेरे जन्म-स्थान कोइरीपुर (जि० जौनपुर) में अपर प्राइमरी स्कूल के प्रधानाध्यापक होकर गये थे। मैंने अपर प्राइमरी तक इनसे ही शिक्षा पाई है। पद्य-रचना भी मैंने इनसे ही सीखी है। इनके साथ स्कूल में जो इनका निजका पुस्तकालय था, उससे हिन्दी-साहित्य का परिचय पाने में मुझे बड़ी ही सहायता मिली थी। कोइरीपुर में इन्होंने शिक्षा का अच्छा विस्तार किया। अब तक वहाँ के लोग इन्हें प्रशंसा के साथ याद किया करते हैं। ये बड़े निस्पृह और उन्नत विचार के अध्यापक थे।

इन्होंने पद्य में कई पुस्तकें लिखी हैं। दो एक को छोड़कर अभी तक प्रायः सभी अप्रकाशित हैं। इनके रचे हुये ग्रन्थों के नाम ये हैं:—

१—शिवसम्पति सुजान शतक, २—शिवसम्पति शिक्षावली, ३—शिवसम्पति सर्वस्व, ४—शिवसम्पति नीति-शतक, ५—शिवसम्पति-सम्वाद, ६—नीति-चन्द्रिका, ७—आर्य-धर्म-चन्द्रिका, ८—वसन्त-चन्द्रिका, ९—चौताल-चन्द्रिका, १०—सभा-मोहिनी, ११—यौवन-चन्द्रिका, १२—जौनपुर-जलप्रवाह-विलाप, १३—मनमोहिनी, १४—पचरा-प्रकाश, १५—भारत-विलाप, १६—प्रेमप्रकाश, १७—ब्रजचन्द-विलास, १८—प्रयाग-प्रपंच, १९—सावन-विरह-विलाप, २०—राधिका-उराहनो, २१—ऋतु-विनोद, २२—कजली चन्द्रिका, २३—स्वर्ण-कुँवरि-विनय, २४—शिवसम्पति-विजय, २५—ऋतु-संहार, २६—शिवसम्पति-साठा, २७—प्राणपियारी, २८—कलि-काल-कौतुक, २९—उपाध्यायी उपद्रव, ३०—चित्त-चुरावनी, ३१—स्वार्थी संसार, ३२—

नये बाबू, ३३—पुरानी लकीर के फकीर, ३४—शतमूर्ख प्रकाशिका, ३५—भूमिहार-भूसुर-भूषण, ३६—कलियुगोपकार ब्रह्महत्या, ३७—रामनारायण-स्तोत्र, ३८—दिल्ली दरबार, ३९—वृटिश-विजय, ४०—गोरखधन्धा, ४१—संसार स्वप्न।

हम इनकी पुस्तकों से चुनकर इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे उद्धृत करते हैं:—

पचरा-प्रकाश

(१)

छैला जिनि करु देहियाँ के गुमनवाँ न।
यामें नली नली सब जोरी, देखत हौ जो काली गोरी।
पाँचों तत्वन थोरी थोरी, ब्रह्मा करिके मिश्रित विरचे जिव भवनवाँ न॥
जबलों चाहै तब लों बोलै, जग में चारिहु ओरन डोलै।
करि बहु भाँति विनोद कलोलै, चाहे जब करै छोड़ि के गवनवाँ न॥
कोऊ जग में काम न आवै, वित हित सबै सनेह लगावै।
निरधन लखि नहि पास बिठावै, एइसे इहि दुनिया के इनसनवाँ न॥
भजले ब्रह्म सनातन प्यारे, रहना विषय भोग से न्यारे।
श्रीशिवसम्पति हितू तिहारे, खाली चारिहु वेद के कहनवाँ न॥

(२)

जागो मोह निसा ते राही होत बिहनवाँ न।
इहँवा सिगरे लोग बिगाना, कोऊ आपन नहीं यगाना।
नाहक क्यों फँसि के ललचाना, प्यारे जगत मुसाफिरखनवाँ न॥
माया भठिहारिन ललचाई, आपन सुन्दर रूप दिखाई।
लूट्यो बहु पथिकन बहकाई, प्यारे अँग अँग पहिरि गहनवाँ न॥

कितने इहि सराय में आई, भागे निज निज माल गँवाई।
काहू की नहिं कछुक बसाई, नास्यो करि करि लाख बहनवाँ न ॥
छोड़ो भोग विषय की आसा, जानो सब छिन भंग तमासा।
पावैं फिरि न अवसर खासा, त्यागो तिरछे नयन की सयनवाँ न ॥
आखिर पीछे से पछतैहो, सब विधि तुमहूँ जब ठगि जैहौ।
श्रीशिवसम्पति का तब पैहौ, छोड़ो माया भठिहारिन के गोहनवाँ न ॥

फुटकर

दोहा

देखत जो रंगी महल, घन गजराज तुरंग।
सो कोऊ जैहैं नहीं, श्रीशिवसम्पति संग ॥१॥
धर्म करो मन क्यों परो, कहो कुमति के धंध।
का करिहौ चलिहौ जबै, मूढ! चारि के कंध ॥२॥
रे मन, निति रहिहै नहीं, तरुनापन अभिलाख।
चार दिना की चाँदनी, फिर अँधियारा पाख ॥३॥
लह्यो न जग सुख ब्रह्म को, धर्‌यो न हिय में ध्यान।
घर को भयो न घाट को, जिमि धोबी को स्वान ॥४॥
सुबह साँझ के फेर में, गुजरी उमर तमाम।
दुविधा महँ खोये दऊ, माया मिली न राम ॥५॥
विषै भोग की आस में, सब दिन दियो बिताय।
रे मन, करिहै काह अब, पीरी पहुँची आय ॥६॥
पीरी पहुँची आय के, करी फकीरी नाहिं।
श्रीशिवसम्पत्ति व्यर्थ ही, जीवत या जग माहिं ॥७॥
चतुरानन की चूक सब, कहँलों कहिये गाय।
सतुआ मिलै न सन्त को, गनिका लुचुई खाय ॥८॥

सवैया

(१)

काम तजै अरु क्रोध तजै मद लोभ तजै उर धीरज आनै।
वस्तु विषै सब त्याग करै अरु लाज करै निज को पहिचानै॥
ध्यान धरै परमेश्वर को कवि श्रीशिवसम्पति मिश्र बखानै।
नाहित रे मन हाथ कछू नहिं आइहै अन्त समै पछतानै॥

(२)

जा तिय को अति उत्तम रूप बनायहु ता तिय को पति हीना।
जो मन भावन छैल दई पुनि तौ तिय ही को कुरूपिनि कीना॥
जो बहु रूप दई दुहुँ को पुनि तौ कलपावत पुत्र विहीना।
तीनहुँ जाहि दई शिवसम्पति जू विधि ताहि दरिद्रता दीना॥

(३)

फलहीन महीरुह त्यागि पखेरू वनानलतें मृग दूरि पराहीं।
रसहीन प्रसूनहि त्याग करैं अलि शुष्क सरोवर हंस न जाहीं॥
पुरुषै निर द्रव्य तजै गनिका न अमात्य रहैं बिगरे नृप पाहीं।
शिवसम्पति रीति यही जग की बिन स्वारथ प्रीति करै कउ नाहीं॥

(४)

याद कुनी हर वक्त खुदा जिहि ते दुउ लोक में होवे भला।
यार शराब मुदाम न बाशद जानहु ज्यों चमकै चपला॥
बाद ज़ मर्ग चे ख़ाहद कर्द अभी बनि घूमत हो छयला।
पद मरा कुन गोश अज़ीज़ वृथा जनि बात बनाओ लला॥

(५)

श्याम क़दीम मुहब्बत हैफ़ कहो कुल कर्द न दर्द रहम।
ज़र्द शुदम् अज़ फुर्क़त रूप या लाग़र बेश तमाम तनम॥

वक्त ब उल्फ़त दस्त गिरफ़ इफ़ाय रिफ़ाकत कर्द कसम।
श्रीशिवसम्पति आखिर क़ौम अहीर चे दानद इश्क़ रसम॥

कवित्त

शुद्ध शुद्ध बोलै भेद वेदन को खोलै,
भने ब्रह्म सो मिलावै अंत मुक्ति देनहारी है।
जानै ना असत्य नेक सत्य ही बखानै सदा,
आरज के धर्म की करत रखवारी है॥
प्रेम परिवार सों बढ़ावै शिवसम्पतिजू,
सबही सों मोद भरी बोलै बैन प्यारी है।
भारत-निवासी बन्धु ताहि क्यों बिसारैं हाय,
ऐसी गुनवारी भाषा नागरी हमारी है॥

छप्पै

(१)

गंजा नर शिर भानु ताप ते दग्धन लाग्यो।
विधि-वश छाया हेत ताड़ तरवर तर भाग्यो॥
ताहि जात तिहि ठौर वृक्ष तें फल इक टूट्यो।
भयो भयानक शब्द गिरत गंजा सिर फूट्यो॥
श्री शिवसम्पति कवि भनै, सुनो मुख्य यह बात है।
बिपति संग लगि जात तहँ, भाग्यहीन जहँ जात है॥

(२)

काह लाभ? सँग गुणी, काह दुख? संगति दुरमति।
का छति? समया चूक, निपुणता काह? धर्म रति॥

कौन शूर ? इंद्रियन जीत, तिय को ? अनुकूला।
काह अचल धन जगत माह ? विद्या सुख मूला॥
का सुख ? शिवसम्पति सुकवि, वास नहीं परदेश को।
राज्य काह ? निज मंत्र युत, रहिबो सदा स्वदेश को॥

(३)

अग्नि ताहि जल होत सिन्धु सरिता तिहि छन में।
मेरु स्वल्प पाखान सिंह हरिना तिहि बन में॥
पुष्पमाल सम होत ताहि अति विषधर व्याला।
अमृत सम ह्वै जात ताहि विष विषम कराला॥
नीति ग्रंथ मत देख कै, श्रीशिवसम्पति कवि कहै।
सकल लोक मोहन करन, शील जासु तन में रहै॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म ज़िला रायबरेली के दौलतपुर गाँव में, सं० १९२१, वैशाख शुक्ल चतुर्थी, को हुआ। इनके पिता का नाम पण्डित रामसहाय था। जन्म होने के आधे घन्टे बाद जात-कर्म होने के पहले, ज्योतिर्विद् पण्डित सूर्य-प्रसाद द्विवेदी ने इनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मन्त्र लिखा था।

गाँव के मदरसे में इन्होंने हिन्दी और उर्दू का अभ्यास किया। घर पर अपने चाचा पण्डित दुर्गाप्रसाद के प्रबन्ध से इन्होंने थोड़ा-सा

संस्कृत-व्याकरण, दुर्गा-सप्तसती, विष्णु-सहस्रनाम, शीघ्र-बोध और मुहूर्त-चिन्तामणि आदि पुस्तकें कंठस्थ कीं। गाँव के मदरसे की शिक्षा समाप्त कर, १३ वर्ष की अवस्था में, ये घर से ३२ मील दूर रायबरेली के हाईस्कूल में अंग्रेजी पढ़ने के लिये भेजे गये। अंगरेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा फ़ारसी थी। पर घर से रायबरेली दूर होने के कारण ये पुरवा कस्बे (ज़िला उन्नाव) के एँग्लो वर्नाक्यूलर टाउन स्कूल में भर्ती हुये। थोड़े दिनों बाद यह स्कूल टूट गया। तब ये फ़तहपुर के स्कूल में गये और फिर वहाँ से उन्नाव। उन्नाव से ये अपने पिता के पास बम्बई चले गये। वहाँ इन्होंने गुजराती और मराठी सीखी तथा संस्कृत और अँग्रेजी का भी कुछ अभ्यास बढ़ाया। कुछ दिन पढ़ने के बाद इन्होंने रेलवे में नौकरी कर ली। वहाँ से ये नागपुर आये। किन्तु वह स्थान इन्हें पसन्द न आया। इससे ये अजमेर चले गये और वहाँ राजपूताना रेलवे के लोको आफ़िस में नौकर हो गये। वहाँ भी ये अधिक समय न ठहरे। एक वर्ष बाद ही फिर बम्बई चले गये। बम्बई में इन्होंने तार का काम सीखा, और फिर जी० आई० पी० रेलवे में सिगनेलर होकर क्रम-क्रम से उन्नति करते हुए हर्दा, खँडवा, हुशंगाबाद और इटारसी में कोई पाँच वर्ष तक काम किया। उसी अवसर में तार के काम के सिवा इन्होंने फ़ौज के काम में भी अच्छी प्रवीणता प्राप्त कर ली।

इन्डियन मिडलैंड रेलवे के मैनेजर मिस्टर डब्लू० बी० राइट ने इन्हें झाँसी में टेलिग्राफ़ इन्सपेक्टर नियुक्त किया। इन्होंने तार-संबन्धी एक पुस्तक अँग्रेजी में लिखी और नई तरह से लाइन क्लियर ईजाद करने में बड़ी योग्यता दिखलाई। कुछ दिनों के बाद ये हेड टेलिग्राफ़ इन्सपेक्टर कर दिये गये।

रातदिन दौड़-धूप के काम से इनकी तबीअत उकता गई। तब

इन्होंने अपनी बदली जनरल ट्रैफ़िक मैनेजर के दफ़्तर में कराली। वहाँ ये कलेम्स डिपार्टमेंट के हेड क्लर्क नियुक्त हुये। जब आई० एम० और जी० आई० पी० रेलवे एक हो गईं, तब ये बम्बई बदल दिये गये। वहाँ जी न लगने से इन्होंने अपनी बदली फिर झाँसी करा ली। झाँसी में ये डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिन्टेंडेंट के चीफ़ क्लर्क हुये। वहीं बङ्गालियों की संगति से इन्होंने बंगला भाषा सीखी और संस्कृत में काव्य और अलङ्कार-शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया। कुछ समय के पश्चात् पुराने डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिन्टेण्डेन्ट की बदली हो गई, और उनके स्थान पर एक नये साहब आये। उनसे इनकी नहीं पटी। इस्तीफ़ा दे कर ये घर चले आये।

हिन्दी-कविता की ओर इनकी रुचि लड़कपन ही से थी। नौकरी की हालत में ये हिन्दी की सेवा बराबर किया करते थे। नौकरी छोड़ने के बाद तो ये बिल्कुल स्वतन्त्र होकर हिन्दी-साहित्य की सेवा में लग गये।

द्विवेदीजी बड़े परिश्रमी थे। अपने ही परिश्रम से इन्होंने अच्छी विद्वत्ता प्राप्त की थी। रेलवे के काम में भी ये अपने परिश्रम और प्रतिभा के आधार पर उन्नति करते रहे। और जब साहित्य-क्षेत्र में आये, तो अपने समय में हिन्दी-साहित्य में एक ख़ास शक्ति होकर प्रतिष्ठित हुए। एक व्यक्ति परिश्रम से कहाँ तक योग्यता प्राप्त कर सकता है, द्विवेदीजी इसके आदर्श थे।

द्विवेदीजी अच्छे कवि थे। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में ललित कविता करते थे। खड़ी बोली की कविता की आजकल जो कुछ उन्नति है, उसके प्रधान कारण द्विवेदीजी ही हैं। इनके प्रोत्साहन से कितने ही नये कवि और लेखक हिन्दी का गौरव बढ़ाने लगे।

द्विवेदीजी की गद्य लिखने की एक ख़ास शैली थी। ऐसा अच्छा गद्य लिखने वाले वर्तमान हिन्दी-लेखकों में बहुत कम हैं। अपने

समय में अपने जोड़ के द्विवेदीजी एक ही लेखक थे। अपने जीवन का जितना भाग द्विवेदीजी ने हिन्दी-सेवा के लिए दिया है, उतना देने का सौभाग्य अभी तक किसी हिन्दी-लेखक को प्राप्त नहीं हुआ है।

द्विवेदीजी का अँग्रेज़ी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं में अच्छा अधिकार था। इन्होंने अंग्रेज़ी, संस्कृत और बँगला से कई उपयोगी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया। कई पुस्तकों पर स्वतंत्र समालोचनाएँ लिखीं और कई स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे। इनकी खास-खास पुस्तकों के नाम ये हैं:—

अद्भुत आलाप, आख्यायिका-सप्तक, आध्यात्मिकी, आलोचनांजलि, कविता-कलाप, कालिदास की निरंकुशता, किरातार्जुनीय की टीका, कुमार-संभव की टीका, कुमारसंभवसार, कोविद-कीर्तन, चरित-चर्या, जल चिकित्सा, नाट्य शास्त्र, नैषध-चरित-चर्चा, प्राचीन चिह्न, प्राचीन पंडित और कवि, पुरातत्व-प्रसंग, पुरावृत्त, मेघदूत की टीका, रघुवंश की टीका, रसज्ञ-रंजन, लेखांजलि, वनिता-विलास, वाग्विलास, विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा, विचार-विमर्श, विदेशी विद्वान्, विज्ञान-वार्ता, वेणी-संहार नाटक, वैचित्र्य-चित्रण, शिक्षा, संकलन, सम्पत्ति-शास्त्र, साहित्य संदर्भ, साहित्य-सीकर, स्वाधीनता, सुकवि-संकीर्तन, सुमन, हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति, हिन्दी-महा-भारत, काव्य-मंजूषा, हिन्दी-कालिदास की समालोचना, बेकन-विचार-रत्नावली, कालिदास और उनकी कविता।

इनके सिवा इन्होंने कुछ रीडरें भी सङ्कलित की थीं। ये एक अच्छे समालोचक थे।

लगभग बीस वर्षों तक द्विवेदीजी ने सरस्वती का संपादन किया था। द्विवेदीजी ने सरस्वती को हिन्दी की सर्वोत्तम मासिक पत्रिका बना दिया। उसी तरह सरस्वती भी द्विवेदीजी को गौरवान्वित करने में एक कारण हुई। सरस्वती का सम्पादन छोड़ने के बाद ये कभी जूही

(कानपुर) और कभी अपने जन्म-स्थान दौलतपुर (रायबरेली) में रहते रहे।

इनका सारा समय पढ़ने-लिखने ही में बीतता था। इसी से इनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहा। इसी कारण से अथवा स्वभाव में अधिक विरक्त भाव होने के कारण ये सभा-समितियों में बहुत कम सम्मिलित होते थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने के लिए हिन्दी-संसार ने इनसे कई बार प्रार्थनायें कीं, किन्तु इन्होंने स्वीकार नहीं किया। मित्रों का बहुत दबाव पड़ने पर त्रयोदश सम्मेलन (कानपुर) की स्वागत-समिति के ये सभापति हुये और उसी सम्मेलन में उसके उप-सभापति चुने गये।

२१ दिसंबर, १९३८ को रायबरेली में जलोदर रोग से द्विवेदीजी का देहावसान हुआ। इनके देहावसान पर युक्तप्रांत की एसेंब्ली में शोक-प्रदर्शन हुआ और साहित्यिक जगत् में द्विवेदीजी के सरल और लोक-हितकारी जीवन तथा इनकी अनुपम साहित्य-सेवाओं के प्रति बड़ा आकर्षण उत्पन्न हुआ।

इनकी हिन्दी-कविता के कुछ नमूने आगे उद्धृत किये जाते हैं:—

विचार करने योग्य बातें

(१)

मैं कौन हूँ ? किसलिये यह जन्म पाया ?
क्या क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किसको शरीर ?
आत्मा किसे कह रहे सब धर्मधीर ?

(२)

क्यों पाप-पुण्य-पचड़ा जग बीच छाया ?
 माया-प्रपंच रच क्यों सब को भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारे ?
 ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारे ?

(३)

नाना प्रकार जग में जन जन्म पाते।
 पीते तथा नित यथा-विधि खाद्य खाते॥
तौ भी सदैव मरते सब जीवधारी।
 क्यों अल्पकालिक हुई फिर सृष्टि सारी?

(४)

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे।
 होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे ?
क्या बाघ है ? विशिख है ? अहि है विषारी ?
 किंवा विशाल-तम तोप दृढ़ाङ्गधारी ?

(५)

पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नर-नाग - सृष्टि।
 माङ्गल्य मूल-मय वारिद वारि-वृष्टि॥
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
 व्यापार-भार सहता रहता महाना ?

(६)

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता।
 स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता।
 तो मूल्यवान फिर क्यों निज काल खोता ?

(७)

कोई सदैव सुख-युक्त करे विहार !
कोई अनेक विधि दुःख सहे अपार ॥
जो भेद-भाव सब में यह विद्यमान ।
क्या बीज-वस्तु उसकी जग में प्रधान ?

(८)

क्यों एक देश सहसा बल-वृद्धि पाता ?
क्यों अन्य दीर्घ दुख सागर में समाता ?
ये खेल कौन ! किस कारण खेलता है ?
क्यों नित्य नित्य सुख में दुख मेलता है ?

(९)

ये हैं महत्व-परिपूरित प्रश्न सार ।
एकान्त जो नर करें इनका विचार ॥
होवें अवश्य जन वे जग में महान ।
सज्ञान और वर बुद्धि विवेकवान ॥

(२)

कुमारसम्भवसार

(तृतीय सर्ग)

(१)

सारे देववृन्द से खिंचकर देवराज के नयन हज़ार,
कामदेव पर बड़े चाव से आकर पड़े एकही बार ।
अपने सब सेवक-समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार,
प्रायः घटा बढ़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार ॥

(२)

'सुख से बैठो यहाँ मनोभव !'—इस प्रकार कर वचन-विकास,
आसन रुचिर दिया सुरपति ने अपने ही सिंहासन पास।
स्वामी की इस अनुकम्पा का अभिनन्दन कर शीश झुकाय,
रतिनायक इस भाँति इन्द्र से बोला उसे अकेला पाय ॥

(३)

सब के मन की बात जानने में अति निपुण ! प्रभो देवेश,
विश्व-बीच कर्तव्य कर्म तव क्या है मुझे होय आदेश।
करके मेरा स्मरण अनुग्रह दिखलाया है जो यह आज,
उसे अधिक करिए आज्ञा से यही चाहता हूँ सुरराज ॥

(४)

इन्द्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझ में—मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच कुसुम-सायक धारी।
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज आज्ञाकारी ॥

(५)

जन्म-जरा-मरणादि दुःख से होकर दुखी कौन ज्ञानी,
तव सम्मति प्रतिकूल गया है भक्ति मार्ग में अभिमानी।
भ्रुकुटी कुटिल कटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुरबाला,
बाँध डाल रक्खे, वैसे ही पड़ा रहे वह चिरकाला ॥

(६)

नीति शुक्र से पढ़ा हुआ भी है यदि कोई अरि तेरा,
पहुँचे अभी पास उसके झट दूत राग रूपी मेरा।
जल का ओघ नदी तट दोनों पीड़ित करता है जैसे,
धर्म अर्थ दोनों ही उस के पीड़न करूँ, कहो तैसे ॥

(७)

महापतिव्रत धर्मधारिणी किस नितम्बिनी ने अमरेश !
निज चारुता दिखाकर तेरे चञ्चल चित में किया प्रवेश।
क्या तू यह इच्छा रखता है, कि वह तोड़ लज्जा का जाल,
तेरे कण्ठ-देश में डाले आकर अपने बाहु-मृणाल ॥

(८)

समझ सुरत-अपराध, कोप कर, किस तरुणी ने हे कामी !
तुझे तिरस्कृत किया ! हुआ तव शीस यदपि तत्पद-गामी।
उग्रताप से व्याकुल होकर वह मन में अति पछतावे,
पड़ी रहे पल्लव-शय्या पर, किये हुये का फल पावे ॥

(९)

मुदित हूजिये वीर ! वज्र तव करे अखण्डित अत्र विश्राम,
बतलाइये, देवताओं का वैरी कौन पराक्रम-धाम।
मेरे शरसमूह से होकर विफल-बाहुबल कम्पित गात,
अधर कोप-विस्फुरित देखकर डरे स्त्रियों से भी दिनरात ॥

(१०)

हे सुरेश ! तेरे प्रसाद से कुसुमायुध ही मैं, इस काल,
साथ एक ऋतुपति को लेकर, और प्रपञ्च यहीं सब डाल।
धैर्य पिनाकपाणि हर का भी, कहिये स्खलित करूं देवार्थ,
और धनुष धरने वाले सब मेरे सन्मुख तुच्छ पदार्थ ॥

(११)

पादपीठ को शोभित करते हुये इन्द्र ने इतने पर,
जङ्घा से उतार कर अपना खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित विषय में सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा,
उससे अति आनन्द-पूर्वक, समयोचित, इस भाँति कहा ॥

(१२)

सखे ! सभी तू कर सकता है, तेरी शक्ति जानता हूँ,
तुझको और कुलिश को ही मैं अपना अस्त्र मानता हूँ।
तपोबली पुरुषों के ऊपर वज्र व्यर्थ हो जाता है,
मेरा तू अमोघ साधन है, सभी कहीं तू जाता है ॥

(१३)

तेरा बल है विदित, तुझे मैं अपने तुल्य समझता हूँ,
बड़े काम में इसीलिए ही तव नियुक्ति मैं करता हूँ।
देख लिया जब यह कि शेष ने सिर पर भूमि उठाई है,
तभी विष्णु ने उस पर अपनी शय्या सुखद बनाई है ॥

(१४)

यह कहकर कि सदाशिव पर भी चल सकता है शर तेरा,
मानों अङ्गीकार कर लिया काम ! काम तू ने मेरा।
यही इष्ट है, क्योंकि शत्रु अब अति उत्पात मचाते हैं,
यज्ञभाग भी देववृन्द से छीन छीन ले जाते हैं ॥

(१५)

जिसके औरस पुत्र-रत्न को करके अपना सेनानी,
सुरत्रिजयी होना चहते हैं, मार असुर सब अभिमानी।
वही महेश समाधिमग्न हैं, पास कौन जा सकता है ?
तेरा विशिख तथापि एक ही कार्य सिद्ध कर सकता है ॥

(१६)

ऐसा करो उपाय जाय कर, हे रतिनायक बड़भागी,
हों जिससे पवित्र गिरिजा में योगीश्वर हर अनुरागी।
उनके योग्य कामिनी कुल में वही एक गिरि-बाला है,
सत्य वचन ब्रह्मा ने अपने मुख से यही निकाला है ॥

(३)

विधि-विडम्बना

(१)

चारु चरित तेरे चतुरानन ! भक्ति-युक्त सब गाते हैं ।
इस सुविशाल विश्व की रचना तुझसे ही बतलाते हैं ॥
कहते हैं तुझ में चतुराई है इतनी सविशेष ।
जिसको देख चकित होते हैं शेष महेश रमेश ॥

(२)

चतुर्वेद की शपथ तुझे है मुझे बात यह बतलाना ।
तूने भी, कह, क्या अपने को महा चतुर मन में माना ॥
माना सत्य, क्यों कि तूने कुछ कहा नहीं प्रतिकूल ।
कमलासन ! सचमुच यह तेरी हैगी भारी भूल ॥

(३)

दोष-राशि से दूषित तेरी करतूतें हम पाते हैं ।
अतः यहाँ पर कोई-कोई उनमें से दरसाते हैं ॥
अति नीरस अति कर्कश अति कटु वेद-वाक्य-विस्तार ।
क्षण भर तू समेटकर सुन निज अविचारों का सार ॥

(४)

विक्रम भोजादिक महीपवर मही मयङ्क महा ज्ञानी ।
सरस्वती के सच्चे सेवक देवद्रुम समान दानी ॥
तूने इनसे भूतल भूषित किया अल्प ही काल ।
भूल और क्या हो सकती है इससे अधिक विशाल ॥

(५)

काव्य-कला-कौशल सम्बन्धी रुचिर सृष्टि के निर्माता ।
मधु मिश्री से भी अति मीठी वचन-मालिका के दाता ॥
कालिदास भवभूति आदि को अन्य लोक पहुँचाय ।
कविता-वधू विधे ! तूने हा विधवा कर दी हाय ॥

(६)

कपिल कणाद पतञ्जलि गौतम व्यास आदि वर विज्ञानी ।
जिनकी कीर्ति-ध्वजा अभीतक सतत फिरै है फहरानी ॥
उनको भी तूने क्षणभंगुर किया विवेक विहाय ।
दिखलावें हम तेरी किन किन भूलों का समुदाय ॥

(७)

रम्यरूप रसराशि, विमलवपु लीला ललित मनोहारी ।
सब रत्नों में श्रेष्ठ शशिप्रभ अति कमनीय नवल नारी ॥
रच फिर उसको जराजीर्ण तू करता है निःशेष ।
भला और तुझ जरठ जीव से क्या होगा सुविशेष ॥

(८)

उपलपात, जलपात, भयङ्कर वज्रपात भी सहते हैं ।
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहिं कहते हैं ॥
किन्तु असह्य उरोजपात का करते ही सुविचार ।
तेरी विषम-बुद्धि पर बुधवर हँसते हैं शतबार ॥

(९)

कटु इन्द्रायण में सुन्दर फल मधुर ईख में एक नहीं ।
बुद्धिमान्द्य की सीमा तूने दिखलाई है कहीं कहीं ॥

निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश।
तो क्या कञ्चन में भी तुझको करना न था सुवास!

(१०)

विश्व बनाने वाला तुझको सब कोई बतलाते हैं।
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं॥
यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशल लवलेश।
काक और पिक एक रङ्ग के क्यों होते लोकेश!॥

(११)

वायस विहरैं हैं गलियों में हंस न पाये जाते हैं।
कण्टकारि सब कहीं, कमल-कुल कहीं कहीं दिखलाते हैं॥
मृगमद पाने का क्या कोई था ही नहीं सुपात्र।
जो तूने उससे पशुओं का किया सुगन्धित गात्र!

(१२)

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं।
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं॥
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लङ्क।
चिन्ह देख जिसमें सब उनको पहचानते निशङ्क॥

(१३)

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नए नए अखबार॥
विधे, मनोज्ञ मातृभाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़।
राम-नाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुख मोड़॥

(४)

सरगौ नरक ठेकाना नाहिं

(१)

देवी शारदा तुमका सँवरौं मनियाँ देव महोबे क्यार।
तुमही रच्छक हो सब जग के बेड़ा खेइ लगावो पार॥
आपन कथा सुनावों तुमका सुनिये ज्वानो कान लगाय।
जब सुधि आवै उन बातन क जियरा कलपि कलपि रहि जाय॥

(२)

सात पुस्ति ते पुरिखा हमरे बसे गाउँ में घर बनवाय।
निगुरन के पुरवा में आजौ ठाढ़ि हमारि मड़ैया आय॥
पैदा हुवे भैन हम भैया ख्याला खावा नित उठि रोजु।
दिन दिन भरि हम घरे न आयन बाप न पावा रंचौ खोजु॥

(३)

मूँड़ कै धरती बहुत उठावा तब भे दादा के मन ऊब।
हाथ पकरि घसिलायन हमका कीन्हेन्हि लाल कनगुदी खूब॥
रहे पढ़ावत लरिका याके लाला नाउँ मदारीलाल।
हुवँ गैन बैठायन हमका अब आगे का सुनो हवाल॥

(४)

एका एकु पढ़ै हम लागेन परै लागि नित हम पै मारु।
छिन छिन मैं हाँ लाला जी के कलुआ आपन हाथु निकारु॥
छड़ी तड़ातड़ हम पर बरसै लागी नित कम से कम बीस।
घटइ डेढा वहू न छांड़ा भैया अस हम रहेन खबीस॥

(५)

ज्यों त्यों कै हम पढ़ा मोहल्ला फिरि खरीदि औ बेंचु बियाजु।
पिच मित तरकुन मंत्र पढ़ायनि लाला रोजु दोशायनि नाजु॥
फिरि हम गयेन झंझर खेरे मच्छू मियाँ मोलवी पास।
लागे पढ़न अलिब्बे हीवा धरम करमु भा सत्यानाश॥

(६)

परेन पेंच में जेर जवर के हालि हालि लागेन अभुवाय।
घर माँ जानैं पढ़ी पारसी चिलमैं भरत दिनौंना जाय॥
पढ़ा करीमा अहमद नामा खालिक बारी बारा दाँय।
दस्तूदस्तुबियाँ पढ़ि डारा जिनके पढ़े पितर तरि जाँय॥

(७)

यहू के आगे और बढ़ेन हम पढ़ी किताबैं हम छा सात।
मनु तौ रहे अरब माँ अरबी पढ़ी जाय पै बदे कै बात॥
घर माँ कहे लाग सब कोऊ कल्लू बन्द करहु यह खेलु।
बहुत पारसी जो तुम पढ़िहौ तुम्हें परी ब्याँचै का तेलु॥

(८)

भैंसि भवानी कै तब सेवा लागे करन पढ़ब गा छूटि।
बछुवन दूध दुहा इन हाथन धार न कबहुँ दुहन माँ टूटि॥
मोटरिन कटिया भथुरा सानी कीन रोज हम बाँह चढ़ाय।
मस्त भयन तब आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय॥

(९)

होत बनियई आई हमरे को अब तुमते झूठ बताय।
हमहूँ घिउ बरसन ब्याँचा है छोटी बड़ी बजारन जाय॥
हियाँ की बातैं हियईं रहिगै अब आगे का सुनो हवाल।
गाउँ छाड़ि हम सहर सिधायेन लागेन लिखै चुटकुला ख्याल॥

(१०)

अचकुन पहिरि बूट हम डाटा बाबू बनेन डेरात डेरात।
लागेन आवै जाय सभन माँ कण्ठ फूट तब बना बतात ॥
जब तक हमरे तन माँ तनिको रहा गाउँ के रस का अंसु।
तब तक हम अखबार किताबै लिखि लिखि कीन उजागर बंसु॥

(११)

जहाँ गाउँ का खून खतम भा तहाँ फूटिगै भागि हमारि।
अकिल सासु छाँड़िग हमका दुर्गति कह ते कहन पुकारि॥
कुंभीपाक नरक असि लाखन जाजरूर जहँ परे गँधायँ।
गटरन ते मुँह पोलि परी है मनई चलत फिरत धँसि जायँ॥

(१२)

आठौ पहर भकाभक निकरै धुवाँ जहाँ अकास उड़ाय।
कौनौ तना बताओ तुमका अकिल रहै लहुरवा भाय॥
ऐसे बुरे सहर माँ रहिके पाकि उठा सब मगज हमार।
नीक नकारा हमैं न सूझै मुँह ह्वैगा भुजवा का भार॥

(१३)

जिनका नमक मुद्दतिन खावा तानि डुपट्टा सोवा भाय।
कलम कुदारी लै उनही की जरै बगारन लागेन हाय॥
जिन बभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाथ।
हमरिन गारिन के फूलन ते उनहिन के भै बोझल माथ॥

(१४)

घेरे रहैं गाउँ वाले जो मदति देइँ औ राखैं प्रीति।
उनहिन का हम उठि गरियाई असि हमार भइ उलटी रीति॥
अपने करमन कै सुधि आये हियरा टूक टूक ह्वै जाय।
धरती माता जो तुम फाटौ मैं मुँह के बल जाउँ समाय॥

(१५)

गुन जसु मानवु कौन चीज है सो हम अपन्यौ जानित नाँहि ।
अस किरतघ्न और जो ढूढ़ैं मिली न सात बिलाइत माँहि ॥
जो हमार संगी साथी हैं सुख दुख माँ जे सदा सहाय ।
उनहुन का अपमान करी हम बीच बजार बैठि गोहराय ॥

(१६)

घिन लाग अपने मनइन ते उनका पास न आवे ध्यान ।
जो कोउ भूलि गाँउ ते आवे वहिका आड़े हाँथन ल्यान ॥
कोऊ न जानै की इनके हैं म्वासरि भई बन्द नकास ।
यहि ते काम परे पर हमहीं घर कै दौरी दुइसै कास ॥

(१७)

अपने मतलब का हम जिनकी चेरिया बिनती करी हजारु ।
उनहिन के पीछे परि जाई चाहे हँसे सकल संसारु ॥
पढ़ा गुना हम कुछौ नहीं ना जो कुछ सिखा राम का नाउँ ।
तहू बिरस्पति जो कुछ भाखैं वहिमा दौरि धुसारी पाउँ ॥

(१८)

हमरी नस नस बीच बियाने इरखा और लोभ महराज ।
उनहिन की दीन्हीं खाइत है रोटी छाँड़ि लोक कै लाज ॥
जहि का चढ़ी चढ़ाई ऊपर जहि का चही गिराई कीच ।
हाय, हाय अस हमैं बेगारा सहरु ससुर यहु है अस नीच ॥

(१९)

साफ़ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाँहि ।
बूड़ि मरी जो हम गङ्गा माँ तौ हत्या लागै हम काहि ॥
हे भगवान उबारौ हमका दीनदयाल धरम के नाथ ।
तुम्हरे पायन माँ हम आपन पटकत हैं यह फुटहा माथ ॥

(२०)

जो हम जनतेन अस गति होई तौ हम हाय न छँड़तेन गाउँ ।
भूखे चाहे मरित न लेइत भूलिउ कबौं सहर का नाउँ ॥
देखि हमारि हाल जो काऊ फिरिऊ सहर के आई पास ।
तनिकौ चलन कही हम होई वहिका सब विधि सत्यानास ॥

(५)

कर्त्तव्य-पंचदशी से

दुर्भिक्ष राक्षस जहाँ सबको सताता ।
लाखों मनुष्य यह प्लेग कृतान्त खाता ॥
नाना विपत्ति-अभिभूत प्रजा जहाँ है ।
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ? ॥१॥
आरोग्य-युक्त बल-युक्त सुपुष्ट गात ।
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता ॥
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है ?
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ? ॥२॥
पाता न शिक्षण जहाँ शिशु-वृन्द सारा ।
बाला-समूह सब मूर्ख जहाँ हमारा ॥
नाना कला कुशलता न कहीं जहाँ है ।
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ? ॥३॥
है भूतकाल सब स्वप्न-कथा-समान ।
चिन्ता-निमग्न निशिवासर वर्तमान ।
नैराश्य-पूर्ण अगली गति भी जहाँ है ।
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझ को वहाँ है ? ॥४॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म वैशाख कृ० ३, १९२२ में हुआ। ये अगस्त्य गोत्रीय, शुक्ल यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम पंडित भोलासिंह उपाध्याय था। इनके पूर्वज बदाऊँ के रहने वाले थे। किन्तु लगभग तीन सौ वर्षों से वे आज़मगढ़ के निकट, तमसा नदी के किनारे, कसबा निज़ामाबाद में आ बसे थे। इस परिवार की जीविका ज़मींदारी और वंश-परंपरागत पाण्डित्य है।

उपाध्यायजी का विद्यारंभ इनके सुयोग्य पंडित और सच्चरित्र चचा ब्रह्मसिंह ने पाँच ही वर्ष की अवस्था में करा दिया था। सात वर्ष की अवस्था में ये निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में भरती हुये। वहाँ से सं० १९३६ में मिडिल वर्नाक्यूलर की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर और मासिक छात्रवृत्ति पाकर ये बनारस के क्वींस कालेज में अंग्रेज़ी पढ़ने लगे। किन्तु थोड़े ही दिनों में स्वास्थ्य बिगड़ जाने से इन्हें अंग्रेज़ी पढ़ना छोड़कर घर चला आना पड़ा। इसके बाद घर पर इन्होंने चार-पाँच वर्ष तक उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत का अभ्यास किया। सं० १९३९ में इनका विवाह हुआ। और सं० १९४१ में ये निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियत हुये। सं० १९४४ में इन्होंने नार्मल-परीक्षा पास की।

निज़ामाबाद में सिख-सम्प्रदाय के एक साधु बाबा सुमेरसिंह रहते थे। वे हिन्दी-भाषा के अच्छे कवि थे। उनकी ही संगति से उपाध्यायजी को हिन्दी की ओर विशेष अभिरुचि उत्पन्न हुई। पहले-पहल

इन्होंने वेनिस का बाँका और उर्दू रिपवान विंकल का हिन्दी-अनुवाद करके काशी-पत्रिका में प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् कुछ निबन्धों का हिन्दी-अनुवाद करके "नीति-निबन्ध," गुलज़ार दबिस्ताँ का हिन्दी-अनुवाद करके "विनोद-वाटिका" और गुलिस्ताँ के आठवें बाब का हिन्दी-अनुवाद करके "उपदेश-कुसुम" नाम से तीन पुस्तकें लिखीं।

सं० १६४६ में इन्होंने क़ानूनगोई की परीक्षा पास की और एक वर्ष बाद ही क़ानूनगो का स्थायी पद भी प्राप्त कर लिया। तब से ये रजिस्ट्रार क़ानूनगो, सदर नायब क़ानूनगो और गिरदावर क़ानूनगो आदि कई पदों पर काम करते-करते अंत में लगभग बीस वर्ष तक आज़मगढ़ के सदर क़ानूनगो के पद पर थे। अब १ नवम्बर, १६२३ से पेंशन लेकर काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य के अध्यापक का काम करते हुये दिन रात साहित्य-चर्चा में लगे रहते हैं।

सरकारी नौकरी में उपाध्यायजी ने बड़ी निस्पृहता, न्याय-प्रियता, और सहन-शीलता से तथा निष्पक्षपात होकर ऐसा काम किया है कि प्रजा और राजकर्मचारी दोनो संतुष्ट थे।

उपाध्यायजी यद्यपि सनातन-धर्मावलम्बी हैं, पर अंध-परम्परा के हिमायती नहीं हैं। ये विलायत-यात्रा, पतितोद्धार और हिन्दू धर्म के विस्तार के पक्षपाती हैं। ये बाल-विधवा-विवाह को बुरा नहीं समझते। किसी मत से इनका द्वेष नहीं। समाज-सेवा का भाव इनमें पूर्ण रूप से है। आज़मगढ़ की संस्कृत-पाठशाला और सनातन-धर्म-सभा के संचालकों में ये भी थे।

उपाध्यायजी का परिवार सब तरह से सुखी है। इनकी स्त्री का देहान्त इनकी लगभग चालीस वर्ष ही की अवस्था में होगया था, पर इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। इनके एक पुत्र, एक कन्या, दो पौत्र और दो पौत्री हैं। इनके छोटे भाई पंडित गुरुसेवकसिंह उपाध्याय ने

अनेक सरकारी पदों पर प्रतिष्ठा-पूर्वक काम करके अवकाश ग्रहण किया है। उनके चार पुत्र और एक कन्या है। पंडित गुरुसेवकसिंह विलायत हो आये हैं।

उपाध्यायजी बँगला भाषा के भी अच्छे जानकार हैं। खड्गविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीनसिंह से इनकी बड़ी मित्रता थी। इनकी रचित और अनुवादित प्रायः सभी पुस्तकें खड्गविलास प्रेस ही से प्रकाशित हुई हैं। इनका लिखा हुआ "ठेठ हिन्दी का ठाठ" सिविल सर्विस-परीक्षा के कोर्स में स्वीकार किया गया था।

वर्तमान हिन्दी-कवियों में उपाध्यायजी एक खास स्थान के अधिकारी हैं। हिन्दी-साहित्य में इनकी पहुँच प्रामाणिकता के स्थान तक समझी जाती है। इनका लिखा हुआ हिन्दी में अतुकान्त महाकाव्य "प्रियप्रवास" इनकी प्रतिभा का उज्ज्वल प्रमाण है। ये कठिन से कठिन और सरल से सरल, दोनों प्रकार की हिन्दी में गद्य-पद्य-रचना करने में सिद्धहस्त हैं।

प्रियप्रवास के बाद इन्होंने रोज़मर्रा की बोलचाल में दो पद्य-पुस्तकें और लिखी—चोखे चौपदे और चुभते चौपदे। इन चौपदों में हिन्दी के मुहावरों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया गया है। पहले ये ब्रजभाषा में कविता लिखा करते थे, अब खड़ी बोली में लिखते हैं।

ब्रजभाषा में भी इनकी कविताएँ बड़ी ही ललित हुई हैं। ब्रजभाषा की कविता में ये अपना उपनाम 'हरिऔध' रखते थे जो अब इनके असली नाम की तरह प्रचलित हो गया है।

सन् १९३१ में इनका लिखा हुआ 'रस-कलस' नामक रस सम्बंधी अनूठा काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने ब्रजभाषा के पुराने कवियों की प्रणाली पर चलकर नये ढंग से रसों का विवेचन किया है।

इनके दो काव्य-ग्रंथ और प्रकाशित होने वाले हैं—वैदेही-वनवास और पारिजात। वैदेही-वनवास १८ सर्गों और लगभग दो हज़ार छंदों में तथा परिजात १५ सर्गों और ढाई हज़ार छंदों में समाप्त हुआ है। वृद्धावस्था में भी हरिऔधजी की यह साहित्य-सेवा श्लाघनीय है।

उपाध्यायजी समय-समय पर कितनी ही साहित्यिक सभाओं के और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भी सभापति हो चुके हैं।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं—

प्रभु-प्रताप

(१)

चाँद औ सूरज गगन में घूमते हैं रात दिन।
    तेज औ तम से दिशा होती है उजली औ मलिन॥
वायु बहती है, घटा उठती है, जलती है अगिन।
    फूल होता है अचानक वज्र से बढ़कर कठिन॥
जिस अलौकिक देव के। अनुकूल केलि-कलाप बल।
    वह करे, सब काल में संसार का मङ्गल सकल॥

(२)

क्या नहीं है हाथ में वह नाथ क्या करता नहीं।
    चाहता जो है उसे करते कभी डरता नहीं॥
सुख मिला उसको न, दुख जिसका कि वह हरता नहीं।
    कौन उसको भर सके? जिसको कि वह भरता नहीं॥
है अछूती नीति, करतूतें निराली हैं सभी।
    भेद का उसके पता कोई नहीं पाता कभी॥

(३)

है बहुत सुन्दर बसे कितने नगर देता उजाड़।
 है मिलाता धूल में कितने बड़े ऊँचे-पहाड़॥
एक झटके में करोड़ों पेड़ लेता है उखाड़।
 एक पल में है सकल ब्रह्माण्ड को सकता बिगाड़॥
कांपते सब देवते आतंक से हैं रात दिन।
 मोम करता है उसे, है जोकि पत्थर से कठिन॥

(४)

देखते हैं राज पाकर हम जिसे करते विहार।
 माँगता फिरता रहा कल भीख वह कर को पसार॥
एक टुकड़े के लिये जो घूमता था द्वार द्वार।
 आज धरती है कंपाती उसके धौंसे की धुकार॥
नित्य ऐसी सैकड़ों लीला किया करता है वह।
 रंक करता है, कभी सिर पर मुकुट धरता है वह॥

(५)

जड़ जमा कितने उजड़तों को बसाता है वही।
 बात रख कितने बिगड़तों को बनाता है वही॥
गिर गयों को कर पकड़ करके उठाता है वही।
 भूलतों को पथ बहुत सीधा बताता है वही॥
इस धरा पर सुन सका कोई नहीं जिसकी कही।
 उस दुखी की सब बिथा सुनता समझता है वही॥

(६)

डाल सकता शीश पर जिसके पिता छाया नहीं।
 गोद माता की खुली जिसके लिये पाया नहीं॥

है पसीजी देखकर जिसकी व्यथा जाया नहीं।
काम आती दीखती जिसके लिये काया नहीं॥
बाँह ऐसे दीन की है प्यार से गहता वही।
सब जगह सब काल उसके साथ है रहता वही॥

(७)

वह अँधेरी रात, जिसमें है घिरी काली घटा।
वह विकट जङ्गल, जहाँ पर शेर रहता है डटा॥
वह महा मरघट पिशाचों का जहाँ है जमघटा।
वह भयङ्कर ठाम जो है लोथ से बिल्कुल पटा॥
मत डरो ये कुछ किसी का कर कभी सकते नहीं
क्या सकल संसार पाता है पड़ा सोता कहीं॥

(८)

जिस महा मरुभूमि से कढ़ती सदा है लू लपट।
वारि की धारा मधुर रहती उसी के है निकट॥
जिस विशद जल-राशि का है दूर तक मिलता न तट।
है उसी के बीच हो जाता धरातल भी प्रगट॥
वह कृपा ऐसी किया करता है कितनी ही सदा।
लाभ जिससे हैं उठाते सैकड़ों जन सर्वदा॥

(९)

जिस अँधेरे को नहीं करता कभी सूरज शमन।
उस अँधेरे को सदा करता है वह पल में दमन॥
भूल करके भी किसी का है जहाँ जाता न मन।
वह बिना आयास के करता वहाँ भी है गमन॥
देवतों के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी।
उस खेलाड़ी के लिये हस्तामलक है वह सभी॥

(१०)

जगमगाती व्योम-मंडल की विविध तारावली।
फूल, फल, सब रंग के खिलती हुई सुन्दर कली॥
सब तरह के पेड़ उनकी पत्तियाँ साँचे ढली।
रंग बिरंगे पंख की चिड़ियाँ प्रकृति-हाथों पली॥
आँखवाले के हृदय में हैं बिठा देती यही।
इन अनूठे विश्व-चित्रों का चितेरा है वही॥

(११)

देख जो पाया अरोराबोरिएलिस का समा।
रंग जिसकी आँख में है मेघमाला का जमा॥
जो समझ ले व्यूह तारों का अधर में है थमा।
जो लखे सब कुछ लिये है घूमती सारी क्षमा॥
कुछ लगाता है वही करतूत का उसकी पता।
भाव कुछ उसके गुणों का है वही सकता बता॥

(१२)

है कहीं लाखों करोड़ों कोस में जल ही भरा।
है करोड़ों मील में फैली कहीं सूखी धरा॥
हैं कहीं पर्वत जमाये दूर तक अपना परा।
देख पड़ता है कहीं मैदान कोसों तक हरा॥
बह रही नदियाँ कहीं, हैं गिर रहे झरने कहीं।
किस जगह उसकी हमें महिमा दिखाती है नहीं॥

(१३)

जी लगाकर आँख की देखो क्रिया कौतुक भरी।
इस कलेजे की बनावट की लखो जादूगरी॥

देखकर भेजा विचारो फिर विमल बाजीगरी।
इस तरह सब देह की सोचो सरस कारीगरी॥
फिर बता दो यह हमें संसार के मानव सकल।
इस जगत में है किसी की तूलिका इतनी प्रबल॥

(१४)

जब जनमने का नहीं था नाम भी हमने लिया।
था तभी तैयार उसने दूध का कलसा किया॥
दूर की बहु आपदायें बुद्ध, बल, वैभव दिया।
की भलाई की न जाने और भी कितनी किया॥
तीन पन बीते मगर तब भी तनिक चेते नहीं।
हैं पतित ऐसे कि उसका नाम तक लेते नहीं॥

(१५)

हे प्रभो! है भेद तेरा वेद भी पाता नहीं।
शेष शिव सनकादि को भी अंत दिखलाता नहीं॥
क्या अजब है जो हमें गाने सुयश आता नहीं।
व्योम तल पर चींटियों का जी कभी जाता नहीं॥
मन मनाने के लिये जो कुछ ढिठाई की गई।
कीजिये उसको क्षमा, है बात तो अनुचित हुई॥

कर्मवीर

(१)

देखकर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं।
रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं॥

काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं।
भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं॥
हो गये यक आन में उनके बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले॥

(२)

आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही।
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही॥
मानते जी की हैं सुनते हैं सदा सब की कही।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आपही॥
भूलकर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं।
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं॥

(३)

जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं।
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं॥
आज कल करते हुये जो दिन गँवाते हैं नहीं।
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं॥
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके किये।
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये॥

(४)

व्योम को छूते हुये दुर्गम पहाड़ों के शिखर।
वे घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर॥
गर्जते जल-राशि की उठती हुई ऊँची लहर।
आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर॥
ये कँपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं।
भूल कर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं॥

(५)

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना॥
जो कि हँस हँस के चबा लेते हैं लोहे का चना।
"है कठिन कुछ भी नहीं" जिनके है जी में यह ठना॥
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन-सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं॥

(६)

ठीकरी को वे बना देते हैं सोने की डली।
रेग को करके दिखा देते हैं वे सुन्दर खली॥
वे बबूलों में लगा देते हैं चंपे की कली।
काक को भी वे सिखा देते हैं कोकिल-काकली॥
ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वे कमल।
वे लगा देते हैं उकठे काठ में भी फूल फल॥

(७)

काम को आरंभ करके यों नहीं जो छोड़ते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते॥
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहिं तोड़ते।
संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते॥
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन।
काँच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन॥

(८)

पर्वतों को काटकर सड़कें बना देते हैं वे।
सैकड़ों मरुभूमि में नदियाँ बहा देते हैं वे॥

गर्भ में जल-राशि के बेड़ा चला देते हैं वे।
जंगलों में भी महा-मङ्गल रचा देते हैं वे॥
भेद नभ-तल का उन्होंने है बहुत बतला दिया।
है उन्होंने ही निकाली तार की सारी क्रिया॥

(९)

कार्य-थल को वे कभी नहिं पूछते "वह है कहाँ"।
कर दिखाते हैं असम्भव को वही संभव यहाँ॥
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहाँ।
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ॥
डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों ही अड़चलें।
वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें॥

(१०)

जो रुकावट डालकर होवे कोई पर्वत खड़ा।
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वे उड़ा॥
बीच में पड़कर जलधि जो काम देवे गड़बड़ा।
तो बना देंगे उसे वे क्षुद्र पानी का घड़ा॥
बन खँगालेंगे करेंगे व्योम में बाजीगरी।
कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी॥

(११)

सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले।
बुद्धि, विद्या, धन, विभव के हैं जहाँ डेरे डले॥
वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले।
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले॥
लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी।
देश की औ जाति की होगी भलाई भी तभी॥

वीरवर सौमित्र

(१)

कर करवाल लिये रण-भू में निधरक जाना।
निधकर विशिखादिक से पग पीछे न हटाना॥
लखकर रुधिर-प्रवाह और उत्तेजित होना।
रोम रोम छिद गये न दृढ़ता चित की खोना॥
गिरते लख करके लोथ पर लोथ देख शिर का पतन।
नहिं विचलित होना अल्प भी हुआ देख शत-खंड तन॥

(२)

तोपों का लख अग्नि-कान्ड चित शंक न लाना।
न काँपना लख शिर पर से गोलों का जाना।
भिड़ना मत्त गयन्द संग केहरि से लड़ना।
कर द्वारा अति क्रुद्ध व्याल को दौड़ पकड़ना॥
लख काल-बदन विकराल भी त्याग न देना धीरता।
अकले भिड़ना भट विपुल से यदपि है बड़ी वीरता॥

(३)

किन्तु वीरता उच्च कोटि की और कई हैं।
कथित वीरताओं से जो वर कही गई हैं॥
करना स्वार्थ-त्याग क्रोध से विजित न होना।
विपत-काल औ कठिन समय में धैर्य न खोना॥
ऐसी ही कितनी और हैं द्वितिय भाँति की वीरता।
जिनमें न चाहिये विपुल बल और न वज्र-शरीरता॥

(४)

रामानुज में द्विविध वीरता है दिखलाती ।
समय समय पर जो चित को है बहुत लुभाती ॥
पति बन जाता देख सिया थी जब अकुलाई ।
सुत-वियोग-वश जब कौशल्या थी बिलखाई ॥
उस काल सुमित्रा-सुअन ने जो दिखलाया आत्म-बल ।
वह उनके कीर्ति-निकेत का कलित खंभ है अति अचल ॥

(५)

तजा उन्होंने राजभवन-सुख सुर-उर-ग्राही ।
तजी सुमित्रा-सदृश जननि सब भाँति सराही ॥
आह ! न जिसका विरह कभी जन सम्मुख आया ।
तजी उर्मिला जैसी परम सुशीला जाया ॥
पर बाल-प्रीति की डोरि में बँधे भायप रँग में रँगे ।
वह तज न सके प्रिय बन्धु को विपिन गये पीछे लगे ॥

(६)

यों उनका तिय-जननि-राज-सुख को तज जाना ।
यती-भाव से बन में चौदह बरस बिताना ॥
राम सिया को मान पिता माता औ स्वामी ।
वन में सह दुख विपुल बना रहना अनुगामी ॥
संसार चकित-कर कार्य्य है मिलित मनोरम धीरता ।
है यही आत्म-बल संभवा परम अलौकिक वीरता ॥

(७)

कुसुम चयन करते अलकावलि बीच लगाते ।
जब सीता सँग विविध केलि-रत राम दिखाते ॥

उसी काल सौमित्र रुचिर उटजादि बनाते।
कर्तन करते मंजु शाल-शाखा दिखलाते॥
सो किशलय पर जो यामिनी राम बिताते सुमुखि सह।
वह निशि व्यतीत करते लखन नखतावलि गिन सजग रह॥

(८)

कभी जानकी पट-भूषण-पेटिका लिये कर।
वे दिखला पड़ते चढ़ते गिरि दुरारोह पर॥
लता, वेलि काटते, कटीले तरु छिनगाते।
सुपथ बनाते, गहन विपिन में कभी दिखाते॥
पथ कभी सिय-कुटी से सरसि तक का हित गमनागमन।
चिन्हित करते वे दीखते बाँध पादपों में बसन॥

(९)

यक तुषार से मलिन चन्द्रिकावती रयन में।
जब वह थी गतप्राय बड़ी सरदी थी बन में॥
वे थे देखे गये बारि सरसी में भरते।
सीकरमय तृण-राजि बीच बचकर पग धरते॥
यक जलद-मयी यामिनी में शिर पर जलधारादि ले।
चूती कुटीर के काज वे तृण पत्ते लाते मिले॥

(१०)

यह अति कोमल राजकुँवर कुवलय-कर-लालित।
सुवरन का सा कान्तिमान सुख में प्रतिपालित॥
कुसुम-सेज पर शयन-निपुण, मृदु-भूतल-चारी।
वर व्यंजन वर बसन वर विभव का अधिकारी॥
जब कानन में था दीखता करते परम कठोर व्रत।
तब अवगत था जग को हुआ वह कितना है राम-रत॥

(११)

कपि-दल लेकर राम जलधि-तट पर जब आये।
उसका देख कराल रूप कपि-पति अकुलाये॥
सुन गर्जन आवर्त्त सहित लख तुङ्ग तरंगें।
हो विलीन सी गईं चमू की सकल उमङ्गें॥
पर विचलित हुये न अल्प भी शूर-शिरोमणि श्री लखन।
कर धनु, शायक, लेकर कहे परम ओजमय ये वचन॥

(१२)

वही वीर है जो कर्त्तव्य-विमूढ़ न होवे।
कार्य-काल को जो नहिं बन आकुल चित खोवे॥
क्या है यह जल-राशि कहो शर मार सुखाऊँ।
या कर इसे प्रभाव-हीन घट तुल्य बनाऊँ॥
पर मरजादा का तोड़ना कभी नहीं होता उचित।
इसलिये करो सुयतन, विवश हो करके न बनो दुचित॥

(१३)

इसी सुमित्रा-सुवन-कथन का सुफल हुआ यह।
जो वारिधि था अगम गया गिरि से बाँधा वह॥
उस पर से ही उतर पार सेना सब आई।
फिर लङ्का पर धूमधाम से हुई चढ़ाई॥
रण छिड़ जाने पर लखन ने जो दिखलाया विपुल बल।
वह अकथनीय है अगम है वीर-वृन्द में है विरल॥

(१४)

सुनकर धनु-टंकार मेदिनी थर्राती थी।
दिग्दन्ती की द्विगुण दलक उठती छाती थी॥

विशिख-वृन्द से नभमंडल था पूरित होता।
जो था दश दिशि बीच बहाता शोणित-सोता॥
प्रलय-वन्हि थी दहकती त्रिपुरांतक थे कोपते।
जिस काल वीर सौमित्र थे रण-भू में पग रोपते॥

(१५)

अमर वृन्द जिसके भय से था थर-थर कँपता।
जो प्रचंड पूषण-सा था रण-भू में तपता॥
पाहन द्वारा गठित हुई थी जिसकी काया।
विविध भयङ्कर मूर्तिमती थी जिसकी माया॥
वह परम साहसी अति प्रबल मेघनाद-सा रिपु-दमन।
जिसके कोपानल में जला धन्य वह सुमित्रा-सुवन॥

(१६)

अकपट-चित से बन अनन्य मन रोप युगल पग।
वे करते अनुसरण राम का नीरवता सँग॥
उसी काल यह मौन तपस्वी जीभ हिलाता।
जब रघुपति हित सुजस मान पर सङ्कट आता॥
जग-जनित ताप उपशमन के लिये त्याग निजता गिला।
सौमित्र आत्मरति नीर था, राम प्रीति पय में मिला॥

(१७)

कुंठित मति पौरुष विहीनता पर-वशता से।
वे न सिया-पति अनुगत थे स्वारथ-परता से॥
वरन् हृदय में भ्रातृ-भक्ति उनके थी न्यारी।
जिसने थी मोहिनी अपर भावों पर डारी॥
उनके जीवन-हिम-गिरि-शिखर पर अमरावति से खसी।
राका-रजनी-चाँदनी सी स्नेह-वीरता थी लसी॥

(१८)

वे बासर थे परम मनोहर दिव्य दरसते।
जब थे भारत-मध्य लखन-से बन्धु विलसते॥
आज कलह, छल, कूट कपट घर-घर है फैला।
हृदय बन्धु से बन्धु का हुआ है अति मैला॥
हे प्रभो! बन्धु सौमित्र से फिर उपजें गृह गृह लसें।
शुचि चरित सुखी परिवार फिर भारत-वसुधा में बसें॥

होली

मान अपना बचावो, सम्हलकर पाँव उठावो।
गावो भाव भरे गीतों को, बाजे उमग बजावो॥
तानैं ले ले रस बरसावो, पर ताने ना सहावो।
भूल अपने को न जावो॥१॥

बात हँसी की मरजादा से कहकर हँसो हँसावो।
पर अपने को बात बुरी कह आँखों से न गिरावो।
हँसी अपनी न करावो॥२॥

खेलो रंग अबीर उड़ावो लाल गुलाल लगावो।
पर अति सुरँग लाल चादर को मत बदरङ्ग बनावो।
न अपना रंग गँवावो॥३॥

जन्म-भूमि की रज को लेकर सिर पर ललक चढ़ावो।
पर अपने ऊँचे भावों को मिट्टी में न मिलावो।
न अपनी धूल उड़ावो॥४॥

प्यार-उमंग-रंग में भीगो सुन्दर फाग मचावो।
मिलजुल जी की गाँठें खोलो हित की गाँठ बँधावो।
प्रीति की बेलि उगावो ॥५॥

दुखिया के आँसू

(१)

बावले-से घूमते जी में मिले।
आँख में बेचैन बनते ही रहें ॥
गिर कपोलों पर पड़े बेहाल से।
बात दुखिया आँसुओं की क्या कहें ॥

(२)

हैं व्यथायें सैकड़ों इनमें भरी।
ये बड़े गंभीर दुख में हैं सने ॥
पर इन्हें अवलोक करके दो बता।
हैं कलेजा थामते कितने जने ॥

(३)

बालकों के आँसुओं को देखकर।
है उमड़ आता पिता-उर प्रेममय ॥
कौन सी इन आँसुओं में है कसर।
जग-जनक भी जो नहीं होता सदय ॥

(४)

चन्दवदनी आँसुओं पर प्यार से।
हैं बहुत से लोग तन मन वारते ॥

एक ये हैं, लोग जिनके वास्ते।
हैं नहीं दो बून्द आँसू डालते॥

(५)

क्या न कर डाला खुला जादू किया।
आँख के आँसू कढ़े या जब बहे॥
किन्तु ये ही कुछ हमें ऐसे मिले।
हाथ ही में जो विफलता के रहे॥

(६)

पोंछ देने के लिये धीरे इन्हें।
है नहीं उठता दयामय कर कहीं॥
इन बेचारों पर किसी हमदर्द की।
प्यार वाली आँख भी पड़ती नहीं॥

(७)

क्यों उरों से ये दृगों में आ कढ़े।
था भला, जो नाश हो जाते वहीं॥
जो किसी का भी इन्हें अवलोक कर।
मन न रोया जी पसीजा तक नहीं॥

(८)

भाग फूटा बेबसी लिपटी रही।
वह दुखों से ही सदा नाता रहा॥
फिर अजब क्या, इस अभागे जीव के।
आँसुओं का जो असर जाता रहा॥

(९)

बह पड़ी जो धार दुखिया आँख से।
क्यों न पानी ही उसे कहते रहें॥

है नहीं जिसने जगह जी में किया।
हम भला कैसे उसे आँसू कहें॥

(१०)

है कलेजे को घुला देता कोई।
मैल चितवन पर कोई लाता नहीं॥
कौन दुखिया आँसुओं पर हो सदय।
पूछ ऐसों की नहीं होती कहीं॥

आँख का आँसू

(१)

आँख का आँसू ढलकता देखकर।
जी तड़प करके हमारा रह गया॥
क्या गया मोती किसी का है बिखर!
या हुआ पैदा रतन कोई नया॥

(२)

ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी।
या उगलती बूँद हैं दो मछलियाँ॥
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी।
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ॥

(३)

या जिगर पर जो फफोला था पड़ा।
फूट करके वह अचानक बह गया॥
हाय! था अरमान जो इतना बड़ा।
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया॥

(४)

पूछते हो तो कहो मैं क्या कहूँ।
यों किसी का है निरालापन गया॥
दर्द से मेरे कलेजे का लहू।
देखता हूँ आज पानी बन गया॥

(५)

प्यास थी इस आँख को जिसकी बनी।
वह नहीं इसको सका कोई पिला॥
प्यास जिससे होगई है सौगुनी।
वाह! क्या अच्छा इसे पानी मिला॥

(६)

ठीक करलो जाँच लो धोखा न हो।
वह समझते हैं मकर करना इसे॥
आँख के आँसू निकल करके कहो।
चाहते हो प्यार जतलाना किसे॥

(७)

आँख के आँसू समझ लो बात यह।
आन पर अपनी रहो तुम मत अड़े॥
क्यों कोई देगा तुम्हें दिल में जगह।
जब कि दिल में से निकल तुम यों पड़े॥

(८)

हो गया कैसा निराला यह सितम।
भेद सारा खोल क्यों तुमने दिया॥
यों किसी का है नहीं खोते भरम।
आँसुओ! तुमने कहो यह क्या किया॥

(९)

झाँकता फिरता है कोई क्यों कुँआ ।
हैं फँसे इस रोग में छोटे बड़े ॥
है इसी दिल से तो वह पैदा हुआ ।
क्यों न आँसू का असर दिल पर पड़े ॥

(१०)

रंग क्यों इतना निराला कर लिया ।
है नहीं अच्छा तुम्हारा ढंग यह ॥
आँसुओ ! जब छोड़ तुमने दिल दिया ।
किस लिये करते हो फिर दिल में जगह ॥

(११)

बात अपनी ही सुनाता है सभी ।
पर छिपाये भेद छिपता है कहीं ॥
जब किसी का दिल पसीजेगा कभी ।
आँख से आँसू कढ़ेगा क्यों नहीं ॥

(१२)

आँख के परदों से जो छनकर बहे ।
मैल थोड़ा भी रहा जिसमें नहीं ॥
बूँद जिसकी आँख टपकाती रहे ।
दिल-जलों को चाहिये पानी वही ॥

(१३)

हम कहेंगे क्या कहेगा यह सभी ।
आँख के आँसू न ये होते अगर ॥
बावले हम हो गये होते कभी ।
सैकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर ॥

(१४)

है सगों पर रंज का इतना असर।
जब कड़े सदमे कलेजे ने सहे॥
सब तरह का भेद अपना भूलकर।
आँख के आँसू लहू बनकर बहे॥

(१५)

क्या सुनावेंगे भला अब भी खरी।
रो पड़े हम पत तुम्हारी रह गई॥
ऐंठ थी जी में बहुत दिन से भरी।
आज वह इन आँसुओं में बह गई॥

(१६)

बात चलते चल पड़ा आँसू थमा।
खुल पड़े बेंड़ी सुनाई रो दिया॥
आज तक जो मैल था जी में जमा।
इन हमारे आँसुओं ने धो दिया॥

(१७)

क्या हुआ अंधेर ऐसा है कहीं।
सब गया कुछ भी नहीं अब रह गया॥
ढूँढ़ते हैं पर हमें मिलता नहीं।
आँसुओं में दिल हमारा बह गया॥

(१८)

देखकर मुझको सम्हल लो, मत डरो।
फिर सकेगा हाय! यह मुझको न मिल॥
छीन लो, लोगो! मदद मेरी करो।
आँख के आँसू लिये जाते हैं दिल॥

(१९)

इस गुलाबी गाल पर यों मत बहो।
कान से भिड़कर भला क्या पा लिया॥
कुछ घड़ी के आँसुओ मेहमान हो।
नाक में क्यों नाक का दम कर दिया॥

(२०)

नागहानी से बचो, धीरे बहो।
है उमंगों से भरा उनका जिगर॥
यों उमड़कर आँसुओ सच्ची कहो।
किस ख़ुशी की आज लाये हो ख़बर॥

(२१)

क्यों न वे अब और भी रो रो मरें।
सब तरफ़ उनको अँधेरा रह गया॥
क्या बिचारी डूबती आँखें करें।
तिल तो था ही आँसुओं में बह गया॥

(२२)

दिल किया तुमने नहीं मेरा कहा।
देखते हैं खो रतन सारे गये॥
जोत आँखों में न कहने को रही।
आँसुओं में डूब ये तारे गये॥

(२३)

बू बनावट की तनिक जिनमें न हो।
चाह की छींटें नहीं जिन पर पड़ीं॥
प्रेम के उन आँसुओं से हे प्रभो!
यह हमारी आँख तो भीगी नहीं॥

एक तिनका

(१)

मैं घमण्डों में भरा ऐंठा हुआ !
एक दिन जब था मुँडेरे पर खड़ा ॥
आ अचानक दूर से उड़ता हुआ ।
एक तिनका आँख में मेरी पड़ा ॥

(२)

मैं झिझक उठा, हुआ बेचैन सा ।
लाल होकर आँख भी दुखने लगी ॥
मूँठ देने लोग कपड़े की लगे ।
ऐंठ बेचारी दबे पावों भगी ॥

(३)

जब किसी ढब से निकल तिनका गया ।
तब समझ ने यों मुझे ताने दिये ॥
ऐंठता तू किसलिये इतना रहा ।
एक तिनका है बहुत तेरे लिये ॥

एक बूँद

(१)

ज्यों निकल कर बादलों की गोद से ।
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी ॥

सोचने फिर फिर यही जी में लगी।
आह क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी ॥

(२)

दैव मेरे भाग में क्या है बदा।
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में ॥
या जलूँगी गिर अँगारे पर किसी।
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में ॥

(३)

बह गई उस काल एक ऐसी हवा।
वह समुन्दर ओर आई अनमनी ॥
एक सुन्दर सीप का मुँह था खुला।
वह उसी में जा पड़ी मोती बनी ॥

(४)

लोग यों ही हैं झिझकते सोचते।
जब कि उनको छोड़ना पड़ता है घर ॥
किन्तु घर का छोड़ना अक्सर उन्हें।
बूँद लौं कुछ और ही देता है कर ॥

फूल और काँटा

(१)

हैं जनम लेते जगह में एक ही।
एकही पौधा उन्हें है पालता ॥

रात में उन पर चमकता चाँद भी।
एकही सी चाँदनी है डालता॥

(२)

मेह उन पर है बरसता एक सा।
एक-सी उन पर हवायें हैं वहीं॥
पर सदा ही यह दिखाता है हमें।
ढङ्ग उनके एक से होते नहीं॥

(३)

छेदकर काँटा किसी की उँगलियाँ।
फाड़ देता है किसी का वर बसन॥
प्यार-डूबीं तितलियों का पर कतर।
भौंर का है बेध देता श्याम तन॥

(४)

फूल लेकर तितलियों को गोद में।
भौंर को अपना अनूठा रस पिला॥
निज सुगन्धों औ निराले रङ्ग से।
है सदा देता कली जी की खिला॥

(५)

है खटकता एक सब की आँख में।
दूसरा है सोहता सुर-सीस पर॥
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे।
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर॥

यशोदा का विरह।
(प्रियप्रवास से)

(१)

प्रिय पति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है!
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है!
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है!

(२)

पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी।
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥
उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला।
वह नवनलिनी से नैनवाला कहाँ है॥

(३)

मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला।
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है॥

(४)

प्रतिदिन जिसको मैं अङ्क में नाथ ले के।
निज सकल कुअङ्कों की क्रिया कीलती थी॥
अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला।
वह किसलय के से अङ्गवाला कहाँ है॥

(५)

वर वदन विलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल-गत होता व्योम का चन्द्रमा था॥

मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमयकारी मानसों का कहाँ है॥

(६)

रसमय वचनों से नाथ जो सर्वदा ही।
मम सदन बहाता स्वर्ग-मंदाकिनी था॥
श्रुति-पुट टपकाता बूँद जो था सुधा की।
वह नव-खनि न्यारी मंजुता की कहाँ है॥

(७)

सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्कटों को।
बहु यजन करा के पूज के निर्जरों को॥
यह सुअन मिला है जो मुझे यत्न-द्वारा।
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है॥

(८)

मुखरित करता जो सद्म को था शुकों सा।
कलरव करता था जो खगों सा वनों में॥
सुध्वनित पिक लौं जो वाटिका था बनाता।
वह बहु विधि कण्ठों का विधाता कहाँ है॥

(६)

बन बन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों।
शुक भर भर आँखें मौन को देखता है॥
सुधिकर जिसकी है शारिका नित्य रोती।
वह निधि मृदुता का मंजु मोती कहाँ है॥

(१०)

गृह गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ हैं।
पथ पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो॥

जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अधीरा।
वह खनि सुखमा का स्वच्छ हीरा कहाँ है॥

(११)

यदि वह अति नेही शील सौजन्यशाली।
तजकर निज भ्राता को नहीं सद्म आया॥
ब्रज-अवनि बता दो नाथ कैसे बसेगी।
बिन बदन बिलोके आज मैं क्यों बचूँगी॥

(१२)

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणों के परम प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे॥
हा ! शोभा के सदन-सम हा ! रूप लावण्यवारे।
हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नैनतारे हमारे॥

(१३)

कैसे होके अलग तुझसे आज लौं मैं बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊँ॥
हा जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा बदन मरती बार मैंने न देखा॥

ब्रजभाषा की कविता के नमूने

(१)

तेरीही कला से कलानिधि है कलानिधान,
है सकेलि तेरी केलि कलित पतङ्ग में।
गुरु गिरिगन हैं तिहारी गुरुता के लहे,
पावन प्रसङ्ग है तिहारो पूत सङ्ग में॥

"हरिऔध" तेरी हरियाली से हरे हैं तरु,
तू ही हरि विहर रहा है हर अङ्ग में॥
तेरो रङ्ग ही है रङ्ग रङ्ग के प्रसूनन में,
तू ही है तरङ्गित तरङ्गिनी-तरंग में॥

(२)

उठो उठो बीरो चीरो अरि के करेजन को,
पीरो मुख परे बनी बातहू बिगरिहै।
छटकि छटकि छाती छगुनी करैयन को,
कौन आज उछरि उछरि कै पछरिहै॥
"हरिऔध" कहै बीर बाँकुरे न बेर करो,
हाँक से तिहारी बीर हू ना धीर धरिहै।
पारावार-धार में उड़ेगी छार आँच लगे,
ठोकर की मार से पहार गिरि परिहै॥

(३)

मिलि मिलि मोदधारी मुकुलित मल्लिका सों,
कुञ्ज-कुञ्ज क्यारिन कलोल करि फूले हौ।
पान कै प्रकाम रस आम मञ्जरीन हू के,
अभिराम उरके अराम उनमूले हौ॥
"हरिऔध" ठौर ठौर झौंरि झुकि झूमि झूमि,
चूमि चूमि कञ्ज की कलीन अनुकूले हौ।
तजि महमही मञ्जु मालती चमेलिन को,
कौन भ्रम बेलिन भ्रमर आज भूले हौ॥

वैदेही-वनवास से

पद

जय जय जयति लोक ललाम।
नवल नीरद श्याम।

शक्ति से शिरमणि-मुकुट के शुक्ति सम नृप नीति।
सृजन करती है मनोरम न्याय-मुक्ता-दाम ॥१॥
दमककर अति दिव्य द्युति से दिवसनाथ समान।
है भुवन-तम-काल, उन्नत भाल अति अभिराम ॥२॥
गण्ड-मण्डल पर विलम्बित कान्त केश-कलाप।
है उरग-गति-मति-कुटिलता शमन का दृढ़ दाम ॥३॥
बहु कलंक-कदन धनुष-सम वंक भ्रू अवलोक।
सतत होता शमित है मद-मोह-दल-संग्राम ॥४॥
कमल से अनुराग-रंजित नयन करुण-कटाक्ष।
हैं प्रपंची विश्व के विश्रान्त-जन-विश्राम ॥५॥
किन्तु वे ही देख लेते प्रबल अत्याचार।
पापकारी के लिये हैं पाप का परिणाम ॥६॥
हैं उदार प्रवृत्ति-रत, पर-दुख-श्रवण-अनुरक्त।
युगल कुण्डल से लसित हो युगल श्रुति छवि धाम ॥७॥
हैं कपोल सरस गुलाब-प्रसून से उत्फुल्ल।
दृग-विकासक दिव्य वैभव कलित ललित निकाम ॥८॥
उच्चता है प्रकट करती चित्त की, रह उच्च।
श्वास-रक्षण में निरत बन नासिका निष्काम ॥९॥
अधर हैं आरक्त उनमें है भरी अनुरक्ति।
मधुर रस हैं बरसते रहते वचन अविराम ॥१०॥

दन्त-पंक्ति अमूल्य मुक्तावलि-सदृश है दिव्य।
जो चमकते हैं सदा कर चमत्कारक काम ॥११॥
वदन है अरविन्द सुन्दर इन्दु सी है कान्ति।
मृदु हँसी है बरसती रहती सुधा वसुयाम ॥१२॥
है कपोत समान कंठ परन्तु है वह कम्बु।
वरद बनते हैं सुने जिसका सुख विधि वाम ॥१३॥
है सुपुष्ट विशाल वक्षस्थल प्रशंसित पूत।
दिव समान शरीर में जो है अमर-आराम ॥१४॥
विपुल बल अवलम्ब हैं आजानु विलसित बाहु।
बहु विभव आधार हैं जिनके विशद गुणग्राम ॥१५॥
है उदात्त प्रवृत्तिमय है न्यूनता की पूर्ति।
भर सरसता से ग्रहण कर उदर अद्भुत नाम ॥१६॥
है सरोरुह सा रुचिर है भक्त-जन-सर्वस्व।
है पुनीत-प्रगति-निलय पद-मूर्तिमंत-प्रणाम ॥१७॥
लोक मोहन हैं तथा हैं मंजुता अवलम्ब।
कोटिशः कन्दर्प से कमनीय तम हैं राम ॥१८॥

ज्योति-परिणता जानकी

मुनि पुंगव रामायण की बहु पंक्तियां।
पाकर उसकी विभा जगमगाईं अधिक।
कृति अनुकूल ललित तम उसके ओप से।
लौकिक बातें भी बन पाईं अलौकिक ॥१॥

कुलपति-आश्रम के छात्रों ने लौटकर।
दिव्य ज्योति अवलम्बन से गौरव सहित।
वह आभा फैलाई निज निज प्रान्त में।
जिसके द्वारा हुआ लोक का परम हित ॥२॥

तपस्विनी छात्राओं के उद्बोध से।
दिव्य ज्योति बल से बल सका प्रदीप वह।
जिससे तिमिर विदूरित बहु घर के हुए।
और निवारित हुये विपुल कुल के कलह ॥४॥

ऋषि महर्षियों विबुधों कवियों सज्जनों।
हृदयों में बस दिव्य ज्योति की दिव्यता।
भव-हितकारक सद्‌भावों में सर्वदा।
भूरि भूरि भरती रहती थी भव्यता ॥५॥

जनपदाधिपतियों नरनाथों उरों में।
दिव्य ज्योति की कान्ति बनी राका सिता।
रंजन-रत रह थी जन-जन की रंजिनी।
सुधामयी रह थी वसुधा में विलसिता ॥६॥

साधिकार पुरुषों साधारण जनों के।
उरों में रमी दिव्य ज्योति की रम्यता।
शान्ति-दायिनी बन थी भूति-विधायिनी।
कहलाकर कमनीय कल्पतरु की लता ॥७॥

यथा काल यह दिव्य ज्योति भव-हित-रता।
आर्य्य सभ्यता की अमूल्य निधि सी बनी।
वह भारत सुत सुख साधन वर व्योम में।
है लोकोत्तर ललित चाँदनी सी तनी ॥८॥

उसके सारे भाव भव्य हैं बन गये।
पाया उसमें लोकोत्तर लालित्य है।
इन्दुकला सी है उसमें कमनीयता।
रचा गया उस पर जितना साहित्य है ॥९॥

उसकी परम अलौकिक आभा के मिले।
दिव्य बन गई हैं कितनी ही उक्तियाँ।
स्वर्णाक्षर हैं मसि अंकित अक्षर बने।
मणिमय हैं कितने ग्रंथों की पंक्तियाँ ॥१०॥

आज भी करोड़ों मुख की वह दीप्ति है।
आज भी करोड़ों मुख की वह शान्ति है।
आज भी करोड़ों उर तम की है विभा।
आज भी करोड़ों मुख की वह कान्ति है ॥११॥

आज भी कलित उसकी कीर्ति-कलाप से।
मंजुल मुखरित उसका अनुपम ओक है।
आज भी परम पूता भारत की धरा।
आलोकित है उसके शुचि आलोक से ॥१२॥

पारिजात से

आकाश-दर्शन

(१)

होता ज्ञात नहीं रहस्य इनका ये हैं अविज्ञात से।
कोई पा न सका पता प्रगति का दिस्तार निस्तार का।
कैसे देख इन्हें न चित्त दहले कैसे न उत्कण्ठ हो।
हैं ये केतु विचित्र, पुच्छ जिनके हैं कोटिशः कोश के ॥

(२)

क्रीड़ायें अवलोक लीं अनल की देखी कला की कला।
ज्योतिर्भूति विलोक ली पर कहाँ ऐसी छटायें मिलीं।
ऐसे लोचन कौन हैं वह जिन्हें देती नहीं मुग्धता।
उल्का की कल केलि व्योम-तल की है दिव्य दृश्यावली ॥

प्रभात

(१)

प्रकृति वधू ने असित वसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।
उसका नव अनुराग नील नभ तल पर छाया।
हुई रागमय दिशा निशा ने वदन छिपाया॥

(२)

आरंजित हो उषा सुन्दरी ने सुख माना।
लोहित आभा वलित वितान अधर में ताना।
नियति करों से छिनी छपाकर की छवि सारी।
उठी धरा पर पड़ी सितासित चादर न्यारी॥

(३)

ओस विन्दु ने द्रवित हृदय को सरस बनाया।
अवनी-तल पर विलस विलस मोती बरसाया।
खुले कंठ कमनीय गिरा ने बीन बजाई।
विहग वृन्द ने उमग मधुर रागिनी सुनाई॥

(४)

शीतल बहा समीर हुईं विकसित कलिकायें।
तरु-दल बिलसे बनी ललित-तम सब लतिकायें।
सर में खिले सरोज हो गईं सित सरितायें।
सुरभित हुआ दिगन्त चल पड़ीं अलि-मालायें॥

(५)

हुआ बाल रवि उदय कनक-निभ किरणें फूटीं।
भरित तिमिर पर परम प्रभामय बनकर टूटीं।

जगत जगमगा उठा विभा वसुधा में फैली।
खुली अलौकिक ज्योति पुंज की मंजुल थैली॥

× × ×

(६)

पहने कंचन कलित कीट मुक्तावलि-माला।
विकच कुसुम का हार विभाकर कर का पाला।
प्राची के कमनीय अंक में लसित दिखाया।
लिये करों में कमल प्रभात विहँसता आया॥

घन

(१)

केले के दल को प्रदान करके बूँदें विभा-वाहिनी।
सीपी का कमनीय अंक भरके दे सिंधु को सिंधुता।
शोभा-धाम बना लता विटप को सद्वारि के बिन्दु से।
आते हैं वन मुक्त व्योम पथ में मुक्ता-भरे मेघ ये॥

(२)

शृंगों से मिल मेरु में विचरते प्रायः झड़ी बाँधते।
बागों में बन में विहार करते नाना दिखाते छटा।
मोरों का मन मोहते विलसते शोभामयी कुंज में।
आते हैं घर घूमते घहरते पाथोधि को घेरते॥

राधाकृष्णदास

बाबू राधाकृष्णदास भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द की दो बहनें थीं, यमुना बीबी और गंगा बीबी। बाबू राधाकृष्णदास गंगा बीबी के दूसरे पुत्र थे। इनके पिता का नाम बाबू कल्याणदास और बड़े भाई का बाबू जीवनदास था। इनसे छोटी इनकी एक बहन थी, उसका नाम लक्ष्मीदेई था। लक्ष्मीदेई एक विदुषी कन्या थीं। उनका विवाह बाबू दामोदरदास, बी० ए०, के साथ हुआ था।

बाबू राधाकृष्णदास का जन्म संवत् १९२२, श्रावण पूर्णिमा को हुआ। जब ये दस महीने के थे, तभी इनके पिता का देहान्त हो गया, और थोड़े ही दिन बाद इनके बड़े भाई भी चल बसे। इनके लालन-पालन का भार इनकी दुखिया माता पर पड़ा। ये बाबू हरिश्चन्द्र के ही परिवार में सम्मिलित होकर रहते थे। अतएव बाबू हरिश्चन्द्र को इनकी शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने का अवसर मिला। वे इन्हें बहुत प्यार करते थे, और बच्चा कहकर पुकारते थे। बाबू हरिश्चन्द्र बड़े कौतुहल-प्रिय थे। वे एक न एक युक्ति लड़कों को प्रसन्न करने की निकाला करते थे। इससे ये बराबर उन्हीं के साथ रहते थे और उनकी एक एक बात को बड़े ध्यान से देखते थे। जब ये दस वर्ष के थे, एक दिन ये बाबू हरिश्चन्द्र के साथ रामकटोरा बाग में गये थे। वहाँ लल्लू नाम का एक लड़का छत पर उचलता कूदता फिरता था। संयोगवश वह नीचे गिर गया। यह देखकर तुरन्त बालक राधाकृष्णदास ने यह दोहा कहा:—

लल्लू से मल्लू भये, मल्लू चढ़े अटारि।
अटा कूदि नीचे गिरे, रोवत हाथ पसारि॥

इससे जान पड़ता है कि बाबू हरिश्चन्द्र की संगति से इनकी प्रतिभा बालकपन ही से जाग पड़ी थी। इनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। महीने दो महीने ठीक रहे, फिर बीमार पड़ गये। किन्तु विद्या की ओर इनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। इससे बीमारी की परवा न करके इन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र की देखरेख में सत्रह वर्ष की अवस्था तक एन्ट्रेंस तक अँग्रेज़ी पढ़ ली और साथ ही साथ हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और बँगला भाषा में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पीछे से इन्होंने गुजराती भाषा का भी अभ्यास कर लिया था।

१५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने "दुःखिनी बाला" नाम का एक छोटा-सा रूपक "बाल-विवाह और विधवा-विवाह-निषेध और जन्मपत्र विवाह के अशुभ परिणाम" पर लिखा। १६ वर्ष की छात्रावस्था में इन्होंने "निस्सहाय हिन्दू" नाम का एक सामाजिक उपन्यास बाबू हरिश्चन्द्र की आज्ञा से लिखा। पद्य-रचना की ओर बालकपन से ही इनकी रुचि थी।

बाबू राधाकृष्णदास नागरी-प्रचारिणी-सभा के नेताओं में मुख्य थे। ये बालकपन से लेकर जीवन के अंत समय तक सभा का काम बड़े उत्साह से करते रहे। सभा से इनका बड़ा प्रेम था। ये मरते समय अपनी लिखी कुल पुस्तकों का स्वत्व सभा के नाम वसीयत कर गये हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य की जैसी कुछ सेवा की है, वह किसी साहित्य-सेवी से छिपी नहीं है।

बाबू राधाकृष्णदास बड़े सच्चरित, सुशील और मिलनसार पुरुष थे। क्रोध और कुचाल का तो इनमें लेशमात्र भी नहीं था। जाति-बिरादरी में भी और सर्वसाधारण में भी इनका बड़ा आदर था। ये आजीविका के लिये अपने एक मित्र के साथ ठीकेदारी का काम करते

थे। इनका विद्याभ्यास उदरपोषण के लिये नहीं, वरन् हिन्दी की सेवा के लिये था।

इनके रचित, सम्पादित तथा अनुवादित ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं :—

१—दुःखिनी बाला, २—निस्सहाय हिन्दू, ३—महारानी पद्मावती, ४—आर्य-चरितामृत, ५—रामेश्वर का अदृष्ट, ६—स्वर्णलता, ७—धर्मालाप, ८—स्वर्ग की सैर, ९—नागरीदास का जीवनचरित, १०—हिन्दी-भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास, ११—कविवर बिहारीलाल, १२—राजस्थान-केसरी, १३—आर्यचरित्र, १४—दुर्गेशनन्दिनी, १५—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित, १६—रहिमन-विलास, १७—नया संग्रह, १८—सूरसागर, १९—रासपंचाध्यायी, २०—जंगनामा, २१—नहुषनाटक, २२—रामचरित-मानस।

इनके सिवाय विविध विषयों पर लिखे हुये गद्य-पद्य मय २४ लेख, जो सरस्वती आदि सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये थे, और कुछ अधूरी पुस्तकें भी हैं। इनकी रची हुई पुस्तकों में राजस्थानकेसरी नाम का नाटक सबसे उत्तम है।

बाबू राधाकृष्णदास की कविता सरस और भावपूर्ण होती थी। नन्ददास के 'भ्रमर गीत' की चाल पर इन्होंने 'प्रतापविसर्जन' नाम की एक कविता लिखी थी, जो अप्रैल, १९०२ की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं। इससे इनकी कवित्वशक्ति और देश-भक्ति का पूरा परिचय मिलेगा।

प्रताप-विसर्जन

उन्नत सिर गिरिअवलि गगन सों उत बतरावत।
इत सरवर पाताल भेदि अति छबि छहरावत॥

मन्द पवन सीरी बहै होन लगे पतझार ।
पर्नकुटी नरसिंह लसत इक मानौ कोउ अवतार ॥
हरन भुवभार को ॥
मुखमंडल अति शान्त कान्तिमय चितवन सोहै ।
भरे अनेकन भाव व्यग्र चारिहुँ दिसि जोहै ॥
बीरमण्डली घेरि कै प्रभु की गति रहे जोहि ।
मनु भीषम सर-सयन परे कौरव पाण्डव रहे सोहि ॥
हृदय उमड़्यो परै ॥
लखि निज प्रभु की अंत समय की वेदन भारी ।
व्याकुल सब मुख तकैं सकैं धीरज नहिं धारी ॥
राव सलूमर रोकि निज हिय उदवेग महान ।
हाथ जोरि विनती कियो अति हरुए लगि प्रभु कान ॥
बन आरत सने ॥
अहो नाथ, अहो वीर-सिरोमनि-भारत-स्वामी !
हिन्दू-कीरति थापन में समर्थ सुभ नामी !!
कहाँ वृत्ति है आपकी, कौन सोच, कहँ ध्यान ?
देखि कष्ट हिय फटत है, केहि सङ्कट में हैं प्राण ॥
कृपा करिकै कहो ॥
सुनत दुख भरे बैन नैन तिनके दिशि फेर्यो ।
भरि कै दीरघ साँस सबन तन व्याकुल हेर्यो ॥
पुनि लखि सुत तन फेरि मुख अति संतप्त अधीर ।
धरि धीरज अति छीन सुर बोले वचन गँभीर ॥
परम आतङ्क सों ॥
हे हे वीर सिरोमनि सब सरदार हमारे ।
हे विपत्ति-सहचर प्रताप के प्रान पियारे ॥

तुव भुव-बल लहि मैं भयो रच्छा करन समर्थ।
मातृ भूमि-स्वाधीनता को प्रबल सत्रु करि व्यर्थ॥
अनेकन कष्ट सहि॥

या प्रताप नै उचित कहौ कै अनुचित भाखौ।
वा स्वतन्त्रता हेतु जगत सुख तृन सम नाखौ॥
ढाइ महल खँडहर किये सुख सामान बिहाय।
छानि बनन की धूरि को गिरि गिरि में टकराय॥
क्लेश को लेश नहिं॥

पै जब आवत ध्यान लह्यो जो सहि दुख इतने।
सो अमूल्य निधि मम पाछे रहिहै दिन कितने॥
तुच्छ वासना में पर्‌यो दुःख सहन असमर्थ।
चञ्चल अमरहिं देखि कै होत आस सब व्यर्थ॥
सोच भावी दशा॥

कहि दुखमय ये वचन अमर तन दुख सों देख्यो।
मूँदि नैन जल भरे स्वास लै सब दिशि पेख्यो॥
सन्नाटा चहुँ दिशि छयो सब के मुख गंभीर।
पृथ्वी दिशि हेरैं सबै भरे महा हिय पीर॥
बैन नहिं कछु कढ़ै॥

करि साहस पुनि राव सलूमर सीस नवायो।
अभिवादन करि अति विनीत ये वचन सुनायो॥
पृथ्वीनाथ यह सोच क्यों उपज्यो प्रभु हिय आज।
कुँवर बहादुर तैं परी कौन चूक केहि काज॥
निरासा जो भई॥

बदलि पास कछु सँभरि बैन परताप कह्यो पुनि।
अति गंभीर सतेज मनहुँ गुञ्जत केहरि धुनि॥

"सुनौ वीर मेवार के गौरव राखनहार।
मेरे हिय की वेदना जो कियो आस सब छार॥
अमर के कर्म ने॥
एक दिवस एहि कुटी अमर मेरे ढिग बैठ्यो।
इतने हि में मृग एक आनि के वहाँ जु पैठ्यो॥
हरबराइ सन्धानि सर अमर चल्यो ता ओर।
कुटिया के या बाँस मैं फँस्यो पाग को छोर॥
अमर तौहुँ न रुक्यो॥
बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे।
पै नहिं जिय में धीर छुड़ावै ताको आछे॥
पागहु फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ।
पटकि पाग लखि झोपड़िहिं अतिहिं क्रोध के साथ॥
बैन मुख ते कढ़े॥
रहु रहु रे निर्बोध अमर-गति रोकनहारे।
हम न लेहिंगे साँस बिना तोहिं आज उजारे॥
राजभवन निर्मान करि तेरो चिन्ह मिटाइ।
जो दुख पाये तोहि मैं सो दैहों सबै भुलाइ॥
सुखद आवास रचि॥
तबहीं ते ये बैन शूल सम खटकत मम हिय।
यह परि सुख-वासना अवसि दुख दिवस बिसारिय॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम।
बेचि सिसोदिय कीर्त्ति को यह करिहै अवसि निकाम॥
रुके हम सोचि एहि"॥
हिन्दूपति के बैन सुनत छत्री कोपे सब।
अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दौरयो तब॥

लै लै असि दृढ़पन कियो छ्वै छ्वै प्रभु के पाय।
"जौ लौं तन, स्वाधीनता तौ लौं रखौं बचाय॥
सङ्क करिये न कछु" ॥

दृढ़ प्रतिज्ञ छत्रिनपन सुनि राना मुख विकस्यो।
आश-लता लहलही भई मुखते यह निकस्यो॥
"धन्य वीर तुम जोग ही यह पन तुमहिं सुहाइ।
अब हम सुख सों मरत हैं, हरि तुम्हरे सदा सहाय॥
यही आसीस मम" ॥

देखत देखत शान्ति-सदन परताप सिधाये।
पराधीनता मेघ बहुरि भारत सिर छाये॥
सबही सुख परताप सँग कियो विसर्जन हाय।
दीन हीन भारत रह्यो सुख सम्पदा गँवाय॥
ताहि प्रभु रच्छिए ॥

बालमुकुन्द गुप्त

हिन्दी प्रेमियों में ऐसे बहुत ही कम लोग होंगे जो स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त को न जानते हों। ये हिन्दी-भाषा के एक अप्रतिम सुलेखक और समालोचक थे। ये सरल, शुद्ध और चटकीली भाषा लिखने में अद्वितीय थे। इनकी कविता भी सुन्दर और मर्म-भेदिनी होती थी। हिन्दी-भाषा के प्रसिद्ध साप्ताहिक समाचार-पत्र "भारत मित्र" के ये सम्पादक थे। ये हिन्दी-भाषा की उन्नति के लिये

सदा चेष्टा करते थे। पर शोक है कि कुटिल काल से हिन्दी की उन्नति देखी नहीं गई।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त हरियाना प्रान्त के रोहतक जिले के गुरियानी ग्राम के निवासी थे। वहीं गुप्तजी का जन्म मिती कार्तिक शुक्ला ४, संवत् १६२२ को हुआ था। ये अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वज दीघल स्थान से आकर गुरियानी में बसे थे। इससे ये दीघलिया कहलाते थे। इनका वंश "नग्गे पोते" के नाम से भी प्रसिद्ध है।

गुप्तजी पहले-पहल सन् १८८७ ई० में मिरज़ापुर ज़िले के चुनार से प्रकाशित होनेवाले उर्दू-पत्र "अखबारे चुनार" के सम्पादक नियत हुये।

सन् १८८८—८६ में चुनार से लाहौर गये और वहाँ के उर्दू अखबार "कोहेनूर" का सम्पादन करने लगे। मेरठ में श्रीयुत पण्डित दीनदयाल शर्मा तथा और कई महाशयों के साथ इन्होंने हिन्दी सीखने की प्रतिज्ञा की। उसे इन्होंने बहुत शीघ्र पूरा किया। १८८६ के अन्तिम भाग में कालाकांकर के दैनिक हिन्दी-पत्र "हिन्दोस्थान" से इनका सम्बन्ध हुआ। उस समय उसके सम्पादक माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीयजी और पण्डित प्रतापनारायणजी मिश्र थे। मिश्रजी से हिन्दी सीखने में इनको बहुत कुछ सहायता मिली। कुछ दिन "हिन्दोस्थान" के सहकारी सम्पादक रहकर ये उससे पृथक् हो गये।

फिर पाँच वर्ष पर्यन्त ये "हिन्दी बङ्गवासी" के सहकारी सम्पादक रहे। वहाँ भी इन्होंने अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय दिया। इन्होंने सन् १८६८ में "भारत-मित्र" का सम्पादन-भार ग्रहण किया और अन्त समय तक उसीसे सम्बन्ध रक्खा।

"भारत-मित्र" में आकर ही गुप्तजी प्रकट हुये। गुप्तजी ने "भारत-मित्र" की बहुत कुछ उन्नति की। इस विषय में स्वयं "भारत-मित्र"

लिखता है—"जिस समय गुप्तजी ने "भारतमित्र" को अपने हाथ में लिया, उस समय इसकी अवस्था बहुत शोचनीय थी। गुप्तजी ने अपने अदम्य उत्साह, अपरिमेय साहस, अकथनीय उद्योग, अनमोल परिश्रम अक्लान्त चेष्टा और अपूर्व तेजस्विता से काम करके "भारत-मित्र" की वह उन्नति की, जो उनसे पहिले उसको प्राप्त नहीं हुई थी। उन्होंने "भारत-मित्र" का नाम किया और "भारत-मित्र" ने उनका"। इत्यादि।

गुप्तजी का स्वभाव बड़ा सरल था। ये आडम्बरशून्य और सत्यप्रिय आदमी थे। सनातन-धर्म के पक्के अनुयायी और धर्मभीरु थे। पुरानी चाल बहुत पसन्द करते थे। प्राचीन लोगों के बड़े भक्त थे। उनकी निन्दा सह नहीं सकते थे। जो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये प्राचीन कवियों और पण्डितों के दोष निकालते थे, उनसे गुप्तजी बहुत कुढ़ते थे। इसीसे उन लोगों की कभी-कभी बहुत तीव्र आलोचना कर बैठते थे। जिसके पीछे गुप्तजी पड़ते, उसकी धज्जियाँ उड़ा डालते थे। सच्ची बातें कहने में ये कभी नहीं चूकते थे। इनकी समालोचना से लोग बहुत डरते थे। हिन्दी-भाषा में इनकी बड़ी धाक थी। इतने पर भी ये किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते थे। ये बड़े निष्कपट और मिलनसार थे।

गुप्तजी बड़े हास्य-प्रिय भी थे। हँसना-हँसाना बहुत पसंद करते थे। बात-बात में हँसी-मज़ाक निकालना तो गुप्तजी के लिये साधारण बात थी। व्यंगमयी तीव्र आलोचना, चुटीली कविता, हास्यपूर्ण तथा गम्भीर लेख लिखने में ये एक ही थे।

गुप्तजी की लिखी तथा अनुवाद की हुई पुस्तकें कई हैं। जैसे (१) मडेल भगिनी (२) हरिदास (३) रत्नावली नाटिका (४) शिव-शम्भु का चिट्ठा (५) स्फुट कविता (६) खिलौना (७) खेल-तमाशा (८) सर्पाघात-चिकित्सा; इत्यादि।

शिवशम्भु के चिट्ठे और स्फुट कविता से गुप्तजी का देश-दशा-ज्ञान, स्वदेशानुराग तथा विनोदी स्वभाव प्रकट होता है।

यहाँ गुप्तजी की कुछ कविताएँ उद्धृत की जाती हैं :—

श्रीराम-स्तोत्र

अब आये तुम्हरी सरन, हारे के हरि नाम।"
साख सुनी रघुवंशमणि, "निर्बल के बल राम"॥ १॥
जपबल तपबल बाहुबल, चौथो बल है दाम।
हमरे बल एकौ नहीं, पाहि पाहि श्रीराम॥ २॥
सेल गई बरछी गई, गये तीर तलवार।
घड़ी छड़ी चसमा भये, छत्रिन के हथियार॥ ३॥
जो लिखते अरि हीय पै, सदा सेल के अङ्क।
झपत नैन तिन सुतन के, कटत कलम को डङ्क॥ ४॥
कहाँ राज कहँ पाट प्रभु, कहाँ मान सम्मान।
पेट हेत पायन परत, हरि तुम्हरी सन्तान॥ ५॥
जिनके करसों मरन लौं, छुट्यो न कठिन कृपान।
तिनके सुत प्रभु पेट हित, भये दास दर्बान॥ ६॥
जहाँ लरैं सुत बाप सँग, और भ्रात सों भ्रात।
तिनके मस्तक सों हटै, कैसे पर की लात॥ ७॥
बार बार मारी परत, बारहिं बार अकाल।
काल फिरत नित सीस पै, खोले गाल कराल॥ ८॥
अब तुम सों बिनती यहै, राम गरीब नेवाज।
इन दुखियन अँखियान महँ, बसै आपको राज॥ ९॥
जहँ मारी को डर नहीं, अरु अकाल को त्रास।
जहाँ करै सुख सम्पदा, बारह मास निवास॥१०॥

जहाँ प्रबल को बल नहीं, अरु निबलन की हाय।
एक बार सो दृश्य पुनि, आँखिन देहु दिखाय ॥११॥
अबलों हम जीवित रहे, लै लै तुम्हरो नाम।
सोहू अब भूलन लगे, अहो राम गुनधाम ॥१२॥
कर्म्म धर्म्म संयम नियम, जप तप जोग विराग।
इन सबको बहु दिन भये, खेलि चुके हम फाग ॥१३॥
जनबल, धनबल, बाहुबल, बुद्धि विवेक विचार।
तान मान मरजाद को, बैठे जूआ हार ॥१४॥
हमरे जाति न बर्न है, नहीं अर्थ नहिं काम।
कहा दुरावैं आपसे, हमरी जाति गुलाम ॥१५॥
बहु दिन बीते राम प्रभु, खोये अपनो देस।
खोवत हैं अब बैठ के, भाषा भोजन भेस ॥१६॥
नहीं गाँव में झूँपड़ो, नहिं जङ्गल में खेत।
घर ही बैठे हम कियो, अपनो कञ्चन रेत ॥१७॥
दो दो मूठी अन्न हित, ताकत पर मुख ओर।
घर ही में हम पारधी, घर ही में हम चोर ॥१८॥
तौ हू आपस मैं लड़ैं, निसिदिन स्वान समान।
अहो! कौन गति होयगी, आगे राम सुजान ॥१९॥
घर में कलह विरोध की, बैठे आग लगाय।
निसिदिन तामैं जरत हैं, जरतहि जीवन जाय ॥२०॥
विप्रन छोड़्यो होम तप, अरु छत्रिन तरवार।
बनिकन के पुत्रन तज्यो, अपनो सद्व्यवहार ॥२१॥
अपनो कछु उद्यम नहीं, तकत पराई आस।
अब या भारत भूमि में, सबै बरन हैं दास ॥२२॥

सबै कहैं तुम हीन हौ, हमहु कहैं हम हीन।
धक्का देत दिनान को, मन मलीन तनछीन ॥२३॥

कौन काज जन्मत मरत, पूछत जोरे हाथ।
कौन पाप यह गति भई, हमरी रघुकुलनाथ ॥२४॥

लक्ष्मी-पूजा

(१)

जयति जयति लच्छमी जयति मा जग उजियारी।
सर्वोपरि सर्वोपम सब्बहु तें अति प्यारी॥
व्यापि रह्यो चहुँ ओर तेज जननी एक तेरो।
तव आनन की जोति होत यह बिस्व उजेरो॥
जहँ चन्द्रमुखी मुखचन्द्र की, किरनन उजियारो करैं।
तहँ तम न कटै युग कोटि लौं, कोटि भानु पचि पचि मरैं॥

(२)

"बिन तेरे सब जगत जननि! मृतवत् अरु निसफल।"
देवन बात कही यह साँची छाँड़ि छोभ छल॥
तोहि छाँड़ि मा! देवन केतो ही दुख पायो।
सुरपति चन्द्र कुबेरहु तै नहिं मिट्यो मिटायो॥
जब सूखे तालू ओठ मुख, चरन गहे तव आय के।
तब दूर भयो दुख सुरन को, रहे नैन झर लाय के॥

(३)

जा घर नाहिं तव बास मात सोही घर सूनो।
द्वार द्वार बिड़रात फिरै तव कृपा बिहूनो॥

औरन की को कहे स्वजन जब धक्का मारैं ।
अपने घर के ही घरसों कर पकरि निकारैं ॥
नहिँ भ्रात मात अरु बन्धु कोउ, निरधन को आदर करै ।
निज नारिहु मा तव कृपा बिन, आनन मोरि निरादरै ॥

(४)

कोटि बुद्धि किन होहिं बिना तव काम न आवैं ।
कोटिन चतुराई तव बिन धूरहिं मिलि जावैं ॥
तहँ कहँ बुद्धि थिराय मात जहँ बास न तेरो ।
जहाँ न दीपक बरै रहे केहि भाँति उजेरो ॥
बहु बुद्धिमान तव कृपा बिन, बुद्धि खोय मारे फिरैं ।
केते मूरख तव लाड़िले, दूरि दूरि तिनको करैं ॥

(५)

जप तप तीरथ होम यज्ञ तव बिन कछु नाहीं ।
स्वारथ परमारथ सबरो तेरे ही माहीं ॥
चलै न घर को काज न पितृन अरु देवन को ।
जनम लेत तव कृपा बिना नर दुख सेवन को ॥
जय जयति अखिल ब्रह्माण्ड के, जीवन की आधार जो ।
जय जयति लच्छमी जगत की, एकमात्र सुख सार जो ॥

(६)

भलो कियो री मात आप कीन्हों पुनि फेरो ।
तुम्हरे आये हमरे घर को मिट्यो अँधेरो ॥
तुम्हरे कारन आज मात दीपावलि बारी ।
घर लीप्यो टूटी फूटी सब बस्तु सँवारी ॥
तुम्हरे आये तव सुवन को, आज अनन्द अपार है ।
सब फूले फूले फिरत हैं, तन की नाहिं सम्हार है ॥

(७)

मात आपने कङ्गालन की दसा निहारो।
जिनके आँसुन भीज रह्यो तव आँचल सारो॥
कोटिन पै रही उड़न पताका मा जिनके घर।
सो कौड़ी कौड़ी को हाथ पसारत दर दर॥
हा ! तोसी जननी पाय कै, कङ्गाल नाम हमरो पर्‌यो।
धिक धिक जीवन मा लच्छमी, अब हम चाहत हैं मर्‌यो॥

(८)

गजरथ तुरग विहीन भये ताको डर नाहीं।
चँवर छत्र को चाव नाहिं हमरे उर माहीं॥
सिंहासन अरु राजपाट को नाहिं उरहनो।
ना हम चाहत अन्न वस्त्र सुन्दर पट गहनो॥
पै हाथ जोरि हम आज यह, रोय रोय विनती करैं।
या भूखे पापी पेट कहँ, मात कहो कैसे भरैं॥

बसन्तोत्सव

आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी॥
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाये।
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये॥
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की।
फूल फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की॥
बौराई सी ताक रही है आम की मौरी।
देख रही है तेरी बाट बहोरि बहोरी॥

पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके।
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठाके॥
मारग तकते बेरी के हुये सब फल पीले।
सहते सहते शीत हुये सब पत्ते ढीले॥
नीबू नारङ्गी हैं अपनी महक उठाये।
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये॥
पत्तों ने गिर गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया।
झाड़ पोंछ वायू ने उसको स्वच्छ बनाया॥
फुलसुँघनी की टोली उड़ उड़ डाली डाली।
झूम रही हैं मद में तेरे हो मतवाली॥
इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी।
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी॥

× × ×

एक समय वह भी था प्यारी जब तू आती।
हर्ष हास्य आमोद मौज आनन्द बढ़ाती॥
होते घर घर बन बन मङ्गलचार बधाई।
राव चाव से होती थी तेरी पहुनाई॥
ठौर ठौर पर गाये जाते गीत सुहाने।
दूर दूर जाते तेरा तिहवार मनाने॥
कुछ दिन पहिले सारे बन उद्यान सुधरते।
सुन्दर सुन्दर कुञ्ज मनोहर ठाँव सँवरते॥
लड़की लड़के दौड़ दौड़ उपवन में जाते।
अच्छे अच्छे फूल तोड़ते हार बनाते॥
क्यारी क्यारी में फिर जाते मालिन माली।
चुग चुग सुन्दर फूल बनाते कितनी डाली॥

ठाँव ठाँव पर बिछती सुन्दर फटिक शिलायें।
आनेवाले बैठे छबि निरखें सुख पायें।
सखी देखने आतीं उनकी वह सुघराई ॥
एक दूसरी को देती सानन्द बधाई ॥
सारी शोभा देख देखकर घर को फिरतीं।
कहके अपनी बात मुदित सखियों को करतीं ॥
कहती थीं प्रमुदित हो हो के सब सुकुमारी।
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी ॥

× × ×

सब किसान मिल के अपने खेतों में जाकर।
फूल तोड़ते सरसों के आनन्द मनाकर ॥
बन में होते लड़कों के पाले औ दङ्गल।
चढ़ते ढाकों पर और फिरते जङ्गल जङ्गल ॥
कूद फाँद कर भाँति भाँति की लीला करते।
महा मुदित हो जहाँ तहाँ स्वच्छन्द बिचरते ॥
कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छाई।
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई ॥
सुन्दर सुन्दर फूल वह उसके चित्त लुभाने।
बीच बीच में खेत गेहूँ जौ के मनमाने ॥
वह बबूल की छाया चित्त को हरने वाली।
वह पीले पीले फूलों की छटा निराली ॥
आस पास पालों के वटवृक्षों का झूमर।
जिसके नीचे वह गायों भैंसों का पोखर।
ग्वालबाल सब जिनके नीचे खेल मचाते।
टूट चने के लाते होले करते खाते ॥

पशुगण जिनके तले बैठ के आनँद करते।
पानी पीते पगुराते स्वच्छन्द बिचरते॥
पास चने के खेतों में बालक कुछ आते।
दौड़ दौड़ के सुरुचि साग खाते घर लाते॥
आपस में सब करते जाते लिल्ली ठट्ठा।
वहीं खोलकर खाते मक्खन रोटी मट्ठा॥
बातें करते कभी बैठ के बाँधे पाली।
साथ साथ खेतों की करते थे रखवाली॥
कहते हर्षित सभी देख फूली फुलवारी।
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी॥

× × ×

हाय समय ने एक साथ सब बात मिटाई।
एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखलाई॥
कटे पिटे मिट गये वह सब ढाकों के जङ्गल।
जिनमें करते थे पशुपक्षी नितप्रति मङ्गल॥
धरती के जी में छाई ऐसी निठुराई।
उपजीविका किसानों की सब भाँति घटाई॥
रहा नहीं तृण न्यार कहीं कृषकों के घर में।
पड़े ढोर उनके गोभक्षक-कुल के कर में॥
जिन सरसों के पत्तों को डङ्गर थे खाते।
उनसे वह अपना जीवन हैं आज बिताते॥
कहाँ गये वह गाँव मनोहर परम सुहाने।
सबके प्यारे परम शान्तिदायक मनमाने॥
कपट और क्रूरता पाप और मद से निर्म्मल।
सीधे सादे लोग बसें जिनमें नहिं छल बल॥

एक साथ बालिका और बालक जहँ मिलकर।
खेला करते औ घर जाते साँझ पड़े पर॥
पाप भरे व्यवहार पाप मिश्रित चतुराई।
जिनके सपने में भी पास कभी नहिं आई॥
एक भाव से जाति छतीसों मिल कर रहतीं।
एक दूसरे का दुख सुख मिलजुल कर सहतीं॥
जहाँ न झूठा काम न झूठी मान बड़ाई।
रहती जिनके एकमात्र आधार सचाई॥
सदा बड़ों की दया जहाँ छोटों के ऊपर।
औ छोटों के काम भक्ति पर उनकी निरभर॥
मेल जहाँ सम्पत्ति प्रीति जिनका सच्चा धन।
एकहि कुल की भाँति सदा बसते प्रसन्न मन॥
पड़ता उनमें जब कोई झगड़ा उलझेड़ा।
आपस में अपना कर लेते सब निबटेड़ा॥
दिन दिन होती जिनकी सच्ची प्रीति सवाई।
एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखलाई॥
पतित पावनी पूजनीय यमुना की धारा।
सदा पापियों का जो करती थी निस्तारा॥
अपनी ठौर आजतक वह बहती है निरमल।
बना हुआ है वैसा ही शीतल सुमिष्ट जल॥
विस्तृत रेती अबतक वैसी ही तट पर है।
आसपास वैसा ही वृक्षों का झूमर है॥
छिटकी हुई चाँदनी फैली है वृक्षों पर।
चमक रहे हैं चारु रेणुकण दृष्टि दुःखहर॥

वही शब्द है अबतक पानी की हलचल का।
बना हुआ है स्वभाव ज्यों का त्यों जलथल का॥
वोही फागन मास और ऋतुराज वही है।
होली है और उसका सारा साज वही है॥
अहह देखने वाले इस अनुपम शोभा के।
कहाँ गये चल दिये किधर मुँह छिपा छिपा के॥
प्रकृति देवि! हा! है यह कैसा दृश्य भयानक।
हृदय देख के रह जाता है जिसको भवचक॥
क्या पृथ्वी से उठ गई सारी मानव जाती।
क्यों नहिं आकर इस शोभा को अधिक बढ़ाती॥
किसने वह सब अगली पिछली बात मिटाई।
एक चिन्ह भी उसका नहिं देता दिखलाई॥
सुन पड़ती नहिं कहीं आज वह ध्वनि सुखकारी।
आ आ प्यारी वसन्त सब ऋतुओं में प्यारी॥

पिता

(१)

एहो जगतपिता के प्रतिनिधि पिता पियारे।
मोहि जन्म दै जगत दृस्य दरसावन हारे॥
तव पद पंकज में करौं हौं बारहि बार प्रनाम।
निज पवित्र गुनगान की मोहिं दीजै बुद्धि ललाम॥

(२)

यद्यपि यह सिर मेरो नहिं परसाद तिहारो।
प्रेम नेम तें तदपि चहो तव चरननि धारो॥

गंगाजू को अर्घ सब हैं गंगहि जल सों देत।
ऐसो बाल-चरित्र मम लखि रीझौ मया समेत॥

(३)

बन्दौं निश्छल नेह रावरे उरपुर केरो।
लालन पालन भयो सबै विधि जासों मेरो॥
उलटै पुलटै काम मम अरु टेढ़ी मेढ़ी चाल।
निपट अटपटे दक्षहू नित लखि लखि रहे निहाल॥

(४)

कहौं कहाँ लग अहो आपनी निपट ढिठाई।
तव पवित्र तन माहि बार बहु लार बहाई।
शुद्ध स्वच्छ कपड़ान पर बहु बार कियो मल मूत।
तबहुँ कबहुँ रिस नहिं करो मोहिं जानि पियारो पूत॥

(५)

लाखन औगुन किये तदपि मन रोष न आन्यो।
हँसि हँसि दिये बिसारि अज्ञ बालक मोहि जान्यो॥
कोटि कष्ट सुख सों सहे जिहि बस अनगिनतिन हानि।
कस न करौं तिहि प्रेम को नित प्रनत जोरि जुग पानि॥

(६)

बन्दौं तव मुख कमल मोहिं लखि नित्य विकासित।
मो सङ्ग निद्रा आछत हूँ तुतराई भासित॥
लाल वत्स प्रिय पूत सुत नित लै लै मेरे नाम।
सुधा सरिस रस बैन सों जी पूरित आठों याम॥

(७)

खेलत खेलत कबहुँ धाय तव गरे लपटतो।
लरिकाई चञ्चलताई कै खरो चमटतो॥

लटकि लटकि के आपहीं हौं सम्मुख जातो चूमि।
बन्दौं सो श्री मुख कमल जो लेतो मो मुख चूमि॥

(८)

जब तब जो कछु बालबुद्धि मेरी में आयो।
अनुचित उचित न जानि आय कै तुमहिं सुनायो॥
हँसि हँसि ताहू पै दिये उचित ज्वाब मोहिं जान।
बन्दौं अति श्रद्धा सहित सो मधुर मधुर मुसकान॥

(९)

बन्दौं तुम्हरे तरुन अरुन पंकज दल लोचन।
दया दृष्टि सों हेरि सहज सब सोच विमोचन॥
मेरे औगुन पै कबहुँ जिन करी न तनिक निगाह।
सबहि दसा सब ठौर में नित बकस्यो अमित उछाह॥

(१०)

मोहिं मुरझान्यो देखि तुरत जलसौं भरि आये।
कहुँ रुष्टहू भये तहूँ ममता सों छाये॥
तरजन बरजन करतहूँ परिपूरित पावन प्रेम।
सब दिन जो तकते हुये बहु ममता सों मम छेम॥

(११)

खेलन हेत कबहुँ जब निज मीतन सङ्ग जातो।
जब फिर के आतो मारग तकते ही पातो॥
आवत मोहिं निहारिकै हो हरे भरे ह्वै जात।
युगल नैन बन्दौं सोई मैं नितप्रति साँझ प्रभात॥

(१२)

जिन नैनन के त्रास रह्यो मेरे मन खटको।
पै वह खटको रह्यो पन्थ सुखसागर तट को॥

अगनित दुरगुन दुखन ते निज राख्यो रक्षित मोहिं।
काहे न वे दृग कमल मम श्रद्धा सर शोभा होहिं॥

(१३)

करौं बन्दना हाथ जोरि तव कर कमलन की।
सब विधि जिनसों पुष्टि तुष्टि भइ या तन मन की॥
दूध भात की कौरियाँ सुचि रुचि से सदा खवाय।
इतने तें इतनो कियो जिन मोहिं मया सरसाय॥

(१४)

बड़े चावसों केस सँवारत पट पहिरावत।
जूठे कर मुख धोवत नित निज सँग अन्हवावत॥
कहुँ सिसुता बस याहु मैं जब रोय उठो अनखाय।
तब रिझवत हँसि गोद लै कै देत खिलौना लाय॥

सभ्य बीबी की चिट्ठी

पीतम संगी होन की, तुम्हरे मन है चाह।
हमरो तुमरो होय पै, कैसे मित्र! निबाह॥१॥
हमरे अङ्ग लगी रहत, पोमेटम परफ्यूम।
सौरभ और सुगन्ध की, पड़ी चहूँ दिस धूम॥२॥
धूल अङ्ग तुम्हरे रहत, बायू ताहि उड़ात।
हमरो अति दुर्गन्ध सों, माथा फाट्यो जात॥३॥
हमरे कोमल अङ्ग कहँ, ढाके राखत "गौन"।
तुम्हरे अङ्ग धोती फटी, नाम मात्र की तौन॥४॥
मेरे सिर पै कैप अरु, मोर पुच्छ लहरात।
तेरे सिर लिपड़ी फटी, साफ़ मजूर दिखात॥५॥

हमरी कटि पेटी लसै, कटि कहँ राखत छीन।
तुम तगड़ी लटकाय, जिमि, अँतड़ी बाहिर कीन ॥६॥
मम मुख "पौडर रोज" सों, मानहु खिल्यो गुलाब।
तुम खड़ि माटी पोत कै, माथो कियो खराब ॥ ७ ॥
मेरे चरन विलायती, चिकनो सुन्दर बूट।
नागौरा तव पाय मैं, ठाँव ठाँव रहे टूट ॥ ८ ॥
मम सुन्दर जंघान मैं, सिल्क रहत नित छाय।
सदा असभ्य शरीर तव, रहत उघारो आय ॥ ९ ॥
मम मुख ढङ्ग विलायती, निकसत धीरे बात।
बब्बर तुम्हारी जिह्व है, गोरू सम डकरात ॥१०॥
बावरची के हाथ हम, खायँ सदा तर माल।
चूल्हा फूँकत तुम सदा, खाओ रोटी दाल ॥११॥
हमरी बोली 'गाड' है, तुम छोड़ो 'हरि बोल'।
यज्ञ याग जप होम अरु, मानो उत्सव दोल ॥१२॥
देखत ही तुमको सदा, होत अरुचि उत्पन्न।
छन छन आवत है बमी, हियो होत उत्सन्न ॥१३॥
भूमी अरु आकाश जिमि, हम तुम भेद अथाह।
हमरो तुम्हरो होयगो, कैसे मित्र निवाह ॥१४॥

पेट-महिमा

साधो पेट बड़ा हम जाना।
यह तो पागल किये जमाना॥
मात पिता दादा दादी घरवाली नानी नाना।
सारे बने पेट की खातिर बाकी फकत बहाना॥
पेट हमारा हुण्डी पुर्जा पेटहि माल खजाना।
जबसे जन्मे सिवा पेट के और न कुछ पहचाना॥

लड्डू पेड़ा पूरी बरफी रोटी साबूदाना।
सबै जात है इसी पेट में हलवा तालमखाना॥
यही पेट चट कर गया होटल पी गया बोतलखाना।
केला मूली आम सन्तरे सबका यही खजाना॥
पेट भरे लारड कर्जन ने लेक्चर देना जाना।
जब जब देखा तब तब समझे जहँ खाना तहँ गाना॥
बाहर धर्म्म भवन शिवमन्दिर क्या ढूँढ़े दीवाना।
ढूँढ़ो इसी पेट में प्यारो तब कुछ मिले ठिकाना॥

उर्दू को उत्तर

१७ मई, १९०० के "अवध-पञ्च" में "उर्दू की अपील" नाम से एक कविता छपी थी। उसका यह उत्तर है। असल अपील भी फुट नोट में दी गई है। छोटे लाट मेकडानल्ड ने युक्त-प्रदेश की कचहरियों में नागरी अक्षर जारी किये। उस समय उर्दू के पक्ष वालों ने यह जोश दिखाया था। भारतमित्र-द्वारा उसका उत्तर यह दिया गया था :—

न बीबी बहुत जी में घबराइये।
सम्हलिये ज़रा होश में आइये॥
कहो क्या पड़ी तुम पै उफ्ताद है।
सुनाओ मुझे कैसी फ़रियाद है॥
किसी ने तुम्हारा बिगाड़ा है क्या।
सुनूँ हाल मैं भी तो उसका ज़रा॥

उक्त अपील इस प्रकार है :—

खुदाया पड़ी कैसी उफ़ाद है।
बड़े लाट साहब से फरियाद है॥

न उठती में यों मौत का नाम लो।
कहाँ सौत, मत सौत का नाम लो॥
बहुत तुम पे हैं मरने वाले यहाँ।
तुम्हारी है मरने की बारी कहाँ॥
बहुत बहकी बहकी न बातें करो।
न साये से तुम आप अपने डरो॥
ज़रा मुँह पे पानी के छींटे लगाव।
यह सब रात भर की खुमारी मिटाव॥
तुम्हारी ही है हिन्द में सब को चाह।
तुम्हारे ही हाथों है सब का निबाह॥
तुम्हारा ही सब-आज भरते हैं दम।
यह सच है तुम्हारे ही सिर की क़सम॥
तुम्हारी ही खातिर है छत्तीस भोग।
कि लट्टू हैं तुम पे ज़माने के लोग॥
जो हैं चाहते उन पे रीझो रिझाव।
कोई कुछ जो बैंडी कहे सो सुनाव॥
वही पहनो जो कुछ हो तुमको पसन्द।
कसो और भी चुस्त महरम के बन्द॥
करो और कलियों का पाजामा चुस्त।
वह धानी दुपट्टा वह नकसक दुरुस्त॥
वह दाँतों में मिस्सी घड़ी पर घड़ी।
रहे आँख आईने ही से लड़ी॥

मुझे अब किसी का सहारा नहीं।
यह बेवक़्त मरना गवारा नहीं॥

कड़े को कड़े से बजाती फिरो।
वह बाँकी अदायें दिखाती फिरो॥
मगर इतना जी में रखो अपने ध्यान।
वह बाज़ारी पोशाक है मेरी जान॥
जना था तुम्हें मा ने बाज़ार* में,
पली शाहआलम के दरबार में॥
मिली तुमको बाज़ारी पोशाक भी।
वह थी दोगले काट की फ़ारसी॥
वह फिर और भी कटती छटती चली।
बज़े रोज़ उसकी पलटती चली॥
वही तुमको पोशाक भाती है अब।
नहीं और कोई सुहाती है अब॥
मगर एक सुन आज मतलब की बात।
न पिछला वह दिन है न पिछली वह रात॥
किया है तलब तुमको सरकार ने।
तुम आई हो अङ्गरेज़ी दरबार में॥
सो अब छोड़िये शौक़ बाज़ार का।
अदब कीजिये कुछ तो दरबार का॥

मेरा हाल बहरे ख़ुदा देखिये।
ज़रा मेरा नश्वोनुमा देखिये॥
मैं शाहों की गोदों की पाली हुई।
मेरी हाय यों पायमाली हुई॥

*तुर्की भाषा में उर्दू छावनी या बाज़ार को कहते हैं। शाहजहाँ के लश्कर में कई भाषाओं के मिलने से उर्दू बनी थी। इसीसे इसका नाम बाज़ारी भाषा अर्थात् उर्दू रखा गया।

अदब की जगह है यह दरबार है।
कचहरी है यह कुछ न बाज़ार है॥
यहाँ आई हो आँख नीची करो।
मटकने चटकने पे अब मत मरो॥
यहाँ पर न झाँजों को झनकाइये।
दुपट्टे को हरगिज़ न खिसकाइये॥
न कलियों की याँ अब दिखाओ बहार।
कभी याँ पै चलिये न सीना उभार॥
वह सब काम कोठे पे अपने करो।
यहाँ तो अदब ही को सर पर धरो॥

निकाले ज़बाँ फिरती हूँ बावली।
ख़ुदाया मैं दिल्ली की थी लाड़ली॥
अदायें बला की सितम का जमाल।
वह सजधज क़यामत वह आफ़त की चाल॥
मेरे इश्क़ का लोग भरते थे दम।
नहीं झूठ कहती ख़ुदा की क़सम॥
यह आफ़त लड़कपन में आने को थी।
जवानी अभी सिर उठाने को थी॥
निकाले थे कुछ कुछ अभी हाँथ पाँव।
चमक फैलती जाती है गाँव गाँव॥
कि ग़ैबी तमाचे से मुँह फिर गया।
महे चारदह अब्र में घिर गया॥
मेरी गुफ़्तगू और हिन्दी के हर्फ़।
वह शोलाफ़िसानी यह दरियाय बर्फ़॥

यह सरकार ने दी है जो नागरी।
इसे तुम न समझो निरी घाँघरी॥
तुम्हारी यह हरगिज़ नहीं सौत है।
न इक्क में तुम्हारे कभी मौत है॥
समझ लो अदब की यह पोशाक है।
हया और इज़्ज़त की यह नाक है॥
अदब और हुर्मत की चादर है यह।
चढ़ो गोद में मिस्ल मादर है यह॥

इस अन्दाज़ पे दिल हुआ लोट-पोट।
दुलाई में अतलस के गाढ़े की गोट?॥
खुदाया न क्यों मुझको मौत आगई?।
कहाँ से मेरे सर ये सौत आगई?॥
न झूमर न छपका न बाले रहे।
न गेसू मेरे काले काले रहे!॥
न अतलस का पाजामा कलियों भरा।
दुपट्टा गुलाबी मेरा क्या हुआ?॥
न सुरमा न मिस्सी न मेंहदी का रङ्ग।
अजब तेरी कुदरत अजब तेरे ढङ्ग॥
न बेले का वद्धी न अब हार है।
न जुगनू गले में तरहदार है॥
न झाँझों की झनझन कड़ों का न शोर।
दुपट्टे की खसकन न महरम का जोर॥

यही आप की मा की पोशाक थी।
यह आज़ाद* से पूछना तुम कभी॥
इनायत है तुम पे यह सर्कार की।
तुम्हें दूसरी उसने पोशाक दी॥
बुराई न इसकी करो दूबदू।
बढ़ायेगी हरदम यही आबरू॥
पुरानी भी है वह तुम्हारे ही पास।
उसे भी पहन लो रहो बेहिरास॥
करो शुक्रिया जी से सरकार का।
कि उसने सिखाई है तुम को हया॥

वह बाँकी अदायें वह तिरछी चलन।
फ़िफरूं हुआ हो गया सब हरन॥
बस अब क्या रहा क्या रहा क्या रहा?।
फ़क़त एक दम आता जाता रहा!
यह सौदा बहुत हमको मँहगा दिया।
कि खिलअत में हाकिम ने लहँगा दिया!
अँगोछे की अब तुम फबन देखना।
खुली धोतियों का चलन देखना॥
वह सेन्दूर बालों में कैसी जुटी।
किसी पार्क में या कि सुर्खी कुटी॥

*आज़ाद से मतलब प्रोफेसर मुहम्मद हुसेन आज़ाद से है। उन्होंने अपनी आबेहयात नाम की पुस्तक की भूमिका में उर्दू को ब्रजभाषा की बेटी कहा है।

किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामी श्रीकेदारनाथजी महाराज वृन्दावन में बड़े विद्वान और यशस्वी होगये हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य और श्रीमद्भागवत पर तिलक रचा है। उनके पुत्र गोस्वामी श्रीवासुदेवशरण देवाचार्यजी संस्कृत, व्रजभाषा, हिन्दी और बंगला के अच्छे विद्वान हुये। उनके ही पुत्र पंडित किशोरीलाल गोस्वामी थे। इनका जन्म सं० १९२२ वि० के माघ मास की अमावस्या को हुआ। आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत हुआ और साथ ही विद्यारम्भ भी।

इनके मातामह गोस्वामी श्रीकृष्णचैतन्यदेवजी काशी के प्रसिद्ध गोलघर नामक मन्दिर में विराजते थे। वे काशी के प्रसिद्ध रईस श्री हर्षचन्द्रजी के गुरु और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के पड़ोसी थे। पंडित किशोरीलालजी का पठन-पाठन काशी ही में चलने लगा। संस्कृत में इन्होंने न्याय, योग, व्याकरण, वेदान्त, ज्योतिष आदि विषयों का अध्ययन किया और साहित्य में आचार्य-परीक्षा तक के ग्रन्थ पढ़े।

इनके पिताजी बहुत दिनों तक आरा में रहे थे। अतः ये भी वहीं रहे। और आरे के प्रसिद्ध विद्वान श्रीपीताम्बर मिश्रजी तथा रुद्रदत्तजी से संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करते रहे।

आरे में कोई पुस्तकालय नहीं था। अतः इन्होंने 'आर्य-पुस्तकालय' नाम से एक पुस्तकालय स्थापित किया। उसके द्वारा वहाँ हिन्दी-भाषा का अच्छा प्रचार हुआ। आरे और पटने के हिन्दी के प्रचारकों में इनका स्थान भी बहुत ऊँचा था। आरे के प्रसिद्ध वैद्यराज पंडित बालगोविन्द त्रिपाठी की सहायता से 'वर्णधर्मोपयोगिनी' नाम की एक सभा

भी इन्होंने स्थापित की थी और उस सभा द्वारा 'वर्ण धर्मोपयोगिनी' पाठशाला स्थापित कराई थी। सभा का अधिकांश कार्य ये ही करते थे। संवत् १९४७ में ये उक्त सभा से प्रतिनिधि होकर दिल्ली में भारत-धर्म महामण्डल में सम्मिलित हुए थे।

'कुरमी जाति' की वर्ण व्यवस्था पर संस्कृत में इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी, जो "विश वृन्दावन" नामक पत्र में छपा करती थी।

हिन्दी-भाषा के सुप्रसिद्ध उद्धारक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी इनके मातामह के साहित्य-शिष्य थे। इससे इनका भारतेन्दुजी से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहता था। इन्होंने अपने मातामह से हिन्दी-साहित्य पिंगल आदि पढ़े थे। राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दुजी की प्रेरणा से इन्होंने हिन्दी में "प्रणयिनी-परिणय" नामक पहला उपन्यास लिखा। इसके अनन्तर ये आरे से काशी में आ रहे।

हिन्दी-भाषा की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका सरस्वती के प्रथम वर्ष के सम्पादकों में ये भी थे और नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, नागरी-प्रचारिणी-ग्रन्थमाला, बालसखा आदि के ये सम्पादक तथा उपसम्पादक रह चुके थे। लगभग पचीस वर्षों से ये उपन्यास नाम की एक मासिक पुस्तक निकाल रहे थे। और दश वर्षों से 'वैष्णव सर्वस्व' नामक एक मासिक पत्र भी। सन् १९११ में इन्होंने वृन्दावन में श्रीसुदर्शन प्रेस नाम का एक प्रेस भी खोल दिया था।

ये आरम्भ ही से काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा के सभासद थे। सभा के कार्यसञ्चालकों में कुछ मतभेद होने पर इन्होंने बाबू श्याम-सुन्दरदास का पक्ष समर्थन करते हुये, सभा का सम्बन्ध त्याग दिया। कई सभाओं के ये सभापति हो चुके थे। आगरे में गौड़ महासभा के ये ही सभापति थे। रीवाँ राज्य की चतुःसम्प्रदाय श्रीवैष्णव महासभा के ये ट्रस्टी थे। रीवाँ के स्वर्गीय महाराज इनका बहुत सम्मान करते थे।

डायमण्ड जुबिली के समय महारानी विक्टोरिया का जीवनचरित्र इन्होंने संस्कृत में लिखकर 'वैष्णव-समाज, काशी' के द्वारा विलायत भेजा था। इस पर महारानी की आज्ञा से होम डिपार्टमेंट ने इनको धन्यवाद का परवाना दिया था।

इनके लिखे हुये ग्रंथों की सूची इस प्रकार है :—

कविता

(१) समस्यापूर्ति-मञ्जरी (२) भागवतसार-पचीसी (३) युगलरस-माधुरी (४) अध्यात्म-प्रकाश (५) कंठमाला (६) अश्रुधारा (७) प्रेमपुष्पाञ्जलि (८) चन्दोदय (९) आकाशकुसुम (१०) वीरेन्द्र-विजय-काव्य (११) प्रणयोपहार (१२) कन्दर्प-विजय काव्य (१३) कविता-संग्रह (१४) काशी-कविसमाज की समस्यापूर्ति (१५) सुजान-रसखान (१६) रसखान-शतक (१७) प्रेम-रत्नमाला (१८) प्रेम-पुष्पमाला (१९) प्रेम-वाटिका (२०) कविता-मञ्जरी (२१) कवि-माधुरी (२२) बाल-कुतूहल (२३) वनिता-विनोद (२४) वीरबाला (२५) एक नारीव्रत (२६) सावित्री (२७) होली रङ्गधोली।

गाने की पुस्तकें

(१) सावन सुहावन (२) होली मौसिम बहार (३) वर्षा-विनोद (४) ठुमरी का ठाट (५) मञ्जुपदावली (६) नित्यकीर्तन मालिका (७) वर्षोत्सव कीर्तन-मालिका (८) जातीय सङ्गीत (९) सङ्गीत-शिक्षा (१०) चैती गुलाब (११) बसन्तबहार।

विविध विषय

(१) वेदशिक्षा (२) हठयोग (३) अष्टाङ्गयोग (४) ज्ञान-सङ्कलिनी तन्त्र (५) तन्त्र-रहस्य (६) निरालम्बोपनिषद् (७)

चाक्षुषोपनिषद् (८) वैराग्य-प्रदीप (९) तीर्थ-महिमा (१०) कुम्भ-पर्व-व्यवस्था (११) गङ्गास्थिति-सिद्धान्त।

साम्प्रदायिक

(१) नित्यकृत्य-चन्द्रिका (२) युगलार्चन-कौमुदी (३) वर्षोत्सव-मयूष (४) सम्प्रदाय-सिद्धान्त (५) सम्प्रदाय-दिवाकर (६) ब्रह्म-मीमांसा ([illegible]) धर्म-मीमांसा (८) सन्ध्या-प्रयोग (९) सन्ध्या संक्षिप्त (१०) सन्ध्या-भाषा (११) गायत्री-व्याख्या (१२) आचार्य-चरित (१३) हंसावतार-चरित (१४) राधिकोपनिषद् (१५) कापिल सूत्र।

जीवन-चरित

(१) अर्ल मेयो (२) हम्मीर (३) मेवाड़ राज्य (४) मरहठों का उदय (५) औरङ्ग़ज़ेब की राजनीति (६) लार्ड रिपन (७) बुद्धदेव (८) अशोक-चरितावली (९) वर्द्धमान राजवंश (१०) मधुच्छका का सोपान (११) जोजेफाइन (१२) नेपोलियन (१३) श्रीकृष्ण-चैतन्यदेव (१४) बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० (१५) बाबू राधाकृष्णदास (१६) पण्डित मदनमोहन मालवीय (१७) सर एन्टोनी मैकडानल्ड (१८) राजा लक्ष्मण सिंह (१९) बाबू रामकाली चौधरी (२०) मैक्समूलर भट्ट (२१) राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (२२) पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (२३) वाल्मीकि चरित्र (२४) भीष्म पितामह (२५) पञ्च पांडव !

नाटक-रूपक

(१) मयङ्क-मञ्जरी (२) चौपट चपेट (३) भारतोदय (४) नाट्यसम्भव (५) सावित्री-सत्यवान (६) प्रणय-पारिजात (७) प्रबन्ध-पारिजात (८) प्रियदर्शिका (९) स्वर्ग की सभा (१०)

प्रभावती परिणय (११) कन्दर्प-केलि (१२) वर्षा विहार गोष्ठी (१३) चांडाल चौकड़ी (१४) पोंगा बसन्त (१५) बी जान (१६) दिवाभीत (१७) बैशाख-नन्दन (१८) शाला बाबू (१६) काला साहब (२०) यमराज और हम (२१) गोबरगनेश (२२) जोरूदास (२३) वैश्यावल्लभ (२४) एक एक के दो दो (२५) स्वर्ग की सीढ़ी।

उपन्यास

(१) चपला (२) तारा (३) लीलावती (४) रज़ियाबेगम (५) मल्लिकादेवी (६) राजकुमारी (७) कुसुमकुमारी (८) तरुण तपस्विनी (६) हृदय-हारिणी (१०) लवङ्गलता (११) याकूती तख्ती (१२) कटे मूँड़ की दो दो बातें (१३) कनक कुसुम (१४) सुखशर्वरी (१५) प्रेममयी (१६) गुलबहार (१७) इन्दुमती (१८) लावण्यमयी (१६) प्रणयिनी-परिणय (२०) ज़िन्दे की लाश (२१) चन्द्रावली (२२) चन्द्रिका (२३) हीरा-बाई (२४) लखनऊ की क़ब्र (२५) पुनर्जन्म (२६) त्रिवेणी (२७) माधवी माधव (२८) राजराजेश्वरी (२६) जड़ाऊ कङ्कण में काल भुजङ्ग (३०) आरसी में हीरे की कनी (३१) विहार-रहस्य (३२) ठगिनी (३३) भोजपुर की ठगी (३४) जगदीशपुर की गुप्त कथा (३५) राजगृह की सुरङ्ग (३६) प्रहसन पथिक वा पथ-प्रदर्शिनी (३७) कुँवरसिंह (३८) बनारस-रहस्य (३६) हमारी रामकहानी (४०) अँगूठी का नगीना (४१) इसे ज़िन्दा कहें कि मुर्दा (४२) सदासोहागिन (४३) दिल्ली की गुप्तकथा (४४) जनानखाने में दीवान (४५) प्रेम-परिणाम (४६) पातालपुरी (४७) दो सौ तीन (४८) औरत से औरत का ब्याह (४६) रोहितासगढ़ की रानी (५०) अन्धेरी कोठरी (५१) क़ाज़ी की

चौठी ५२) राजकन्या (५३) राक्षसेन्द्र राक्षस या घड़ा भर विष (५४) साँप की बीबी (५५) सेज पर साँप (५६) इसे चौधराइन कहें कि डाइन (५७) राजबाला (५८) आप आप ही हैं (५९) नरक-नसेनी (६०) अँधेरी रात (६१) सोना और सुगन्ध (६२) आदर्श प्रणय (६३) शान्ति-निकेतन (६४) वार-विलासिनी (६५) शान्ति-कुटीर ।

पत्र-पत्रिकाओं में स्फुट लेख

	लेख संख्या		लेख संख्या
(१) सार सुधानिधि	५७	(१७) ब्राह्मण	१
(२) उचित वक्ता	११	(१८) भारतधर्ममहामंडल	११
(३) भारतमित्र	२२	(१९) हिन्दोस्थान	२५
(४) आर्यावर्त	४	(२०) राजस्थान-समाचार	१२
(५) पीयूष प्रवाह	७	(२१) दिनकर-प्रकाश	१
(६) चम्पारन-चन्द्रिका	५१	(२२) विद्या-विनोद	१
(७) हरिश्चन्द्र-कौमुदी	१०	(२३) भारत-भगिनी	१
(८) क्षत्रिय-पत्रिका	२	(२४) श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार	२
(९) विद्याधर्म-दीपिका	६	(२५) भाषा-भूषण	७
(१०) द्विज-पत्रिका	१	(२६) विश्व वृन्दावन	३८
(११) विहार-बन्धु	६२	(२७) सर्वहित	३२
(१२) सारन-सरोज	४०	(२८) सत्यवक्ता	८
(१३) भारत-जीवन	३	(२९) सुदर्शन-चक्र	१
(१४) भारतवर्ष	१०१	(३०) नागरी-नीरद	६
(१५) ब्रह्मावर्त	१	(३१) विहार-भूषण	३
(१६) हिन्दी-प्रदीप	७	(३२) रसिक-मित्र	१

(३३) सज्जनकीर्ति-सुधाकर	१	(३७) बाल-प्रभाकर	५
(३४) सरस्वती	२८	(३८) मित्र	३
(३५) नागरी प्रचारिणी-पत्रिका	२	(३९) मर्यादा	१५
(३६) नागरी-प्रचारिणी-ग्रन्थ-माला	१	(४०) यादवेन्द्र राघवेन्द्र	४
		(४१) कलकत्ता समाचार आदि	६

गोस्वामीजी ने सात पुस्तकें संस्कृत में लिखी हैं, जिनके नाम ये हैं :—

(१) मयूख-मालिनी (२) प्रणयोच्छ्वास (३) शृंगार-रत्न-माला (४) शृंगार-सुधाकर (५) शृंगार-सुधाविन्दु (६) सांख्य-सुधाकर (७) संक्षिप्त सांख्य-तत्त्व-समास-कारिका।

गोस्वामीजी का जीवन साहित्यमय था। इन्होंने अपने जीवन में एक ही काम किया था और वह था हिन्दी-साहित्य-सेवा। हिन्दी-साहित्य-सेवियों के अतिरिक्त इनकी मित्रता और किसी से नहीं थी। असाहित्य-सेवियों से ये बातचीत करने में भी घबराते थे। मेले-तमाशे, सभा-समाज किसी में भी इनकी रुचि नहीं थी। भोजन, भजन एवं शयन से जो समय बचता था, उसे ये साहित्य-सेवा में लगाते थे। मकान से तभी निकलते थे, जब कहीं जाने के लिए रेलवे-स्टेशन की आवश्यकता पड़ती थी। और घर पर भी आए हुए उसी सज्जन से मिलते थे, जो हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध रखता हो। पठन-पाठन के अतिरिक्त ये अपना एक मिनट भी देना नहीं चाहते थे। इनको जब तक विवश न किया जाता, ये किसी सभा में भी नहीं जाते थे। इनका कहना था कि किसी सभा में जाकर हिन्दी की सेवा करने की अपेक्षा घर पर रहकर हिन्दी की अधिक सेवा हो सकती है।

ये 'उपाधि' से बहुत दूर भागते थे। कई बार लोगों ने इनको उपाधियाँ देनी चाहीं, पर इन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। भारत-धर्म

महामण्डल ने इनको एक बार एक उपाधि भेज दी, इस पर इन्होंने अपने एक मित्र से कहा कि असाहित्य-सेवीगण साहित्य-सेवियों को उपाधि देकर अपनी अयोग्यता ही नहीं प्रगट करते, प्रत्युत साहित्य-सेवियों का अपमान भी करते हैं।

'सरस्वती' और 'मर्यादा' पर इनका बहुत ही स्नेह रहा। यह इसलिए कि ये दोनों इनके मित्रों से सम्पादित होती थीं, अथवा इनके ये लेखक रहे। ये जब दो-चार साहित्य-सेवियों के साथ बैठ जाते थे, तब रोते हुए मनुष्य भी हँसते-हँसते लोटपोट होने लगते थे। ये हिन्दी-भाषा में बहुत अच्छा व्याख्यान देते थे। ब्रजभाषा और खड़ी-बोली दोनों में बड़ी शीघ्रता से कविता करते थे। यही हाल संस्कृत में भी था। ये कई तरह की भाषाएँ लिखने में सिद्धहस्त थे। ये अपनी पुस्तकें पुस्तकालयों और अतिथियों को बड़ी ही उदारता से देते थे। गोस्वामीजी लगभग ५० वर्ष तक हिन्दी-साहित्य की निःस्वार्थ भाव से सेवा कर रहे थे। और इतनी बड़ी सेवा के बदले इन्होंने कभी कोई वेतन, पुरस्कार, पदक आदि नहीं ग्रहण किये। सन् १९३२ में काशी में इनका देहान्त हुआ।

इनकी कविता के कुछ नमूने यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

(१)

भ्रातः ! कोकिल ! कूजितेन किमलं नार्घ्यत्य नष्टे गुणं।
तूष्णीं तिष्ठ विशीर्णपर्णपटलच्छन्नः क्वचित्कोटरे॥
प्रोद्दामद्रुमसङ्कटे कटुरटत्काकावली संकुलः।
कालोऽयं शिशिरस्य सम्प्रति सखे ! नायं वसन्तोत्सवः॥

अनुवाद

कोकिल ! मीत ! न बोलु कछू,
कहु, नीचन ने गुन जान्यो किते कब।

याते रहै चुप होय कछू दिन,
सूखे पलास के कोटर में दब ॥
ऊँचे महीरुह की फुनगीन पै,
बोलत काग कठोर इतै अब ।
ये पतझार के द्योस अबै,
पर बोलियो तूहू बसंत लगै जब ॥

(२)

गन्धाढ्यासौ भुवनविदिता केतकी स्वर्णवर्णा,
पद्मभ्रान्त्या क्षुधितमधुपः पुष्पमध्ये पपात ।
अंधीभूतः कुसुमरजसा कंटकैश्छिन्नपक्षः,
स्थातुं गंतुं द्वयमपि सखे ! नैव शक्तो द्विरेफः ॥

अनुवाद

कञ्चन रङ्ग सुगन्ध सनी,
जग जाहिर सोहति केतकी की कली ।
ताहि के फूले प्रसूनन माहिं
उपास्यो पर्‌यो रस चाखन कों छली ॥
आँधरो होइ परागन सों.
पुनि काँटनि पंख छिदायो विधी भली ।
जाइबो त्यों रहिबो, इन दोउन
में नहिं, मीत ! समर्थ भयो अली ॥

(३)

स्वच्छाः सौम्य ! जलाशयाः प्रतिदिनं ते सन्तु मा सन्तु वा ।
स्वल्पं वा बहु वा जलं जलधर ! त्वं देहि मा देहि वा ॥
पानीयेन विनाशनो यदि पुनर्निर्यान्तु मा यान्तु वा ।
नान्येषान्तु शिरोनतिह्यभिमुखं कर्त्ताम्बुभृच्चातकः ॥

नितही सुनु मीत जलाशय सुन्दर निर्मल नीर धरै न धरै।
कछु थोरो घनो जल बारिद ! तू इन चोंचन माहिं भरै न भरै॥
बिनही जलपान किये यह प्रान सदाही रहै कि अबै निसरै।
तबहूँ यह चातक औरन के ढिग नीचो न आपुनो सीस करै॥

बसन्त-बहार

बर बसंत बानक बिसद, वृन्दाबिपिन बिराज।
बिलसत ब्रज-बनितानि संग, बिमल बेस ब्रजराज॥
वृन्दाबन बानक बिसद, बगर्‌यो बहुरि बसंत।
बिबुध-बधूटी सी बिमल, ब्रज-बनिता बिलसंत॥

चन्द्रोदय

(बिम्बाद्य)

परमरम्य नीलाभ गगनतल पै यह को है !
चितवत ही चख चपल अचल करि जो मन मोहै।
अहै कहा यह राहु-सीस को काटनहारो।
चमचमात चक्राद्य सुमन-गन को रखवारो॥
कै अम्बर को अमल धवल व्यापक जग माहीं।
सदा शब्दमय विजय-शंख को जानत नाहीं !
कै यह अभ्र-पयोनिधि की सुतुही अति प्यारी।
तारा-मुक्तावलि की जो उपजावनहारी।
कैधों रजत पहार तुषार सन्यो मनभावन।
मीनकेत को मीन-केत कै कलुष नसावन॥

कै वाराह विशाल-वदन की डाढ़ माहिं इक।
बक्र दंत दुतिमंत अंतकारक तम दस दिक ॥
दबी कहा ! हिम-शिला मध्य अमृत की पोखी।
सुखद सराहन जोग मुग्ध मन मीन अनोखी ॥
कै तम कुञ्जर दमन हेत नभ-बीर महावत।
लै कर अमल अलौकिक अंकुश झूमत आवत ॥
किधौं हास्यरस के तारे की है यह तारी।
कै छल बल की सकल कलाधारी कल भारी ॥
सोलह कला-प्रवीन कोऊ नागर नट की बर।
दीख परत इक कला अनोखी सुमन मनोहर ॥
प्रकृति सती को सरस हास्य कैधों मन मोहै।
किधौं हास्यरस रससिङ्गार उर धरि अति सोहै ॥
कै कामागम मत्त मनुज जन की वैतरनी।
कैधों बिरहिन-मानवतिन की मान-कतरनी ॥
झलकत बाम सुभाव किधौं बामा-उर-धारी।
कै मनोज की अहै अनोखी कुटिल कटारी ॥
कै सन्ध्या-बरबधू कपोल नखच्छत पूरो।
कै अनन्त मन्दिर को राजत कुटिल कँगूरो ॥
शीत-रश्मियुत पुष्पबाण को धनु छवि छाजै।
कै कुटिलन के कुटिल हृदय को हृदय बिराजै ॥
ओंकार कैधों रतिपति-आगम को निरुपम।
कै यह बरत मसाल काल की नासन को तम ॥
कैधों विधि कृत कर्म रेख की बलित बिकारी।
कै कोऊ मात्रा व्याकरनिन की अति प्यारी ॥

किधौं शेष-फन एक धरातल-ऊपर आयो।
कै कोऊ मुनिवर को चमकत भाल सुहायो॥
कै शिशुमार चक्र की दीसत धुरी अधूरी।
किधौं व्योम-गंगा की झलकत रेती भूरी॥
किधौं विष्णु-पद-नख की कछुक छटा छवि छाजत।
कै कलिंदजा-मध्य रजतमय नौका राजत॥
यामें झलकत कहा श्यामता ? सोऊ कहिए।
ठाढ़े करत सलाह मलाह चलन कित चहिए॥
चन्द्रचूर को चन्द्र चूर है अधर पर्‌यो है।
कै सुखमा समूह को बेरा आनि अर्‌यो है॥
कै रजनी को राजत है सुहाग-फल पूरो।
किधौं सुधाधर उदित भयो है आजु अधूरो॥
कैधौं जन्म्यो अबै जलधि उर तें यह बालक।
कै शशिशेखर भाल तिलक शैवन कुल पालक॥
गरल सहोदर की ज्वाला तें जरि उर माहीं।
शम्भु सीस हू चढ़ि या को नेकहुँ सुख नाहीं॥
छुद्र जीवहू कहुँ ऊँचे आसन थिर होहीं ?
याही तें यह भटकत डोलत है चहुँ कोहीं॥
सीतल करन हृदय सीतल मारुत चहुँ जोवत।
बिरहिन के मानस बरजोरी विष बहु बोवत॥

लाला भगवानदीन

लाला भगवानदीन का जन्म ज़िला फ़तहपुर के बरवट गाँव में, श्रावण शुक्ला ६, सं० १९२३ में हुआ। ये श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। इनके पूर्वज, जो पहले रायबरेली में रहते थे, ग़दर के समय में रामपुर चले गये थे। नवाबी ज़माने में इनके पूर्वजों को बख़शी का ख़िताब मिला था।

ग्यारह वर्ष की अवस्था तक ये अपनी जन्म-भूमि बरवट ही में उर्दू और फ़ारसी पढ़ते रहे। उस समय इनकी माता का देहान्त हो जाने के कारण इनके पिता, जो बुन्देलखंड में नौकर थे, इन्हे अपने साथ ले गये। बुन्देलखंड में ये नौगाँव छावनी में अपने फूफा के पास रहकर फ़ारसी की विशेष शिक्षा पाते रहे। चार वर्ष बाद ये फिर घर लौट आये और दो वर्ष तक मदरसे में पढ़ते रहे। घर पर भी अपने दादा से इन्होंने हिन्दी पढ़ी।

सत्रह वर्ष की अवस्था में ये फ़तहपुर के हाई-स्कूल में भरती किये गये। वहाँ सात वर्ष पढ़कर इन्होंने इन्ट्रेंस परीक्षा पास की। मिडिल पास करने के बाद ही इनका विवाह हो गया था। किन्तु फिर भी गृहस्थी के भार को सँभालते हुये इन्होंने आगे पढ़ने का साहस किया। कायस्थ-पाठशाला प्रयाग से छात्रवृत्ति पाकर ये प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में भर्ती हुये। गृहस्थी का झंझट सिर पर होने के कारण इन्हें दो एक जगह ट्यूशन भी करनी पड़ती थी। इससे ये कालेज की परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। लाचार होकर, पढ़ना छोड़कर ये कायस्थ-पाठशाला में शिक्षक नियुक्त हो गये और डेढ़ वर्ष तक वहाँ काम करते रहे। इसके पश्चात् ज़नाना मिशन हाईस्कूल में ये फ़ारसी के शिक्षक

होकर छः महीने तक वहाँ काम करते रहे। फिर राज्यस्कूल के सेकंड मास्टर होकर ये छत्रपुर चले गये और वहाँ सन् १८९४ से १९०७ तक रहे। १९०७ में ये काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में उर्दू के टीचर होकर आये। डेढ़ वर्ष पीछे जब नागरी-प्रचारिणी-सभा का "हिन्दी-शब्दसागर" बनने लगा, तब ये उसके सहकारी सम्पादक होकर आ गये। कई वर्षों तक ये वहीं काम करते रहे। बीच में एक बार कोष-कार्यालय काश्मीर चला गया था, तब ये प्रयाग और गया में कुछ दिनों तक रहे। जब कोष-कार्यालय फिर काशी में वापस आया, तब ये फिर उसमें सम्मिलित होकर काम करने लगे। हिन्दू-विश्वविद्यालय में एक सुयोग हिन्दी-साहित्यज्ञ अध्यापक की आवश्यकता होने पर ये कोष-कार्य छोड़कर उसमें आ गये, और अन्त तक उसी पद पर थे।

हिन्दी की ओर लालाजी की रुचि बालकपन ही से थी। १६ वर्ष की अवस्था में एक बार इनको अपने पिता के साथ दो महीने तक हरद्वार में रहना पड़ा था। उसी अवसर में इन्होंने कृष्ण-चौसठिका नाम की एक कविता बनाई थी। छत्रपुर में ये अवकाश के समय में बाबू जगन्नाथ प्रसाद की लाइब्रेरी की पुस्तकें पढ़ा करते थे। वहाँ बुन्देलखण्ड के प्राचीन कवियों की कविता पढ़ने का इनको अच्छा अवसर मिला। वहीं पण्डित गंगाधर व्यास से इन्होंने काव्य के कुछ नियम सीखे, और फिर शृंगार-शतक, शृंगार-तिलक और रामायण के दोहों पर कुण्डलियों की रचना की। वहाँ इन्होंने कवि-समाज और काव्य-लता नाम की दो सभायें स्थापित कीं और भारती-भवन नाम का एक पुस्तकालय खोला था। उस समय ये रसिक-मित्र, रसिक-वाटिका और लक्ष्मी-उपदेश-लहरी में फुटकर कवितायें और लेख भी भेजा करते थे। सन् १९०५ में लक्ष्मी-उपदेश-लहरी (गया) के सम्पादक देवरी-निवासी श्रीयुत मंजु सुशील के देहान्त हो जाने पर, उनके इच्छा-

नुसार लालाजी को 'लक्ष्मी' का सम्पादन-कार्य मिला। कई वर्षों तक ये योग्यतापूर्वक उसका सम्पादन करते रहे। इनको "भक्ति भवानी" नाम की कविता लिखने पर एक स्वर्णपदक, और "रूस पर जापान क्यों विजयी हुआ?" शीर्षक निबंध पर १००) का पुरस्कार मिला था।

इनकी पहली स्त्री अशिक्षिता थी, पर दूसरी स्त्री बुंदेलाबाला विदुषी थीं और कविता भी करती थीं। उनका नैहर ज़िला गाज़ीपुर के क़सबा सादियाबाद में था। काशी आने पर उनका भी देहान्त हो गया। तब सन् १९१२ में इन्होंने बुन्देलाबाला की छोटी बहन से अपना तीसरा विवाह किया। जिनसे इनके एक कन्या है।

लालाजी हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञों में से एक थे। इन्होंने रामचन्द्रिका, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, कवितावली और बिहारी सतसई पर बड़ी प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं। इनकी फुटकर कविताओं का एक संग्रह "नवीन वीन" नाम से प्रकाशित हुआ है। सूक्ति-सरोवर नाम से उत्तम कविताओं का एक संग्रह भी इन्होंने किया है। अलंकार पर इनका लिखा हुआ "अलंकार-मंजूषा" नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है, और कई परीक्षाओं में पाठ्य-ग्रन्थ है। इनका लिखा हुआ "वीर-पंचरत्न" एक पद्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें वीररस की अच्छी झलक है। खड़ीबोली और व्रज-भाषा दोनों में ये अच्छी रचना कर लेते थे। खड़ीबोली की कविता के लिये ये उर्दू छन्दों को ज्यादा उपयुक्त समझते थे।

लालाजी बड़े परिश्रमी और साहित्य-चर्चा के प्रेमी थे। कुछ लिखते-पढ़ते रहने का इनको व्यसन सा था। काशी में इन्होंने एक साहित्य-विद्यालय खोल रक्खा था, जिसमें स्वयं पढ़ाते थे। काशी में इनके कई सुप्रसिद्ध शिष्य हैं। २८ जुलाई १९३० को काशी में लालाजी

का स्वर्गवास हुआ। इनकी खड़ीबोली और व्रजभाषा दोनों प्रकार की कविताओं के नमूने नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

(१)

धनुष बान लखि राम कर, दीनहि होत उछाह।
टेढ़े सूधे जड़न को, है प्रभु हाथ निवाह॥

(२)

कोटिन कुबेरन को कनक कनूका सम,
ताको चारो वेद एक अलप कहानी है।
कामधेनु कल्पतरु चिंतामणि आदिक की,
ताको दान देखि देखि मति चकरानी है।
पाँचहूँ मुकुति ताकी दासी है खवासी करैं,
कालहू कराल कीन ता सँग बिरानी है।
'दीन' कवि जाके मन-मन्दिर में वास करैं,
राम सो सुराजा औ सिया सी महारानी है॥

(३)

ताके जाके थाके मान जावक जपा के सान,
मानिक प्रभा के प्रान बिद्रुम हिना के हैं।
तूल मुहँ ताके खाय माखन सना के पेखि,
पाद भूमिजा के सोच कंज कलिका के हैं।
रंग मृदुता के साके जग में जता के 'दीन'
कबित लता के देनहार मनसा के हैं।
सारदा सिवा के ना रमा के राधिका के,
ताके ऐसे शुभ पायँ जैसे जनकसुता के हैं॥

(४)

राजत राजस तामस पै कि कसौटी पै सोनो कसायो सुरंग है।
राग दबाये सिँगारहिं कै मघवाजित पै पसरो बजरंग है।
नील अकास लसै अरुणोदय कै जमुना पर बाणि तरंग है।
'दीन' अनूप छटायुत कै रघुलाल के गाल गुलाल को रंग है॥

(५)

कैधौं अनुराग पीछे धावत सिंगार फिरै,
वज्जु अनुगामी किधौं मेघ नील अंग है।
कैधौं स्वर्ण-सैल को खदेरे फिरै नीलाचल,
पोखराज-परी पीछे परो कै अनंग है।
स्वर्ण रंग व्याल पै मयूर कैधौं धावा किये,
ग्रैहर बसंती पै धौं कालिया भुजंग है।
'दीन' हितकारी धनुधारी रामचंद्र कैधौं,
पाछे लागे जात आगे कंचन-कुरंग है॥

(६)

सघन लतान सों लखात बरसात छटा,
सरद सोहात सेत फूलन की क्यारी में।
हिमऋतु काल जलजाल के फुहारन में,
सिसिर लजात जात पाटल-कतारी में।
सौरभित पौन ते बसन्त सरसात नित,
ग्रीषम लौं दुःख दह सोखे चटकारी में।
'दीन' कवि सोभा षट ऋतु की निहारी सदा,
जनककुमारी की पियारी फूलवारी में॥

(७)

सुनि मुनि कौशिक ते साप को हवाल सब,
बाढ़ी चित करुना की अजब उमंग है।
पद रज डारि करे पाप सब छारि करि,
नवल सुनारि दियो धामहू उतङ्ग है।
'दीन' भनै ताहि लखि जात पति लोक ओर,
उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रज्जु,
पदतें उड़ाई ऋषि-पतनी पतंग है॥

(८)

पाय कपीश निदेश जुरे सुप्रवर्षण पै कपि साजि समाजैं।
रंग अनेकन के बँदरा विरचे ससि व्यूह महा धुनि गाजैं॥
मध्य लसैं सह लच्छन राम भनै कवि 'दीन' सु यौं छवि छाजैं।
घोर घटा पै सुरेस के चाँप के बीच मनो युग चंद्र विराजैं॥

(९)

पावस की ऋतु मन भायो मास भाद्रपद,
पाख अँधियारो बुध बासर सुहायगो।
रोहिनी नखत तिथि आठैं हरषन जोग,
वृषभ लग्न ससि उच्च अंस पायगो।
कारे कारे बारिधर छोड़ैं बर बारि धारा,
बीजुरी चमंकै सब लोक चौंधियायगो।
ताही समै कारागृह माहिं देवकी के ढिग,
जग उजियारो धरि कारो रूप आयगो॥

(१०)

देखत गुविंद को मुखारविंद चंद सम,
अमित अमंद देवकी के उर छायगो।
टेरि बसुदेव को दिखायो सिसु-रूप हरि,
पाय कै निदेस आसु गोकुलै सिधायगो।
नंद के भवन पैठि सेज पै सोवाय बाल,
अति ही उताल फिरि ठौर निज आयगो।
'दीन, कवि देखि बसुदेव की उताल चाल,
बिज्जु थहरानी पौन हिये हहरायगो॥

(११)

रोवत गुविन्द सुनि जागी नँदरानी आसु,
जानि सुत जायो उर आनँद समायगो।
सुनि सुत जनम मुदित नंदराय भये,
मानो महा भूखो पाय अमृत अघायगो।
बाजे बजवाये धन संपदा लुटाई बहु,
देखि सब हरगे कुबेर सकुचायगो।
'दीन' कवि बरनै अधिकता तहाँ की कैसे,
कमला को पति जहाँ सुत रूप आयगो॥

(१२)

एहो घनश्याम नित सींचि सींचि कृपा-वारि,
कवित लता को सदा राखियो हरी हरी।
छाया करि आतप निवारियो कलेसन को,
मंद धुनि करि उलहाइयो घरी घरी।
राधे रूप बिज्जु दरसाय हनि दुःख कीट,
सफल सफूल पत्र राखियो हरी भरी।

'दीन' कवि चातक की बिनै अनसुनी करि,
ए हो घनश्याम फिर सुनिहौ खरी खरी ॥
(१३)
थोरे घास पानी में अघानी रहै रैनि दिन,
दूध दही माखन मलाई देत खाने को ।
पूतन तें खेती करवाय देत अन्न वस्त्र,
जाके हाड़ चाम आँत गोबर ठिकाने को ।
'दीन' कवि मेरे जान याही बात अनुमानि,
मुनिन महान धर्म मान्यो गो चराने को ।
ऐसे उपकारी की कृतज्ञता विसारि अब,
भारतनिवासी मारे फिरैं दाने दाने को ॥

चाँदनी

खिल रही है आज कैसी भूमितल पर चाँदनी ।
खोजती फिरती है किसको आज घर घर चाँदनी ॥
घनघटा घूँघट उठा मुसकाई है कुछ ऋतु शरद ।
मारी मारी फिरती है इस हेतु दर दर चाँदनी ॥
रात की तो बात क्या दिन में भी बनकर कुंद काँस ।
छाई रहती है बराबर भूमितल पर चाँदनी ॥
सेत सारी युक्त प्यारी की छटा के सामने ।
जँचती है ज्यों फूल के आगे हो पीतर चाँदनी ॥
स्वच्छता मेरे हृदय की देख लेगी जब कभी ।
सत्य कहता हूँ कि कँप जायेगी थर थर चाँदनी ॥
नाचने लगते हैं मन आनंदियों के मोद से ।
मानुषी मन को बना देती है बन्दर चाँदनी ॥

भाव भरती है अनूठे मन में कवियों के अनेक ।
इनके हित हो जाती है जोगी मछंदर चाँदनी ॥
वह किसी की माधुरी मुसकान की मनहर छटा ।
'दीन' को सुमिरन करा देती है अकसर चाँदनी ॥

मेंहँदी

तुमने पैरों में लगाई मेंहँदी । मेरी आँखों में समाई मेंहँदी ॥
खूनी होते हैं जगत के सब्ज़ रंग । दे रही है यह दोहाई मेंहँदी ॥
कुल से छूटो कूट कर पीसी गई । तब तेरे पद छूने पाई मेंहँदी ॥
कष्ट से मिलता है जग में इष्ट पद । बात यह सच्ची बताई मेंहँदी ॥
खैर कहता है कलेजा दे के निज । मैंने है राती बनाई मेंहँदी ॥
है कथन मेरा मेरे अनुराग से । ले गई है कुछ ललाई मेंहँदी ॥
माई के लालों से यह लाली मिली । इससे दाँपे है ललाई मेंहँदी ॥
वस्तु मँगनी की सुरक्षित ही रहे । दिल में रखती है ललाई मेंहँदी ॥
नील नभ में ज्यों छिपी ऊषा रहे । त्यों छिपाती है ललाई मेंहँदी ॥
प्रात संध्या से तुम्हारे पैर पा । व्यक्त करती है ललाई मेंहँदी ॥
रागमय जन अंग हैं शृङ्गार के । यह प्रगट देती दोहाई मेंहँदी ॥
दिल में रखना चाहिये अनुराग को । सीख देती है सुहाई मेंहँदी ॥
मेरी प्यारी के युगल चरणों के साथ । रखती है गाढ़ी सगाई मेंहँदी ॥
पैर पड़ पड़कर पकड़ लेती है हाथ । छल में वामन से सवाई मेंहँदी ॥

आँख

कहो तो आज कह दें आपकी आँखों को क्या समझे ।
सिता सिंदूर मृगमदयुक्त अद्भुत कुछ दवा समझे ॥

अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा ।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे ॥
न हो सन्तोष इस पर भी तो उपमा तीसरी ले लो ।
युगल पद धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋग् की ऋचा समझे ॥
दवा कैसी ? सुधा क्या है ? ऋचा की बात जाने दो ।
हँसी अनुराग युत श्रृङ्गार रस की भूमिका समझे ॥
न मानो भूमिका तो पाँचवीं उपमा सुनो हमसे ।
सकल जग तारने के हित त्रिवेणी की धरा समझे ॥
त्रिवेणी को धरा सिकतामयी, ये हैं रसिकतामय ।
मकरगत मन्द-मंगल-चन्द की शुभदा छटा समझे ॥
भला इन अँखड़ियों से इस छटा की तुल्यता कैसी ।
जगत को मोहनेवाली त्रिदेवों की प्रभा समझे ॥
त्रिदेवों की प्रभा भी सामने इनके नहीं जँचती ।
खरी त्रिगुणात्मिका माया की द्व्यर्थक फक्किका समझे ॥
भला इस फक्किका से और इन आँखों से क्या संगत ।
सुविद्या एक को अपरा तो दूजी को परा समझे ॥
नहीं कहते बनी उपमा भुलावे में पड़े हम भी ।
सदा ही 'दीन' हितकर राम-सीता की दया समझे ॥

वीर-पंच-रत्न से

(१)

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता ।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता ॥
जो वीर सुयश गाने में है ढील दिखाता ।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता ॥

दुनिया में सुकवि नाम सदा उसका रहेगा।
जो काव्य में वीरों की सुभग कीर्ति कहेगा॥

(२)

'वाल्मीकि' ने जब वीरचरित राम का गाया।
सम्मान सहित नाम अमर अपना बनाया॥
श्रीव्यास ने तब नाम सुकवियो में है पाया।
भारत के महायुद्ध का जब गीत सुनाया॥
कब चंद भी हिन्दी का सुकवि आदि कहाता।
यदि वीर पिथौरा का सुयश-गान न गाता॥

(३)

'होमर' जो है यूनान का कवि आदि कहाया।
उसने भी सुयश वीरों का है जोश से गाया॥
'फ़िरदौसी' ने भी नाम अमर अपना बनाया।
जब फ़ारसी वीरों का सुयश गाके सुनाया॥
सब वीर किया करते हैं सम्मान क़लम का।
वीरों का सुयश गान है अभिमान क़लम का॥

(४)

इस वक्त हैं हिन्दी के बहुत काव्य-धुरंधर।
आचार्य कोई इन्दु कोई कोई प्रभाकर॥
काव्यादि कोई, कोई हैं साहित्य के सागर।
हैं काव्य के कानन के कोई सिंह भयङ्कर॥
मैं काव्य सुकुल कामिनी का बाल हूँ अज्ञान।
इस हेतु मुझे भाता है माताओं का यशगान॥

जगन्नाथदास (रत्नाकर)

बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) का जन्म भादों सुदी ५, सं० १९२३ को काशी में हुआ। ये दिल्ली-वाल अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्व-पुरुष पानीपत के रहनेवाले थे, और वे मुग़ल बादशाहों के यहाँ ऊँचे-ऊँचे पदों पर काम करते थे। इनके परदादा लाला तुलाराम एक बार जहाँदारशाह के साथ काशी आये और तबसे वे यहीं रहने लगे थे।

बाबू जगन्नाथदास के पिता का नाम बाबू पुरुषोत्तमदास था। वे फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे। फ़ारसी तथा हिन्दी कविता से उनको बड़ा प्रेम था। उन्हीं की देखादेखी रत्नाकरजी को कविता की ओर रुचि उत्पन्न हुई। इनके पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्रों में से थे। इससे रत्नाकरजी को भी भारतेन्दु की सत्संगति का अवसर मिलता था। एक बार इनकी किसी रचना से प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्र ने कहा था कि यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा, सो सत्य हुआ।

इनकी शिक्षा काशी ही में हुई। सन् १८९१ में इन्होंने फ़ारसी लेकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एम० ए० में भी फ़ारसी पढ़ी। पर किसी कारण से परीक्षा न दे सके। सन् १९०० के लगभग इन्होंने रियासत आवागढ़ में नौकरी कर ली। वहाँ का जल-वायु इनके स्वास्थ्य के अनुकूल न होने के कारण, वहाँ दो वर्ष योग्यतापूर्वक काम करने के बाद, नौकरी छोड़कर ये काशी चले आये। कुछ दिनों तक घर पर बैठे रहने के बाद सन् १९०२ में ये स्वर्गीय अयोध्यानरेश महामहोपाध्याय महाराजा सर प्रतापनारायणसिंह बहादुर, के० सी० आई० ई०, के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुये, और उनके मृत्युकाल

(नवम्बर १९०६) तक उसी पद पर रहे। उनके बाद इनकी योग्यता और कार्य-पटुता से प्रसन्न होकर अयोध्या की महारानी साहबा ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। अंत तक ये उसी पद को सुशोभित किये रहे।

बी० ए० में इनकी दूसरी भाषा फ़ारसी थी। इससे पहले-पहल ये उर्दू में शायरी करते रहे। धीरे-धीरे इनकी रुचि हिन्दी की ओर बढ़ी, और ये हिन्दी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता और व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने लगे। इनके कवित्तों में देव, मतिराम और पद्माकर के कवित्तों का-सा आनन्द मिलता है।

ये बड़े हँसमुख और ज़िन्दादिल आदमी थे। इनके साथ बातचीत करने में साहित्यिक आनन्द ख़ूब मिलता था। स्वभाव बड़ा मधुर, स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र और कविता पढ़ने का इनका ढंग बड़ा मनोहर था। इनकी कविता सरस और भावपूर्ण होती थी।

इनकी रहन-सहन पुराने ढंग के रईसों की-सी थी। इन्हें देखकर शायद ही कोई कह सकता था कि ये अंग्रेज़ी के ग्रेजुएट हैं। ये बड़े सज्जन और मित्र-मंडली में बड़े प्रिय थे। इन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य-रत्नाकर, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, शृङ्गार-लहरी, गंगा-विष्णु-लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कलकाशी और उद्धव-शतक नामक काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। गंगावतरण पर इन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी से ५००) रुपये पुरस्कार मिले थे। इनके सिवा कुछ अन्य फुटकर कवितायें भी हैं। चंद्रशेखर के हमीर हठ, कृपाराम की हिततरंगिणी और दूलह कवि के कंठाभरण का भी सम्पादन इन्होंने किया है। जीवन के अंतिम वर्षों में ये सूरसागर के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन में अथक परिश्रम और धन व्यय कर रहे थे। खेद है, यह कार्य इनके जीवन-काल में पूरा नहीं

हुआ। कई वर्षों तक ये कई सहयोगियों के साथ "साहित्य-सुधानिधि" नामका एक मासिक-पत्र भी निकालते रहे। उसमें इनके कुछ काव्य और दोहा-नियम प्रकाशित हुये थे, जिन्हें डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी "लालचंद्रिका" में उद्धृत किया था।

बिहारी-रत्नाकर नाम से इन्होंने बिहारी सतसई की एक ललित टीका लिखी है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने इनके सम्पूर्ण काव्यों का संग्रह "रत्नाकर" नाम से प्रकाशित कराया है। २१ जून, सन् १९३२ को हरद्वार में रत्नाकरजी ने शरीर छोड़ा।

यहाँ रत्नाकर की कुछ कविताएँ दी जाती हैं:—

श्मशान का वर्णन

(हरिश्चंद्र से)

कीन्हें कम्बल बसन तथा लीन्हें लाठी कर।
सत्यव्रती हरिचंद हुते टहरत मरघट पर॥
कहत पुकारि पुकारि "बिना कर कफन चुकाये।
करहि क्रिया जनि कोइ देत हम सबहिं जताये॥"
कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
बिबिध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति।
कहुँ चरबी सों चटचटाति कहुँ दहदह दहकति॥
कहुँ फूकन हित धर्‌यो मृतक तुरतहि तहँ आयो।
पर्‌यो अंग अधजर्‌यो कहूँ कोऊ करखायो॥
कहूँ स्वान इक अस्थि खंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारो महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥

जहँ तहँ मज्जा माँस रुचिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥
हरहरात इक दिसि पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सबेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं॥
भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी।
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी॥
भये इकट्ठा आनि तहाँ डाकिन पिशाचगन।
कूदत करत कलोल किलकि दौड़त तोड़त तन॥
आकृति अति विकराल धरे कोइला से कारे।
वक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे॥
कोऊ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दै ताली।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली॥
कोउ अँतड़ी की पहिरि माल इतराय दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत॥
कोउ मुण्डनि लै मानि मोद कन्दुक लौं डारत।
कोउ रुंडनि पै बैठि करेजो फारि निकारत॥

गजेन्द्र-मोच

(१)

रमत रमा के संग आनँद-उमंग भरे,
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पैं।

कहै "रतनाकर" बदन दुति औरै भई,
बूँदैं छई छलकि दृगनि नेह नाघे पैं।
धाए उठि, बार न उबारन मैं लाई नैंकु,
चंचला हू चकित रही है बेग साधे पैं।
आवत वितुंड की पुकार मग आधे मिली,
लौटत मिल्यौ त्यौं पच्छिराज मग आधे पैं।

(२)

संगवारे महत मतंगनि के संग सबै,
निज-निज प्रान लै पराने पुसकर तैं।
कहै "रतनाकर" बिचारो, बल हार्‌यो तब
टेरि हरि पार्‌यो कल कंज गहि सर तैं।
पहुँचन पायो पुनि बारि लौं न जौलौं वह,
तौलौं लियौ लपकि उबारि हरबर तैं।
एक तैं ललायौ, चक्र एक तैं चलायौ,
गह्यो एक तैं भुसुंड, पुंडरीक एक कर तैं॥

(३)

सुंड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि,
बिबस बिसारि काज सुर के समाज को।
कहै "रतनाकर" निहारि करुना की कोर
बचन उचारि, जो हरैया दुख साज को।
अंबु पूरि दृगनि बिलंब आपनोई लेखि,
देखि देखि दीन्ह छत दंतनि दराज को।
पीतपट लै लैके अँगोछत सरीर कर
कंजनि सौं पोंछत भुसुन्ड गजराज को॥

श्रीगङ्गाष्टक

(१)

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत हीं,
धाक सुरधुनि की धँसी यौं घटघट मैं।
कहै "रतनाकर" सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्रपट मैं।
लोकपाल दौरन दसौ दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मैं।
खसन गिरीस लागे त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटि तट मैं॥

(२)

उड़त फुहारनि की तारन प्रभाव पेखि,
जम हिय हारे मनौ मारे करकनि के।
चित्र से चकित चित्रगुप्त चपि चाहि रहे,
बेधे जात मंडल अखंड अरकनि के।
गङ्ग-छींट छटकि परै न कहूँ आनि इतै,
दूत इमि तानत बितान तरकनि के।
भागे जित तित तैं अभागे भीतिपागे सबै,
लागे दौरि दौरि देन द्वार नरकनि के॥

(३)

जाइ जमराज सौं पुकारे जमदूत सबै,
साहिबी तिहारी अब लाजतै रहति है।
पापिन की मंडली उमंडि मोदमंडित,
अखंडल के मंडल लौं राजतै रहति है॥

सापी परतापी और सुरापी हूँ न आवैं हाथ,
तिनहूँ पैं छेम छत्र छाजते रहति है।
दङ्गा करैं हमसौं हमेस हठि भृङ्गीगन,
गङ्गा संभु सीस चढ़ी गाजते रहति है॥

(४)

विधि बरदायक की सुकृत-समृद्धि-वृद्धि,
संभु सुरनायक की सिद्धि की सुनाका है।
कहै "रतनाकर" त्रिलोक सोक नासन कौं,
अतुल त्रिविक्रम के विक्रम की साका है।
जमभय भारी तमतोम निरवारन कौं,
गङ्ग यह रावरी तरंग तुङ्ग राका है।
सगर-कुमारनि के तारन की श्रेनी सुभ,
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है॥

(५)

लोटि लोटि लेत सुख कलित कछारनि को,
सुरतरु डारनि को गौरव गहै नहीं।
कहै "रतनाकर" त्यौं कांकर औ सांक चुनि,
चारु मुकताफल पैं नैंकु उमहै नहीं।
हेमहंस होन की न राखत हियैं मैं हौंस,
नन्दन के कोकिल कौं कलित कहै नहीं।
गंगजल तोषि दोषि सुकृत सुधासन को,
काक पाकसासन को आसन चहै नहीं॥

(६)

कहत बिधाता सौं बिलखि जमराज भयौ,
अखिल अकाज है हमारी राजधानी कौ।

सुरसरि दीनी ढारि भूप कै भुलावैं माहिँ,
कीन्यौ नाहिं नैंकु हूँ विचार हित हानी कौ।
निज मरजाद पै कछू तौ ध्यान दीजै नाथ,
कीजै इमि प्रगट प्रभाव वर बानी कौ।
पावैं नर नारकी न रंचक उचारि क्यौं हूँ,
गंगा कौ गकार औ चकार चक्रपानी कौ॥

(७)

जदपि हमारे पापपुञ्ज अतिघाती तऊ,
जनम जनम के सँघाती निरधारै तू।
कहै "रतनाकर" ममात यह मात गंग,
तातैं तिन्हैं नासन के ढंग ना बिचारै तू।
काक करै कोकिल बलाक कलहंस करै,
आक ढाक जैसे सुरतरु कै सँवारै तू।
त्यौंहीं पलटाइ काय तिनकौं लगाईं छाप,
पुन्यनि के कलित कलाप करि डारै तू॥

(८)

न्हाइ गंगधार पाइ आनँद अपार जब,
करत बिचार महा महिमा बखानी कौं।
कहै "रतनाकर" उठति अवसेरि यहै,
फेरि फेरि पैयै क्यौं जनमि इहिं पानी कौं।
पञ्च की कहा है करैं पातक प्रपञ्च सबै,
रञ्चहूँ डरैं न जमजातना कहानी कौं।
सरसरि पंथ ओर पारत हीं तौहूँ पाय,
आवति चलीयै हाय मुक्ति अगवानी कौं॥

राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

राय देवीप्रसाद "पूर्ण", बी० ए० बी० एल० का जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण १३, सं० १९२५ में जबलपुर में हुआ। इनके पिता राय वंशीधर जबलपुर में वकालत करते थे।

राय देवीप्रसाद "पूर्ण" समकालीन हिन्दी-कवियों में बहुत ऊँचा स्थान रखते थे। हिन्दी-कविता के लिये बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि पूर्ण के द्वारा वह पूर्ण न होने पाई। स्वर्गीय पूर्णजी की जीवन-कथा उनके मित्र पंडित महाबीरप्रसाद द्विवेदीजी की ज़बानी सुनिये :—

"बड़े दुख की बात है, बड़े ही परिताप का विषय है, बड़ी ही हृदयदाहक घटना है—राय देवीप्रसाद अब इस लोक में नहीं। गत ३० जून १९१५ को सबेरे १० बजे वे उस "धाम" के पथिक हो गये, जहाँ से फिर कोई लौटकर नहीं आता—"यद्‌गत्वा न निवर्तते"। ऐसे देश भक्त, ऐसे उत्तम वक्ता, ऐसे उत्कृष्ट कवि ऐसे हार्दिक हिन्दी-प्रेमी, ऐसे धुरीण धर्मिष्ठ की निधन-वार्ता अचानक सुननी पड़ेगी, इसका स्वप्न में भी खयाल न था। सुनकर सिर पर वज्रपात-सा हुआ। कलेजा काँप उठा। दूर होने के कारण अपने इस माननीय मित्र के अन्तिम दर्शनों से भी यह जन वञ्चित रहा। शोक ! जिसकी हास्य-रस-पूर्ण, पर तर्क-सङ्गत और युक्ति-युक्त वक्तृता सुनकर, कुछ समय पूर्व श्रोता लोग लखनऊ में मुग्ध हो गये थे, वह विद्वान्, वह नामी वकील, वह धर्म-प्राण पुरुष, केवल ४५ वर्ष की उम्र में, अपने प्रेमियों को, अपने नगर के निवासियों को, अपने मित्रों और कुटुम्बियों को रुलाकर चल दिया। कानपूर में आपकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। कोई बड़ा काम ऐसा न होता

था, जिसमें आप शरीक न होते हों। कोई कैसा ही क्यों न हो, यथा-शक्ति आप उसकी अवश्य ही इच्छा-पूर्ति करते थे। बस, आपके यहाँ तक उसे पहुँच भर जाना चाहिये। नवयुवकों तक की सभाओं में आप प्रसन्नता-पूर्वक जाते थे, व्याख्यान देते थे और प्रार्थना करने पर सभापति का पद भी ग्रहण कर लेते थे। धर्म आपकी बड़ी प्यारी वस्तु थी। ब्रह्मावर्त-सनातन-धर्म-मंडल की स्थापना आपही ने की थी। सङ्गीत में भी आप बहुत कुशल थे। कविता आप की बहुत ही सरल और स्वाभाविक होती थी। बहुत बरसों तक आपके स्थान पर हर रविवार को एक कवि-मण्डल का अधिवेशन होता था और निश्चित समस्याओं पर सुन्दर-सुन्दर पूर्तियाँ बनाई जाती थीं। आप बहुत शीघ्र कविता करते थे। आप की कई कवितायें सरस्वती में भी निकल चुकी हैं। "देशहित के कुण्डल"—पाठकों को अबतक न भूले होंगे। राय साहब थे तो कायस्थ, पर आचरण और विद्वत्ता में आप बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मणों से भी बढ़े हुए थे। वेदान्त आपका प्यारा विषय था। कुछ समय पूर्व आप पञ्चदशी का परिशीलन करते थे।

कानपुर के जिले में एक मौजा भदरस है। राय साहब वहीं के रहने वाले थे। शिक्षा इन्होंने जबलपुर में पाई थी। वहीं ये बी० ए० और वहीं बी० एल० हुये। हाईकोर्ट वकील की परीक्षा पास करके इन्होंने कानपुर में वकालत शुरू की। थोड़े ही समय में इनकी गिनती कानपुर के नामी वकीलों में हो गई। ये अधिकतर दीवानी ही के बड़े बड़े मुकदमे लेते थे। इनका दीवानी क़ानून-विषयक ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। बड़े-बड़े पेचीदा मुकदमे बहुधा इन्हीं के पास आते थे। इन पर नगर-निवासियों का बड़ा प्रेम था। इनकी निधन-वार्ता फैलते ही शहर के बाज़ार बन्द हो गये। कचहरी भी बन्द कर दी गई।

राय साहब ने अनेक काम अपने ऊपर ले रक्खे थे। म्यूनिसिपल बोर्ड के मेम्बर थे, कांग्रेस कमेटी और पीपुल्स एसोसियेशन के सभापति थे। १९१२ में कानपुर में जो प्रान्तिक कान्फ़रेन्स हुई थी, उसकी अभ्यर्थना-समिति के ये ही सभापति थे। गत एप्रिल के आरम्भ में हिन्दी का जो प्रान्तिक सम्मेलन गोरखपुर में हुआ था, उसके भी सभापति ये ही हुये थे। लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी ने इनको अपना मेम्बर बनाया था।

राय साहब की लिखी हुई कितनी ही पुस्तकें हैं। चन्द्रकला-भानुकुमार नाटक और धाराधर-धावन की आलोचनायें, बहुत पहले, सरस्वती में निकल चुकी हैं। पहले ये रसिक-वाटिका नामक कविता-पुस्तक हर महीने निकालते थे। पीछे से धर्म-कुसुमाकर नामक एक मासिक-पत्र निकालने लगे थे। वकालत सँभालकर और सर्वजनोपयोगी और भी कितने ही काम करके ये साहित्य-सेवा के लिये भी समय निकाल लेते थे। थियासफिस्ट होकर भी ये अच्छे वेदान्ती थे। अपने धर्म में इनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। और कामों में चाहे त्रुटि हो जाय; पर धार्मिक कामों में ये कभी त्रुटि न होने देते थे। हर साल होली पर, ये अपने गाँव में बड़े ठाट से धनुष-यज्ञ करते थे। कई साल से ये सनातन-धर्म सम्बन्धी वार्षिक उत्सव भी करने लगे थे। इन उत्सवों में दूर-दूर से बड़े-बड़े वक्ता आते थे।

ऐसे बहुगुण-सम्पन्न, परोपकार-रत, देश-हितैषी पुरुष के न रहने से कानपुर ही की नहीं, सारे प्रान्त की और देश की भी बड़ी हानि हुई। उनके कितने ही मित्र तो अनाथ-से हो गये। जो स्वयं ही शोक से विह्वल हैं, वे रायसाहब के कुटुम्बियों को किस तरह धैर्य्य दें और क्या कहकर समझावें। ईश्वर उन्हें इस दुःसह दुःख के सहने की शक्ति दे।"

यहाँ "पूर्ण" जी की कविताओं के नमूने उद्धृत किये जाते हैं:—

वर्षा का आगमन

(१)

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगो बसुधा लागी सुखमा लहन॥
लहलही लहरान लगीं सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन वृच्छ मंजुल विपुल॥

(२)

हरित मनि के रङ्ग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इन्द्रबधून अवली छटा मानिक बरन॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चंद्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली॥

(३)

नील नीरद सुभग सुरधनु बलित सोभा धाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनस्याम॥
कूप कुंड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन॥

(४)

रटन दादुर त्रिविध लागे रुचन चातक बचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गर्जत मनहुँ पावस भूप को दल सकल।
विजय दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल॥

भरत-वाक्य

(१)

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजे, विद्या दीजे सभ्य सन्तान दीजे।
हे हे स्वामी! प्रार्थना कान कीजे, कीजे कीजे देश-कल्याण कीजे॥

(२)

सुमति सुखद दीजै फूट को लोग त्यागैं।
कुमति हरन कीजै द्वेष के भाव भागैं॥
तजि कुसमय निद्रा चित्त सों चित्त जागैं।
विषम कुपथ त्यागैं नीति के पंथ लागैं॥

(३)

तन्द्रा त्यागैं लहि कुशलता होहिं व्यापार-नेमी।
सीखैं नीकी नव नव कला होहिं उद्योग-प्रेमी॥
पूरे रूरे नियम विधि सों स्वस्थता के निबाहैं।
उत्कंठा सों दिवस निसिहूँ देश की वृद्धि चाहैं॥

(४)

पावैं पूरी प्रतिष्ठा कविवर जग के शुद्ध साहित्य-ज्ञानी।
होवैं आसीन ऊँचे सुजन विदित जे देश-सेवाभिमानी॥
पीड़ा दुर्भिक्षवारी जुगजुग कबहूँ प्रान्त कोऊ न पावै।
दीर्घायू लोग होवैं तिन ढिग कबहूँ रोग कोऊ न आवै॥

(५)

सत्सङ्ग सन्त-सुर-पूजन धेनु-प्रेम,
श्रीराम-कृष्ण-चरितामृत-पान-नेम।
सौजन्य भाव गुरुसेवन आदि प्यारे,
सम्पूर्ण शील शुभ पावहिं देशवारे॥

(६)

अन्याय को अङ्क कहूँ रहैना, दुर्नीति की शङ्क कहूँ रहैना।
होवै सदा मोद विनोदकारी, राजा प्रजा में अनुराग भारी॥

(७)

समस्त वर्णाश्रम धर्म मानै, सदाहि कर्तव्य प्रधान जानैं।
जसी तपस्वी बुधवीर होवैं, बली प्रतापी रणधीर होवैं॥

(८)

लक्ष्मी दीजे लोक में मान दीजै, विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी प्रार्थना कान कीजै, कीजै कीजै देश-कल्याण कीजै॥

मृत्युञ्जय

(१)

प्रतिनिधे खल काल कराल के!
कुटिल क्रूर भयानक पातकी॥
अति विलक्षण है तव दुष्क्रिया।
अशुच मृत्यु अरे अधमाधम॥

(२)

करत सैर हुते कल बाग की।
तुरँग बाग गहे कर रेशमी॥
सुनि परे तिनकी अब बारता।
चल बसे तजि के जग बाग सो॥

(३)

रतन मन्दिर मञ्जु अमन्द में।
रमत जौन निरन्तर ही रहैं॥

दिवस अन्तर में सोइ सोवहीं।
अब भयङ्कर घोर मसान में ॥

(४)

मखमली मृदु मंजुल तूल की।
सुमन रञ्जित सेज विहाय के ॥
मृदुल अंगन के लखिये परे।
कठिन काठ चिता परयंक पै ॥

(५)

लखत रंग हुते गनिकान के।
निसि निरन्तर जो जन जागि के ॥
उन लई निँदिया इमि काल की।
मुँदि गई अँखिया सब काल को ॥

(६)

गति सुधारन की करि धारना।
उचित है चित धीरज धारियो ॥
स्फटित हो अथवा कछु काल में।
अवशि जीतहिंगे हम काल को ॥

(७)

सकल पापन सों बचि कै सदा।
शुभ सुकर्म करो बिन बासना ॥
परम सार रहे नित ध्यान में।
सुखद पन्थ यही बर ज्ञान को ॥

(८)

जगत है मन की सब कल्पना।
दृढ़ जबै यह निश्चय होत है ॥

जगत भासत पूरन ब्रह्म ही।
बस वही परिपूरन ज्ञान है॥

(९)

पर दशा वह पूरन ज्ञान की।
स्थिर सदा रस एक रहै नहीं॥
न जबलौं मन को बस कीजिये।
तजि सबै जड़ जङ्गम बासना॥

(१०)

सुहृद सङ्ग सहोदर सुन्दरी।
सुखद सन्तति धाम बसुन्धरा॥
सुजस सम्पति की मनकामना।
सबन को बस बन्धन मानिये॥

(११)

दनुज बंस भुजंगम देवता।
मनुज कुञ्जर भृङ्ग बिहंगम॥
विपिन तुंग तड़ाग तरंगिनी।
जलद वृन्द दिवाकर चन्द्रमा॥

(१२)

गगन मध्य धरातल मध्य में।
अरु रसातल में जितनो जितै॥
सकल सो जड़ जङ्गम जानिये।
असत पञ्च प्रपञ्च विरञ्चि को॥

(१३)

यदि लखात असार जहान है।
छुटत जो जग बन्धन ते हियो॥

उदित जो उर मुक्ति सु कामना ।
करहु तो तुम साधन ज्ञान को ॥

(१४)

तिमिर नाश प्रकाश बिना नहीं ।
घन विलात न वात बिना यथा ॥
न बरखा बिन जात निदाघ ज्यों ।
मिटन काल नहीं बिन ज्ञान के ॥

(१५)

बिलग वारिधि ते न तरङ्ग है ।
पृथकता बरु मन्द बिचारहीं ॥
लहर अम्बुधि दोनहुँ अम्बु हैं ।
जगत ब्रह्ममयो तिमि जानिये ॥

(१६)

कनक के बरु कङ्कन किङ्किनी ।
अमित आकृति के रचिये तऊ ॥
कनक ते नहिं अन्य कछू तथा ।
सकल ब्रह्ममयी जग जानिये ॥

(१७)

पवन भासत नाहिं बिना चले ।
अरु चले वह भासन लागई ॥
अचल चञ्चल है इकही हवा ।
पृथक मूढ़ भलो समुझो करै ॥

(१८)

यहि प्रकार अचञ्चल ब्रह्म में ।
स्फुरण चञ्चलता सम जानिये ॥

जगत भासन लागत है सही।
पृथक तौन नहीं पर ब्रह्म सों॥

(१६)

भवन में मठ में घट में यथा।
गगन देखि अनेक परै तऊ॥
विमल बुद्धिन को नभ एक है।
सबन में परमातम है तथा॥

धाराधर-धावन

(१)

मूल

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशन्तं नगेन्द्रम्॥

अनुवाद

कनक कमल उपजानवारो मानस को जल पीजौ॥
सलिल पियत त्यों ऐरावत को मुख अँगोछि हित कीजौ॥
कल्पलतादल वायुवेग सों पट समान फहरैयो।
यहि विधि भोग-विलास विविधि करि परवत पै सुख पैयो॥

(२)

मूल

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
त्वा दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥

अनुवाद

नगपति अंक लसै नागरि सी अलका नगरि सुहानी।
सुरसरिसारी रही सरकि सित तू लेहै पहिचानी॥
पावस में अभिराम कामचर ! धाम तुङ्ग अति वाके।
धारत जलधर जाल बाल ज्यों बाल गुथे मुकता के॥

मूल

नत्वात्मानं बहुविगुणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मागमः कातरत्वम्।
कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

अनुवाद

आशा ही के सहारे अतुलित दुख में मैं धरूँ धीर जैसे।
तू हू हे भागवन्ती दुसह विरह में राखु री धीर तैसे॥
ना कोऊ नित्य भोगै अति सुख, अरु ना नित्य ही दुःख भारी।
ऊँची नीची अवस्था लखियत जग में चाल ज्यों चक्रनारी॥

फुटकर

(१)

गंगा जमुनी की कोऊ सुखमा बतावै कोऊ
संगति सतोगुन रजोगुन अमन्द की।
कोऊ धूप छाँह की बतावत छटा है कोऊ
लाज पै चढ़ाई कुसुमायुध सुछन्द की॥
सोभा सिन्धु नवला की बैस की बिलोकि संधि
बारता सुहात मोहिं पूरन अनन्द की।

रूप देस एकै संग राजै उजियारी चारु
जोवन के सूरज की शैशव के चन्द की ॥

(२)

अद्भुत डोरी प्रेम की जामें बाँधे दोय।
ज्यों ज्यों दूर सिधारिये त्यों त्यों लाँबी होय ॥
त्यों त्यों लाँबी होय, अधिकतर राखै कसिकै।
नेह न्यून ह्वै सकत नेक नहिं दूरहु बसिकै ॥
विधिना देत बिछोह कहूँ तासों कर जोरी।
रखियो छेम समेत प्रेम की अद्भुत डोरी ॥

(३)

प्रेम सुमग में परि गयो विरह सिन्धु गम्भीर।
नाव दया है रावरी पहुँचावन को तीर ॥
पहुँचावन को तीर तुमहि समरथ सुखरासी।
मैं अबला बिन बित्त बिना दामन की दासी ॥
मेरो है न अधार दूसरो तुम बिन जग में।
दीजो ताते साथ प्रानपति प्रेम सुमग में ॥

(४)

कोल्हू को कठिन भार काठ और कबार तापै,
कांधे पै संभार धायो तिन भुस खाय खाय।
सूधो चलतो तो होतीं मंजिलैं विपुल पार,
नन्दीपुर जाय हरखातो सुख पाय पाय ॥
होनहार नाहीं इन तिलन में तेल नेक,
पूरन सचेत होहु चित हित लाय लाय।
अजहूँ चखन खोलि सोच तो अनारी भला,
केती गैल काटी बैल रातो दिन धाय धाय ॥

(५)

माता के समान पर पतनी बिचारी नहीं,
रहे सदा परधन लेनही के ध्यानन में।
गुरुजन पूजा नहीं कीन्हीं सुचि भावन सों,
गीधे रहे नानाविधि विषय विधानन में॥
आयुस गँवाई सबै स्वारथ सँवारन में,
खोज्यो परमारथ न वेदन पुरानन में।
जिनसों बनी न कछु करत मकानन में,
तिनसों बनैगी करतूत कौन कानन में॥

(६)

पूरन सप्रेम जो न लेत मुख रामनाम,
टीका अभिराम है निकाम तासु आनन में।
उर में नहीं जो हरिमूरति बिराजी मंजु,
कौन महिमा है कंठमालन के दानन में॥
आसन को नेम बिन वासना नमाये मिथ्या,
बिन श्रुति ज्ञान होत मुद्रा वृथा कानन में।
चाहिये सुप्रीति धर्म कर्म के विधानन में,
रहिये मकानन में चाहे घोर कानन में॥

(७)

तुम्हारे अद्भुत चरित मुरारि।
कबहूँ देत विपुल सुख जग में कबहुँ देत दुख भारि॥१॥
कहुँ रचि देत मरुस्थल रूखो कहुँ पूरन जलरास।
कहुँ ऊसर कहुँ कुञ्ज विपिन कहुँ कहुँ तम कहूँ प्रकास॥२॥

(८)

बिरहा

अच्छे अच्छे फुलवा बीन री मलिनिआँ गूँथि लाव नीको नीको हार।
फुलन को हरवा गोरी गरे डरिहौं सेजिया माँ होय रे बहार॥
हरि भजना, करु गौने कै साज।

चैत मास की सीतल चाँदनी रसे रसे डोलत बयार।
गोरिया डोलावे बीजना रे पिय के गरे बाहीं डार॥
हरि भजना, पिय के गरे बाहीं डार॥

बागन माँ कचनरवा फूले बन टेसुआ रहे छाय।
सेजिया पै फूल झरत रे जबही हँसि हँसि गोरी बतराय।
हरि भजना, हँसि हँसि गोरी बतराय॥

हरबर साइति सोधि दे बम्हनवा भरनी दिहिसु बरकाय।
पाछे रे जोगिनिआँ सामने चँदरमा गोरिया क लावहुँ लेवाय॥
हरि भजना, गोरिया क लावहुँ लेवाय॥

कोउ रे पहिरे मोतियन माला कोउ रे नौनगा हार।
गोरिया सलोनी मैं करौ रे अपने गरे का हार॥
हरि भजना, अपने गरे का हार॥

आमन कूके कोइलिया रे मोरवा करत बन सोर।
सेजिया बोले गोरिया रे सुनि हुलसे जिय मोर॥
हरि भजना, सुनि हुलसे जिय मोर॥

काहे क बिसाहौं रँग पिचकरिया काहे धरौं अबिरा मँगाय।
होरी के दिनन माँ गोरी के तन माँ रँग रस दुगुन दिखाय॥
हरि भजना, रँग रस दुगुन दिखाय।

(९)

पुर्जे किसी मशीन के हों कहने को साठ।
बिगड़े उनमें एक तो हों सब बारह-बाट॥
हों सब बारह-बाट बंद हो चलना कल का।
छोटा हो या बड़ा किसी को कहो न हलका॥
है यह देश मशीन लोग सब दर्जे-दर्जे।
चलें मेल के साथ उड़ें क्यों पुर्जे-पुर्जे॥

(१०)

चीनी ऊपर चमचमी भीतर अति अपवित्र।
करते हो व्यवहार तुम है यह बात विचित्र॥
है यह बात विचित्र अरे निज धर्म बचाओ।
चौपायों का रुधिर अस्थि अब अधिक न खाओ॥
है यह पक्की बात बड़ों की छानी-बीनी।
करो भूल स्वीकार करो मत नुक्ताचीनी॥

(११)

भरतखण्ड का हाल ज़रा देखो है कैसा।
आलस का जंजाल ज़रा देखो है कैसा॥
ज़रा फूट की दशा खोलकर आँखें देखो।
खुदग़रज़ी का नशा खोलकर आँखें देखो॥
है शेखी दौलत की कहीं, बल का कहीं गुमान है।
है खानदान का मद कहीं, कहीं नाम का ध्यान है॥

(१२)

फिरते हैं अशराफ़ गली में मारे-मारे।
कहीं अहले-औसाफ़ हुए कँगले बेचारे॥

ये अमीर, पर आज बदन पर नहीं लँगोटी।
मिडिल कर लिया पास, नहीं पर मिलती रोटी॥
जब सनअ़त हिर्फ़त खोगई, रोज़गार ग़ायब हुआ।
ख़ुद कहो तुम्हीं इन्साफ़ से, यह न होय तो होय क्या!॥

(१३)

चींटी, मक्खी शहद की, सभी खोजकर अन्न।
करते हैं लघु जन्तु तक, निज गृह को संपन्न॥
निज गृह को सम्पन्न करो स्वच्छंद मनुष्यो!
तजो तजो आलस्य अरे मतिमंद मनुष्यो!
चेत न अबतक हुआ मुसीबत इतनी चक्खी;
भारत की सन्तान! बने हो चींटी, मक्खी!

(१४)

बल ना करत काठ दल है कतार सारी,
गिनती गिनन ही को साथी ये घनेरे हैं।
देखिकै चढ़ाई आगे पीछे को करत खींच,
जानि के उतार वृथा ठेलत करेरे हैं।
इंजन सबल वीर धूम सों कहत बात,
एक तो विघन मग माहिं बहुतेरे हैं।
तापै ये अलाल बिन बूझ बिन सूझवारे,
डब्बे मुरदार यार पीछे परे मेरे हैं॥

(१५)

खेती है इस देश में, सब सम्पति की मूल।
कोहनूर इस कोश में, हैं कपास के फूल॥

(१६)

खोया सब, हाँ रही बुद्धि इतनी अलबत्ता।
दे कर चाँदी खरी मोल लेते हैं लत्ता॥

(१७)

वो तवाँगरी, वो बहादुरी, वो दिमाग़ो चेहरे की रोशनी।
वो गऊ के थन का ही माल था।
थी जो उपनिषद् की फ़िलासफ़ी, वो प्रभाव की भरी शायरी।
उसी दूध का वो उबाल था॥

(१८)

कहाँ गईं, कान्ह तुम्हारी गैयाँ।
कहाँ गईं जमुना की कूलैं कुञ्जन की धमछैयाँ।
कहाँ गये पर्वत माखन के दूध की ताल तलैयाँ॥

कन्हैयालाल पोद्दार

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का जन्म सं० १९२८ में, मथुरा में हुआ। ये रामगढ़ (सीकर-जयपुर)-निवासी मारवाड़ी-समाज के सुप्रसिद्ध सेठ गुरुसहायमलजी के प्रपौत्र और मथुरा के प्रख्यात दानवीर सेठ जयनारायणजी के पुत्र हैं।

सेठ जयनारायणजी अंग्रेज़ी शिक्षा को नास्तिक-भावोत्पादक समझते थे और उसके कट्टर विरोधी थे। इसीसे इन्हें अँग्रेज़ी शिक्षा न दिलाकर धार्मिक और व्यापारिक शिक्षा दिलाई गई। ये बारह वर्ष के थे, तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। इससे बालकपन ही में

गृहस्थी का समस्त भार इन पर आ पड़ा था। पहले इनकी रुचि हिन्दी-कविता की ओर विशेष रूप से थी। पर पीछे से संस्कृत की ओर इनका अनुराग बढ़ता गया। निरन्तर श्रीमद्भागवत, संस्कृत के काव्यग्रन्थ और तुलसी के रामचरितमानस के पठन और मनन से इनमें काव्य रचने की रुचि जाग्रत हुई। सं० १९४७ में इनका "भर्तृहरि-शतक" का अनुवाद कालाकांकर (प्रतापगढ़) के दैनिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ था। सरस्वती में उसके प्रारम्भ ही से इनके लेख और कविताएँ प्रकाशित होती रही हैं।

सरस्वती में प्रकाशित इनका एक लेख "महाकवि भारवि" शीर्षक बहुत विद्वत्तापूर्ण समझा गया था। उसमें समय-समय पर प्रेम-सरोवर, कोकिल, बम्बई का समुद्र-तट आदि फुटकर कविताएँ भी इन्होंने लिखी थीं।

सं० १९५९ में इनका रचा हुआ "अलङ्कार-प्रकाश" प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी में अलङ्कार-विषयक सब से अच्छा ग्रन्थ है। हिन्दी में प्रायः सभी प्रतिष्ठित विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने इस अलङ्कार-ग्रन्थ की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। यह साहित्य की परीक्षाओं में पाठ्य-ग्रन्थ रक्खा जाता है। इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण, परिवर्तित रूप में, "काव्य-कल्पद्रुम" नाम से निकला। "अलङ्कार-प्रकाश" में केवल अलङ्कार विषय था। "काव्य-कल्पद्रुम" में काव्य के सब मुख्य-मुख्य अंगों का वर्णन आ गया है। यह ग्रन्थ अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। यह केवल विद्यार्थियों ही के काम का नहीं, साहित्य के सब रसिक विद्वानों के देखने योग्य है। इसमें काव्य के जटिल विषय संस्कृत के सिद्धान्त-ग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट किये गये हैं।

संस्कृत श्लोकों का समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद करने में पोद्दारजी विशेष पटु हैं। श्रीमद्भागवत के कई एक अध्यायों का इन्होंने समश्लोकी हिंदी अनुवाद किया है, जो "पञ्चगीत" नाम से प्रकाशित हुआ है। इसी तरह पंडितराज जगन्नाथ-कृत गङ्गालहरी का भी इन्होंने समश्लोकी अनुवाद किया है, जो प्रकाशित हो चुका है।

इनका विवेचनात्मक ग्रंथ "हिन्दी-मेघदूत विमर्श" है। यह महाकवि कालिदास के मेघदूत का समश्लोकी हिन्दी-पद्यानुवाद और गद्यानुवाद है। इनके ग्रंथों में यह विशेष महत्व का है। इसमें कालिदास की जीवनी, तत्कालीन कवियों और सम्राटों का परिचय, प्रासंगिक साहित्य, तथा ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विषयों का बड़ा मार्मिक वर्णन है। इसमें मेघदूत-सम्बंधी अनेक नई बातें खोज निकाली गई हैं। हिन्दी के विद्वत्समाज में इस ग्रंथ को गौरव-स्थान प्राप्त हुआ है।

सेठजी ने इस वृद्धावस्था में भी बहुत परिश्रम करके संस्कृत-साहित्य का इतिहास दो भागों में लिखा है, जो छप गया है। उसे पढ़ने से इनके परिश्रमी जीवन और अलङ्कार-शास्त्र पर इनकी अद्भुत क्षमता का पता चलता है।

सेठजी की हिन्दी-सेवा का यह साधारण परिचय है। सेठजी साहित्य-जीवी नहीं, अपने व्यापारिक कार्यों से अवकाश निकालकर ही इन्होंने हिन्दी की अमूल्य सेवा की है। इससे इनकी हिन्दी-सेवा का मूल्य बहुत बढ़ गया है। रामगढ़-ऐसे नीरस प्रदेश में उत्पन्न होकर सरस कवि होना, लक्ष्मीवन्त के घर में जन्म लेकर सरस्वती-भक्त होना यह इनके पूर्वजन्म के पुण्य ही से सम्भव हुआ है।

इनका वंश-वृक्ष इस प्रकार है :—

ताराचंदजी
|
गुरुसहायमलजी
|
घनश्यामदासजी
|

जयनारायणजी लक्ष्मीनारायणजी राधाकृष्णजी केशवदेवजी मुरलीधरजी

कन्हैयालालजी ब्रजमोहन आदि तीन भाई (जयनारायणजी, लक्ष्मीनारायणजी)

रघुनाथप्रसाद (राधाकृष्णजी) श्रीनिवास (केशवदेवजी) बालकृष्णलाल (मुरलीधरजी) आदि चार भाई

मारवाड़ी-व्यापारी-समाज में सेठ ताराचंद घनश्यामदास (फ़र्म) की बड़ी प्रतिष्ठा है। सेठ कन्हैयालालजी ने इसी वंश को अपने जन्म से कीर्ति-सम्पन्न किया है। इस पोद्दार-वंश में सेठ केशवदेवजी और उनके सुपुत्र श्रीनिवासजी, बालकृष्णलालजी तथा हनुमानप्रसादजी आदि भी बड़े विद्यानुरागी हैं।

सेठ कन्हैयालालजी की कविताओं के नमूने आगे उद्धृत किये जाते हैं :—

कोकिल

(१)

उडुगण क्षय भी हों दीखते भी कहीं हो,
गत जब रजनी हो पूर्व संध्या बनी हो।
मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा।
तब पिक ! करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा॥

(२)

अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य गाती।
रसिक-जन सभी तू नींद से है जगाती॥

मनहरन सुना के माधुरी तू प्रभाती।
अलसित चित को भी सत्य ही है लुभाती॥

(३)

विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे।
निज निज दिखलाते शब्द-चातुर्य सारे॥
ध्वनि तब करती वे क्या न निस्सार सी तू।
जब पिक बतलाती शब्द की चातुरी तू॥

(४)

सरस उपवनों में वाटिका में कभी तू।
गिरि-सरित तटों के प्रान्त में भी कभी तू॥
सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू।
सुमधुर मतवाली कूक को कूजती तू॥

(५)

प्रिय-विरह-दशा में क्या वहीं जा छिपाती?
सुललित वह वानी भी नहीं तू सुनाती॥
सच कह, वह बातें क्या नहीं याद आती?
"परभृत" यह तेरा नाम भी भूल जाती॥

(६)

कविजन गुण तेरे नित्य गाते तथापि,
अति परिचय से तू हो न फीकी कदापि।
बस, अधिक कहें क्या? मान काफी यहीं तू॥
अनुपम गुण वाली भाग्यशाली बड़ी तू॥

बम्बई का समुद्र-तट

(सायङ्कालिक दृश्य)

(१)

सायङ्काल हवा समुद्र तट की, नैरोग्यकारी महा,
प्रायः शिक्षित सभ्य लोग नित ही, आते इसी से वहाँ।
बैठे हास्य-विनोद-मोद करते, सानन्द वे दो घड़ी,
सो शोभा उस दृश्य की हृदय को, है तृप्ति देती बड़ी॥

(२)

सन्ध्या को गिरती दिनेश-कर की, नोकें ललाई सनी,
होती है तब दिव्य वारिनिधि की, शोभा मनोमोहिनी।
नीचे से जब बार बार उठती, ऊँची तरङ्गावली,
आती है बढ़ के सुदूर फिर भी, जाती वहाँ ही चली॥

(३)

छोटे और बड़े जहाज़ जल में, देखो वहाँ वे खड़े,
सो भी दृश्य विचित्र किन्तु हमको, वे हानिकारी बड़े।
ले जाते वर-वस्तु देश भर की, जाने कहाँ की कहाँ,
लाते केवल ऊपरी चटक की, चीज़ें विदेशी यहाँ॥

(४)

है उद्यान महामनोहर जहाँ, विख्यात वृक्षावली,
फूली है कुसुमावली नव-नवा, सौरभ्य आती चली।
बैठी स्वागत सी जहाँ कर रही, प्यारी विहङ्गावली,
चित्ताकर्षक खूब वारिनिधि की, आनन्ददायी स्थली॥

(५)

आते हैं दिन के थके जन सदा, सन्ध्या हुये पे यहीं,
प्यारी मन्द सुगन्ध-शीतल हवा, अन्यत्र पाते नहीं।

दे के स्पर्श समीर खूब करती, आतिथ्य सेवा, तथा—
खोती है श्रम सर्व और उनकी, सारी मिटाती व्यथा ॥

(६)

मेंमें मञ्जुल पारसीक नवला, नारी दिखाती अदा,
आती हैं सब सभ्य भव्य महिला, प्रायः सदा सर्वदा।
वे स्वाधीन सभी, समाज निज से, स्वातन्त्र्य पाई हुई,
आतीं जो मरु-वासिनी वह कथा, है सर्वथा ही नई ॥

(७)

सुभग-सदन-श्रेणी प्रान्त में दीखती है।
प्रति प्रति सदनों में वाटिका भी बनी है।
सुरभित हरियाली चातुरी से लगी है।
विकसित कुसुमाली कुण्डिका भी धरी है ॥

(८)

मदकल-मतवाली जो वहाँ कामिनी हैं,
अनुपम-छविवाली रूप-शाली बड़ी हैं।
दृग-पथ करने से चित्त आता यही है,
सुर पुर-वनिता ही क्या यहाँ आ गई हैं ?

(९)

शोभा समुद्र-तट की अवलोकनीय,
पाता प्रमोद मन देख उसे मदीय।
यथार्थ वर्णन न हो सकता तदीय,
है दृश्य केवल अहो! वह दर्शनीय ॥

दोहे

कपट नेह असरल मलिन, करन निकट नित बास।
गनिका कुटिल कटाच्छ खल, केहि नहिं ठगत सहास ॥ १ ॥
धिक तेली जो चक्रधर, स्नेहिन करत बिहाल।
पारथिवन विचलित करत, चक्री धन्य कुलाल ॥ २ ॥
गुनचुत पुरुषऽरु विशिखहू, पर भेदन में दच्छ।
भयदायक केहिँ के न हों, लघु पुनि मलिन सपच्छ ॥ ३ ॥
यूथप ! तेरे मान सम, विटप न इतै लखाँहि।
क्यों हू काठ निदाघ दिन, दीरघ कित तो छाँहि ॥ ४ ॥
घन तम अरु पथ विषम अति, लखि उलका मुख ताहि।
तकी बरन जम्बुक बहू, मूँद्यो बदन लखाहि ॥ ५ ॥
सीधे को लघुता जहाँ, टेढ़ो गुरुता पाय।
पिंगल लौं होबो सरल, उचित न या जग माँय ॥ ६ ॥
यदपि मलय तरु को न विधि, फल अरु फूलन दीन्ह।
तदपि अहो ! निज तन करत, औरन ताप विहीन ॥ ७ ॥
कवि अच्छर मैत्री भजत, नहिं कठोर ग्रामीन।
शब्दऽरु पुरुषहु साधु ही, होंय अर्थ शालीन ॥ ८ ॥
गुरु सों नमनऽरु लघुन सों, उन्नत सम सम प्रेम।
उचितज्ञ है क्यों तुला, तोलत गुञ्जन हेम ॥ ९ ॥
नदी प्रवाहऽरु ईखरस, द्यूत मान संकेत।
भ्रूलतिका पाँचों यहै, भंग भये रस देत ॥ १० ॥
ऋतु निदाघ दुःसह समय, मरुमग पथिक अनेक।
मेटे ताप कितेन की, यह मारग-तरु एक ॥ ११ ॥
फूल सुगन्ध न फल मधुर, छाँह न आवत काम।
सेमर तरुको जगत में, बढ़िबो निपट निकाम ॥ १२ ॥

रे कोकिल ! तू काटि कित , नीरस काल कराल ।
जौ लौं अलिकुल कलित नहिं , फूलै ललित रसाल ॥ १३ ॥
रोकत हू परबस अरी ! , करत अधर छत वीर ।
कहा मिल्यो नागर पिया ? , नहिं सखि शिशिरसमीर ॥ १४ ॥
रहि न सकत कोउ अपतिता , सखि ! बरषाऋतु माय ।
कहा भाई उतकंठिता ? , नहिं पथ फिसलत पाय ॥ १५ ॥

सवैया

(१)

पय निर्मल मानसरोवर को जु सुगन्धित पान कियो नित है ।
सुखसों बसि राजमराल अहो ! जिन वैस व्यतीत करी नित है ॥
कहि जाय कहा अवहाय ! दशा वह आयके ताल पर्यो कित है ।
चहुँ ओर सिवाल के जाल भरे अरु भेक अनेक परे जित है ॥

(२)

दृढ़ कांवरि है अघओघन की सब दोषन को यह गागरि है ।
अस तुच्छ कलेवर को स्रक चंदन भूषन साजि कहा करिहै ॥
मलमूतन कीच गलीच जहाँ कृमि-आकुल पीब अँतावरि है ।
दिन वो किन याद करै ? घिनकै जब शूकर कूकर [illegible] फिरिहैं ॥

(३)

विद्रुम औ मुकतान के बीच अलौकिक वो रस माधुरी जानिये ।
केवल भार के बाहक हैं यह पुष्प नहीं इनमें अनुमानिये ॥
त्यों बसुधा में सुधाहू वहाँ न सुधाकर में है सुधा ही बखानिये ।
मानिये साँच न तो चलि के तिहिं सुन्दरि माँहि प्रतच्छ प्रमानिये ॥

हिन्दी-मेघदूत-विमर्श

(१)

मूल

वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम् ।
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः ॥
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां ।
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥

अनुवाद

होगा टेढ़ा पथ यदपि तू उत्तर-प्रान्त-गामी ।
उज्जैनी के भवन-विमुखी हो न जाना तथापि ॥
विद्युत् आभा सचकित वहाँ पौरलोलाक्षियों की ।
लेगा जो तू दृगरस न तो जन्म ही व्यर्थ होगा ॥

(२)

मूल

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं ।
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ॥
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् ।
हन्तैकस्मिन्क्वचदपि नते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥

अनुवाद

श्यामाओं में मृदुल वपुको, दृष्टि-भीता मृगी में ।
चन्द्राभा में वदन-छवि को, केश बर्हाकृती में ॥
भ्रूभङ्गी को चल-लहरि में देखता मानिनी ! मैं ।
तेरी एकस्थल सदृशता हा, न पाता कहीं मैं ॥

अलङ्कार-मञ्जरी से—

(१)

कभी सत्य तथैव असत्य कभी मृदुचित्त कभी अति क्रूर लखाती।
कभी हिंसक और दयालु कभी सुउदार कभी अनुदार दिखाती।
धन-लुब्धक भी बनती कब ही व्यय में कर-मुक्त कभी दृग आती।
नृप-नीति की है न प्रतीति सखे ! गणिका सम रूप अनेक बनाती॥

(२)

अति उत्सुक हो जन दर्शक ने हरि को अपने मनरंजन जाना।
शिशु-वृन्द ने आनँद-कन्द तथा पितु नंदक ने निज नंदन जाना।
युवतीजन ने मनमोहन को रति के पतिका मद-गंजन जाना।
भुवि रंग में कंस ने शंकित हो जगवन्दन को निज कंदन जाना॥

फुटकर

(१)

सुमनावलि गंध-प्रलुब्ध लिये हरिणी मन मोद रहा भर है।
अनुरक्त हुआ मधुपावलि-गान हरे तृण तुच्छ रहा चर है।
वृक सन्मुख लुब्धक पृष्ठ खड़ा जिसको शर-लक्ष्य रहा कर है।
फिर भी यह दौड़ रहा मृग मूढ़ उसी पथ में न रहा डर है॥

(२)

जाते ऊपर को अहो उतर के, नीचे जहाँ से कृती,
    है पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ, ऐसी विचित्राकृती।
देखो भू गिरती हुई सगरजों, को स्वर्ग-गामी किये;
    स्वर्गारोहण-मार्ग जो कि इनके, क्या ही अनोखे नये।

(३)

गिरिशृङ्ग-च्युत पाषाण-कण या पवन का कुछ घात वह ।
गिरता हुआ है कह रहा अपनी दशा की बात यह ।
उच्च पद पर जो कभी जाता पहुँच है क्षुद्र जन ।
स्थिर न रह सकता वहाँ से सहज ही होता पतन ॥

(४)

दूसरों को व्यर्थ करते ताप, वे
संपदा चिरकाल तक पाते नहीं ।
हो रहा है अस्त ग्रीष्म दिनान्त में,
दिवसमणि करता हुआ सूचित यही ॥

(५)

दहन करती चिता तन जीवन-रहित
दुःख का अनुभव अतः होता नहीं ।
रात-दिन करती दहन जीवन सहित
है न चिंता-ज्वाल की सीमा कहीं ॥

(६)

माँगता दो-चार जल की बूँद ही,
विकल चातक ग्रीष्म से पाकर व्यथा ।
जलद सब जल पूर्ण कर देता धरा,
महत् पुरुषों की कहें हम क्या कथा ॥

रामचरित उपाध्याय

पण्डित रामचरित उपाध्याय का जन्म एक विद्वान् सरयूपारीण ब्राह्मण-वंश में विक्रम संवत् १९२९ कार्तिक कृष्ण चतुर्थी, रविवार को गाज़ीपुर में हुआ था। इनके पिता एक विद्वान् व्यक्ति थे। उनका नाम पंडित रामप्रपन्नजी और उनकी धर्मपत्नी का अमृता देवी था। उन्होंने लड़कपन ही में इनको अक्षर-बोध कराकर संस्कृत व्याकरण से परिचित करा दिया था। विक्रम संवत् १९४४ में इनके पिता का वैकुण्ठ-वास हो गया। तब से ये अपने पूर्व-पुरुषों की जन्म-भूमि महाराजपुर (आज़मगढ़) में सकुटुम्ब आ रहे और वहाँ तथा बरेली में अपने भ्राता पण्डित महादेवप्रसाद शास्त्रीजी से संस्कृत के विविध ग्रन्थ पढ़ते रहे। सं० १९४७ में उपाध्यायजी काशी में आये और वहीं महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी के गृह पर रहकर पाँच छः वर्षों तक विद्याध्ययन करते रहे। इनकी बुद्धि विलक्षण थी। इससे व्याकरण और साहित्य का बहुत अच्छा ज्ञान इन्हें सहज ही में हो गया। गुरु-भक्त होने से गुरु की भी इन पर बड़ी कृपा रहती थी।

उन्हीं दिनों इटावे के एक रईस ब्राह्मण भटेले हरवंशराय जी के पुत्र को पढ़ाने के लिए अपने गुरुवर की आज्ञा से उपाध्यायजी काशी छोड़कर वहाँ चले गये और प्रायः ढाई-तीन वर्षों तक उस कार्य को उत्तम रीति से करते रहे। इसके बाद फिर काशी चले आये और आकर ज्योतिषाचार्य पण्डित दीनानाथ मिश्रजी की कृपा से उसी वर्ष गणित की मध्यमा परीक्षा पास की, जिस वर्ष दिल्ली में कर्ज़नी दरबार हुआ था। तत्पश्चात् इन्होंने आचार्य के भी दो खण्ड पास किये।

सं० १९६१ में काशी से ये अपने घर चले आये और वहीं पर रहकर जमींदारी तथा कृषि-कार्य करने लगे थे। १२ नवम्बर १९३८ को इनका देहावसान हुआ।

पण्डित रामचरित त्रिपाठी नामक एक कवि इनके जिले में थे। उन्हीं की देखा-देखी और नाम की समता से हिन्दी की कविता करने की इनको भी अभिरुचि हुई। पहले ये होली, कजली, चैती इत्यादि पुराने ढङ्ग की कविता लिखते रहे। उन दिनों सं० १९६३ तक इन्होंने 'विजयी बसन्त' 'श्रावण-शृंगार' 'सुधा-शतक' 'रामचरितावली 'वरवा चौसई' 'सतसई' इत्यादि कई पुरानी चाल के काव्य पुरानी बोली में रच डाले। कालान्तर से खड़ी बोली की कविता की ओर लोगों की रुचि देखकर इस ओर भी इनका ध्यान झुका।

'सूक्ति-मुक्तावली', 'राष्ट्र-भारती', देव-दूत', 'देव-सभा', 'राम-चरित-चंद्रिका', 'रामचरित-चिन्तामणि', देवी द्रौपदी', 'उपदेश-रत्न-माला', 'भारत-भक्ति', 'मेघदूत', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'विचित्र विवाह', 'सुधा-शतक', 'वरवा-चौसई', 'घटकर्पर की भाषा-टीका,' 'अंजना सुन्दरी' सिंदूर प्रकरण, सामयिक पाठ का इच्छानुवाद नामक पुस्तकें इन्होंने खड़ी-बोली में भी तैयार कीं।

पण्डित रामचरितजी उपाध्याय का गार्हस्थ्य जीवन अत्यन्त ही सादा था। इन्हें स्वतन्त्रता बहुत प्यारी थी। इन्होंने गाजीपुर में एक संस्कृत पाठशाला और सनातन-धर्म-सभा की भी स्थापना की थी। उस सभा के साथ-साथ इन्होंने एक हिन्दी-पुस्तकालय भी चलाया।

इनकी कविताओं के कुछ नमूने आगे दिये जाते हैं :—

लक्ष्मी-लीला

श्रीपति ने गोसेवा की है, वही बुद्धि लक्ष्मी की भी है।
नरपशु की सेवा करती है, विज्ञों से सुदूर रहती है ॥१॥

धनीगेह में श्री जाती है, कभी न जाती निर्धन घर में।
वारिधि में गंगा गिरती है, कभी न गिरती सूखे सर में ॥२॥
जिनके घर लक्ष्मी रहती है, वे नर अविचारी होते हैं।
लक्ष्मीपति को क्या कमती है, पर वे पन्नग पर सोते हैं ॥३॥
उद्यमहीन आलसी जो नर, रमा न रहती है उसके घर।
जैसे तरुणी बूढ़े वर से, प्रेम नहीं करती है उर से ॥४॥
स्त्री की मति उलटी होती है, उभय कुलों को वह खोती है।
वारिधि सुता विष्णु की जाया, उस श्री के मन शठ नर भाया॥५॥

कुसङ्ग

अति खल की सङ्गति करने से, जग में मान नहीं रहता है।
लोहे के सँग में पड़ने से, घन की मार अनल सहता है ॥१॥
सब से नीति-शास्त्र कहता है, दुष्ट-सङ्ग दुख का दाता है।
जिस पय में पानी रहता है, वही खूब औटा जाता है ॥२॥
उनके प्राण नहीं बचते हैं, जिनको दुर्जन अपनाते हैं।
जो गेहूँ के सँग रहते हैं, वे ही घुन पीसे जाते हैं ॥३॥
जहाँ एक भी दुष्ट रहेगा, वह समाज क्यों चल पावेगा।
जहाँ तनिक भी अम्ल पड़ेगा, मनों दूध भी फट जावेगा ॥४॥

सपूत

(१)

चन्दन, चन्द, उशीर, हिमोपल, हिम-रजनी भी और कपूर।
सब मिलकर भी नहीं करेंगे, मानव-हृदय-ताप को दूर ॥
पर सपूत जिस कुल में होगा, उसका समय आप ही आप।
पलट जायगा, यश फैलेगा, मिट जावेगा सब सन्ताप ॥

(२)

विमल चित्त हो, दानशील हो, शूरवीर हो, सरल विचार।
सत्य-वचन हो, प्रेमयुक्त हो, करे सभी से सम व्यवहार॥
ज्ञानी, सहृदय, हो उपकारी, और गुणी हो, अपना धर्म।
कभी न छोड़े, देशभक्त हो, ये सब सत्पुत्रों के कर्म॥

कपूत

(१)

आलस-रत, शोकातुर, लम्पट, कपटी और सदा बलहीन।
मानस-मलिन, सदा निद्रातुर, लोभी और अकारण दीन॥
ऐसे सुत से क्या फल होगा, हे चतुरानन दे वरदान।
कभी कपूत किसी को मत दे, चाहे करदे निस्सन्तान॥

(२)

पर से प्रेम, द्रोह अपने से, करते नित्य दुष्ट-गुन-गान।
गुरुजन की निन्दाकर हँसते, अपने को कहते गुणवान॥
काला अक्षर भैंस बराबर, पर तो भी रखते अभिमान।
क्रोधानल में जलते रहते, यही कपूतों की पहचान॥

याचक

(१)

"मुझे दीजिये कुछ" यों कह जब याचक कर फैलाता है।
तभी शरीर काँपने लगता उसका स्वर घट जाता है॥
उसी समय उसके शरीर से ये पांचो हट जाते हैं।
ज्ञान, तेज, बल और मान, यश, अधम प्राण रह जाते हैं॥

वीर-वचनावली

(१)

निज बल से बलि के बन्धन को तोड़ न सका पैठि पाताल।
शशि-कलङ्क मैंने नहिं मेटा, मेरे हाथों मरा न काल॥
शेष-शीस से धरा छीनकर, ले न सका सिर उसका धार।
शत्रु-शमन कर सका न अपना, लाख बार मुझको धिक्कार॥

(२)

खाकर जिसे उगल देते हैं फिर उसको ही खाते श्वान।
छोड़ दिया है जिसे उसे फिर, छूते नहीं कभी मतिमान॥
प्राणों ही के साथ सर्वदा प्रण भी उनका जाता है।
शीतल कभी न होता पावक, बुझ ज़रूर वह जाता है॥

(३)

खाकर लात शान्त जो रहते साधु नहीं वे पूरे मूढ़।
मारो लात धूलि पर देखो, हो जावेगी सिर-आरूढ़॥
रिपु से बदला लिये बिना ही कायर नर रह जाते हैं।
तेजस्वी जन उसके सिर पर पद रख यश फैलाते हैं॥

विधि-विडम्बना

(१)

सरसता-सरिता-जयिनी जहाँ,
नवनवा नवनीत-पदावली।
तदपि हा ! यह भाग्य-विहीन की,
सुकविता कवि-ताप-करी हुई॥

(२)

जनम से पहले विधि ने दिये,
रजत, राज्य, इत्यादि तुम्हें स्वयं।
तदपि क्यों उसको न सराहते,
मचलते चलते तुम हो वृथा॥

(३)

पतन निश्चित है जिसका हुआ,
हठ उसे प्रिय है निज देह से।
अटल है उसकी विधि-वामता,
विनय से नय से घटती नहीं॥

(४)

तनिक चिन्तित हो मत तू कभी,
मिट नहीं सकती भवितव्यता।
सुकृत रक्षक है सब का सदा,
भवन में वन में मन! मान जा॥

(५)

महिमता जिसकी अवलोक के,
अनिश निन्दक है खल-मण्डली।
सुयश क्या उसका जग में नहीं,
धवल है? बल है यदि दैव का॥

(६)

हृदय! सुस्थिर होकर देख तू,
नियति का बल केवल है जिसे।
कठिन कण्टक-मार्ग उसे सदा,
सुगम है गम है करना वृथा॥

(७)

दुखित हैं धन-हीन, धनी सुखी,
यह विचार परिष्कृत है यदि।
मन ! युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई ?
विभवता भव-ताप-विधायिनी ॥

(८)

शत सहस्र गुणान्वित हैं यहाँ,
विविध शास्त्र-विशारद हैं पड़े।
हृदय ! क्यों उनमें फिर एक दो,
सुकृत से कृत-सेवक लोक हैं ॥

(९)

जनन का मरना परिणाम है,
मरण-हीन मिले फिर देह क्यों।
मन ! बली विधि की करतूत से,
पतन का तन का चिरसंग है ॥

(१०)

मन ! रमा, रमणी, रमणीयता,
मिल गईं यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा,
रसिकता सिकता-सम है उसे ॥

(११)

अयश है मिलता अपभाग्य से,
तदपि तू डर कुत्सित कर्म से।
हृदय ! देख कलङ्कित विश्व में,
विबुध भी बुध भी विधि से हुये ॥

(१२)

स्मरण तू रखना गत शोक हो,
मरण निश्चित है, मन ! दैव के—
नियम से यम के बन जायँगे,
कवल ही बल-हीन बली सभी ॥

(१३)

अमर हो तुम जीव ! सहर्ष हो,
कमर बाँध सहो निज भाग्य को।
समर है करना पर काल से,
दम नहीं मन ही मन में भरो ॥

(१४)

सुविध से विध से यदि है मिली,
रसवती सरसीव सरस्वती।
मन ! तदा तुझको अमरत्वदा,
नव-सुधा वसुधा पर ही मिली ॥

(१५)

चतुर है चतुरानन सा वही,
सुभग भाग्य-विभूषित भाल है।
मन ! जिसे मन में पर काव्य की,
रुचिरता चिरताप-करी न हो ॥

पूर्व-स्मृति

(१)

हर्म्ये सा स्वकरेण शुभ्रवसना, बेनी रही बाँधती।
औत्सुक्यातिशयेन हा मम सखे, जी भी वहीं जा बँधा ॥

दृष्टोऽहं च यदा तया दयितया, मेरी दशा जो हुई।
शास्यत्येव हि तां स यस्य हृदये, होगी कटारी लगी॥

(२)

मैं था देख रहा छटा जलद की, बैठा हुआ बाग़ में।
काचित् चन्द्रमुखी पुरो मम सखे! तत्र भ्रमन्त्यागता॥
धीरे से मुझको कुछेक हँस के, उसने इशारा किया।
स्मृत्वा तां हृदये स्फुटत्यपि कथं, प्राणा न गच्छन्ति धिक्॥

(३)

बातें थी करती सखी सँग मुझे, तो भी रही देखती।
गत्वा सा कतिचित् पदानि सुमुखी, धीरे खड़ी हो गई॥
जाने क्यों हँसती चली फिर गई, क्या मोहिनी मूर्ति थी।
स्वप्ने साद्य न दृश्यते ह्यणमहो, हा, राम! मैं क्या करूँ॥

पहेली

ऐनक दिये तने रहते हैं। अपने मन साहब बनते हैं।
उनका मन औरों के काबू। क्यों सखि सज्जन?
नहिं सखि बाबू॥ १॥

जाड़ों के दिन में आता है। रोज हज़ारों को खाता है।
क्या अनुपम है उसका वेग। क्यों सखि राक्षस?
नहिं सखि प्लेग॥ २॥

ठठरी उसकी बच जाती है। जिसको हा वह घर पाती है।
छुड़ा न सकते उसे हकीम। क्यों सखि डाइन?
नहीं अफ़ीम॥ ३॥

धर्म-हेतु तन को धरते हैं। कभी न निज प्रण से टरते हैं।
परहित में देते है तन मन। क्यों सखि ईश्वर?
नहिं सखि सज्जन॥ ४॥

परगुण को गाते रहते हैं। दोष किसी का नहिं कहते हैं।
निज कुल को करते हैं मण्डित। क्यों सखि सुरगण?
नहिं सखि पण्डित॥ ५॥

अंगद और रावण का संवाद

(रामचरित-चिन्तामणि से)

अंगद

(१)

मम निवेदन है कुछ आपसे,
सुन उसे उर में धर लीजिये।
ग्रहण है करता जिस युक्ति से,
मधुप सारस-सार सहर्ष हो॥

(२)

जनकजा रघुनायक हाथ में,
तुरत जाकर अर्पण कीजिये।
परवधूजन से रहते सदा,
अलग सन्तत सन्त तमीचर!॥

(३)

कुशल से रहना यदि है तुम्हें,
दनुज! तो फिर गर्व न कीजिये।
शरण में गिरिये रघुनाथ के,
निबल के बल केवल राम हैं॥

(४)

दुखद हैं तुमको जनकात्मजा,
तुरत दूर उसे कर दीजिये।
सुखद हो सकती न उलूक को,
नय-विशारद ! शारद-चन्द्रिका ॥

(५)

बहुत बार हुये विजयी सही,
पर नहीं रहते दिन एक से ;
सम्हल के रहिये, अब आपकी,
ग्रह-दशा न दशानन ! है भली ॥

(६)

स्वकुल की करिये शुभकामना,
सपदि युक्ति वही नृप ! सोचिये।
न अब भी जिसमें करना पड़े,
कठिन सङ्गर सङ्ग रमेश के ॥

(७)

स्वमन को वश में रखिये सदा;
अनय से पर वस्तु न लीजिये।
नृप ! कभी सुखदायक हैं नहीं,
सुत, रमा, धन, साधन के बिना ॥

(८)

समय है अनमोल, कुकर्म में,
तुम विनष्ट करो उसको नहीं।
दनुज ! है जग में सुखदायिनी,
नियमहीन मही न महीप को ॥

(९)

परम वीर चढ़े रघुवीर हैं,
तव पुरी पर बारिधि बाँध के।
छितिप ! आकर के रिपु-राज्य में,
तनिक भीरु कभी रुकते नहीं॥

(१०)

कवि, गुणी, बुध, वीर, नयज्ञ भी,
समझिये मन में निज को स्वयम्।
पर बिना कुछ कार्य्य किये कभी,
न मन-मोदक मोद-कलाप है॥

(११)

सब सुरासुर हैं वश आपके,
करगता यदि हों सब सिद्धियाँ।
तदपि हे दनुजेश्वर ! जानना,
निज बिना शक नाशक रामको॥

(१२)

अखिल-लोक नृपेश्वर राम को,
समझ के उनसे मिलिये अभी।
यह पुरी रघुनाथ-रणाग्नि में,
दनुज ! होम न हो, मन में डरो॥

रावण

(१)

सुन कपे ! यम, इन्द्र, कुबेर की,
न हिलती रसना मन सामने।

तदपि आज मुझे करना पड़ा,
मनुज-सेवक से बकवाद भी ॥

(२)

यदि कपे ! मम राक्षसराज का,
स्तवन है तुझ से न किया गया ।
कुछ नहीं डर है—पर क्यों वृथा,
निलज ! मानव-मान बढ़ा रहा ॥

(३)

तनय होकर भी मम मित्र का,
शठ ! न आकर क्यों मुझसे मिला ?
उदर के वश हो किस भाँति तू,
नर सहायक हाय कपे ! हुआ ॥

(४)

बसन भोजन ले मुझसे सदा,
विचर तू सुख से मम राज्य में ।
उस नृपात्मज के हित दे वृथा,
सुखद जीव न जीवन के लिये ॥

(५)

तुम बिना करतूत बका करो,
वचन-वीर ! सुनो हम वीर हैं ।
रिपु-विनाशक यत्न किये बिना,
समर-पावक पा सकते नहीं ॥

(६)

बल सुनाकर तू शठ ! राम का,
पच मरे, पर मैं डरता नहीं ।

अहि भयातुर हो करके, बता,
कब तिरोहित रोहित से हुआ ॥

(७)

कवल-दायक के गुण-गान में,
निरत तू रह बानर ! सर्वदा ।
समर है सुख-दायक शूर को,
कब रुचा रण चारण को भला ? ॥

(८)

जनकजाहृत चित्त हुआ सही,
तदपि तापस से कम मैं नहीं ।
मधुर मोदक क्या पच जायगा,
कपि ! सवा मन वामन-पेट में ॥

(९)

लड़ नहीं सकता मुझसे कभी,
तनिक भी नृप बालक स्वप्न में ।
कब, कहाँ, कह तो किसने लखा,
कपि ! लवा-रण वारण से भला ॥

(१०)

यह असम्भव है यदि राम भी,
समर सम्मुख रावण से करे ।
कह कपे ! उठ है सकती कभी,
यह रसा बक-शावक-चोंच से ॥

(११)

निलज हो बहको, निजनाथ के—
सुयश-गान करो, कपि-जाति हो ।

जगत में दिखलाकर पेट को,
वचन-वीर ! न वीर बना कभी ॥

(१२)

मम नहीं हित-साधक जो हुआ,
वह न हो सकता पर का कभी ।
कपट रूप बनाकर राम का,
कपि ! विभीषण भीषण शत्रु है ॥

(१३)

मर मिटें रण में, पर राम को,
हम न दे सकते जनकात्मजा ।
सुन कपे जग में बस वीर के,
सुयश का रण कारण मुख्य है ॥

(१४)

चतुरता दिखला मत व्यर्थ तू,
रसिक हैं रण के हम जन्म से ।
रुक नहीं सकते सुन के कभी,
वचन-वत्सल वत्स ! लड़े बिना ॥

कली

बातें न मेरी भूल जाना, ध्यान रखना हे कली ।
सब का बदलता है ज़माना, सच समझना हे कली ॥
जिस वृक्ष से उत्पन्न हो, जिस गोद में तुम हो पली ।
जिस भाँति वे सम्पन्न हों, उस भाँति रहना हे कली ॥
ज्यों ज्यों अभी क्रम से बढ़ोगी, त्यों लगोगी तुम भली ।
पर नेत्र पर सब के चढ़ोगी, धैर्य रखना हे कली ॥

मधु के लिए घेरे रहेंगे, मधुप रस-वश हो छली।
मतलब मधुर बहु विधि कहेंगे, तुम मचलना हे कली॥
गाना सुना करके फँसाना, जानते हैं सब अली।
उनके प्रलोभन में न आना, दृग बचाना हे कली॥
तोड़े न तुमको मूढ़ माली, देखकर भी बे-खिली।
करना न अपनी सून डाली, युक्ति रचना हे कली॥
खाकर बसन्ती वायु भूपर, गिर न जाना मनचली।
चढ़ना कठिन है पुनः ऊपर, गिर चुकी जब हे कली॥
दुर्लभ तुम्हें यदि देखकर, कोई कहें बातें जली।
स्वार्थी जगत को लेखकर, मन में बिहँसना हे कली॥
सुर भी तुम्हें अपनायँगे, यदि विधि तुम्हारा है बली।
पामर वृथा अकुलायँगे, यह देख लेना हे कली॥
जिसने किया निज धर्म को, जग में वही फूली-फली।
तजना न सौरभ-धर्म को, नय-मर्म है यह हे कली॥
सम्पत्ति पर की आजतक, किस के नहीं मन में खली!
तुम चाहना मत राज तक, गुण है मिला जब हे कली॥
सोचो तुम्हीं, किस की घड़ी, जग में नहीं चढ़कर ढली?
है रूप की महिमा बड़ी, मत गर्व करना हे कली॥
कोई कहेगा निर्दयी, कोई तुम्हें मद की डली।
कोई कहेगा सुखमयी, चुपचाप सुनना हे कली॥
हिलकर न खिल जाना कहीं, बिकना पड़ेगा हर गली।
जिसकी न मर्यादा रही, वह है अधमतम हे कली॥
जीवन पराये हाथ है, इस हेतु मत डरना कली।
जगदीश सब के साथ है, कर्त्तव्य निज करना कली॥

दर्शनीय दोहे

(१)

उपजे यदपि सुवंस में, खल तउ दुखद कराल।
चन्दन हूँ की आग ले, जरे देह तत्काल ॥

(२)

मानी दीन न हो सकें, बरुक प्रान दें खोय।
बिना बुझे सपनेहुँ नहिं, पावक शीतल होय ॥

(३)

अपने ते जो छुद्र अति, तिहिं पै करिउ न क्रोध।
किहूँ भाँति सोहत नहीं, केहरि ससक विरोध ॥

(४)

धीरज, उद्यम, बुद्धि, बल, साहस, शक्ति, सुनीत।
ये दस सुखदायक सदा, सुतिय सुपूत सुमीत ॥

(५)

चिन्ता जननी चाह है, ताको पति अविवेक।
जो विवेक की चाह तौ, राम नाम जपु एक ॥

(६)

जलचर, थलचर, शाखचर, नभचर, निशिचर तारि।
जौ न हरज इक नरहु की, सुनबी गरज मुरारि ॥

(७)

चकई दृग ज्यों रवि बसै, ज्यों कुलतिय दृग लाज।
त्योंही तुम मेरे हिये, नित निवसहु रघुराज ॥

(सतसई से उद्धृत)

बरवै

(१)

मुधा सुधा मधु मधु विधु, बसुधा माहिं।
सुजन संग सम सपनेहुँ, सुखप्रद नाहिं॥

(२)

करु सखि दूर अँगेठिया, हिम भय नाहिं।
धधकति काम अगिनिया, नित हिय माहिं॥

(३)

बड़वानल सम रविजा, छवि है जाति।
पूस प्रात जब विरहिन, अहकि नहाति॥

(४)

धरे एक कर मुरली, गिरि कर एक।
हँसत नचहु मम नैनन, स्याम छिनेक॥

(५)

नहिं बिनवत नहिं मनवत, जपत न नाम।
प्रेम नेम मम केवल, निरखहु राम॥

(बरवा चौसई से)

सैयद अमीर अली (मीर)

हिन्दी-संसार के आधुनिक मुसलमान कवियों में श्रीयुत सय्यद अमीर अली 'मीर कवि' का नाम आदर के साथ लिया जाता है।

इनका जन्म कार्तिक बदी २, संवत् १९३० को मध्य प्रदेश के सागर नगर में हुआ। इनके पिता का नाम मीर रुस्तम अली था। इनकी आयु लगभग दो

वर्ष की हुई थी कि इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता का स्वर्गवास हो जाने पर इनका पालन-पोषण इनके सुयोग्य चाचा मीर रहमत अली ने किया।

मीर रहमत अली पुलिस विभाग के कर्मचारी थे। नौकरी की हालत में वे सागर ज़िले के अन्तर्गत देवरी क़स्बे में बहुत समय तक रहे थे। उनके सज्जनोचित व्यवहार के कारण देवरी के लोगों से उनका बहुत मेल-जोल तथा प्रेम हो गया था। इससे पेंशन लेने पर वे देवरी ही में आकर रहने लगे। यहाँ उन्होंने अपनी आजीविका चलाने के लिये एक दूकान खोली, जो थोड़े ही दिनों में अच्छी चलने लगी। देवरी में उनकी गणना प्रतिष्ठित पुरुषों में की जाती थी।

मीर कवि ने उन्हीं के पास रहकर टूंडा ग्राम में प्राइमरी शिक्षा पाई थी। देवरी आने पर यहाँ के वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल में इनका नाम लिखा गया। सभी कक्षाओं में अपने सहपाठियों से ये प्रथम रहा करते थे। सन् १८९० ई० में ये टीचर्स परीक्षा पास करने के लिये जबलपूर नार्मल स्कूल को भेजे गये और सन् १८९२ ई० में १७ वर्ष की आयु में इन्होंने उक्त परीक्षा पास की। परीक्षा पास करने पर इनको जबलपुर के अंजुमन इस्लामिया हाईस्कूल में ड्राइङ्ग मास्टरी की जगह मिली लगभग एक वर्ष काम करने के बाद इनको बाम्बे स्कूल आफ़ आर्ट के लिए ट्रेनिङ्ग टीचर्स स्कालरशिप मिला। यह मध्यप्रदेश के पहले ही विद्यार्थी थे, जिनको यह छात्रवृत्ति मिली थी। छात्रवृत्ति पाकर ये बम्बई गये। परन्तु आँखों की बीमारी के कारण वहाँ अधिक दिन नहीं रह सके। तीन चार मास रहने के बाद ये देवरी लौट आये और फिर वहीं अपनी दूकान का काम करने लगे। इसी समय इन्होंने अपने ससुर हाफ़िज बदरुद्दीन के पास उर्दू और धार्मिक शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ किया और थोड़े ही समय में इन्होंने अच्छी

योग्यता प्राप्त कर ली। पैसे की कमी के कारण इनको अङ्गरेज़ी पढ़ने का अवसर न मिला।

इनका काव्य-विषय से प्रथम सम्बन्ध उत्पन्न होने का प्रसङ्ग बहुत कौतूहल-जनक है।

एक बार ये अपनी दूकान पर बैठे हुए थे। इतने में रमजान खाँ नाम का एक पुलिस कांस्टेब्ल श्रीवेंकटेश्वर समाचार की एक प्रति हाथ में लिये हुये आया और कहने लगा—मीर साहब, इस पत्र में भानु-कवि-समाज सागर की दी हुई एक समस्या छपी है। सब से उत्तम पूर्ति करनेवाले को छन्द-प्रभाकर नामक ग्रन्थ पुरस्कार में दिया जायगा। क्या आप इसकी पूर्ति करेंगे? उस समय ये छन्दः शास्त्र से बिलकुल अनभिज्ञ थे। तौ भी पत्र को हाथ में लेकर देखा। समस्या थी—"लोभ ते अमी के अहि चढ्यो जात चन्द पै"—कुछ भी समझ में नहीं आया। धरती पर का रहनेवाला सर्प चन्द्र पर कैसे चढ़ सकता है? इसी उधेड़-बुन में पड़े हुये थे कि रमजानखाँ ने फिर पूछा—क्या आप इसकी पूर्ति कर सकेंगे? इन्होंने कहा—हाँ, करूँगा। वह चला गया। तब ये समस्या लेकर अपने स्कूल के हे० मा० पं० परमानन्द जी चौबे के पास गये। उन्होंने स्कूल लायब्रेरी में से छन्दः-प्रभाकर नामक ग्रन्थ देकर कहा—इसमें सब तरह के छन्द बनाने की रीतियाँ लिखी हैं। इसे पढ़ो; शायद तुम्हारा काम निकल आवे। छन्दः-प्रभाकर पाकर ये बहुत खुश हुये। घर आये और पुस्तक पढ़ना शुरू कर दिया। रात भर पढ़ते रहे। परन्तु कुछ समझ में नहीं आया। तीसरे दिन नन्हेंलाल नामक एक दर्ज़ी कोई चीज़ ख़रीदने इनकी दूकान पर आया। इनको चिन्तित देखकर उसने कारण पूछा। कारण मालूम हो जाने पर उसने मीर साहब को मनहर कवित्त बनाने की विधि बता दी। उस समस्या की पूर्ति, जो मीर साहब ने करके भेजी थी, यह है:—

सीता राम ब्याह को उछाह अवलोक सब,
जनक समाज बलि जात सुख कन्द पै।
वेद कुल रीति जैसी आज्ञा वशिष्ट दीनी,
भाँवरों के सुन्दर शुभ समय निरद्वन्द पै।
ता समय दुलही माँग भरवे चलाओ हाथ,
दूल्हा ने सिन्दूर लै अंगूठा अमन्द पै।
उपमा तहँ ऐसी मन आई कवि मीर मनो,
लोभ तें अमी के अहि चढ़ो जात चन्द पै।

इस पूर्ति को पाकर कवि-समाज ने यह पत्र भेजा—

भाव की दृष्टि से आप की पूर्ति अन्य सब पूर्तियों से श्रेष्ठ ठहराई गई। परन्तु मालूम होता है कि आप को पिङ्गल का ज्ञान नहीं है। इस कारण छन्द निर्दोष नहीं बन सका है। यही कारण है कि आप को पुरस्कार नहीं दिया गया है। परन्तु समाज को आशा है कि यदि आप छन्दःशास्त्र का अध्ययन करेंगे तो भविष्य में आप एक अच्छे कवि हो सकेंगे। अगली बार के लिये समस्या भेजी जाती है। आशा है कि आप पूर्ति करके भेजेंगे।

इस पत्र से उत्साहित होकर ये बड़ी लगन से काव्य-ग्रन्थों का अवलोकन करने लगे।

मीर साहब को काव्य-कला में सफल होते देखकर देवरी के अनेक उत्साही युवक कविता सीखने के लिये आने लगे। मीर साहब के प्रयत्न से थोड़े ही समय में देवरी में काव्य-प्रेम की चर्चा प्रबल हो उठी, और काव्य-प्रेमियों का एक अच्छा समूह-सा तैयार हो गया।

सन् १८९५ ई० में देवरी में मीर-मण्डल-कवि-समाज की स्थापना हुई।

मीर साहब की अध्यक्षता में इस कवि-समाज ने लगातार सात-आठ वर्षों तक खूब काम किया। इतने समय तक देवरी में साहित्य विषयक चर्चा ज़ोरों के साथ चलती रही। इसके फल-स्वरूप यहाँ के कुछ नवयुवकों तथा विद्यार्थियों की रुचि साहित्य की ओर आकर्षित हुई। इनके शिष्य-समुदाय में से अनेक आज सुकवि, सुलेखक और ग्रन्थ-प्रकाशक तथा सुचित्रकार के नाम से ख्यात हो रहे हैं। इनके दिये हुये उत्साह और श्रीलक्ष्मीनारायण वकील औरङ्गाबाद की आर्थिक सहायता से श्रीयुत मञ्जु सुशील ने लक्ष्मी मासिक-पत्रिका का सम्पादन उसकी प्रारंभिक दशा में योग्यतापूर्वक किया। उसमें मीर साहब का विशेष हाथ रहा करता था। इसी समय श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमी से जैनमित्र में लेख लिखाना प्रारम्भ कराया। परिणाम यह हुआ कि वे आगे चल कर उसी पत्र के सम्पादक हो गये। कुछ समय के बाद मीर-मंडल के रत्न मंजु सुशील और खान कवि के अकाल ही में स्वर्गवासी हो जाने तथा प्रेमीजी के बम्बई चले जाने के कारण उक्त कवि-समाज को भारी क्षति पहुँची और कुछ समय के उपरान्त उसका अस्तित्व ही मिट गया। मीर साहब का विचार था कि इस क़स्बे में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय, जिससे कुछ सुयोग्य सम्पादक, लेखक, कवि, व्याख्याता और वैद्य तैयार होकर जनता की सेवा करने लगें। परन्तु इस विचार में ये सफलता न प्राप्त कर सके, जिसका इन्हें अंत तक खेद बना रहा।

देवरी में सन् १९०७ ई० में, जिस समय पहली बार प्लेग का आक्रमण हुआ, उस समय वहाँ के मालगुजार स्वनामधन्य स्वर्गीय लाला भवानीप्रसादजी के अर्थ-साहाय्य से मीर साहब ने जनता की प्रशंसनीय सेवा की थी। इनके हाथ से लगभग ४७५ आदमियों की चिकित्सा हुई थी। जिसमें से सैकड़े पीछे ८३ रोगियों को आरोग्य प्राप्त हुआ था।

इनके शांत प्रयत्न से देवरी में स्वदेशी कपड़े तथा शक्कर का खूब प्रचार हुआ था।

इनका हिन्दी-प्रेम सराहनीय था। ये हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा बनाने के पक्षपाती थे इनकी प्रतिभा हिन्दू-शास्त्र, पुराणों के कथा प्रसङ्ग जानने में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी गोस्वामी तुलसीदासजी के रामायण पर इनका अतुल अनुराग था। ये उसे गृह-कानून का आदर्श ग्रन्थ बतलाते थे। इनकी भाषा खूब परिमार्जित हिन्दी थी। इनसे बातचीत करते समय कोई यह नहीं अनुभव कर सकता था कि मैं एक मुसलमान सज्जन से बातचीत कर रहा हूँ।

कुछ समय तक बम्बई तथा खण्डवा में रहने के कारण देवरी की इनकी स्थानीय दूकान टूट गई। जिससे इनको नौकरी पर जाने के लिए विवश होना पड़ा।

पहले-पहल ये उदयपुर स्टेट मध्यप्रदेश के एक ग्राम में १५) मासिक पर प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर हुये। वहाँ से ये उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए क्रमशः मिडिल स्कूल की हेडमास्टरी, कोर्ट आफ वार्ड्स के आफिस की रीडरी, डिपुटी इन्स्पेक्टरी, पुलिस की इन्स्पेक्टरी, तहसीलदारी और दूसरे दर्जे की मजिस्ट्रैटी के पद पर पहुँचे।

इनके कार्य से स्टेट के न केवल अधिकारीगण तथा स्वयं राजा साहब सदैव प्रसन्न रहे, प्रजावर्ग उनसे भी अधिक प्रसन्न रहा। इनको उदयपुर दरबार से इनकी कार्य-दक्षता के सम्बन्ध में ३।४ स्वर्ण की रत्न-जटित अंगूठियाँ, एक स्वर्ण की रिस्टवाच, एक बन्दूक, दो स्वर्ण-पदक तथा अनेक सार्टीफ़िकेट प्राप्त हुए। ये अप्रैल सन् १९२२ में एक मास की छुट्टी लेकर घर आये। १३ वर्ष की सर्विस में यही पहला अवकाश था। फिर कई कारणों से नहीं गये।

इनका स्वभाव बहुत शान्त, गम्भीर और मिलनसार था। सादगी

इनको बहुत पसन्द थी। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार ये सदैव किया करते थे। इनके कोई सन्तान नहीं है।

मीर महोदय गो-रक्षा के भी बहुत पक्षपाती थे। इनके मत से भारत में कृषि-कार्य के लिए गो-वंश की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। ये कहा करते थे कि यदि गो-वंश का विनाश जारी रहा तो निकट भविष्य में यहाँ के किसानों को विलायती बाज़ारों का मुहताज होना पड़ेगा। बहुत दिन पहले कलकत्ते से हासानन्द वर्मा ने गोरक्षा के लिये चन्दे की अपील की थी। उस समय इन्होंने देवरी में बड़े परिश्रम से चन्दा करके भिजवाया था। इनके सरल व्यवहार के कारण देवरी की हिन्दू-जनता इन्हें बहुत चाहती थी।

इनको साहित्य-रत्न, काव्य-रसाल आदि उपाधियाँ अनेक प्रसिद्ध संस्थाओं से मिली थीं। गद्य-लेख पर इनको कलकत्ता बड़ा बाजार लायब्रेरी की ओर से प्रथम श्रेणी का रौप्य पदक तथा व्यङ्ग काव्य पर बाबू मदनमोहन वर्म्मा, स्वतन्त्र कार्यालय कलकत्ता द्वारा एक स्वर्णपदक मिला था। पदमा राज्य की ओर से तो ये कई बार पुरस्कृत हो चुके थे।

खेद है, सन् १९३७ में, रात के वक़्त, जब ये रेलवे लाइन पार-कर घर जा रहे थे, रेल के एक डब्बे से कटकर मर गये।

इनके रचे हुए कुछ ग्रन्थों के नाम ये हैं:—

बूढ़े का ब्याह, नीति-दर्पण की भाषा-टीका और सदाचारी बालक।

प्रयाग के प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखित इनके 'हिन्दी और मुसलमान' शीर्षक लेख की बड़ी प्रशंसा हुई थी।

आगे इनकी कविताओं के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

उलहना-पंचक

हिम-गिरि

गर नहीं जीने के काबिल हम रहे,
तो दहाकर शृङ्ग हिमगिरि दे दबा ॥
शत्रु अथवा जो हमारे हों यहाँ,
पेट में अपने उन्हें तू ले दबा ॥

गङ्गा

तारीफ़ सुनते हैं तुम्हारी हम बहुत,
सार्थक करती नहीं क्यों नाम को ।
मात गङ्गे ! आप अरि को दो बहा,
शुद्ध कर दो हिन्द के हृद्धाम को ॥

हिन्द-सागर

हिन्द-सागर तुम हमारे गार्ड थे,
हाय, की तुम ने मगर कैसी दग़ा ?
जब घुसा था शत्रु छाती चीरकर,
टाँग धर पाताल को देते भगा ।

भारत-भूमि

वीर-प्रसवा तू भरत की भूमि है,
नाम को कैसा दबा तूने दिया !
सुत दुखी, पर हैं विरोधी सब सुखी,
देखकर खुद खोल आँखें, क्या किया !

विश्व-रक्षक

विश्व-रक्षक ! क्या नहीं हम विश्व में ?
क्यों नहीं देते हमें हो तुम स्वराज ?

ग़ैर हैं आज़ाद, घर में हम ग़ुलाम,
क्या यही इन्साफ़ है बंदहनवाज़ ?

भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन।

(१)

अहो भूप-जनपद के हितकर भारत के जीवन-आधार।
पूर्व्व-पुरुष-गौरव के वर्द्धक शास्त्र-विहित गुण के भण्डार॥
उच्च मनोरथ-पंकज के रवि प्रतिभा कुमुदिनि के राकेश।
आशा भरे नयन से तव मुख देख रहा है भारत-देश॥

(२)

जिस के पंच-तत्व में मिलकर पूर्व्व-पुरुष हैं हुए विलीन।
उन्हीं पंच-भूतों का मिश्रण हम सब में है करो यकीन॥
लेकिन जरा विचारो तो तुम पूर्व्व पुरुष थे क्या बलहीन ?
यश-गौरव-विद्या-प्रभुता से क्या वे थे हम-से ही दीन॥

(३)

नहीं नहीं वे कभी नहीं थे जैसे हम हैं अधम अगण्य।
'लोहा उनका विश्व-मानता' अब तक वे ऐसे थे धन्य॥
बड़ा अचम्भा सा दिखता है 'हुए सिंह के सदन सियार'।
जहाँ जहाँ जाते पाते हैं लज्जा जनक हाय ! धिक्कार !!॥

(४)

आत्म-शक्ति थी उनके अविचल नहीं सताता था भयभूत।
मन पवित्र था सदाचार से अनाचार की लगी न छूत॥
उन सुगुणों को यदि हम सीखें बता रहा है जो इतिहास।
कहो 'दाँत किसके मुँह में हैं ?' करे हमारा जो उपहास॥

(५)

आओ अपने अधःपतन पर हम सब मिलकर करें विचार।
एक बना लें नियम-तालिका हों न पाय जीवन निस्सार॥
नहीं शृङ्खला कामों में है दृढ़ निश्चय नहिं अचल विचार।
डाह-स्पर्द्धा भरी हुई है उबल रहे हैं बुरे विकार॥

(६)

'हिन्दू-मुसलमान हों किंवा भारत के जनमें ईसाई।
जननी जन्मभूमि के नाते सब ही हैं भाई भाई॥
मिलकर ऐसे करो काम हो जिससे उन्नत देश-समाज।
भूल जाव कल की वे बातें जिनसे कलह न होवे आज॥

(७)

कहा करें ऐसा हम सब ही नहीं करें पर सद्‌बर्ताव।
तब कैसे रह सकें परस्पर शान्ति सौख्यदायक सद्‌भाव॥
यदि अभीष्ट का निश्चय कर हम करें काम उसके अनुरूप।
तो अवश्य ही फलीभूत हों पा जावें जातीय स्वरूप॥

(८)

सीखा करें सदा हम पढ़कर देश-विदेशों के इतिहास।
कौन कारणों से होता है देश-व्यापी कलह-प्रकाश॥
उन्हीं कारणों को यदि हम सब नहीं फटकने देवें पास।
तो न भूलकर कभी करें हम अपने हाथों अपना नाश॥

(९)

ऐसी आदत डालो जिस से करते रहो कार्य अश्रान्त।
अधिकाधिक जो लगता जावे नहीं मध्य में होवे शान्त॥
'क्या करना है' आज बना लो उसकी सूची प्रातःकाल।
तदनुसार कर डालो उनको करके दूर सकल भ्रमजाल॥

(१०)

पीछे यत्न करो तुम पहले सोचो क्या होगा परिणाम।
धीर वीर हो करो उसे फिर जब तक पूर्ण न होवे काम॥
बारम्बार निराशा आवे तौभी होना नहीं निराश।
रजनी-तम का नाश अन्त में करता ही है दिवस-प्रकाश॥

(११)

सो जाने के लिये अधिकतर उत्तम निशि का पूर्व विभाग।
सूर्य-उदय होने से पहले हितकर है बिस्तर का त्याग॥
आत्म-संयमन करके करते रहो सदा जीवन उपयोग।
समय भोग पावे नहिं तुमको करो समय का तुम उपभोग॥

(१२)

शील सरल कर्म्मण्य विवेकी क्रोध-रहित हो अगर स्वभाव।
तो पड़ सकता सकल विश्व पर बन्धु! तुम्हारा अजित प्रभाव॥
दीन दुखी आपत्ति-ग्रसित पर करो सदा तुम दया-प्रकाश।
करते रहो लोक की सेवा जब जितना पाओ अवकाश॥

(१३)

करो प्रेम छोटों पर भाई और बड़ों का आदर-मान।
उतना काम करो जितने से बना रहे अपना अभिमान॥
दैव दया पुरुषार्थ आदि से जैसी जितनी तुमको शक्ति।
होवे मिली, उसी से करते रहो यथोचित सब की भक्ति॥

(१४)

ब्रह्मचर्य जाने नहिं पावे इसका रखना भाई! ध्यान।
दम्पति पद पाजाने पर भी करना इस व्रत का सन्मान॥
बन जाना आदर्श आप ही जिससे गुणयुत हो सन्तान।
नारी-जाति दुःख नहिं पावे रखना तुम ऐसा अवधान॥

(१५)

कभी भूल से भी करना नहिं मादक-द्रव्यों का व्यवहार।
अपनी भाषा नहीं भूलना जिसने खोला शिक्षा-द्वार॥
वेष बदलना कभी न अपना होती रहे जाति-पहिचान।
भोजन में भी भारतीयता रक्खो तब पाओगे मान॥

(१६)

अपने पैरों से चलने का सदा काल रक्खो अभ्यास।
अपने कानों से सुन लो जब करो तभी उस पर विश्वास॥
अगर चलोगे पंथ देखकर निज नयनों से निस्सन्देह।
बची रहेगी बाधाओं से जीवन भर निश्चय तब देह॥

(१७)

देशी कला-वृद्धि करने को करो स्वदेशी-वस्तु पसन्द।
धन स्वाहा होता हो जिनमें उन बातों को कर दो बन्द॥
गरज काम वे करो बन्धु तुम जिनसे यश-रवि पड़े न मन्द।
भारत का मस्तक हो ऊँचा राजा-प्रजा रहे सानन्द॥

प्रार्थना

(१)

सब सों मीर गरीब है, आप गरीब निवाज।
कोर कृपा कर फेरबी, वे दिन वे सुख साज॥

(२)

जान तुम्हें करुणायतन, करि करुणायुत बैन।
बिनवहुँ करुणा करहु अब, जासों पावहुँ चैन॥

(३)

दीनबन्धु तुम, दीन मैं, तुम्हरो ही मुहताज।
टेक नाम की राखिये, रहे दोउ को लाज॥

(४)

तुम तो दाता सुमति के, सुमति दीजिये मोहिं।
जासों परहित करत मैं, भजत रहूँ नित तोहिं।

(५)

जाँचे बिन फल देहु जो, दाता अहो उदार॥
करम देखि त्यौं तारिहौ, तो कैसे करतार॥

(६)

भटक्यो मृगजल में फिर्यों, अब भ्रम भागी मोर।
व्यर्थ आस तजि लीन्ह गहि, मीर भरोसो तोर॥

(७)

जौलौं द्रवहु न नाथ तुम, तौलौं द्रवहि न और।
और कहा कहुँ मिलत ना, ठाढ़ भये को ठौर॥

दशहरा

आ गया प्यारा दशहरा, छा गया उत्साह बल।
मातृ-पूजा, शक्ति-पूजा, वीर-पूजा है विमल॥
हिन्द में यह हिन्दुओं का विजय-उत्सव है ललाम।
शरद की इस सुऋतु में है खड्ग-पूजा धाम धाम॥
दिखने लगे खञ्जन यहाँ, रहने लगे चकवा अशोक।
चल पड़े योगी यती मग की मिटी सब रोक टोक॥
भरने लगे बाजार हैं, खुलने लगे व्यापार द्वार।
सजने लगे सेना नृपति बजने लगे बाजे अपार॥

यह दशहरा क्षत्रियों का प्राण जीवन पर्व है ।
हिन्द के इतिहास में इस पर्व का अति गर्व है ।।
वीर पुरुषों को यही संजीवनी का काम दे ।
जीत दे फिर कीर्ति दे फिर मान दे धन धाम दे ।
थी विजय-दशमी यही जब राम ने दल साज कर ।
गिरि प्रवर्षण से चढ़ाई की थी लङ्का राज पर ।।
मार रावण को वहाँ उद्धार सीता का किया ।
और लङ्का का विभीषण को तिलक था दे दिया ।।
उस समय से इस दशहरे का बड़ा सम्मान है ।
मान गुण का यह प्रवर्तक क्षत्रियों का प्राण है ।।
आज करते हैं विजय की कामना सब वीरवर ।
जाँचते हैं दृष्टि कर गज अश्व दल हथियार पर ।।
श्रेय विजया से भरे इतिहास के बहु पत्र हैं ।
आज भी प्रतिबिम्ब उसका देखते हम अत्र हैं ।।
जो सबक लेना हमें उससे उचित लेते नहीं ।
स्वार्थ पशु-बलि त्याग की तलवार से देते नहीं ।।
इन्द्रियों की वासना ही है असुर शङ्का नहीं ।
ज्ञान शर से जीतते हैं लोभ की लङ्का नहीं ।।
हन्त जो कुविचार-रावण है उसे तजते नहीं ।
क्या कहें सुविचार श्रीवर राम को भजते नहीं ।
नाश कर कुविचार का सद्बुद्धि सीता लाइए ।
नृप विभीषण की तरह सन्तोष को अपनाइये ।।
शान्त हो प्यारी अवध, फिर राज्य उसका कीजिये ।
'मीर' विजया की विजय का इस तरह यश लीजिये ।।

अन्योक्ति सप्तक

(१)

मैंना तू बनवासिनी, परी पींजरे आन।
जान दैवगति ताहि में, रहे शान्त सुख मान॥
रहे शान्त सुख मान, बान कोमल तैं अपनी।
सब पच्छिन सरदार, तोहि कवि-कोविद बरनी॥
कहे 'मीर' कवि नित्य, बोलती मधुरे बैना।
तौ भी तुझको धन्य, बनी तू अजहूँ मैं ना॥

(२)

तोता तू पकड़ा गया, जब था निपट नदान।
बड़ा हुआ कुछ पढ़ लिया, तौ भी रहा अजान॥
तौभी रहा अजान, ज्ञान का मर्म न पाया।
जीवन पर के हाथ, सौंप निज घर बिसराया॥
कहें 'मीर' समुझाय, हाय! तू अबलौं सोता।
चेता जो नहिं आप, किया क्या पढ़ के तोता॥

(३)

बिल्ली निज पतिघातिनी, तुझको प्यारा गेह।
खाती है जिसका नमक, उससे नेक न नेह॥
उससे नेक न नेह, देह पर करती हमला।
खा खा कर घी दूध, कमाई घर की कमला॥
कहें 'मीर' समुझाय, पढ़े तू चाहे दिल्ली।
नमकहरामी चाल, न छूटे तुझसे बिल्ली॥

(४)

बगला बैठा ध्यान में, प्रातः जल के तीर।
मानौं तपसी तप करै, मलकर भस्म शरीर॥
मलकर भस्म शरीर, तीर जब देखी मछली।
कहैं 'मीर' असि चोंच, समूची फौरन निगली॥
फिर भी आवें शरण, बैर जो तज के अगला।
उनके भी तू प्राण, हरै रे! छी! छी! बगला॥

(५)

कैदी होने के प्रथम, था अलि 'मीर' स्वतन्त्र।
उसे पवन ने छल लिया, कह के मोहन मंत्र॥
कह के मोहन मंत्र, तंत्र सा फिर कुछ करके।
उसे गयी ले खींच, पास में गहरे सरके॥
पड़ा-प्रेम में अचल, वहाँ लकड़ी का भेदी।
था जो कोमल कमल, बनाया उसने कैदी॥

(६)

जाने कीन्हों शमन है, मत्त मतङ्ग न मान।
हाय दैववश सिंह सो, पर्यो पींजरे आन॥
पर्यो पींजरे आन, श्वान के गन ढिग भूकैं।
बिहँसैं ससा, सियार, कान पै आके कूकैं॥
'मीर' बात है सत्य, लोक में कहिगे स्याने।
का पै कैसो समय, कबै परिहै को जाने?॥

(७)

कोयल तू मन मोह के, गई कौन से देस।
तो अभाव में काग मुख, लखनो परो भदेस॥

लखनो परो भदेस, बेस तोही सो कारो।
पै बोलत हैं बोल, महा कर्कश कटु न्यारो॥
कहँ मीर हे दैव, काग को दूर करो दल।
लावो फेर बसन्त, मनोहर बोले कोयल॥

सवैया

क्यों यह सोच करै मन मूढ़ अरे दिन ये दुख के टरिहैं कब।
त्यों दुखदायक दीनन के यह पापी कबै अघसों मरिहैं दब॥
मान ले तू सिगरे जग मीत है एकहु ना हमरे अरि हैं अब।
जा दिन दैव दया करिहै तब ता दिन 'मीर' मया करिहैं सब॥

कवित्त

चतुर गवैया होय, वेद को पढ़ैया चाहे
समर लड़ैया होय रणभूमि चौड़ी में।
जानत समैया होय "मीर" कवि त्यों ही चाहे
बात को जनैया होय नैन की कनौड़ी में॥
नीति पै चलैया होय पर उपकार आदि
कुशल करैया काज हाथ की हथौड़ी में।
गुनन को शीला होय तौऊ ना वसीला बिन
कोऊ है पुछैया भैया तोहिं तीन कौड़ी में॥

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का जन्म सम्वत् १९२२ वि० विजयादशमी को नदिया ज़िले के छिटका गाँव में हुआ था। ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज आगरा ज़िले के मई-स्थान के वासी थे; पर व्यापार-सम्बन्ध से बङ्गाल में जा बसे थे। इनके पिता पंडित कालीप्रसाद का स्वर्गवास संवत् १९३४ ही में होगया। उस समय इनकी अवस्था दो ही वर्ष की थी। जब ये छः-सात ही महीने के थे, तब इनके मामा पंडित बलदेवप्रसाद पांडेय इन्हें अपने यहाँ मलयपुर (मुँगेर) ले गये थे। वे इन्हें अपने पुत्र से भी अधिक लाड़-प्यार से रखते थे। वहाँ देहात में इनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो सका। तेरह वर्ष की अवस्था में इन्होंने जमुई माइनर स्कूल के फ़ोर्थ क्लास में भर्ती होकर पढ़ना आरम्भ किया। यह बुद्धि के बड़े तीव्र थे, और इसीसे अल्प-काल ही में इन्होंने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। वार्षिक परीक्षा में ये बराबर उत्तीर्ण होते रहे। सन् १८८८ में इन्होंने कलकत्ते के मेट्रापोलिटन इन्स्टिट्यूशन से सेकेण्ड डिवीज़न में एंट्रेन्स पास किया। एफ़० ए० की परीक्षा में फेल होने के कारण इन्होंने कालेज छोड़ दिया।

हिन्दी लिखने-पढ़ने का इनको पहले ही से प्रेम था। हिन्दी-कविता लिखने का शौक बचपन से था। इनकी उस समय की कविता पर मुँगेर के कलक्टर ने बेली-पोयट्री-फ़ंड से पारितोषिक दिया था।

कालेज छोड़ने पर भारतमित्र के सुयोग्य सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त से इनका घनिष्ठ सम्बंध होगया। भारतमित्र में ये समय-समय पर लेख और कविता देते रहते थे। उसी समय इन्होंने 'संसार-चक्र' नामक एक बड़ा ही रोचक उपन्यास लिखा।

संवत् १६५६ में ये अपने मामा के साथ चपड़े का काम देखने लगे। सं० १६६० में ये चार महीने तक हितवार्ता के सहकारी सम्पादक रहे। सं० १६६१ में इन्होंने चपड़े की दलाली शुरू की और सं० १६८२ में उसे छोड़ दी। इनके फ़र्म का नाम "मिरजामल जगन्नाथ ऐण्ड कम्पनी" था।

चतुर्वेदीजी जीवन के अंतिम दिनों में भी बराबर मातृ-भाषा की सेवा निःस्वार्थ रूप से कर रहे थे। ये गद्य और पद्य दोनों ही के प्रसिद्ध लेखक थे। इनके लेख और कवितायें बड़ी ही रसीली और चुभीली होती थीं। ये मूर्तिमान हास्यरस कहे जाते थे। इनकी वक्तृतायें भी व्यंग और हास्य से ख़ूब भरी होती थीं।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जितने अधिवेशन हुए, ये प्रायः सभी में सम्मिलित होते थे। हिन्दी-संसार ने द्वादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लाहौर का सभापति चुनकर इनका बहुत सम्मान किया। ये "प्रथम विहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन" के भी सभापति हुए थे। इन्होंने सदा हिन्दी-साहित्य के विकास में तन-मन-धन से योग दिया था। इनके लेख तथा कवितायें इनके विनोद-प्रिय स्वभाव का परिचय देती हैं।

इन्होंने निम्नलिखित गद्य-पद्यात्मक पुस्तकें रची हैं :—

(१) बसंत-मालती, (२) संसार-चक्र, (३) तूफ़ान, (४) विचित्र विचरण, (५) भारत की वर्तमान दशा, (६) स्वदेशी-आन्दोलन, (७) गद्य-पद्य-माला, (८) निरंकुशता निदर्शन, (९) कृष्ण-चरित, (१०) राष्ट्रीय-गीत, (११) अनुप्रास का अन्वेषण, (१२) सिंहावलोकन, (१३) हिन्दी-लिंग-विचार, (१४) मधुर-मिलन (नाटक), (१५) निबंध-निचय।

दुःख की बात है कि गत २ सितंबर, १९३९ को मलयपुर (मुँगेर) में अपने घर पर इनका देहान्त होगया।

इनकी कविता के कुछ नमूने आगे दिये जाते हैं :—

सुखमय जीवन

(१)

है विद्या और जन्म धन्य धरती पै तिनको।
पराधीनता माहिँ कटत नहिं जीवन जिनको॥
कर्म पवित्र विचारन के जिनके अति सुन्दर।
सरल सत्य सों मिली निपुनता के जो आकर॥

(२)

बुरी वासना मन में जिनके कबहुँ न आवत।
रूप भयङ्कर धारि मृत्यु नहिं जिनहिं डरावत॥
जगज्जाल में बँधे करत नहिं यत्न हजारन।
गुप्त प्रकट निज नाम सदा विस्तारन कारन॥

(३)

जिनहिं ईरषा होत नाहिं पर उन्नति देखे।
चाटुकारि अनजान वस्तु है जिनके लेखे॥
राजनीति को तत्व करत नहिं चित आकरसन।
धर्मनीति के ऊपर जो वारत तन-मन-धन॥

(४)

भयो कलङ्कित नाहिं कबहुँ जिनको यह जीवन।
विमल विवेचक बुद्धि विपति में विनति-निकेतन॥
खुशामदी नहिं खायँ उड़ावैं जिनकी सम्पति।
औ शत्रुन कहँ प्रबल करत नहि जिनकी अवनति॥

(५)

परमेश्वर को भजन करत जो साँझ सबेरे।
हरि-सेवा को छाँड़ि चहैं नहिं सुख बहुतेरे॥

धर्म-ग्रंथ-अवलोकन में ही समय बितावत।
साधुन के सत्सङ्ग बैठि हरि-कथा चलावत॥

(६)

नहिं उन्नत की इच्छा औ नहिं अवनति को डर।
आशा-बन्धन काटि भये निरद्वन्दी सो नर॥
बसुधा-शासन भूलि करत निज मन को शासन।
यद्यपि सो अति सुखी कहावत तऊ "अकिञ्चन"॥

हिन्दी

बानी हिन्दी, भाषन की महरानी।
चन्द, सूर, तुलसी, से यामें, कवी भये लासानी॥
दीन मलीन कहत जो याकों, है सो अति अज्ञानी।
या सम काव्य छन्द नहिं देख्यौ, है दुनिया भर छानी॥
का गिनती उरदू बँगला की, भरे अँगरेजिहु पानी।
आजहुँ याकों सब जग बोलत, गोरे, तुरुक, जपानी॥
है भारत की भाषा निहचय, हिन्दी हिन्दुस्थानी।
जगन्नाथ हिन्दी भाषा को, है सेवक अभिमानी॥

स्वदेश-प्रेम

(स्काट के LOVE OF COUNTRY का उल्था।)

है ऐसो कोउ मनुज अधम जीवित जग माहीं।
जाके मुख सों बचन कबहुँ निकस्यो यह नाहीं॥
"जन्मभूमि अभिराम यही है मेरी प्यारी।
वारौं जापै तीन लोक की सम्पत सारी॥"

सात समुद्दर पार बिदेसन सों करि बिचरन।
भयो नाहिं घर चलन समय हरखित जाको मन॥
जो ऐसो कोउ होय बेगही ताको देखो।
भली भाँति सों वाके सब लच्छन कों पेखो॥
चाहे पदवी वाकी होय बहुत ही भारी।
वाको नाम बड़ो कर जाने दुनियाँ सारी॥
इच्छा के अनुकूल होय वाको अगनित धन।
कविता वाके हेत तऊ नहिं करिहैं कविगन॥
केवल स्वारथपन ही में सब समय गँवायो।
धन स्वदेश हित साधन में कबहूँ न लगायो॥
धरी रहत सब धन, बल, पदवी, एक किनारे।
सिर पै जमके आय बजत हैं जबहि नगारे॥
सुठि सुन्दर सुख्याति नाहिं जीवन में पैहै।
जा माटी तें बनो फेरि वा में मिलि जैहै॥
सुमरन, सोक, सुकाव्य मरे पै कोउ न करिहै।
करमहीन हतभाग मौत दुहरी सों मरिहै॥

राष्ट्र-सन्देश

अपनी भाषा है भली, भलो आपुनो देस।
जो कुछ अपुनो है भलो, यही राष्ट्र-संदेस॥ १॥
जो हिन्दू हिन्दी तजें, बोलें इङ्गलिश जाय।
उनकी बुद्धी पै पर्‍यो, निहचय पाथर आय॥ २॥
जाको अपनी जाति कौ, नहिं नेकहु अभिमान।
कूकर सम डोलत फिरै, सो तो वृथा जहान॥ ३॥

कुल कुपूत करनी निरखि, धरनी के उर दाह।
धधकि उठत सोई कबहुँ, ज्वालागिरि की राह ॥ ४ ॥
निरखि कुचाल कुपूत की, धरनी धरत न धीर।
नैनन निरझर सों झरत, यातें तातो नीर ॥ ५ ॥
देशन में भारत भलो, हिन्दी भाषन माहिं।
जातिन में हिन्दू भली, और भली कछु नाहिं ॥ ६ ॥
जिस हिन्दू को है नहीं, हिन्दी का अनुराग।
निश्चय उसके जान लो, फूट गये हैं भाग ॥ ७ ॥
जिसको प्यारी है नहीं, निज भाषा निज देश।
वह सूकर सा डोलता, धरे मनुज का भेष ॥ ८ ॥

वसन्त-वर्णन (बेतुका छन्द)

शेष हुआ जाड़े का मौसम, आया है अब समय बसन्ती।
मगन हुये सारे नर नारी, लता, वृक्ष, पशु, पक्षी कोमल ॥
सारी दुनिया मस्त हुई है, मानो सब ने छानी गहरी।
हुआ प्रकृति का रूप निराला, आहा! क्या अच्छी है शोभा ॥
है आकाश स्वच्छ अति सुन्दर, सूरज भी अब तेज हुआ है।
नहिं सरदी नहिं गरमी भारी, ओ हो! क्या प्यारी हैं रातें ॥
बौरे आम अधिक सुखदायी, कुहू कुहू कोयल करती है।
मन्द मन्द वायू है चलती, लिये गन्ध अति भीनी भीनी ॥
फूले सेमर ढाक विपिन में, है नहिं इनमें गन्ध तनिक भी।
पर केवल है रङ्गत अच्छी, नाम बड़े और दर्शन छोटे ॥
रूप देख आये बहु पक्षी, पर लौटे अपना मुँह लेकर।
इससे कवि कहता है भाई, जो कुछ चमके सो नहिं सोना ॥

गेंदा और गुलाब, गुलतरी, हुये सकल इक साथ प्रफुल्लित।
गुञ्जत मधुकर मधु की खातिर, भूमि हुई गुलशन का टुकड़ा॥

वर्षा-वर्णन

धूरि दबी, गरमी मिटी, चल्यो सुशीतल पौन।
रुकी चढ़ाई नृपन की, फिरे विदेसी भौन॥ १ ॥
चकवा सों चकई मिली, मानस चले मराल।
चल्यो जात नहिं पंथ में, बूँद परै सब काल॥ २ ॥
बिखरे बादर गगन महँ, कहुँ तम कहुँ परकास।
सोहै थिर सागर सरिस, कहुँगिरि ओट अकास॥ ३ ॥
बहत वेग सों कदम लै, नदियन गँदलो नीर।
बोलत हरखित मोरगन, बैठे दोऊ तीर॥ ४ ॥
लोग रसीले खात हैं, जामुन अलि सम स्याम।
टपकत भू पै वायु सों, पाके बहु विधि आम॥ ५ ॥
बकमाला दामिनि सहित, ऊँचे सैल समान।
गरजत कारे मेघ इमि, जिमि गयंद बलवान॥ ६ ॥
घास बढ़ी केकी नचे, मेघ चुके झरि लाय।
संध्या के या विपिन की, सोभा अधिक लखाय॥ ७ ॥
जलधर जल-धारन किये, बकदल सों सरसात।
ऊँचे परवत-सृङ्ग पै, गरजत ठहरत जात॥ ८ ॥
बक-पाँती घन-चाह सों, उड़ती परम सुहाइ।
पुंडरीक-माला मनहुँ, घन-हित दई बनाइ॥ ९ ॥
बीरबहूटी घास महँ, सोभा देत अपार।
मनहुँ भूमि दुलही नई, बैठी चूनरि धार॥ १० ॥

निद्रा हरि, बक मेघ ढिग , सरिता सागर माहिं ।
काम सताई कामिनी , निज नायक ढिग जाहिं ॥ ११ ॥
फूली डार कदम्ब की , वृच्छ गए ढिंग गाइ ।
कानन नाचत मोर गन , तृन सों भूमि सुहाइ ॥ १२ ॥
घन बरसत, सरिता वहति , गरजत मत्त गयंद ।
बन सोहै नाचैं सिखी , चुप हैं बानर वृन्द ॥ १३ ॥
सूँघि केतकी गंध गज , मत्त होय हरखात ।
बन झरना को सबद सुनि , मोरन सँग चिल्लात ॥ १४ ॥
लटकि कदम के फूल अलि , मस्त पिएँ मधु प्रात ।
पै बूँदन की चोट सों , मस्ती सब झरि जात ॥ १५ ॥
क्वैला-सो कारौ बड़ो , फल रस भरो सुहाइ ।
मानों जामुन-डार पै , बैठे मधुकर आइ ॥ १६ ॥
सोभित बिज्जु धुजान सों , गरजत बादर घोर ।
मानों रन उत्साह सों , कपि धावत करि सोर ॥ १७ ॥
घन रव करि रव जान के , मतवारो गजराइ ।
लड़न चल्यौ पाछे फिर्यौ , नहिं जब कोउ लखाइ ॥ १८ ॥
कहुँ गूँजत हैं भौंर दल , कहुँ नाचत हैं मोर ।
कहुँ झूमत करिराज बन , सोभित भाँति करोर ॥ १९ ॥
अरजुन रम्भा कदम-तरु , सोभित साल रसाल ।
पूरित है मधु बारि सों , बन धरती इहि काल ॥ २० ॥
नाचत बोलत मस्त अति , है मयूर हरखाइ ।
सुरा-पान के भवन-सो , कानन परत लखाइ ॥ २१ ॥
मोती सो निरमल सलिल , गिरत पात महँ आइ ।
भींगे प्यासे विहग गन , पीवत मोद बढ़ाइ ॥ २२ ॥

अलि गन बीन बजावहीं, वानर गावैं गीत।
मेघ मनहुँ मिरदंग लै, करत बिपिन संगीत॥ २३॥
कबहुँ बैठि तरुवर सिखर, कबहुँ नाचि करि सोर।
मनहुँ गान बन महँ करत, बड़ी पूँछ के मोर॥ २४॥
घन-रव सुनि कपि उठत जो, रहे देर लौं सोइ।
करत नाद बहु रूप के, बूँदनि घायल होइ॥ २५॥
एक तीर सों लपटि कै, दूजो तीर बिहाइ।
निज पिय सागर सों मिलन, नदी चली इतराइ॥ २६॥
जल सों पूरे नील घन, सटे एक सों एक।
झुलसे मनौं दवागि के, गिरिवर जुरे अनेक॥ २७॥
बीर बहूटी रेंगती, कूकत माते मोर।
फैली गंध कदंब की, गज घूमत चहुँ ओर॥ २८॥
धोए बारिद बूँद सों, कमलन कों तजि देत।
केसर सहित कदंब के, मधु को मधुकर लेत॥ २९॥
मुदित गवेन्द्र गजेन्द्र मद, माते बली मृगेंद्र।
रम्य नगेंद्र, नरेंद्र चुप, घन सों सुखी सुरेंद्र॥ ३०॥
घन बरसाऊ गरजते, रहे गगन महँ छाइ।
नदी, बावली, कूप, महि, भरत बारि बरसाइ॥ ३१॥
बूँद परति अति वेग सों, वायु चलत झकझोर।
पथ छाड़ति, तोरति तटन, नदी बहति अति जोर॥ ३२॥
दयो इन्द्र, लायो पवन, घन गागर में तोय।
है अभिसिक्त नगेंद्र वर, नृप सम सोभित होय॥ ३३॥
तारा भानु न दीखते, छाए मेघ अकास।
भूमि तृप्त नभ लिप्त है, होत न कहूँ प्रकास॥ ३४॥

मोतिन की माला-सरिस, झरना बड़े सुहात।
तासों धोए गिरि-सिखर, सुन्दर अधिक लखात॥ ३५॥

शरद्वर्णन

सरद समागम होत ही, फूले कास कपास।
घन गर्ज्जन बर्ज्जन भयो, निर्ज्जल अमल अकास॥ १॥
निमल नीर नदियन बहै, सरवर कमल खिलन्त।
विकसीं कैरव की कली, निरखि चन्द निज कन्त॥ २॥
चक्रवाक चातक सुआ, कोकिल मञ्जु मराल।
चहकत चहुँ दिसि चाव सों, जानि सरद यहि काल॥ ३॥
दिव्य दिवाकर दिधित सों, दीपित दसों दिसान।
नूतन किसलय अरु लता, भासित स्वर्न समान॥ ४॥
पंक रहित पृथ्वी भई, सरितन सलिल समान।
निज निज प्यारी सों मिलन, पथिकन कीन्ह पयान॥ ५॥
खंजन मनरंजन करन, गंजन मृग चख मान।
आवत गुंजन को चुगत, चंचलता की खान॥ ६॥
मन्द मन्द मारुत चलै, सीतल सुखद महान।
खेतन में झूमत खड़े, धानन के बिरवान॥ ७॥
हरे हरे कोऊ पके, झुके सबै फल भार।
जगत पिता को करत हैं, विनती बाँध कतार॥ ८॥
सारदीय ससि की सुधा, बरसत चारोंओर।
करि दर्सन निज बन्धु कौ, प्रमुदित होत चकोर॥ ९॥
कदम करौंदा केतकी, कुसुमित बेर मकोय।
निरखत ही तिलको सुमन, मन आनन्दित होय॥१०॥

स्वच्छ सरद की सरसता, को करि सकै बखान।
रैनन में समुझत मरम, जो हैं रसिक सुजान ॥११॥

नया काम

नया काम कुछ करना बाबा, नया काम कुछ करना।
दूध दही घृत मक्खन छोड़ो, चरबी पर चित धरना ॥ १ ॥

गो-सेवा को दूर भगाओ, पालो घोड़े कुत्ते।
भगतिनियों की पूजा करके, पितरों को दो बुत्ते ॥ २ ॥

वेद शास्त्र का पढ़ना छोड़ो, छोड़ो सन्ध्या बन्दन।
बाम्हनपन की धाक जमाओ, खूब लगाकर चन्दन ॥ ३ ॥

दो सच्चों को झूठा करना, खाना नमक हलाली।
"कृषि गोरक्षा वाणिज्यं" को, छोड़ो करो दलाली ॥ ४ ॥

कन्या को वर बूढ़ा ढूँढ़ो, युवती को वर छोटा।
विधवाओं का व्याह कराओ, मार मार कर सोंटा ॥ ५ ॥

जो न बने कुछ तुम से भाई, पीटो पकड़ लुगाई।
अथवा नाचो ताक धिनाधिन, सिर पर उसे बिठाई ॥ ६ ॥

कामताप्रसाद गुरु

पंडित कामताप्रसाद गुरु के पूर्वज लगभग ३०० वर्ष पूर्व उत्तर हिन्दुस्थान से मध्यप्रदेश के वर्तमान सागर शहर के पास गढ़पहरा में आये थे। जहाँ उस समय दाँगी (राजपूत) राजाओं की राजधानी थी। वहाँ वे अपनी योग्यता के कारण रानियों के गुरु नियत किये गये और राजाओं को राज-काज में भी सहायता देने लगे। बुँदेलों के आक्रमणों के कारण गढ़पहरा की राजधानी सागर में लाई गई। जिसके कारण इनके पूर्वजों को भी सागर में आकर बसना पड़ा। दाँगियों के पश्चात् मरहठों के राज्य में भी इस गुरु-वंश का मान पूर्ववत् बना रहा, और अङ्गरेज़ी राज्य में उसे पोलिटिकल पेंशन मिलने लगी। पश्चात् गृह-कलह और सरकारी नीति के कारण पेंशन बन्द कर दी गई। सागर जिले में अब भी गुरुजी की कुछ माफी जमीन है।

पंडित कामताप्रसाद गुरु का जन्म संवत् १९३२ के पौष मास में मध्यप्रदेश के सागर शहर में हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण, भरद्वाज-गोत्री, कपिला के पाण्डेय हैं। पर वंशानुक्रम से 'गुरु' ही कहलाते हैं। गुरुजी के पिता का नाम पंडित गंगाप्रसाद गुरु था, जिनके समय तक सागर के पास बिलहरा में, जहाँ आजकल दाँगी राजाओं के वंशज जागीरदार हैं, दीक्षा देने का क्रम चलता रहा।

गुरुजी की शिक्षा सागर ही में हुई। सन् १८९२ में इन्होंने सागर के हाईस्कूल से १७ वर्ष की अवस्था में एंट्रेंस की परीक्षा संस्कृत लेकर पास की। फिर घर पर अध्ययन करके इन्होंने उर्दू और फारसी की

योग्यता प्राप्त की। परदेश में जाने की कठिनाइयों के कारण, साधन और रुचि रहते हुए भी इन्हें अंगरेजी की उच्च शिक्षा पाने अथवा कोई विशेष विद्या सीखने का अवसर न मिला। पूर्वोक्त कारण से ये अजमेर के "राजस्थान-समाचार" में भी, जहाँ ये उस समय बुलाये गये थे, साहित्यिक कार्य करने न जा सके। तब इन्होंने सागर के हाईस्कूल में शिक्षक का कार्य स्वीकार कर लिया, और ये वहाँ दो वर्ष तक रहे। फिर इनकी बदली रायपुर की होगई। जहाँ स्व० पंडित माधवरावजी सप्रे से इनका घनिष्ट परिचय हुआ। इन्होंने सप्रेजी को समय-समय पर साहित्यिक सहायता दी है।

गुरुजी कालाहंडी रियासत में स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर तथा अंगरेज़ी मिडिल स्कूल के हेडमास्टर भी रह चुके हैं। ये कुछ दिनों तक रायपुर के राजकुमार कालेज में छुईखदान रियासत के राजकुमार के शिक्षक का भी कार्य करते रहे। रायपुर से इनकी बदली जबलपुर को हुई। जबलपुर में इनका अधिकांश समय मेल नार्मल-स्कूल में हिन्दी-साहित्य और व्याकरण के शिक्षक का कार्य करते हुये बीता। यहीं से इन्होंने सन् १९२८ में पेंशन ले ली। अब ये अपना समय साहित्य के अध्ययन और मनन में बिताते हैं।

गुरुजी ने सन् १९२० में, लगभग एक वर्षतक प्रयाग के इंडियन प्रेस में "बालसखा" और 'सरस्वती' का सम्पादन किया है। इनको नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर के साहित्यिक सहायक का स्थान अर्पित किया गया था; पर अस्वस्थता के कारण ये उसे स्वीकार न कर सके। और भी दो एक संस्थाओं ने इन्हें सम्पादक का कार्य देने का निश्चय किया था; पर घर न छोड़ने की इच्छा के कारण ये उसे स्वीकार न कर सके। एक वर्ष तक ये जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर में भी सम्पादक रह चुके हैं।

शिक्षक का कार्य आरम्भ करने के पश्चात् इनकी रुचि हिन्दी-साहित्य की ओर हुई और ये समाचार-पत्रों में साहित्य-सम्बन्धी लेख तथा कविताएँ लिखने लगे। इनके अधिकांश लेख तथा कविताएँ सरस्वती में निकली हैं। गुरुजी के कई एक समालोचनात्मक अंग्रेज़ी लेख बम्बई के प्रसिद्ध मासिक पत्र "इण्डियन एजुकेशन" में प्रकाशित हुये हैं। आजकल भी ये कभी-कभी समाचार-पत्रों में तथा मासिक पत्रों में लेख तथा कविताएँ लिखा करते हैं। इनकी कई कविताएँ और लेख कल्पित नामों से निकले हैं। इनकी भाषा व्याकरण-सम्मत और सहज रहती है। इनकी कविताएँ प्रसाद-पूर्ण और भावमय तथा लेख न्याय-संगत और सारगर्भित होते हैं। कभी कभी उनमें विनोद की मात्रा भी पाई जाती है। भाषा पर इनका असाधारण अधिकार है।

अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी के अतिरिक्त इनको उड़िया, बंगला और मराठी का भी साधारणतया अच्छा ज्ञान है। हिन्दी-व्याकरण तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण का इन्होंने विशेष अध्ययन किया है। ये हिन्दी-भाषा तथा व्याकरण में प्रमाण माने जाते हैं।

आरम्भ में इन्होंने "सत्य प्रेम" नामक एक उपन्यास और ब्रज-भाषा में "भौमासुर-वध" तथा "विनय-पचासा" नामक दो पद्य-ग्रंथ लिखे थे। फिर इन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी "भाषा-वाक्य-पृथक्करण" तथा "सहज हिन्दी-रचना" नामक दो पुस्तकें लिखीं, जो मध्य-प्रदेश के हिन्दी स्कूलों में प्रचलित हैं। इसके पश्चात् इन्होंने एक उड़िया पुस्तक के आधार पर "पार्वती और यशोदा" नामक उपन्यास लिखा। इन्होंने "अत्याचारी" नामक एक पद्य-विनोद-सम्बन्धिनी पुस्तक भी लिखी है। जबलपुर के मिश्रबन्धु-कार्यालय ने इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह "पद्य-पुष्पावली" नाम से प्रकाशित किया है। प्रयाग से इनकी दो पुस्तकें

"सुदर्शन (पौराणिक नाटक)" और "हिन्दुस्तानी शिष्टाचार" प्रकाशित हुई हैं।

गुरुजी की सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विद्वत्ता-सूचक पुस्तक हिन्दी का व्याकरण है, जिसे इन्होंने कई वर्षों के परिश्रम और खोज के बाद लिखा है, और जिसे काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। इस व्याकरण का संशोधन करने के लिये विद्वानों की जो समिति बनाई गई थी, उसकी सम्मति में यह ग्रंथ अद्वितीय बताया गया था। उक्त समिति के एक प्रतिष्ठित सदस्य ने तो यह कहा था कि गुरुजी की योग्यता और कीर्ति स्थापित करने के लिये यही एक ग्रंथ बस है। इस पुस्तक की रचना के लिये मध्यप्रदेश की सरकार ने इनको एक स्वर्ण-पदक से धन्यवाद प्रदान किया था। "हिन्दी-व्याकरण" के कई संक्षिप्त संस्करण सभा ने प्रकाशित किए हैं, जो पाठशालाओं में प्रचलित हो गये हैं। इन्होंने दो पुस्तकें और लिखी हैं जो अभी अप्रकाशित हैं—देशोद्धार और विमल-विहारी-संग्रह।

गुरुजी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग और जबलपुर के मध्यप्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की कार्य-कारिणी-समिति के सदस्य रह चुके हैं। ये कुछ समय तक मध्यप्रदेश की टेक्स्ट-बुक कमेटी के मेम्बर और जबलपुर के कवि-समाज के सभापति थे। ये मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग और नागपुर युनिवर्सिटी की कई एक उच्च हिन्दी-परीक्षाओं के परीक्षक भी रहते हैं।

इनमें समालोचना करने की शक्ति बढ़ी-चढ़ी है। मध्यप्रदेश में ये एक अच्छे समालोचक समझे जाते हैं। अशुद्ध भाषा और विदेशी प्रयोगों को ये तुरन्त ताड़ लेते हैं।

गुरुजी साहित्यिक तथा सामाजिक सभाओं में बहुधा योग देते हैं;

और समय-समय पर व्याख्यान भी दिया करते हैं। जातीयता के पक्षपाती और सामाजिक अत्याचारों के विरोधी हैं।

गुरुजी की रहन-सहन बहुत सादी है। ऊपरी आडम्बर इन्हें पसन्द नहीं। ये स्वयं शिष्टाचार का पालन करते हैं, इसलिये हिन्दुस्थानी लोगों की अशिष्टता और कलह-प्रियता पर इन्हें बड़ा खेद होता है। ये विनोद-प्रिय और साथ ही सत्यवादी तथा स्पष्टवक्ता हैं। इनमें प्रायः इन गुणों का अभाव है, जिनके द्वारा लोग येनकेन प्रकारेण अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं; अथवा बड़े लोगों के कृपा-पात्र हो जाते हैं।

ये आजकल सकुटुम्ब जबलपुर ही में रहते हैं। इनके पाँच पुत्र और एक कन्या है। द्वितीय पुत्र पंडित रामेश्वरप्रसाद गुरु, एम० एस-सी० 'कुमारहृदय' के नाम से हिन्दी में लिखते हैं। तृतीय पुत्र राजेश्वरप्रसाद गुरु, बी० ए० भी एक होनहार कवि हैं।

यहाँ इनकी कविता के नमूने दिये जाते हैं :—

सहगमन

छूटने पाया न कङ्कण ब्याह का।
आगया आदेश विक्रमशाह का॥
शीघ्र ही जयसिंह जाओ युद्ध पर।
देशहित के हेतु सर्वस त्याग कर॥
पास पत्नी के गये ठाकुर तभी।
और उसको पत्र दे बोले अभी॥
शीघ्र ही फिर भेंट कर उसको हिये।
हट गये झटपट निकलने के लिये॥
देवकी ने धीर अपना खो दिया।
प्राणपति से झट लिपटकर रो दिया॥

पर अचानक भाव उसका फिर गया।
मोह का परदा हृदय से गिर गया॥
प्रेम से उसने सुना पति का कहा।
खेद पति के चित्त का जाता रहा॥
किन्तु जब आई बिछुड़ने की घड़ी।
गाज सी दोनों मनों पर आ पड़ी॥
मोह का संकेत फिर कर अनसुना।
धर्म का कर्तव्य दोनों ने गुना॥
देवकी ने शीघ्र रण-कङ्कण दिया।
बाँध उसको हाथ में पति ने लिया॥
चिन्ह दोनों साथ ले उत्साह में।
जा रहे जयसिंह हैं रन-राह में॥
सुध प्रिया की मार्ग में आती रही।
किन्तु रन-मैदान में जाती रही॥
युद्ध में तो और ही कुछ ध्यान है।
पूर्ण हिय में देश का अभिमान है॥
प्राण क्या है देश के हित के लिये।
देश खोकर जो जिये तो क्या जिये॥
मग्न हैं जयसिंह रन के चाव में।
ला रहे हैं शत्रु को निज दाँव में॥
घाटियाँ, मैदान, पर्वत, खाइयाँ।
सब कहीं हैं सूरमा औ दाइयाँ॥
रातदिन है अग्नि-वर्षा हो रही।
रातदिन है पूर्ण लोथों से मही॥

व्योम जल थल सब कहीं है रन मचा।
युद्ध के फल से नहीं कोई बचा॥
एक दिन जयसिंह धावा मारकर।
दल सहित जब जा रहे थे केन्द्र पर॥
एक दाई घायलों के बीच में।
दिख पड़ी सोती रुधिर के कीच में॥
ध्यान से जयसिंह ने उसको लखा।
और फिर उसके हृदय पर कर रखा॥
हो विकल उसको जगाने वे लगे।
मर चुकी थी वह भला अब क्यों जगे॥
घायलों की वीर-सेवा में लगी।
और फिर प्रिय ध्यान में पति के पगी॥
गोलियों से शत्रु के भागी न थी।
चोट घातक झेल वह जागी न थी॥
शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं।
थे जहाँ बैठे रहे बैठे वहीं॥
दुःख में अब घोर चिन्ता छा गई।
प्रियतमा कैसे यहाँ कब आ गई॥
आ गये उस काल सेनापति वहाँ।
वीर नारी की लखी शुभ गति वहाँ॥
वीर होकर भी हुई उनको व्यथा।
आदि से कहने लगे उसकी कथा॥
दाइयाँ कुछ आपके दल के लिये।
कुछ समय पहिले मुझे थीं चाहिये॥

की गई इसकी प्रकाशित सूचना।
देवकी ने शीघ्र भेजी प्रार्थना॥
दाइयों में इस तरह भरती हुई।
अन्त लों निज काज यह करती हुई॥
शत्रु के अन्याय से मारी गई।
पायगा फल दुष्टता का निर्दई॥
हाल सुन जयसिंह का दुख बढ़ गया।
शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया॥
सौंप कर मृत देह सेनापति-निकट।
प्रण किया सब से उन्होंने यह विकट॥
भस्म जब मैं कर चुकूँगा रिपु-नगर।
तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर॥
और जो मैं ही मरूँ रिपु हाथ में।
फूँकना मुझको प्रिया के साथ में॥
दूसरे दिन व्योम से जलता हुआ।
पर कटे खगराज-सा चलता हुआ॥
केन्द्र से कुछ दूर रख करके बड़ा।
युद्ध का नभ-यान आकर गिर पड़ा॥
नष्ट पुर को यान ने था कर लिया।
मार्ग रक्षित केन्द्र का था धर लिया॥
किन्तु रिपु का क्रुद्ध गोला चल उठा।
और उसकी आग से यह जल उठा॥
साथ ही प्रेमी युगल बुझकर जले।
और दोनों साथ ही जलकर चले॥

एक कङ्कण से बँधे थे वे यहाँ।
दूसरे से जा बँधे दोनों वहाँ॥
पर दिया था बुझ चुका यह आग से।
या बुझे उस दीप के अनुराग से॥
सैनिकों ने खींच इसमें से लिया।
उस पुरुष को देश का जो था दिया॥
प्रेम-बन्धन जन्म लय का सार है।
प्रेम-बन्धन देश का उद्धार है॥
प्रेम-बन्धन देवकी जयसिंह का।
तोप से भी रिप न खण्डित कर सका॥

शिवाजी

(१)

जीती जाती हुई जिन्होंने भारत बाजी।
निज बल से मलमेट विधर्मी मुगल कुराजी॥
जिनके आगे ठहर सके जंगी न जहाजी।
हैं जग-जाहिर वही छत्रपति भूप शिवाजी॥

(२)

वीर-वंश में स्वयं जन्म था जिस माता का।
वीर-कोख से वीर उसी ने जाया बाँका॥
वीरोचित कर्त्तव्य उसी ने सुत का ताका।
अग्र-शोच से गिरी उसी के मुग़ल-पताका॥

(३)

राजपूत का रक्त मिला उसकी नस-नस में।
क्यों फिर आकर शक्ति न होती उसके बस में॥

थे जिसके सब चरित अलौकिक बाल-वयस में।
करता सम्भव क्यों न असम्भव वह साहस में॥

(४)

दादोजी से वीर विप्र ने जिसे बढ़ाया।
रामदास ने जिसे धर्म-उपदेश सुनाया॥
वही शिवाजी वीर वीर माता का जाया।
रहने देता भला कहीं निज देश पराया॥

(५)

देश, नाम, कुल, धर्म हिन्दुओं का मिट जाता।
'अपना' शब्द पुनीत न कोई कहने पाता॥
आर्य्य गुणों का गान कहाँ से कोई गाता।
यह अवतारी वीर न जो भारत में आता॥

(६)

करके उसका ध्यान चित्त होता है चंचल।
जिसके कारण बँधा हिन्दुओं का बिखरा बल॥
उसे अश्व पर देख फूल उठता था रण-थल।
विकट मरहठे वीर जूझते थे दल के दल॥

(७)

दूर दूर जय-ध्वजा शिवाजी ने फहराई।
निज स्वतन्त्रता गई हिन्दुओं ने फिर पाई॥
एक बार फिर जन्म-भूमि यह 'निज' कहलाई।
राम-राज्य की छटा दृष्टि में फिर भी आई॥

(८)

तिल-तिल भारत-भूमि जीत यवनों के कर से।
रच राई का मेरु बसाया ऊजड़ फिर से॥

अष्ट-प्रधान-प्रबंध अनोखा कर जमधर से।
पाली पुत्र समान प्रजा अपनी आदर से॥

(९)

सहे देश के लिए उन्होंने नाना संकट।
गिने न पग के कष्ट बाट भी लगी न ऊबट॥
पग पग छिन-छिन यदपि खड़े थे सिर पर घातक।
तो भी उनका झुका न रिपु के आगे मस्तक॥

(१०)

कठिन विपत में भी न उन्होंने त्यागा धीरज।
गूढ़ अनूठी युक्ति सोच साधा निज कारज॥
आपस का विश्वास दूसरे देशों को तज।
आ धरता था सीस मरहठे के पद की रज॥

(११)

निज भुजबल से शीघ्र राष्ट्र को "महा" बनाया।
हरद्वार, गुजरात, सेतु, जगदीश जगाया॥
वैश्यों को भी समर-भूमि का खेल दिखाया।
पल में कर दी दूर परालम्बन की माया॥

(१२)

करने को उद्धार देश का कुटिल मुग़ल से।
देशभक्ति थी भरी कुटी पर्य्यन्त महल से॥
वीर मरहठे हटे न मरकर भी निज थल से।
सिसोदियों-सम कटे खड़े घाटी में बल से॥

(१३)

राज-नीति में रही शिवाजी की चतुराई।
जिसके आगे चली न मुग़लों की मुग़लाई॥

थी उनकी निर्दोष बुराई सदा भलाई।
वैरी ने भी छिपे बड़ाई उनकी गाई॥

(१४)

शूर, साधु, कवि, गुणी इन्हें थे जी से प्यारे।
दया भक्ति नय शील रहे वे हिय में धारे॥
गुरु गो द्विज के चरण प्रेम से सदा पखारे।
किया न कोई काम बिना नृप-धर्म विचारे॥

(१५)

क्या सेना, क्या सदन, बनिज क्या खेती खाता।
क्या शिक्षा, क्या धर्म, प्रजा-राजा का नाता॥
क्या स्वराज्य, क्या सभा, पक्ष सीरा, क्या ताता।
राह सभी में विद्यमान यह भारत-त्राता॥

(१६)

पर विधि ने करतूत यहाँ भी अपनी साजी।
वीर-वंश में लाय हाय! उपजाया पाजी॥
कहाँ छत्रपति भूप आर्य-कुल-मुकुट शिवाजी।
कहाँ कलङ्की, क्रूर, कुटिल, कायर संभाजी॥

(१७)

भरतखंड में आज शिवाजी यदपि नहीं हैं।
तो भी उनके चिन्ह यहाँ पर सभी कहीं हैं॥
इनसे उनकी कीर्त्ति-लता नूतन उलही है।
नये जोश से भक्ति-भाव की नदी बही है॥

(१८)

उचित यही है करें वीर-पूजा मिल हम सब।
यही धर्म है सत्य यही है सच्चा करतब॥

भारत पर अति कठिन विपति आती है जब जब।
इसी भाँति अवतार ईश लेते हैं तब तब ॥

नैकटाई

काल-चाल से हैं खुले, तेरे भाग्य विचित्र।
भारत में तू होगई, कंठी तुल्य पवित्र ॥ १ ॥
धज्जी, चिंदी, चीथड़ा, लत्ता है तू आप।
पर अनिष्ट सर्वत्र तव, राज्य रहा है व्याप ॥ २ ॥
रक्खा है जिस कंठ पर, निर्धनता का भार।
लज्जा तज उसने तुझे, किया गले का हार ॥ ३ ॥
बोल रहे हैं इसलिए, नहीं जानते लोग।
लिपटी है तू कंठ में, बनी कंठ का रोग ॥ ४ ॥
परवशता की है पड़ी, साँकल जहाँ कठोर।
लगी हुई है तू वहीं, फाँसी सी चहुँ ओर ॥ ५ ॥
तुझे कंठ में देखकर, बँधता है यह ध्यान।
बन्दी अपने हाथ से, हुई भरत-सन्तान ॥ ६ ॥
होता है तुझसे प्रकट, यही भाव गम्भीर।
पराधीनता-रूप तू, है पंचाली चीर ॥ ७ ॥
पड़ी तुझे लख हृदय पर, जाता है हिय काँप।
मानों छाती पर पड़ा, लोट रहा है साँप ॥ ८ ॥
गले लपट तू कह रही, मानों वचन भविष्य।
टाकेंगे तन अन्त में, तुझ से तेरे शिष्य ॥ ९ ॥
इससे बढ़कर और क्या, होगा जी को सोग।
असहयोग की वस्तु से, है अब तक सहयोग ॥१०॥

कंठ-पाश तज बाहु में, बाँधो अब वह यन्त्र।
जिसमें है विधिवत् भरा, स्वावलम्ब का मन्त्र ॥११॥

दासी रानी

(१)

हेमलता के जी में नाना चिन्तायें होती हैं आज—
हे विधि! बिगड़ी बात बनाना, तेरे ही कर है सब लाज।
मुझे लिवा जाने को प्रियतम आज धूम से आवेंगे;
निराधार सी जान देह मम अपनी देह बनावेंगे ॥

(२)

पर मैं दासी-बेटी होकर नृप-कन्या कहलाती हूँ;
फिर मैं यह पदवी भी खोकर रानी होने जाती हूँ।
प्राणनाथ यह सुनकर जी में हाय! करेंगे भारी खेद;
तो भी नहीं छिपाने की मैं प्यारे पति से कोई भेद ॥

(३)

मरते समय कहा था माँ ने, बेटी! अब मैं जाती हूँ;
सत्यभेद यह और न जाने जो मैं तुझे बताती हूँ।
बड़ी वैस में एक कुमारी सुन्दर मैंने पाई थी;
निस्संतान पिता को प्यारी गुड़िया सी वह भाई थी ॥

(४)

विधि ने गुड़िया वृद्ध भूप की पल में जग से उठवा ली;
पर मैंने फिर उसी रूप की उसी ठौर दूजी पाली।
कठिन गूढ़ कारज स्वामी-हित साधा था यह तब माँ ने;
आज कहीं होती वह जीवित सुख पाती तू मनमाने ॥

(५)

क्या जाने निज माता ने क्यों मुझे न पाला जनकर आप;
सोचा कौन लाभ मेरा यों जो लादा सिर पर यह पाप !
यद्यपि अपने प्रभु के हित में है सेवक को उचित प्रपंच,
निरा ठाठ है भला जगत में, नहीं कपट का पाया मंच ॥

(६)

क्यों जनमी मैं जिसके कारण चार जनों ने पाया क्लेश !
इतने पर भी पति ही के मन में अब उपजाऊँगी द्वेष।
बात मानकर रानी-माँ की, जो मैं पति से करूँ दुराव,
दशा भोगकर दक्ष-सुता की बना सकूँगी नहीं बनाव ॥

(७)

तो भी बूढ़े धर्म-पिता को मैं कुछ भी न बताऊँगी;
बढ़ी हुई उनकी चिन्ता को कैसे अधिक बढ़ाऊँगी।
दोनों दिशि दहती है दारुण दई ! दहकते दुख की दाह;
कुछ तो दीन-विनय मेरी सुन, बता मुझे बचने की राह ॥

(८)

पर जो होनी है सो होगी, चिन्ता से क्या होता है !
चिन्ता से सब आशा रोगी प्रिय जीवन को खोता है।
पिता-भवन से मेरा नाता मानों अब सब छूटेगा,
उचित न्याय मेरा हिय-ज्ञाता पति ही से अब टूटेगा ॥

(९)

नृप रणधीरसिंह के द्वारे धूम-धाम है आज बड़ी;
भोली हेमलता मन मारे पिता-पास है विकल खड़ी।
बोल लाज-वश नहीं निकलता, दृष्टि भाव बतलाती है;
बाहर हिय में भरी विकलता आँसू बनकर आती है ॥

(१०)

मूक हृदय बेटी का पढ़कर समझाते हैं नृप रणधीर—
बेटी ! मेरी चिन्ता मत कर; हो मत मन में अधिक अधीर।
जैसे होगा दुखिया अपना जीवन सुखी बिताऊँगा;
पर यह जग है मुझको सपना, इसमें जी न लगाऊँगा ॥

(११)

बेटी ! होकर पति की प्यारी तू रहना सुख से पति संग;
पति के लिये बनी है नारी; है वह उसका आधा अङ्ग।
घर का काम-काज सब करना; सुनना सास ससुर की बात;
किसी भाँति भी मान न धरना; साहस से सहना उत्पात ॥

(१२)

नृप-कन्या फिर रानी होकर करना नहीं गर्व का लेश;
दया-भाव रखना दीनों पर; भूल न जाना मम उपदेश।
सुनकर तेरा सुखमय जीवन और जिऊँगा मैं कुछ वर्ष;
बीर पुत्र की तू माता बन दूना करना मेरा हर्ष ॥

(१३)

फिर व्रजमोहनसिंह भूप से बोले सरल, वृद्ध नरनाथ;
बल, विद्या, गुण, विनय, रूप से किया आपने मुझे सनाथ।
तो भी मेरा एक सिखापन गाँठ बाँध मन में धरियो;
कीजो-सदा धर्म से शासन, स्वत्व प्रजा के मत हरियो ॥

(१४)

ईश-भजन में अपना जीवन अब मैं शेष बिताऊँगा;
अपनी सभ्य प्रजा का शासन सौंप प्रजा को जाऊँगा।
बढ़ती हैं चिन्ताएँ मन में जबलौं तन में स्वासा है;
इसी काम से चौथे पन में मुझे शांति की आशा है ॥

(१५)

हेमलता पति-गृह में आकर सबसे मिलती-जुलती है,
तो भी पति से जी की जी भर कहे बिना नित घुलती है।
अपने बल-भर हिय की आगी उसने दी न प्रगट होने;
जब उसास से वह कुछ जागी रोकी छिपे आँसुओं ने॥

(१६)

रंग-महल में एक दिवस जब पति से उसका हुआ मिलाप,
कथा गूढ़ अपने दुख की सब उनसे कहकर किया विलाप—
मेरे कारण आप देश में व्यर्थ कलंकित होवेंगे;
लख रानी के मुझे भेष में सुख की नींद न सोवेंगे॥

(१७)

तो भी नहीं इष्ट सपने भी मुझे आप से दूर निवास;
तजता है कोई अपना भी कहीं मान निन्दा का त्रास!
मैं दासी की दासी रहकर गेह-काज सब साधूँगी,
ऊँचा-नीचा सब कुछ सहकर पति के पद आराधूँगी॥

(१८)

मुझको किसी और रानी से होगा नहीं भूलकर द्वेष;
अल्प प्रेम भी पा स्वामी से प्रिय होगा दासी का भेष।
मुझे आपके सुख में सुख है, चाहे मैं भोगूँ दुख आप;
लगता नहीं प्रीति में दुख है, जैसे शुद्ध हृदय में पाप॥

(१९)

वही करें अब स्वतन्त्रता से जिसमें आप न पावें खेद;
तोभी मेरे वृद्ध पिता से कहे न कोई मेरा भेद।
मेरे तन, मन के मनमाने आप एकही स्वामी हैं;
मेरे लिये उचित जो जानें, उसमें मेरी हामी है॥

(२०)

व्याकुल सुना विलाप प्रिया का व्रजमोहन ने सब चुपचाप;
पर प्रभाव उसकी घटना का हुआ न कुछ भी उनको आप।
तो भी सब कहना रानी का सत्य उन्होंने मान लिया;
खेद बाँटकर उसके जी का व्याकुल मन कुछ शान्त किया॥

(२१)

फिर धीरज धर मधुर सुधा से बोले, भूप नम्र ये बैन;—
प्यारी! क्या नृप की कन्या से अधिक नहीं कोई सुख दैन?
क्या सिंहासन सदाचार से, मुकुट धर्म से भारी है!
आर्य-रक्त क्या शुद्ध प्यार से कहीं अधिक सुखकारी है॥

(२२)

सरल तुम्हारा यह भोला मन मणि हैं चिन्ता खोने में;
तिसपर पूर्ण-चन्द्र-सा आनन मधुर गंध है सोने में।
तन मन की सुन्दरता पूरी मिलती नहीं साथ सम-भाव;
पर तुम ज्यों छवि में हो रूरी, त्योंही है तव मृदुल स्वभाव॥

(२३)

पाय सुवासित हेमलता-सी हेमलता को हिय के बीच;
मुझे और रानी है दासी, ऊँचा कुल है मुझको नीच।
राज-पाट, प्रभुता, तन, मन, धन, मेरा सभी तुम्हारा है;
तुमको पाय मुझे जग-बन्धन अब मानों छुटकारा है॥

(२४)

इतना कहकर गले लगाया राजा ने निज रानी को;
जग में सच्चा पन्थ दिखाया झूठे कुल-अभिमानी को।
एक बरस जब बड़े मोद में एक मास-सा बीत गया;
सुन्दर पुत्र खिलाय गोद में सुख दोनों को हुआ नया॥

(२५)

हेमलता व्रजमोहन जग में सुरपुर का सुख पाते हैं;
चलकर सदा प्रेम के मग में मन की शान्ति बढ़ाते हैं।
यद्यपि दोनों सातों सुख से सुखियों को तरसाते हैं,
तोभी दीन प्रजा के दुख से सहज दुखी हो जाते हैं॥

बालक

(१)

माता-तन का सार, पिता का तू सर्वस है,
दोनों का संसार, वंश का विस्तृत यश है।
माता-पितानुराग प्रकट तेरा यह तन है,
मूर्तिमान सौभाग्य, पुत्र तू अद्भुत धन है॥

(२)

जब तू जग में आय, भूमि पर गिरकर रोया,
माँ ने हिये लगाय, कष्ट सब अपना खोया।
सुन तेरा प्रिय रुदन, पिता का मन यों जागा,
हुई झोपड़ी भवन, मिला सबको मुँह-माँगा॥

(३)

प्रबल प्रेम में पगे, पिता-माँ-तन के फल से,
बली समझने लगे आपको तेरे बल से।
भोला रूप निहार, हुये दोनों मन भोले,
मानों इष्ट विचार, हृदय ने निज पट खोले॥

(४)

अन्धकार मिट गया, हुआ चहुँओर उजेला,
बास बसा फिर नया, भरा ऊजड़ में मेला।

चिन्तायें दिनरात, जलाती थीं जो मन को,
सो अब होकर शान्त, पालती हैं शिशु-तन को ॥

(५)

तेरा जीवन-भेद बुद्धि में नहीं समाता,
तो भी मान अभेद, मानता है मन नाता।
यह सम्बन्ध अटूट एक ही धर्म जगत में,
सच्चे सुख की लूट संग है सदा विपत में ॥

(६)

माँ को जब टक लगा, निरखता तू पय पीते,
भरता ममता जगा पयोधर है तू रीते।
फिर अवाक मुसुकान, कुन्द की खिली कली-सी,
लगती सुधा समान मधुर है मा को जी-सी ॥

(७)

तेरे सब व्यापार, खेलना, खाना, सोना,
भाषा, भाव, विचार, सभी है केवल रोना।
करे न इसका मान भले ही भाषा-ज्ञाता,
पर निज गिरा समान इसे गिनती है माता ॥

(८)

एक वर्ण आकार-सहित पद जटिल बनाकर,
दरसाता है प्यार, क्रोध, इच्छा तू सब पर।
फिर स्वर सप्त सुनाय हृदय सब का हरता है,
माता-मन सुख पाय भरा भी फिर भरता है ॥

(९)

राजा-सम हठ कठिन कभी तेरी ठनती है,
पर यह बिगड़ी रहन एक पल में बनती है।

है पदार्थ वह कौन जिसे तू कर न बढ़ावे ?
नहीं धारता मौन, न जब लौं उसको पावे ॥

(१०)

कोमल कमल-समान निरख तेरा तन चंचल,
करते हैं छवि-पान मधुर माँ के दृग पल-पल ।
चूम चूम शशि-वदन, पान कर रूप-सुधा को,
होकर भी अति मगन नया नित सुख है माँ को ॥

(११)

तेरा सोना निरख और सोते मुसुकाना,
होता है सुख अलख, पाय ज्यों छिपा खजाना ।
यह सोना अनमोल अधिक सोने से धन है,
मुहरों से भी गोल, जगत में सच्चा धन है ॥

(१२)

तेरे सुख के लिये कष्ट सहती है माता,
तुझे लगाये हिये उसे दुख नहीं सताता ।
खान-पान, व्यवहार, नींद, श्रम, सब कुछ मित है;
है नित यही विचार, पुत्र का किस में हित है ॥

(१३)

तुझको तेरे मित्र, खिलौने हैं अति प्यारे,
मन से उनके चित्र, नहीं करता तू न्यारे ।
उन्हें देखकर भूल, बढ़ाकर कर मिलता है,
अपना सब दुख भूल, फूल-सा तू खिलता है ॥

(१४)

कभी कभी पय-पान, स्वप्न में तू करता है,
देकर माँ को ज्ञान, मोह उसका हरता है ।

फिर उदास मुख बना, नींद में तू रोता है,
दशा देख दुख घना, दीन माँ को होता है ॥

(१५)

विद्या, कला, प्रवास, सभी कुछ माँ को तू है;
तूही उसकी आस, सदा सर्वत्र हितू है।
पट, भूषण, छवि, साज, रूप, वय तूही सब है;
तूही राज-समाज, पुत्र, तूही उत्सव है ॥

(१६)

सत्य सनातन-धर्म, पिता-माता को सुत है।
पालन है शुभ कर्म, पढ़ाना मंगल-युत है।
सदाचार उपदेश, तीर्थ का पुण्य अकथ है,
देश निरोग, सुवेश, मुक्ति का निश्चित पथ है ॥

(१७)

जिनके धोये वसन न बिगड़े शिशु-पद-रज से,
चूमे कोमल कर न जिन्होंने खिले जलज से।
थके न जो बकवाद, बोलकर बालक-भाषा,
उनका विभव प्रमाद, वृथा है शुभगति-आशा ॥

बेटी की बिदा

(१)

प्यारी बहिन, सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना ;
है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे का मनमाना।
रक्त मांस हड्डी तन मेरा है यह बेटी प्यारी ;
करो इसे स्वीकार हुई यह अब सब भाँति तुम्हारी ॥

(२)

पूजे कई देवता हमने तब है इसको पाया ;
प्राण समान पालकर इसको इतना बड़ा बनाया।
आत्मा ही यह आज हमारी हमसे बिछुड़ रही है ;
समझाती हूँ जी को तो भी धरता धीर नहीं है ॥

(३)

बहिन ढिठाई माता की तुम मन में नेक न धरियो ;
इस कोमल बिरवा की रक्षा बड़े चाव से करियो।
है यह नम्र मेमने से भी, भीरु मृगा से बढ़कर ;
कड़ी बात या चितवन से यह कँप जाती है थर-थर ॥

(४)

है गँवार यह भोली, इसने नहीं शिष्टता जानी ;
तिस पर भी गुरुजन की आज्ञा बड़े प्रेम से मानी।
साँचे में तुम इसे ढालियो, कभी न यह तड़केगी ;
बहिन सिखाने से चतुराई बेटी सीख सकेगी ॥

(५)

यह गुड़िया, यह लक्ष्मी अपनी, जीवन-मूल दुलारी,
हृदय थामकर करती हूँ मैं अब आँखों से न्यारी।
माता-नेह सोच तुम मन में दुख मेरा अनुमानो ;
ममता छिपती नहीं छिपाये, बहिन सत्य यह जानो॥

(६)

इसका रूप निहार दिव्य मैं पल-पल सुख पाती थी ;
गान-समान सुरीली बोली इसकी मन भाती थी।
बहिन तुम्हें भी ये सब बातें जान पड़ेंगी आगे ;
अपने नैन रखोगी इसपर जब तुम पर अनुरागे ॥

(७)

इसकी मंद हँसी से मेरा मन अति सुख पाता था ;
कठिन घाव भी जिससे दुख का अच्छा हो जाता था।
इसे उदास देख आँखों में भर आता था पानी।
छिपी नहीं है, बहिन, किसी से माता-प्रेम-कहानी ॥

(८)

बड़ी लालसा भी निज मन की इसने नहीं बताई ;
कर संकोच कठिन पीड़ा भी अपनी सदा छिपाई।
तोभी मैं सब लख लेती थी इसके बिना कहे ही ;
योंही तुम इसको सब बातें लखियो, बहिन सनेही ॥

(९)

अपना मांस-पिंड देती हूँ मैं तन से कर न्यारा ;
है यह जीवन मेरे जी का, आँखों का है तारा।
इस अनाथ बच्चे का पालन माता सम तुम कीजो ;
मेरी इस बलहीन दशा में बहिन, बाँह गह लीजो ॥

(१०)

करो बहिन, स्वीकार दयाकर मेरी इतनी बिनती ;
बच्चों में अपने तुम करियो इस बेटी की गिनती।
दीजे बहिन, भरोसा मुझको हाथ-हाथ में देकर,
बेटी-सम पालेंगी इसको हम माता-सम सेकर ॥

(११)

मेरी ये आँखें पीती थीं नित जो रूप मनोहर;
क्या उसके दर्शन का मुझको फिर न मिलेगा अवसर।
जिस बोली से धीरे-धीरे इसे बुलाती थी मैं,
क्या वह भी अब मूक रहेगी रख जी की जी ही में ॥

(१२)

हा, मेरी अनमोल लाड़ली ! प्राणाधार दुलारी !
क्या तू मुझे नहीं समझेगी अब अपनी महतारी ?
तुझे नई माता मिलती है, मैं तुमको खोती हूँ;
यही सोच सुख में भी तेरे, बेटी, मैं रोती हूँ ॥

(१३)

हाय ! आज से हुआ हमारा यह घर भरा अँधेरा,
होकर निपट निरास न क्यों अब हृदय फटेगा मेरा !
अब मेरे इस सूने घर को उजला कौन करेगी !
कौन मधुर बातों से मेरा रीता हृदय भरेगी ॥

(१४)

कौन सुरीली बीन बजाकर मधुर गीत गावेगी !
घर में कौन लड़कियाँ छोटी न्योत न्योत लावेगी !
सखियों के सँग कौन खायगी, खेलेगी, झूलेगी !
किसको सुन रामायण पढ़ते यह छाती फूलेगी ॥

(१५)

हा बेटी ! हा गुड़िया मेरी ! हा मेरी सुकुमारी !
तेरे बिना हृदय यह मेरा पावेगा दुख भारी ।
केवल दैव दयामय जो दुख लख सकता है जनका;
वही धीर दे दूर करेगा संकट मेरे मनका ॥

(१६)

जाकर वहाँ दूर, हे बेटी, मुझे भूल मत जाना;
कभी-कभी इस दुखिया की भी सुध निज मन में लाना
रो मत, बेटी ! जा अपने घर संग नई माता के;
लीजे बहिन, इसे अब, देती हूँ मैं सीस नवा के ॥

मिश्रबंधु

पण्डित गणेश बिहारी मिश्र, माननीय पंडित श्याम-बिहारी मिश्र और रायबहादुर पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र हिन्दी-संसार में "मिश्रबन्धु" के नाम से प्रसिद्ध हैं। मिश्रबन्धु सहोदर बन्धु हैं। साहित्य के निर्माण में तीनों भाई सम्मिलित रहते थे। इनके ग्रन्थों में से कोई यह निर्णय नहीं कर सकता कि कौन-सी रचना किसकी है। यहाँ तक कि कभी-कभी एक-एक दोहा, सवैया और कवित्त की रचना भी सब मिलकर करते थे। इसीसे यह सोचकर कि जब इनकी सम्पूर्ण साहित्य-रचना मिश्रित है तो हम इनके जीवन-चरित को अलग-अलग लिखने का अपराध क्यों करें ! सब की जीवनी एक साथ लिखी जा रही है।

मिश्रबन्धु कहने से यद्यपि मिश्रत्रय ही का बोध होता है, किन्तु ये चार भाई थे। बड़े भाई पंडित शिवबिहारी लाल का जन्म सं० १९१७ में हुआ था ये। वकालत करते थे। कवि भी थे। किन्तु उनका देहान्त हो चुका है। मिश्रबन्धु नाम के तीन भाई ही अमर हुये। खेद है, ३१ जनवरी सन् १९३७ को पंडित गणेशबिहारी जी का भी देहान्त हो गया।

मिश्रबन्धु कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इनका गोत्र कात्यायन है। पहले ये पत्योंजा के द्विवेदी कहलाते थे। पर इनके पूर्वज पंडित राममिश्र को उनकी विद्वत्ता के कारण काशी के पंडितों ने मिश्र की पदवी दी। तभी से इनके वंश के लोग मिश्र कहलाने लगे। मुहूर्त-चिन्तामणि के प्रख्यात लेखक चिन्तामणि मिश्र इनके पूर्वज थे। इनसे सात पीढ़ी पहले के पितामह पंडित देवदत्तजी भगवन्तनगर (ज़िला हरदोई) में आकर

बसे थे। उन्होंने एक महल बनवाया था। इसीसे अबतक उनके वंशधर कान्यकुब्जों में महलवाले कहलाते हैं। मिश्रबन्धुओं के बाबा पंडित बालगोविन्द मिश्र के बड़े भाई पंडित सुखलालजी अपनी ससुराल इटौंजा (ज़िला लखनऊ) में आ बसे थे। पंडित सुखलालजी के इकलौते पुत्र का देहान्त हो जाने पर वे अपने भाई पंडित बालगोविन्दजो के पुत्र पंडित बालदत्तजी को पुत्रवत् प्यार करने लगे। इसीसे बालदत्तजी को भी उनके साथ इटौंजा जाना पड़ा। पंडित बालदत्तजी का जन्म सं० १८६१ में हुआ और वे १८६८ में इटौंजा आये। पंडित बालदत्त मिश्र प्रसिद्ध महाजन, ज़मींदार और कवि थे। उन्होंने बाल्यावस्था में हिन्दी और संस्कृत पढ़ी, और व्यापार-पटुता से बहुत धन और ज़मींदारी प्राप्त की। उनका स्वर्गवास सं० १९५६ में, लखनऊ में हुआ।

मिश्रबन्धुओं का बाल्यकाल इटौंजा ही में बीता। दोनों कनिष्ट भ्राता खेल-कूद में खूब भाग लेते थे। दोनों भाई शतरज, ताश, गंजीफा, चौसर और सूजापाटी के खेल में विशेष रुचि रखते थे। ये कभी-कभी इटौंजा के राजा इन्द्र विक्रमसिंह के यहाँ तक शतरंज खेलने जाया करते थे। ६, १० वर्ष ही की अवस्था में ये शतरंज के अच्छे-अच्छे खिलाड़ियों को मात कर देते थे। पंडित श्यामबिहारी मिश्र चौसर के खेल में अधिक प्रवीण हैं और पंडित शुकदेवबिहारी ताश में। दोनों भाई गोली भी अच्छी खेलते थे और बन्दूक से उड़ती चिड़ियाँ और भागता मृग तक मार देते थे। धनुष-बाण और गुल्ला-गुलेल का भी अभ्यास था। तैरना बड़े भाई अच्छा जानते हैं, शेष दोनों भाई कम। बड़े होने पर टेनिस, क्रिकेट, बिलियार्ड, पिंगपांग, बैडमिन्टन आदि में भी दोनों कनिष्ठ भ्राताओं को कुछ-कुछ अभ्यास हुआ। व्यायाम में चलने का इनको विशेष अभ्यास है।

हिन्दी-कविता की ओर इन सब की रुचि बचपन ही से थी। इनकी माता को तुलसीकृत रामायण, कवितावली तथा अन्यान्य भक्तों के बहुत-से पद कंठस्थ थे। वे उन्हें सबेरे के समय में पढ़ा करती थीं। उन्हें सुनते-सुनते इन सब को हिन्दी-कविता से अनुराग हो चला।

पंडित गणेशबिहारी मिश्र का जन्म माघ कृ० ४, सं० १६२२ में हुआ। बाल्यावस्था में इनको हिन्दी, संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा मिली। ये बंगला, गुजराती आदि भाषायें भी जानते थे तथा अंग्रेज़ी भी समझ लेते थे। सं० १६४६ में अपने पूज्य पिताजी की अस्वस्थता के कारण इन्होंने गृहस्थी सँभालने का भार अपने ऊपर लिया। तब से ये अपना अधिकांश समय गृह-प्रबन्ध ही में व्यतीत करते थे।

इनके दो विवाह हुये थे। पहली स्त्री का देहांत हो जाने पर सं० १६४८ में इनका दूसरा विवाह हुआ। सं० १६६५ में दूसरी पत्नी का भी देहांत हो गया। दोनों स्त्रियों से इनके एक-एक पुत्र हैं। बड़े पुत्र पंडित राजकिशोर मिश्र अमेरिका से इंजिनियरी का काम सीखकर आये हैं और बम्बई में खटाऊ मकनजी मिल में १०००) मासिक पर काम करते हैं। दूसरे पुत्र का नाम पंडित प्रतापनारायण है। ये भी बड़े भाई के पास काम सीखकर अब १२५) मासिक पर नौकर हैं। इनके एक पुत्र राजप्रताप हैं।

मिश्रजी २०-२२ वर्षों तक लखनऊ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर रहे थे। फिर वाइस-चेयरमैन हुये। ये बड़े विद्यारसिक थे पढ़ने का इन्हें व्यसन था।

पंडित श्यामबिहारी मिश्र का जन्म भादों बदी ४, सं० १६३० में इटौंजे में हुआ। सात वर्ष की अवस्था में इन्हें पढ़ना आरम्भ कराया गया। पहले उर्दू की शिक्षा दी गई। हिन्दी इन्होंने अपने साथियों की संगति से सीख ली। धीरे-धीरे उसमें इन्होंने यहाँ तक उन्नति कर ली

कि ये हिन्दी के अच्छे कवि और लेखक हो गये। १५-१६ ही वर्ष की अवस्था से ये हिन्दी-कविता लिखने लग गये थे। बारह वर्ष की अवस्था होने पर इन्होंने अँग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ किया। सं० १६४८ में इंट्रेंस और सं० १६५२ में बी० ए० की परीक्षा इन्होंने पास की। इस परीक्षा में इनका नम्बर अवध में पहला आया और अँग्रेज़ी में आनर्स प्राप्त हुये। इसके लिये इन्हें दो स्वर्णपदक मिले और इनका नाम कालेज के हाल में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया। सं० १६५३ में इन्होंने एक ही वर्ष में एम० ए० परीक्षा पास की और उसमें भी बहुत ऊँचा नम्बर आया। १६५४ में ये डिप्टी कलक्टर और १६६३ में डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट आफ़ पुलीस हुये। दो बार ये अस्थायी कलक्टर भी रहे। सं० १६६७ में ये छत्रपुर में दीवान होकर चले गये। छत्रपुर में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। छत्रपुर में स० १६७१ तक थे। इसके बाद आबकारी के पर्सनल असिस्टेन्ट कमिश्नर हुये। एक वर्ष गोंडा के डिप्टी-कमिश्नर रहे। तीन बार क़ायम मुक़ाम सुपरिंटेन्डेन्ट पुलीस भी रह चुके है। अंत में ये को-आपरेटिव सोसाइटीज़ के डिप्टी रजिस्ट्रार हुये और १५७५) मासिक वेतन पाने लगे। इस पद पर १००) हरसाल वेतन-वृद्धि की भी व्यवस्था थी। कई वर्ष हुये, इन्होंने पेंशन ले ली।

सरकारी नौकरी में इनको युक्तप्रांत के कई ज़िलों में रहना पड़ा। उनमें से अलीगढ़, बनारस, गोरखपुर, इटावा, हरदोई, सीतापुर, बरेली, बुलंदशहर, इलाहाबाद, गोंडा, जौनपुर और लखनऊ मुख्य हैं। इस समय युक्तप्रांत के २५ ज़िलों में इनका दौरा होता है। जब ये इटावे में डिप्टी सुपरिन्टेंडेंट पुलीस थे, उस समय खलील नाम के एक जाल-साज़ ने राजद्रोह सम्बन्धी कुछ बातें एक कागज़ पर लिखकर, इनके तथा लगभग ५० अन्य देशी अफ़सरों और रईसों के जाली हस्ताक्षर बनाकर, इन सब को विपत्ति में डालना चाहा। गवर्नमेंट की ओर से

चार अंग्रेज जाँच करने आये। इन्होंने बड़ी दृढ़ता से उस कागज़ को जाली बताया। अन्त में खलील पकड़ा गया और उसे चौदह वर्ष के कारागार की सज़ा मिली।

इनका विवाह ११ वर्ष की अवस्था में हुआ। इनके जेष्ठ पुत्र काशीप्रकाश का जन्म १९५६ में हुआ और १९६४ में उसका शरीरांत भी हो गया। इस पुत्र के वियोग से मिश्रजी को बहुत ही शोक हुआ। दूसरे पुत्र आदित्यप्रकाश का जन्म १९६१ में हुआ। तीसरे पुत्र का नाम आवाल-प्रकाश है।

सं० १९५६ में सरस्वती पत्रिका निकली। तभी से ये गद्य-लेख लिखने लगे। इनका पहला गद्य-लेख हमीर-हठ की समालोचना विषयक था, जो सरस्वती के प्रथम भाग में छपा है।

पंडित शुकदेवविहारी मिश्र का जन्म सं० १९३५ में इटौंजा में हुआ। बाल्यावस्था में इन्होंने भी उर्दू ही पढ़ना प्रारंभ किया। सं० १९४६ में ये लखनऊ जाकर अँग्रेजी पढ़ने लगे। इन्होंने मिडिल अव्वल दर्जे में पास किया और वज़ीफ़ा पाया। अँग्रेज़ी में ये Distinguished (प्रख्यात) हुये थे। सं० १९५५ में स्कूल फ़ाइनल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और विश्वविद्यालय में इनका तीसरा नम्बर रहा। इस बार भी वज़ीफ़ा मिला। एफ़० ए० में भी ये प्रथम श्रेणी में पास हुये और विश्वविद्यालय में तीसरा नम्बर रहा। फिर वज़ीफ़ा मिला। बीमार होजाने के कारण बी० ए० में दूसरी श्रेणी में पास हुये। सं० १९५७ में इन्होंने बी० ए० पास किया और एक ही वर्ष बाद, सं० १९५८ में हाईकोर्ट-वकालत की परीक्षा पास की। केनिङ्ग कालेज की भीत पर इनका भी नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा है। इन्होंने पहले-पहल कन्नौज में में वकालत शुरू की। पर दो ही तीन महीने में वहाँ से उठकर लखनऊ चले आये। सं० १९६४ में ये मुंसिफ़ होकर बिलग्राम गये। ढाई वर्ष

बाद सीतापुर में मुन्सिफ़ी पर तबदील होकर गये। सीतापुर से सं० १९७१ में छत्रपुर के दीवान होकर चले गये। छत्रपुर में छः वर्ष तक रहे। छत्रपुर से लौटने पर सं० १९७७ में सब जज होकर रायबरेली चले गये। वहाँ १५ महीने ही काम करने पाये थे कि महाराज ने १०००) मासिक पर इनको फिर दीवान के पद पर बुला लिया। सन् १९२७ के प्रारम्भ में सरकार ने इनको रायबहादुर बनाया। अब ये भी पेंशन लेकर घर पर रहने लगे।

तीनों भाइयों ने दूर-दूर तक यात्रायें की हैं। पंडित गणेशबिहारी पश्चिम ओर उदयपुर तक और पूर्व ओर कलकत्ते तक गये थे। पंडित श्यामबिहारी बम्बई, इन्दौर, ग्वालियर, दिल्ली, अलवर, भूपाल, पटना, गया, बर्दवान, बुद्धगया, चन्द्रनगर, कलकत्ता, अम्बाला, लुधियाना, जलंधर, अमृतसर, लाहौर, रावलपिण्डी, पेशावर, जमरूद, खैबर घाटी के उस पार लँडी कोटाल, कश्मीर, मरी, शिमला और कुरुक्षेत्र आदि स्थानों की यात्रा कर चुके हैं। कश्मीर की यात्रा में तीनों भाई साथ थे। तीनों भाई साँची और भेलसा भी देख चुके हैं और मसूरी और नैनीताल भी समय-समय पर जाते रहे हैं। सं० १९६० और सं० १९६८ के दिल्ली दरबार में भी मिश्रबंधु गये थे।

मिश्रबंधु मधुरभाषी, मिलनसार और शुद्ध हृदय के हैं। ये अपने मित्रों से सदा मित्रता बनाये रखने की चेष्टा करते रहते हैं। सब भाई एक ही सम्मिलित कुटुम्ब में रहते हैं और इनमें बड़ा मेल है। इनके धार्मिक और सामाजिक विचार बहुत स्वतन्त्र हैं। ये विलायत-यात्रा और सहभोज के पक्षपाती हैं। इसीसे इनके कुछ कुटुम्बियों और सम्बन्धियों ने इन से सम्बन्ध त्याग दिया था। फलित ज्योतिष को ये बिलकुल नहीं मानते। पण्डित श्यामबिहारीजी डिप्टी कलक्टरी पर पहले-पहल जाने लगे थे, तब दिशाशूल ही में गये थे। मिश्रबन्धुओं ने

अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का प्रभाव साहित्य के नियमों पर भी डाला है। यतिभङ्ग आदि दोष ये तभी मानते हैं, जब वह कानों को खटके। पण्डित शुकदेवबिहारी जाति-भेद भी नहीं मानते। पर लोक-व्यवहार में ये ब्राह्मणों पर पूरी श्रद्धा रखते हैं।

पण्डित गणेशबिहारी संध्या-तर्पण तथा गृह-देवता की पूजा किया करते थे। पं० श्यामबिहारी पार्थिव-लिंग नित्यप्रति पूजते हैं और तर्पणादि भी करते हैं। पं० शुकदेवबिहारी पूजा पर जाते तो हैं, पर केवल दो ही मिनट में उठ आते हैं। कुछ दिन से एक गोस्वामीजी के उपदेश से ये जप का अभ्यास बढ़ा रहे हैं। ईश्वर पर इनका पूरा विश्वास रहता है।

मिश्रबंधु घर पर रहते हैं, तब सोने और काम करने के अतिरिक्त साथ ही साथ बैठते-उठते हैं। इससे जो इनमें से किसी एक का मित्र होता है, वह तीनों का हो जाता है।

मिश्रबन्धुओं ने कभी किसी कालिज या स्कूल में हिन्दी या संस्कृत नहीं पढ़ी। पूर्व-जन्म के संस्कार और संगति से बाल्यावस्था ही से इनकी रुचि हिन्दी की ओर हो चली।

इनके बहनोई विशाल कवि, जो प्रायः इन्हीं के पास रहा करते थे, इनकी रुचि को हिन्दी-कविता की ओर प्रोत्साहित करने के कारण थे। समय-समय पर अन्य सम्बन्धियों से भी इन्हें सहारा मिला और ये स्वयं रचना करने लगे। पद्य-रचना इन्होंने अपने पूज्य पिता और पं० युगलकिशोर से सीखी थी। पहला ग्रंथ "लवकुश-चरित्र" इन्होंने सं० १९५५ में, 'अलीगढ़ में रचा। पहला गद्य-लेख सं० १९५८ में लिखा। बाबू श्यामसुन्दरदास की प्रेरणा से इन्होंने सरस्वती के प्रथम वर्ष में तीन लेख लिखे जो साहित्यिक जगत् में प्रशंसित समझे गये और इनकी ख्याति बढ़ चली। इसके पश्चात् ये समय-समय पर सामयिक

पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते रहे। अब भी लिखा करते हैं। इनके लेख सारगर्भित होते हैं और ध्यान से पढ़े जाते हैं।

मिश्र-बन्धुओं ने अबतक जितने ग्रंथ रचे और सम्पादित किये हैं, उनकी सूची नीचे दी जाती है:—

हिन्दी-नवरत्न, मिश्रबन्धु-विनोद चार भाग, नेत्रोन्मीलन (नाटक), पूर्व भारत (नाटक), उत्तर भारत (नाटक), वीरमणि (उपन्यास), आत्म-शिक्षण, भारतवर्ष का इतिहास दो भाग, भारत-विनय (पद्य), बूँदी-वारीश (पद्य), पुष्पाञ्जलि (गद्य-पद्य लेखों का संग्रह) दो भाग, भूषण-ग्रंथावली, देव-ग्रंथावली, सूर-सुधा, जापान का इतिहास, रूस का इतिहास, स्पेन का इतिहास, हिन्दूइज़्म (अंग्रेज़ी), व्यय इत्यादि।

हिन्दी-नवरत्न और मिश्रबन्धु-विनोद लिखकर मिश्रबन्धु ने हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा की है। हिन्दी-नवरत्न में तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, केशव, मतिराम, चंदबरदायी, हरिश्चन्द्र और कबीर की तुलनात्मक आलोचना है। अपने ढंग का हिन्दी में यह पहला ग्रंथ है। मिश्रबन्धु-विनोद इनका सब में बड़ा ग्रंथ है। इसमें लगभग ४००० कवियों और १२००० से अधिक पुस्तकों का उल्लेख है। यह ग्रंथ बड़े परिश्रम से तैयार हुआ है। रेवेरेंड ग्रीव्ज़ ने अपनी एक अंग्रेज़ी पुस्तक में उपर्युक्त दोनों ग्रंथों के कारण मिश्रबन्धु को हरिश्चंद्र के बाद हिन्दी-साहित्य में सर्वोच्च स्थान दिया है।

इन दो ग्रंथों के बाद मिश्रबन्धु के जिस ग्रंथ को महत्व दिया जाता है, वह है भारतवर्ष का इतिहास। इसके दो खंड निकल चुके हैं। तीसरा खंड अभी तैयार नहीं हुआ है। पहले खंड में विक्रम-पूर्व ६००० वर्ष से लेकर वि० पू० ६०० वर्ष तक का इतिहास है। दूसरे खंड में ६०० वि० पू० से मुसलमान-काल के प्रारम्भ तक का वर्णन है। तीसरे खंड में मुसलमान-काल से लेकर अबतक का इतिहास लिखा

जायगा। हिन्दी में इतिहास-ग्रंथों की बड़ी कमी है। मिश्रबंधु ने यह ग्रंथ लिखकर उस कमी की पूर्ति में बड़ी सहायता पहुँचाई है। मिश्र-बंधु-विनोद और भारतवर्ष का इतिहास हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा में कोर्स हैं।

सं० १९६६ से १९७७ तक पंडित श्यामविहारीजी ने काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा संचालित हिन्दी-हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के निरीक्षक का काम बड़ी लगन से किया। इनके बाद एक वर्ष तक पंडित शुकदेव बिहारी जी ने यही काम किया। १०-१२ वर्षों के समय की तीन रिपोर्टें निकल चुकी हैं।

पंडित श्यामविहारीजी प्रांतीय टेक्स्टबुक कमिटी के सन् १९११ से २१ तक सदस्य रहे हैं। ये बोर्ड आफ़ हाई स्कूल ऐण्ड इंटरमीडिएट एजुकेशन के वरनाकुलर्स कमिटी आफ़ कोर्सेज़ तथा इलाहाबाद विश्व-विद्यालय की कोर्ट के मेम्बर भी रहे हैं। इनमें ये सदा हिन्दी के हित का प्रयत्न किया करते हैं। ये लंडन की रायल एशियाटिक सोसाइटी के भी मेम्बर हैं। छत्रपुरराज में इन्होंने उर्दू के स्थान पर हिन्दी जारी कराई। ये बहुत समय तक काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के सभापति रहे। पंडित शुकदेवविहारी मिश्र भी सभा के उपसभापतियों में थे।

मिश्रबंधु ने हिन्दी की आदरणीय और अनुकरणीय सेवा की है। ये बड़े अध्ययनशील हैं। पढ़कर केवल ज्ञान-वर्धन ही नहीं करते बल्कि उसका वितरण भी करते हैं। प्रतिवर्ष कोई न कोई ग्रंथ लिखते रहते हैं। ये कभी अपनी समालोचनाओं का उत्तर नहीं देते। कहते हैं कि जितना समय उत्तर देने में लगेगा, उतने समय में एक नई पुस्तक लिखी जायगी। ये न धन के लोभ से और न यश के लिये ही हिन्दी की सेवा करते हैं; केवल निःस्वार्थ भाव से हिन्दी की उन्नति में लगे रहते हैं।

दोनों भाई मिलनसार, साहित्य-रसिक, निष्कपट मित्र, परिश्रमी, गम्भीर, सदा प्रसन्नचित्त और प्रेम-पूर्ण शास्त्र-चर्चा करने में निपुण हैं।

यहाँ मिश्रबंधुओं की कविता के नमूने उद्धृत किये जाते हैं:—

पद्य-पुष्पांजलि

(१)

चारु धरम को सदा प्रान सों अधिक विचारौ।
प्रान तजन सों अधिक डरहु जब धरम न धारौ॥
करौ बचन प्रतिपाल जऊ निज सरबस हारौ।
कौनिहु विधि जनि झूठ बचन कहुँ भूलि उचारौ॥
पुनि धेनु वेद अरु विप्र को करहु मान सुत प्रान सम।
इनके पाले सब लोक हित सधैं सहित पावन धरम॥

(२)

करौ भरोसो सदा बाहुबल को पनधारी।
एक तेग को गुनौ जीविका साधन भारी॥
जब लौं कर में रहे तेग हिम्मति जनि हारौ।
सरबस हू चलि गये न आपुहि निबल विचारौ॥
नित भूमि वीरपतिनी रही यहै मरम समुझहु सुवन।
जग राखि वीरता लाज तुव रन मधि मैं मरदहु दुवन॥

(३)

एक निबल जनि हनौ वार सबलन पर घालौ।
सरनागत को सदा प्रान के सम प्रतिपालौ॥
नहीं वीरता साथ क्रूरता रंचहु धारौ।
क्रोध छोड़ि गुन धरम समर में सस्त्र प्रहारौ॥

पुनि प्रबल शत्रु सों अभिरि कै नासहु जनि बहुमूल्य तन।
कहुँ टरि बचाय कहुँ जुगुति सों करो कुसलता सहित रन॥

(४)

बधकत अनल विलोकि सलभ सम जनि तनु जारौ।
यह मूरखता गुनौ वीरता नाहिं बिचारौ॥
उचित समै जनि प्रान छोड़िबे सों मुख मोड़ो।
पै नाहक तजि प्रान जनम-भूमिहिं जनि छोड़ो॥
यहि जनम-भूमि को मातु-सम गुनो प्रीति-भाजन परम।
सुत याको हित साधन सुनो एक परम पावन धरम॥

(५)

सब देसिन को सदा भ्रातगन सम सतकारौ।
सबही को सम गुनौ जाति अरु पाँति बिसारौ॥
जो बाँभन गुन धरै ताहि बाँभन अनुमानौ।
ताही ये हित किये देस मंगल थिर जानौ॥
करि मान एक गुन को सुजन अधम लोक चालन तजौ।
जनि औरन को कछु करत लखि अन्ध सरिस सोई भजौ॥

(६)

उचित गुनो जो चाल ताहि सन्तत सिर धारौ।
जनि समाज डर कहूँ रंच आचरन बिगारौ॥
दीन दुखी के सदा शूर बनि आड़े आवो।
दया करन में जाति-पाँति को भाव भुलावो॥
विपदा हू में जनि बिचलि सिथिलित करौ बिचार बर।
जो थिर बर सम्मति पर रहै वहै बड़ो है वीर नर॥

(७)

राज न सम्पति गुनौ राज गुरु-भार विचारौ।
सुख साधन गुनि राज सुवन जनि धरम बिसारौ॥
आपुहि सेवक-मात्र प्रजागन को अनुमानौ।
परजा को हित परम धरम नृप को पहिचानौ॥
जो परजा सों कर ले खरच निज हित में अनुचित करै।
बिस्वासघात को पाप लहि घोर नरक में सो परै॥

(८)

सदा कान दे सुनहु प्रजा सम्मति गुनकारी।
ताको पालन गुनौ धरम राजा को भारी॥
हट करि विद्या दान अवस परजा कहँ देहूँ।
सब गुन-गन में सुनहु सुवन गुरुतम गुन एहू॥
पुनि करहु खरच सोई भरै जासौं दुखिया को उदर।
कै धन उत्पादक शक्ति बर होय प्रजा की प्रबल तर॥

(९)

करौ आलसी पुरुष राज में मान-विहीना।
बिनु श्रम कोई कहूँ होन पावै जनि पीना॥
सदा श्रमी को देश रतन गुनि मान बढ़ावो।
व्यापारहि उत्साह देइ सन्तत अपनावो॥
पुनि सकल प्रजागन को सदा करौ मान सब भाँति सम।
नहिं भिन्न-भिन्न परजान में प्रीति भाव छिन होय कम॥

(१०)

नीच न काहुहि गुनौ करौ सब को सनमाना।
प्रति मनुष्य के गुनौ सात अधिकार महाना॥

जीवमात्र पै करौ दया सन्तन गुनकारी।
आरज तन के चारु धरम समुझौ यह भारी॥
सुत संपति अरु त्रिपति में सदा एकरस है रहहु।
है यह महानता के धरम याहि ओसि चित सौं गहहु॥

(११)

भारी विरदा परेहु भूलि सुत जनि घबरावौ।
नहीं धरम सौं तबहुँ रंच विस्वास हटावौ॥
अन्यायी जनि गुनौ ईस कहँ न्यायी जानौ।
विपदाहू के कछू भलौ कारन अनुमानौ॥
जो एक जन्म में नहिं लखौ न्याय होत नर सौं कहीं।
तो और जन्म के ध्यान करि करौ चित्त चंचल नहीं॥

(१२)

सुख में फूलो नहीं न दुख में बनौ दीन-मन।
रहि सब छिन गंभीर करौ कारज संपादन॥
दृढ़ता धारन करौ परम भूषण यहि जानी।
दृढ़ता बिनु को पुरुष नीच पशु सो अनुमानी॥
अति छोटेहु करमन पै सदा नर गन के राखहु नजरि।
सच्चो सुभाव गुन अटल ये देत पुरुष को प्रगट करि॥

(१३)

जो कछु करिबो होय जौन छिन में मन माहीं।
ताही छिन सो करौ निमिष अन्तर भल नाहीं॥
गुनौ समै को मूल्य बहुत बातन सौं भारी।
करौ समै अनुसार सकल कारज पनधारी॥
यह सोचौ सदा दिनान्त में काल सफल कितनो भयो।
केहि कारन-बस कितनो समै आजु अकारथ है गयो॥

(१४)

मानुस गन की चाल ढाल पै ध्यान जमाओ।
देसिन के सतिभाव निरालस रहि अजमाओ॥
होनहार को ज्ञान जथामति संचित कीजै।
ताके सब प्रतिकार खोजिबे में मन दीजै॥
इन अरु ऐसी ही अन्य सब बातन पै नित ध्यान धरि।
सुत करौ राज अब जाय तुम परम सजगता सौं बिचरि॥

ब्रह्मचर्य

(१)

ऋषियों ने व्रत ब्रह्मचर्य को नित सनमाना।
सकल व्रतों का इसे सदा सिरताज बखाना॥
चढ़ती है जो जोति बदन पर इस व्रत वर से।
मिलती है जो सकति भुजों को इस जसधर से॥
वह नहीं स्वप्न में भी कहीं और भाँति नर पा सकै।
बरु खाय हज़ारों औषधैं सब मंत्रों की दिसि तकै॥

(२)

यह व्रत वर पचीस बरस तक जो नर पाले।
सिंह सरिस वह गजै सदा रोगों को घाले॥
लखौ जियो अरु सुनो चलौ सत बरस अदीना।
विदित प्रार्थना है जु वेद में यह कालीना॥
वह जग में ऐसे मनुज की पूरन होती है सदा।
जो पहले कर व्रत पूर्न यह वरता है पतिनी सदा॥

(३)

बाल ब्याह कर करै अंध जो भोग बिलासा।
कर बिबाह बहु रमैं सदा जो मनसिज दासा॥
आतम-हत्या सरिस पाप वे लहैं सदाहीं।
अरु उनके संतान महा निरबल हो जाहीं॥
जो निज तन तिय-तन पुत्र-तन तनया-तन का बल हरै।
इस बूढ़े पितु को दीन रट वह कुपुत्र कब मन धरै॥

ईश्वर-वाद

(१)

जो कछु या जग मैं दरसात सबै परमेसुर अंस उदार है।
पंकज तारहु सों हरुवो गुरु हेमहु सों करता कर भार है॥
तेजस चेतन जीवन मैं प्रभु अंश प्रसंस विसेष सुढार है।
यों गुनआल प्रताप भरो नर सोहत ईसुर को अवतार है॥

(२)

नेति नेति ईसुर को वेद और पुरान भाषैं,
ताके बल तेज को न अन्त दरसानो है।
होत अवतार जो बिसेस ईस अंसभव,
ताहू को न बल अन्त जग मैं लखानो है॥
तदपि अमोघ स बल की सकै न करि,
तुलना कछुक अवतार मन मानो है।
ईस को अनादर कियो न तिन करि जिन,
या बिधि बिचार अवतार सनमानो है॥

(३)

भूलि सब एकता उदारता बिसारि दीन्हीं,
भारत निवासिन कुगुन बगरायो है।
आतम सनेह अति बिकट बढ़ाय भ्रातु,
नेह तजि सठता अपूरब दिखायो है॥
हे प्रभु तिहारी आड़हू मैं दगाबाजी धारि,
देव मन्दिरन रोजगार ठहरायो है।
कलि के कठिन दुख जालन के सालन सों,
पाहि पाहि नाथ कत बिलम लगायो है॥

रघु-संभव

(१)

बानिहू अरथके समान जे मिलेई रहैं
न्यारे न रहत कबौं कौनहू दसान मैं।
बानिहू अरथ की सफलता लहन काज
बन्दत सदाही गौरि-सिव सविधान मैं॥
जगत के मातु-पितु है करि दया सों भरि
पालि के जहान जिन सुख सरसायो है।
डमरू बजाय फिरि मोद को बढ़ाय गीत
व्याकरण दोउन प्रकटि दरसायो है॥

(२)

कहाँ दिनकर कुल जगत विदित कहाँ
प्रतिभा अलप बारी मति मम रंक है।
केवट विहीन चहै केवल उडुप चढ़ि
तरन अपार मनु जलधि निसंक है॥

मन्द-मति ऐसो तऊ कवि जस लेन चहौं
    औसि जग हँसिहै विलोकि मो ढिठाई को।
ऊँचे फल हेत जिमि बावन उठाय कर
    केवल प्रकासत महान मूढ़ताई को ॥

फुटकर

ईस भाँति भाँतिन सों जीवन के जूह रचे,
    देखत मैं जौन चढ़ै अचरज भारी है।
कोऊ नभ डोलत धरा पै कोऊ बोलत,
    कलोलत है कोऊ जल बीच सुखकारी है ॥
थावर है कोऊ, कोऊ रेंगत, चलत कोऊ,
    पगन सों, कोऊ उड़ै नभ को विहारी है।
खात एक एकनि, सोहात एक औरनि,
    महान उर प्रेम को बजार इत जारी है ॥

× × ×

कोटि कोटि राजैं ब्रह्मंड रोम रोम जाके,
    ऐसो ईस अचरज मनमैं भरत है।
एक ब्रह्मंड को न पावत है पार नर,
    यदपि महान चित्त चंचल करत है ॥
तऊ सब जीवन के दुख सुख ओर ईस,
    चिन्तवत मातु सो छिनौ न बिसरत है।
या विधि विसम्भर की पावन उपाधि धरि,
    तौन सब ठौर सब जाम विचरत है ॥

गिरिधर शर्मा

संवत् १९३८ विक्रम की ज्येष्ठ-शुक्ला अष्टमी को सिंह-लग्न में पंडित गिरिधर शर्मा का जन्म झालरा-पाटन शहर में हुआ। इनके पिता का नाम भट्ट ब्रजेश्वरजी और माता का पन्नीबाई था। इनके पितामह भट्ट गणेशरामजी और प्रपितामह भट्ट बलदेवजी झालावाड़ के प्रतिष्ठित राजगुरु हो गये हैं। ये जाति के प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण हैं। गोत्र भारद्वाज है। इन्होंने झालरापाटन, जयपुर और काशी में शिक्षा पाई है। समय-समय पर ये संस्कृत और हिन्दी के निम्नलिखित पत्रों में लेख लिखते रहे हैं—काव्य-कादम्बिनी, संस्कृत-चन्द्रिका, मञ्जुभाषिणी, संस्कृत-रत्नाकर, काव्य-सुधाधर, हिन्दोस्तान, राजस्थान-समाचार, सरस्वती, मर्यादा, हिन्दी-चित्रमयजगत्, मनोरञ्जन, श्रीवेंकटेश्वर, हिन्दी-समाचार, जैन-हितैषी इत्यादि। इन्होंने कई ग्रंथों का अनुवाद भी किया है, जिनमें अर्थशास्त्र, व्यापार-शिक्षा, शुश्रूषा, कठिनाई में विद्याभ्यास, आरोग्य-दिग्दर्शन, जया-जयन्त, राई का पर्वत, सरस्वती-चन्द्र, सुकन्या, सावित्री, ऋतु-विनोद, शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त-रहस्य, चित्राङ्गदा, भीष्म-प्रतिज्ञा, कविता-कुसुम, भक्तामर, कल्याण-मन्दिर, बारह भावना, रत्न-करंड, विषापहार मुख्य हैं। इनमें कई छप चुके हैं।

ये "विद्याभास्कर" नाम के पत्र का भी सम्पादन कर चुके हैं, जो राजपूताना भर में पहला और एक ही पत्र था। इन्दौर में इन्होंने "मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति" की स्थापना में बड़ा प्रयत्न किया था और झालरापाटन में "राजपूताना-हिन्दी-साहित्य-सभा" स्थापन करने में उत्साहपूर्वक काम किया था। भरतपुर में "हिन्दी-साहित्य-

समिति" की स्थापना की और कई राज्यों में नागरी लिपि का प्रवेश कराया।

अब ये अपने जीवन का विशेष भाग केवल हिन्दी के हितसाधन में बिता रहे हैं। ये महाराजा झालावाड़ के प्रीति-पात्र हैं। ये एक उत्तम वक्ता और प्रभावशाली व्यक्ति हैं। संस्कृत, हिन्दी और गुजराती में भी कविता लिखते हैं। उर्दू, मराठी, बङ्गला और प्राकृत का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। इन्होंने बम्बई, प्रयाग, दिल्ली, भरतपुर, लाहौर, मथुरा, फ़ीरोजाबाद, जयपुर, इन्दौर और पन्ना आदि स्थानों में हज़ारों मनुष्यों के सन्मुख महासभाओं में व्याख्यान दिये हैं, और अपने काव्यों से सर्वसाधारण को आनन्दित कर दिया है। इनकी योग्यता और प्रतिभा पर मुग्ध होकर काशी के विद्वत्समाज ने "नवरत्न" की, काशी के भारतधर्म-महामण्डल ने "महोपदेशक" की और चतुःसम्प्रदाय श्रीवैष्णव महासभा ने "व्याख्यान-भास्कर" की उपाधियाँ प्रदान की हैं।

आगे इनकी कविताओं के कुछ नमूने दिये जाते हैं :—

(१)

अंगरेजी जरमन फ्रेंच ग्रीक लैटिन त्यों,
रशियन जपानी चीनी प्राकृत प्रमानी हो।
तामिल, तैलंगी, तूलू, द्राविणी, मराठी, ब्राह्मी,
उड़िया, बंगाली, पाली, गुजराती छानी हो॥
जितनी अनार्य आर्य भाषा जग जाहिर हैं,
फ़ारसी ऐराबी तुर्की सब मन आनी हो।
जनम वृथा है तोभी मेरे जान मानव को,
हिन्द में जनम पाके हिन्दी जो न जानी हो॥

(२)

जाना नहीं अच्छा कभी जैनियों के मंदिर में,
किसी भाँति अच्छी नहीं कृष्ण की उपासना।
शंभु का स्मरण किये होना जाना क्या है कहो,
रामनाम लेने से क्या सिद्ध होगी कामना॥
बुरे हैं मुसलमान हिन्दू बड़े काफ़िर हैं,
ऐसी हो परस्पर में बुरी जहाँ भावना।
प्रेम हो न आपस का एका फिर क्योंकर हो,
क्यों न भोगे हिन्दमाता नई नई यातना॥

(३)

उदय न होगा भानु पूर्व छोड़ पश्चिम में,
आकर्षण शक्ति कहीं धरा की न जावेगी।
हिलेगा न हिमालय चाहे जैसी हवा चले,
मणिमय दिये की न ज्योति बुझ जावेगी॥
बहेगी न उल्टी गंगा झुकेंगे न वीर शिर,
प्रकृति स्वधर्म से न कभी चूक जावेगी।
टरेंगे न ब्रह्मवाक्य भोगेंगे स्वराज्य हम,
संपदा यहाँ की यहीं पाछी लौट आवेगी॥

(४)

हेरे भी मिलेंगे नहीं संकट के चिन्ह कहीं,
जायँगे कहाँ के कहाँ सारे विघ्न बाधा-पीर।
बनेगा जगत भर तुम्हारी दया का पात्र,
देख के तुम्हारा मुख आँखों में भरेगा नीर॥
रखकर माथे हाथ भाग्य के भरोसे पर,
बैठे मत रहो सुनो भारत निवासी वीर।

काम करो, काम करो, काम करो, काम करो,
काम करो, काम करो, काम करो, धरो धीर ॥

(५)

जाते हैं समुद्र बँध रहते न अद्रि आड़े,
अग्नि जल वायु आदि हुकुम उठाते हैं।
हुकुम उठाते हैं उमङ्ग भरे धीर वीर,
होते धन धान्य शाह मस्तक नवाते हैं ॥
मस्तक नवाते हैं जगत के सकल लोग,
गिरिधर मूर्ति निज हिये में बिठाते हैं।
हिये में बिठाते हैं त्यों महिमा पराक्रम की,
पौरुष दिखाये क्या क्या काम हो न जाते हैं ॥

(६)

मेरा देश देश का मैं, देश मेरा जीव प्रान,
मेरा सम्मान मेरे देश की बड़ाई में।
जियूँगा स्वदेश हित, मरूँगा स्वदेश काज,
देश के लिये न कभी करूँगा बुराई मैं ॥
भीषण भयंकर प्रसंग में भी भूल के भी,
भूलूँगा न देश-हित राम की दुहाई मैं।
जब लौं रहेगी साँस सर्वस भी लुटा दूँगा,
ईश को भी झुका लूँगा देश की भलाई में ॥

(७)

चर्चा जहाँ देश की हो मेरी जीभ वहीं खुले,
और नहीं खुले कहीं खुदा की खुदाई में।
मेरे कान गान सुनें सांचे देश-भक्तन के,
और गान आवे कभी मेरे न सुनाई में ॥

मेरे अंग रङ्ग चढ़े एक देशप्रेम को ही,
और रङ्ग भंग होके बूड़ जा तराई में ॥
मेरो धन मेरो तन मेरो मन मेरो जीव,
मेरो सब लगे प्रभो देश की भलाई में ॥

(८)

वाके पास बुध एक तेरे पास नाना बुध,
वाको तेज दिन में तू सदा तेज धारी है।
वाके आसपास फिरे चक्कर लगाती भूमि,
भूमिदेव देव-तुल्य तेरे दरबारी हैं ॥
वहाँ एक मंगल है जलते अंगार ऐसो,
तेरे यहाँ मंगल समूह सुखकारी है।
भानुवंश-भूषण भवानीसिंह भने 'रत्न',
तू है जग-भान बड़ो मति ये "हमारी है" ॥

(९)

प्याली पै प्याली री पी खाली किया करो पीपे,
नशा करो आफू भंग चरस अकूती को।
घर को बिगारो रार धारो घरवारिन सों,
करो वारबनिता कौ मान पठा दूती को ॥
लोहा करिबे की जगह हो-हा करो सीखो मत,
अस्त्र शस्त्र विद्या रणचातुरी निपूती को।
देश के कपूतो राजपूतो डूब मर जाओ,
नाम ना लजाओ वीर प्यारी रजपूती को ॥

पुस्तक-प्रेम

(१)

मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ,
भाता मुझे सो नव मित्र-सा है ॥
देखूँ उसे मैं नित बार बार,
मानो मिला मित्र मुझे पुराना ॥

(२)

"ब्रह्मन् तजो पुस्तक-प्रेम आप,
देता अभी हूँ यह राज्य सारा।"
कहे मुझे यों यदि चक्रवर्ती,
"ऐसा न राजन् कहिये" कहूँ मैं॥

(३)

अखण्ड भण्डार भरा हुआ है,
सुवर्ण का जो मम गेह में ही।
बताइये हे मम मित्रवर्य,
क्यों लूँ किसी के फिर दान को मैं?

(४)

गिने हुये सज्जन-वृन्द का तो,
कभी कभी मैं करता सुसङ्ग।
परन्तु है पुस्तक मित्र ऐसा,
होता कभी जो मुझसे न न्यारा॥

(५)

इच्छा न मेरी कुछ भी बनूँ मैं,
कुबेर का भी जग में कुबेर।

इच्छा मुझे एक यही सदा है,
नये-नये उत्तम ग्रन्थ देखूँ ॥

रामदास गौड़

बाबू रामदास गौड़ का जन्म सं० १९३८ की मार्गशीर्ष अमावस्या को जौनपुर शहर में हुआ। ये जाति के कायस्थ थे। वहाँ इनके पिता मुन्शी ललिताप्रसाद चर्च-मिशन हाई-स्कूल के सेकंड मास्टर थे। इनके प्रपितामह मुन्शी भवानीबख्श जी फ़ैज़ाबाद ज़िले के बिड़हर इलाक़े की ज़मींदारी छोड़कर सं० १८६७ वि० के लगभग काशीजी में आकर रहने लगे थे। इसलिये गौड़जी का वर्तमान निवास-स्थान काशी था।

गौड़जी ने फ़ारसी, गणित और अँग्रेज़ी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिताजी से पायी। इनकी माता और नानी नित्य नियम-पूर्वक रामचरितमानस का पाठ किया करती थीं। इससे चारही पाँच वर्ष की अवस्था से इनको रामचरितमानस से प्रेम हो गया था। इन्होंने जौनपुर हाई स्कूल से १९५३ वि० में एंट्रेंस, सेंट्रल हिन्दू कालेज, बनारस से १९५८ वि० में एफ़० ए० और म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद से १९६० वि० में बी० ए० पास किया।

बी० ए० की परीक्षा देने के बाद सेंट्रल हिन्दू कालेज, बनारस में ये रसायन के सहकारी अध्यापक नियुक्त हुए। परन्तु परीक्षा-फल प्रकाशित होते ही काशी से प्रयाग चले आये और एल-एल० बी० क्लास में पढ़ने लगे। इसी समय मिर्ज़ापुर में इनके बड़े भाई का देहान्त हो

गया, जिससे इनका वकालत पढ़ना छूट गया। संवत् १९६१ से १९६३ तक ये कायस्थ-पाठशाला, इलाहाबाद में रसायन के प्रोफ़ेसर और संवत् १९६३ से १९७५ तक म्योर सेंट्रल कालेज में रसायन के डिमान्स्ट्रेटर रहे। संवत् १९६५ में अध्यापकी की दशा में इन्होंने रसायन में एम० ए० पास किया। सं० १९७५ से हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग में रसायन के प्रोफ़ेसर तथा सेनेट और फैकल्टीज़ आव आर्ट्‌स, सायंस और ओरियंटल लर्निङ्ग (कला, वैज्ञानिक और प्राच्य-विद्या-शास्त्रि-मण्डल) के सदस्य थे। सं० १९७७ में असहयोग आन्दोलन के कारण हिन्दू-विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़ दी। वहाँ से ये मिर्ज़ापुर चले आये, और वहाँ राष्ट्रीय विद्यालय में काम करने लगे।

१३ दिसम्बर, १९२१ को प्रयाग में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के ५५ मेम्बरों में ये भी गिरफ्तार किये गये। इनको १॥ वर्ष का कठिन कारावास और १००) का अर्थ-दंड दिया गया। आगरे और लखनऊ की की जेलों में एक वर्ष से अधिक रहने के पश्चात् जनवरी १९२२ में सब के साथ सरकार ने इनको भी छोड़ दिया। तब से ये काशी में रहते थे। कुछ समय तक ये वहाँ म्युनिसिपल बोर्ड के मेम्बर और उसकी पब्लिक वर्क्स कमिटी के सभापति भी थे। ये विज्ञान-परिषत् के आनरेरी फेलो और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के स्थायी सदस्य भी थे।

दस वर्ष की अवस्था में संक्षिप्त रामायण और ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था में स्वप्नादर्श की रचना इन्होंने की थी। इसके बाद की कविताएँ रसिक-वाटिका में छपती रहीं। १८-२० वर्ष की अवस्था की कविताएँ छत्तीसगढ़-मित्र में छपती थीं। उस समय इनका उपनाम 'रस' था, बाद को इन्होंने "रघुपति" उपनाम रख लिया। बी० ए० पास करने के बाद काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के लिए इन्होंने संवत् १९६२ तक के हिन्दी के ज्ञात ग्रन्थों की सूची अँगरेज़ी में तैयार की

थी, जिसमें ग्रन्थ के निर्माण-काल और कवियों के संक्षिप्त वृत्त अनेक ग्रन्थों और रिपोर्टों से संकलित किये गये थे। यह ग्रन्थ भी अभी तक अप्रकाशित है।

कायस्थ-पाठशाला में काम करते हुए इन्होंने गौड़-हितकारी नामक उर्दू मासिक-पत्र का सम्पादन करना आरंभ किया था, जो बिना मूल्य गौड़ कायस्थों के पास भेजा जाता था। जब ये म्योर कालेज में नौकरी करने लगे, तब यह पत्र औरों के नाम से सम्पादित होता था, यद्यपि सब काम ये ही करते थे। इससे गौड़ों में इतनी जागृति हो गयी कि वे समय की आवश्यकताओं को समझने लगे। इनके सम्पादन-काल में इनको गौड़ कायस्थों के इतिहास की सामग्री अच्छी मिल गयी। जिससे १९६७ वि० में इन्होंने 'तज़किरये सुचारवंशी' नामक गौड़ कायस्थों का इतिहास लिखा।

ये स्त्रीशिक्षा के बहुत बड़े पक्षपाती थे। प्रयाग से निकलने वाली गृहलक्ष्मी में गृह-प्रबन्ध, बाल-विहार, विज्ञान-व्रती, नानी की कहानी, कपड़े रँगना, आत्माराम की कहानी इत्यादि क्रमानुसार निकलने वाले लेखों का आरम्भ इन्होंने ही किया था। The Great Illusion का हिन्दी अनुवाद 'भारीभ्रम' भी इन्होंने ही किया है।

इनका विचार था कि मानसिक, धार्मिक और सामाजिक संकीर्णता को दूर करने के लिए विज्ञान का प्रचार भारतवर्ष के कोने-कोने में होना चाहिये। इसी उद्देश्य से इन्होंने प्रयाग में 'विज्ञान-परिषत्' स्थापित करने का उद्योग किया। जिससे व्याख्यानों और पुस्तकों द्वारा विज्ञान का प्रचार होने लगा। १९७२ वि० से प्रयाग से 'विज्ञान' नामक मासिक पत्र निकलने लगा, जिसके लिये बहुत परिश्रम करने के कारण छः ही महीने के बाद ये इतने बीमार हो गये कि छुट्टी लेकर इनको बाहर चला जाना पड़ा। उसमें प्रकाशित भुनगा-पुराण, वायु-मण्डल

पर विजय, वैज्ञानिक अद्वैतवाद, रसायन, विज्ञान-सूत्र आदि लेख इनकी विद्वत्ता सूचित करते हैं। वैज्ञानिक अद्वैतवाद इनकी बहुज्ञता का एक सुन्दर प्रमाण है। विज्ञान-प्रवेशिका प्रथम भाग का अधिकांश इन्होंने ही लिखा था।

सम्मेलन से प्रकाशित हिन्दी-भाषासार प्रथम भाग का संग्रह और सम्पादन भी इन्होंने किया था। इनके सैकड़ों लेख 'अब्दुल्ला' के नाम से भी निकले हैं। राष्ट्रीय विद्यालयों के लिये इन्होंने हिन्दी में सात पोथियाँ लिखीं, जो राष्ट्रीय विद्यालयों में प्रचलित हैं।

ये चाहते थे कि राष्ट्रीय व्यवहार में सौर तिथियों का प्रयोग किया जाय। ज्ञान-मण्डल से प्रकाशित सौर-पञ्चाङ्ग और सौर-डायरी का रूप इन्होंने ही स्थिर किया था। ये अपनी चिट्ठी-पत्री में सौर-तिथियों ही का प्रयोग करते थे।

ये हिन्दी-भाषा के मर्मज्ञ थे। गद्य और पद्य दोनों के अच्छे लेखकों में से थे। उर्दू, अंग्रेज़ी, संस्कृत और फ़ारसी के अच्छे विद्वान् थे। बँगला, गुजराती, मराठी और प्राकृत की भी जानकारी रखते थे। व्याख्यान देने में भी पटु थे। दर्शन, विज्ञान, इतिहास, साहित्य सभी विषयों में दख़ल रखते थे। वाद-विवाद करने में निपुण थे।

सन् १९२१ में असहयोग-आन्दोलन में भाग लेकर गौड़जी जेल गये। सवा वर्ष के लगभग जेल में रहकर बाहर आने पर बनारस में म्युनिसिपल कमिश्नर और शिक्षा-समिति के सभापति चुने गये। शिक्षा-समिति की ओर से इन्होंने बनारस बोर्ड के स्कूलों में चरखे दिलवाये और अध्यापकों को स्वयं धुनना और कातना सिखाया। कुछ मतभेद के कारण इनको बोर्ड की मेम्बरी छोड़नी पड़ी। इसके बाद ये बिहार-विद्या-पीठ में चले गये। वहाँ भी थोड़े ही दिन रहे। सभा-समाजों में जाने-आने और व्याख्यान आदि से विरक्त होकर अन्त में ये घर ही में

रहने लगे थे और राम की मूर्ति स्थापित करके उसी की पूजा में निरत रहते तथा भक्ति का आनन्द लूटते थे। पहले ये पूरे वैज्ञानिक थे, पर अन्त में भूत-प्रेत पर भी इनका काफ़ी विश्वास हो चला था।

सन् १९३७ में इनको हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से इनकी विज्ञान-हस्तामलक नामक पुस्तक पर मंगलाप्रसाद-पारितोषिक मिला था। खेद है, उसी साल काशी में इनका देहान्त हो गया।

इनकी कविता के नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

कृष्णावतार

(१)

सुत ने वित हित बाप न समझा बन्द कराया।
पति यमद्वार उतार जार कर बैठी जाया॥
कञ्चन कामिनि हेत बन्धु हो गया कसाई।
पाप छिपा, सन्तान मार, हिय दया न आई॥

(२)

डाकू चोर जुआर हुए मन्त्री, पद पाये।
सारे कोप लबार छली के हाथों आये॥
डूब गये व्यवहार घूस ने दृष्टि घुमाई।
न्यायमूर्ति जल्लाद हुए कलि-नीति निभाई॥

(३)

फैल गये भर देश लफंगे और लुटेरे।
चलने लगे कुचक्र कलहमय कुटिल घनेरे॥
महा भीम दुर्भिक्ष लगा चुन-चुनकर खाने।
जग दुर्दैव दरिद्र विराजा खुले खजाने॥

(४)

खेत गये सब सूख सूम के हिय की धरती।
यद्यपि डाले गोड़ न छोड़े ऊसर परती॥
कहीं न बरसा मेंह खेह भागों ने खायी।
कहीं हुई अतिवृष्टि सृष्टि सब खोद बहायी॥

(५)

कुछ भी कहीं कुधान्य कभी भूलों से होते।
खाते उल्लू मूस घूस टिड्डीदल तोते॥
फैले कितने रोग महामारी ने लूटे।
मरे असङ्ख्यों लोग भाग भारत के फूटे॥

(६)

जितनी पैदावार भूमिकर उससे भारी।
खेती की कुछ होश बची थी, इसने मारी॥
खिँचता था धन रत्न प्रजा होती थी रीती।
सुख था मरना, कौन सुनै था उनकी बीती॥

(७)

अस्त्र शस्त्र सब छीन दीनजन शान्त कराया।
हुआ शत्रु बलहीन देख जी में जी आया॥
बैठाया आतङ्क निहत्थ प्रजा को भूना।
लाय बसाये दस्यु, देख गाँवों को सूना॥

(८)

फैला अत्याचार प्रजा अधमरी बनायी।
नारि जाति अपमान किया, दुर्नीति चलायी॥
पर नरपति दे घूस धूर्त को धन बँटवाये।
सेना के बल धाक बढ़ायी यश फैलाये॥

(९)

राजा कंस नृशंस लगा करने यों शासन।
करके बन्दी बाप आप बैठा सिंहासन॥
कर स्वतन्त्र अधिकार सभी पिटवायी डौंड़ी।
धूर्त्त चला जो जाल पड़ी वह कभी न औंड़ी॥

(१०)

हुआ सत्य का लोप, अस्तमित ज्ञान दिवाकर।
गया मोह तम फैल, हुए स्वारथरत सब नर॥
धर्माधर्म-विवेक भगा विश्वास बिलाना।
श्रद्धा हिय से ओट हुई यश दूर पराना॥

(११)

साहस हुआ सभीत वीरता कुत्सित कायर।
आर्त्त हुआ परमार्थ, हुआ औदार्य दीनतर॥
फैला तर्क कुतर्क, हुए नृप स्वेच्छाचारी।
यादि-विषयरत पाप-परायण सब नर नारी॥

(१२)

छिपे सुजन नर साधु पड़े प्राणों के लाले।
दुष्ट हुए बलवान सभी अरमान निकाले॥
ऐसा देख अनर्थ प्रकृति थिरता थहरायी।
विकृत व्यवस्था विश्व हुआ धरती घबरायी॥

(१३)

हुआ विकट संघर्ष उभय बल ने बल खाया।
घोर शक्ति उत्कर्ष हुआ पलटी जग काया॥
क्या हो रहा युगान्त क्रान्ति से भ्रान्त हुए सब।
लख उत्कट दुर्दान्त दुकाल अशान्तहुएसब॥

(१४)

जितने बल के देव, विश्व के धारणहारे।
विकल हुये सब लौट केन्द्र की ओर निहारे॥
विद्युल्लता समान शक्ति सहसा सञ्चालन।
हुआ उसीका पूर्ण विश्व करता जो पालन॥

(१५)

हुई गिरा गम्भीर मेटने को सब बाधा।
कि नैराश्य-घनश्याम*अङ्क में प्रकटी राधा†॥
सुनते ये सब देव ब्रह्म ने अर्थ बखाना॥
हुई आस दुख दूर हुए यह निश्चय माना॥

(१६)

यह बन्दीगृह धन्य, पुण्य का मन्दिर पावन।
सज्जन को विश्राम, सत्यव्रत को मनभावन॥
देख भयानक भीत, भीत होते हैं पापी।
कठिन कराल कपाट देख काँपे परितापी॥

(१७)

अन्धकार अति घोर, निशीथ घटामय काली।
पहरा चारोंओर चौकसी कड़ी निराली॥
लोहे की जंजीर द्वार में पैरों में थी।
अपनों में था बन्ध, मुक्ति कुछ गैरों में थी॥

(१८)

यन्त्रित चारोंओर न ऐसा भौन कहीं था।
हिये ज्ञान की जोत पौन का गौन नहीं था॥

---

*घनश्याम = कृष्ण तथा बादल। †राधा = गोपी तथा बिजली।

बुद्धि जीव की भाँति अविद्या की बन्दी में।
बेड़ी दोनों पाँव कोसते दम्पति जी में॥

(१९)

वे ही ये वसुदेव देवकी धर्मपरायन।
करके जिनका व्याह दिये सब भाँति रतन धन॥
भगिनी छोटी जान, हजारों रथ कसवाये।
बड़ी धूम से साज, अनूप जलूस बनाये॥

(२०)

बना सारथी आप, चला पहुँचाने घरतक।
राजा कंस नृशंस सुनी इक गिरा भयानक॥
भावी से भयभीत हाथ नें खड्ग उठाया।
बीच पड़े वसुदेव, बचाय उसे समझाया॥

(२१)

"यदपि आठईं बार जन्म लेगा तव घालक।
तब भी मैं प्रतिगर्भ तुम्हें दूँगा निज बालक॥
वैरी को पहचान खड्ग की धार पिलाना।
नारी पर वीरत्व नहीं तलवार चलाना"॥

(२२)

था भावी बलवान मीच सिर आय विराजी।
हुआ एक को छोड़ आठ पर मूरख राजी॥
अगला लाभ निहार मूल को यथा लगाया।
हत्या की सम्पत्ति काल का ब्याज बढ़ाया॥

(२३)

पर न हुआ विश्वास उन्हें बन्दी में डाला।
कड़ी बेड़ियाँ पाँव, पड़ा तालों पर ताला॥

एक-एक कर सात हुए नवजात हवाले।
राक्षस ने बध बाल लाल दामन कर डाले॥

(२४)

उधर आठवाँ शत्रु खास है आनेवाला।
कड़ी चौकसी रात हुई चिन्ता दोबाला॥
इधर आठवाँ पुत्र वही आँखों का तारा।
आते ही वह नूर गोद से होगा न्यारा॥

(२५)

यह चिन्ता यह शोक, आज जी को खाता है।
हाय, आज यह जन्म अमंगल दरसाता है॥
उठता हिय में शूल कठिन पन किया पिता ने।
हुई भयानक भूल, लगा प्रारब्ध सताने॥

(२६)

ऐसी दुर्मति, हाय! हुई किस अघके फलसे?
था प्राणी का मोह, अज्ञता के या बल से॥
यह समझे थे ढग कोई तबतक निकलेगा।
रोकेगा मनुजत्व न आज्ञा जान बधेगा॥

(२७)

पर निकला अति क्रूर निहत्थ हमें कर बन्दी।
पन पर कर मजबूर पूत मारे छल-छन्दी॥
दे दें यदि हम प्राण न तौ भी बाल बचेगा।
हते जायँगे लाल, किन्तु यह काल बचेगा॥

(२८)

जग में हैं क्या तात मात ऐसे भी पापी।
प्राण बचा संतान बधावें जो परितापी?

हाय ! राक्षसी वृत्ति अधम है हुई हमारी।
जिसपर हमने रीझ पियारी संतति वारी॥

(२६)

रहे इसी विधि सोच उभय बंदी शोकाकुल।
सहसा दमकी ज्योति तुरतसब तिमिर गया धुल॥
लहरा उठा प्रकाश, मूल पावक पूषण का।
देख पड़ा मुख-पद्म खिला यदुकुल-भूषण का॥

(३०)

चकाचौंध जब दूर हुई छवि मंजु विलोकी।
मातपिता तत्काल हुए निश्चिंत विशोकी॥
उमड़े ब्रह्मानंद सिंधु में गोते खाये।
रहे एकटक देख उभय सुधबुध बिसराये॥

(३१)

"ले हमको झट नन्दगाँव की यात्रा कीजे।
धर जसुमति के पास हमें, कन्या ले लीजे॥
मार असुर, कुछ काल बिता, मथुरा आऊँगा।
कंस-बंस विध्वंस तुम्हें फिर छुड़वाऊँगा"॥

(३२)

शिशु के हिले न ओठ, शब्द यद्यपि ये आये।
हुए चकित वसुदेव, किन्तु झट गोद उठाये॥
अहो महा आश्चर्य ! पाँवसे बेड़ी सरकी।
खुले यंत्र, जंजीर गिरी उस कारा-घर की॥

(३३)

खुले पलकसे द्वार पाहरू सोते पाये।
दृष्टिवेग वसुदेव चले सुत सूप छिपाये॥

तेरी-आँसू-तार सरिस बरसे था पानी।
पड़ा मूसलाधार चढ़ी कितनी हैरानी॥

(३४)

जमुना हुई अथाह, सिन्धु सी लहरें आयीं।
दायें सिंह दहाड़ रहा, वासुकि दिशि बायीं॥
जो भवसागर पार करे सबको बिन खेवा।
ले उसको सरि पार चले करने वसुदेवा॥

(३५)

सिरपर लिये स्वराज्य विपद की नदी बहाता।
जैसे भारत आज सुदिन तटकी दिशि जाता॥
जमुनाजी ने गोद लिया दममें पहुँचाया।
झटपट तटपर आय गाँव को पाँव बढ़ाया॥

(३६)

सोते जसुदा नन्द, सभी गोकुल सोता था।
जो जागै था आज, रत्न अपना खोता था॥
मणि ले ली, धर लाल, चोर सच्चा झट सरका।
वही सूप सह बाल, वही मग काराघर का॥

(३७)

क्रमशः बढ़े गुविन्द चन्दकी कला सरीखे।
ग्वालबाल के बीच पले पर थे अति तीखे॥
सुनकर इनकी वृद्धि तेज उसका घटता था।
हुए सयाने जान नित्य राक्षस लटता था॥

(३८)

प्रभुने उसको मार भूमि का भार उतारा।
बन्दीगृह को खोल, किया सबका छुटकारा॥

उग्रसेन को फेर राज्य आसन बैठाला।
राजपुरुष बन आय सुशासन काज सँभाला॥

(३९)

वही दशा है आज, कष्ट से हम हैं आरत।
व्यापा जगत अधर्म, पड़ा विपदा में भारत॥
फैला है अन्याय, रही पिस प्रजा दुखारी।
ईति अग्नि भय रोग विवश छीजे नरनारी॥

(४०)

कब प्रगटोगे श्याम! दीन भारत हित प्यारे!
जायँगे अन्याय स्वार्थ दानव कब मारे!
हे बन्दी यह मातृभूमि कब मुक्त करोगे?
अपना प्यारा देश धर्म से युक्त करोगे?

स्फुट दोहे

चाँद सूर आँखें खुली, काकी जोहत बाट।
का सुनिबे हित गगन के, उघरे करन कपाट॥१॥
बह्यो जात दिसि बिदिसि जल, चाखि सरस रस कौन।
काके पावन परस हित, धाय रही है पौन॥२॥
मद माती धरती फिरत, काके गंध पुनीत।
जग जग अंतरनाद मय, गावत काके गीत॥३॥
सब जोतिन की जोति वह, सब सूरन को सूर।
सब दृश्यन को दृश्य वह, शब्द-प्राण भरपूर॥४॥
सरद चंद सरि तट त्रिविधि, बहत पवन पिय अंक।
मेरो सुख जाने कहा, बिरही चिन्तित रंक॥५॥

पसरी सारे ज्योति वह, अंधे तोहि न दिखाय।
सद्गुरु के उपदेश को, अंजन क्यों न अँजाय ॥६॥
हृदय हुआ है हृष्ट अति, देखि दया तव नाथ।
पाया तेरे चरण का, धूल सरिस जो साथ ॥७॥
छुट्टी तिन्हें न काम से, फँसे जो जग जंजाल।
मैं तोहीं सों फँसि रह्यो, बिसरि देस औ काल ॥८॥
सो रज-कन मैं परम लघु, सागर में न समाउँ।
सो सागर मैं जौन लघु, गागर में अँटि जाउँ ॥९॥
दृग में वह बल ना भयो, जो छवि ही है जात।
छवि-समुद्र बूड़ो रहै, सतत न तऊ अघात ॥१०॥

पद

(१)

मो सम को त्रिकाल बड़भागी।
तजि साकेत सकेत हिये के भये राम अनुरागी ॥
कहाँ धवल पावन पयोधि जेहि सीकर सृष्टि समायी।
कहाँ मोहतम मय हिय मेरो भरी महा मलिनाई ॥
ना स्वागत हित पुन्य पाँवड़े "रघुपति" सकेउ बिछाई।
श्रद्धा भक्ति हृदय की साँची पूजहु नहिं बनि आई ॥
पाप पहार गयेऊ बहि पल में आरति आँसु गिराये।
दीनबन्धु सुनि गिरा दीन की सरनागत अपनाये ॥
कलुष काटि हिय पावन कीन्हों अस कीन्हों विस्तार।
रोम रोम प्रति कोटि बिस्व जेहि ताकर भयउ अगार ॥
जाकी एक किरिन तें राजत बिद्युत रवि ससि आगि।
तेहि प्रकास तम तोम निवारेउ दीन दास हित लागि ॥

जिमि प्रभु मोहिँ राखि सरनागत अपत अघिहि अपनाये।
तिमि मेरो हिय सदा आपनो मन्दिर रखहु बनाये॥

(२)

नयन! तव कैतव कपट अपार।
रूपजाल तुमहीं उरझावत मन को बारंबार॥
रंजित रक्त रूप रिपु को लखि लोभ ते होत निढार।
मोह को मन्दिर मद मतवारो मत्सर को आगार॥
गुन अवगुन रितु रैन न जोहत आभूषन न सिंगार।
लाज सँकोच निवार मार बस देखि परत गिरि नार॥
विस्व विमोहनि छवि विलोकि अजहूँ न तज्यो संसार।
पाप पंक महँ मनहिँ फाँसि फिरि चाहत करन सिकार॥
इमि पछिताइ सूर दोउ नैनन फोरे तकुआ डार।
"रघुपति" अस उद्दंड अघिन को और कहा सतकार॥

मिलिन्द-पदावली

(१)

कोई जानता है तुझको, रंग और बू में पिनहाँ।
मैं देखता हूँ तुझको हर ज़र्रः में दरख़शाँ॥
तू ही है जुस्तजू में आरिफ़ है तू है इरफ़ाँ।
मआ़नीका तू ही मआ़नी, हैरत है तुझसे हैराँ॥
ऊँचा दिमाग़ से भी है दिल से तू है गहरा।
सूरज से तू बड़ा है और ज़र्रा से भी छोटा॥

(२)

दुनिया है तेरे दम के जादू का इक तमाशा।
तेरे मुआ़ज़िजे का इक हेच सा है लटका॥

हरएक को है देता भरभर के मै का प्याला।
कोई मह्व रंग पर है कोई घूँट भर के लेता॥
जामे जहाँनुमाँ यह तेरा ही आसमाँ है।
अबरू का तेरे नक़्शा बर्क और कहकशाँ है॥

(३)

बुलबुल कहीं चमन में तुझको जो देख पाये।
भूले भी गुल की जानिब हरगिज़ रुजू न लाये॥
तेरी झलक बरहमन की आँख में जो आये।
छोड़े वो बुतपरस्ती औ क़शक़ा भूल जाये॥
मअ़नी है तू सखुन में और बर्गगुल में बू है।
तू जुस्तजू में ख़ुद है बेकार जुस्तजू है॥

माधव शुक्ल

पण्डित माधव शुक्ल प्रयाग के निवासी हैं। इनके पिता का नाम पण्डित रामचन्द्र शुक्ल था। ये मालवीय श्रीगौड़ ब्राह्मण हैं। इनका जन्म सं० १९३८ में हुआ। इनके पूर्वज मालवा के निवासी थे। लगभग तीन सौ बरस हुये, जब वे मालवा से यहाँ आकर बसे।

पण्डित माधव शुक्ल ने प्रथमापरीक्षा तक संस्कृत और एन्ट्रेंस क्लास तक अंग्रेजी पढ़ी है। बँगला और गुजराती भाषा का भी इन्हें ज्ञान है। स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट के पास ये प्रायः प्रतिदिन जाया करते थे। उन्हीं की सङ्गति से इन्हें समाचार-पत्रों में लेख लिखने का चसका लगा। पहले-पहल ये "हिन्दी-प्रदीप" में कविताएँ लिखते रहे। फिर

"कर्मयोगी" और "अभ्युदय" में भी इनकी कविताएँ बराबर निकलती रहीं।

शुक्लजी को नाटक खेलने से बड़ा शौक है। ये पार्ट भी बहुत अच्छा करते हैं। प्रयाग में इन्होंने सबसे पहले "हिन्दी-नाट्य-समिति" स्थापित की; और लगभग पन्द्रह वर्ष तक बड़ी दिलचस्पी से उसका संचालन किया। कई वर्ष हुये, ये प्रयाग से कलकत्ते चले गये। वहाँ इनके जाने से हिन्दी-नाटक की चर्चा ज़ोर-शोर से होने लगी। इनके उद्योग से वहाँ "हिन्दी-नाट्य-परिषद्" की स्थापना हुई।

शुक्लजी की कविता बड़ी ओजस्विनी होती है। नवयुवकों को वह बहुत पसन्द है। अबतक इन्होंने छोटी-बड़ी कुल पाँच पुस्तकें रची हैं। उनके नाम ये हैं:—भारत-गीतांजलि, महाभारत नाटक, स्वराज्य-गायन, सामाजिक चित्र-दर्पण, राष्ट्रीय-तरङ्ग। कलकत्ते में कुछ समय तक शुक्लजी इलाहाबाद बैंक में काम करते थे। अब इन्होंने वह कार्य छोड़ दिया और फिर स्वतन्त्र रूप से अपने "माधव प्रिटिङ्ग वर्क्स" का संचालन करते रहे। फिर उससे भी अलग होकर व्यापार में लग गये।

सन् १९२२ में असहयोग आन्दोलन में ये चार बार जेल हो आये। इस समय इनके दो पुत्र और एक कन्या है।

शुक्लजी की पद्य-रचना के कुछ नमूने आगे उद्धृत किये जाते हैं:—

(१)

जिनके शुभ्र स्वच्छ हिय-पट पर जग विकार का लगा न दाग।
भरा हुआ है अटल जिन्होंमें केवल मातृदेवि-अनुराग॥
जिनकी मृदु मुसुकान सरलता विकसित गालों की लाली।
देख देख सुन्दर फूलों को रचता है जग का माली॥

बँधी हुई मुट्ठी को जिनने अबतक नहीं पसारा है।
जिनको हाथों से पैरों का अधिक अँगूठा प्यारा है॥
भावी भारत-गौरव-गढ़ की सुदृढ़ नींव के जो पत्थर।
आर्य-देश की अटल इमारत का बनना जिन पर निर्भर॥
उन्हीं अनूठे कानों में यह मेरी स्वरमय आत्मपुकार।
पहुँचे आशलता की जड़ में जिसमें होय शक्ति संचार॥

(२)

कहाँ का अपने हिय की भूल।
जाको जानत रह्यो महासुख सो अति दुख को मूल।
समुझत जिनको हितू आपनो सो निकसो प्रतिकूल॥
कहाँ का अपने हिय की भूल।

देव मानि पूज्यो बहुविधि जेहि दै अक्षत फल फूल।
अधम पिशाच चोर निकस्यो मम हिय बिच हन्यो त्रिशूल॥
कहाँ का अपने हिय की भूल।

अबहुँ बिचारि देख मन मूरख मत बन बैठ मभूल।
'माधव' जग नहिं कोउ काहू को केवल पौरुष मूल॥
कहाँ का अपने हिय की भूल।

(३)

ये दिल में आता है उठ खड़े हों समय हमें अब जगा रहा है।
खिला हुये तार भी लहू में वो तारबर्क़ी लगा रहा है॥
ये दिल में०।

जहाँ अँधेरा था मुद्दतों से न देख सकता कोई किसी को।
उसी जिगर में छिपा हुआ कुछ न जाने क्या जगमगा रहा है॥
ये दिल में०।

सनातनी में न कोई है बल न है समाजी में कोई कर्तब।
इसाई मुसलिम बिचारे क्या हैं ये बात वो है जो लापता है॥
ये दिल में०।

कभी भी मायूस हो न "माधो" ज़माना ये इनक़िलाब का है।
उठाना सब को है काम इसका जो अपनी हस्ती मिटा रहा है॥
ये दिल में०।

(४)

है नहीं जिनको ज़रा भी ध्यान अपने देश का।
जिनके दिल कुछ भी असर होता नहीं उपदेश का॥
एक अक्षर भी पढ़े लिक्खे नहीं होते हैं जो।
आजकल घरबार तजकर साधु बन जाते हैं वो॥
रँग लिये कपड़े कमंडल भी लिया एक हाथ में।
बाँध लंगोटी जटा सिर भस्म सारे गात में॥
कनफटा कानों में खप्पर हाथ चिमटा भी बड़ा।
राह चलते टनटनाता एक घण्टा भी पड़ा॥
बंबमाते बैल से जिस दर पै ये जाकर अड़े।
कुछ न कुछ लेकर हटेंगे जग मरे पत्थर पड़े॥
हाय! बावन लाख ऐसे मुफ़्ख़ोरे आज हैं।
जिनके घर दर गाँव गोरू घोड़े हाथी राज हैं॥
खान हैं पापों के बेपरवाह हैं क़ानून के।
हिन्द के रक्षक हैं या प्यासे हमारे ख़ून के॥

(५)

जुग जुग जीवें तोरे ललना, झुलावें रानी पलना,
जगत सुख पावइँ हो।

बजै नित अनँद बधैया, जिवैं पाँचौ भैया,
हमन कहँ मानइँ हो ॥
धन धन कुन्ती तोरी कोख, सराहै सब लोक,
सुमन बरसावइँ हो ।
दिन दिन फूल रानी फूलैं, दुआरे हाथी भूलैं,
सुगुन जग गावइँ हो ॥
(महाभारत नाटक)

गयाप्रसाद शुक्ल

पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल का जन्म श्रावण शुक्ल १३, संवत् १६४० वि० में हुआ था। ये शुक्ल कुलोत्पन्न कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। युक्तप्रान्त में उन्नाव ज़िले के अन्तर्गत क़स्बा हड़हा इनकी जन्मभूमि और निवासस्थान है। इनके पिता पण्डित अवसेरीलाल शुक्ल ग्राम के प्रभावशाली और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में थे। बाल्यावस्था में ही इन को पितृ-वियोग का दुःख उठाना पड़ा। इसलिए इनका पालन-पोषण इनके चचेरे भाई पण्डित लालप्रसाद शुक्ल ने बड़ी सावधानी और स्नेह से किया।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम ही की पाठशाला में हुई। प्रारम्भिक शिक्षा हिन्दी और उर्दू में शीघ्र ही समाप्त करके छात्र-वृत्ति पाकर ये वर्नाक्युलर फ़ाइनल की शिक्षा प्राप्त करने के लिये पुरवा टौनस्कूल गये। वहाँ से इन्होंने सन् १८९७ ई० में वर्नाक्युलर फ़ाइनल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इस परीक्षा में इनकी प्रथम भाषा उर्दू थी।

कविता की अभिरुचि, जो इनमें स्वाभाविक ही थी, वहीं से प्रबल हुई। उस समय वहाँ के हेडमास्टर पण्डित सदासुख मिश्र बड़े कविता-प्रेमी थे।

फ़ाइनल परीक्षा पास करके ये गाँव ही में फ़ारसी का अध्ययन करने लगे। सौभाग्य-वश इसी बीच हिन्दी तथा फ़ारसी के मर्मज्ञ तथा कवि लाला गिरधारीलालजी श्रीवास्तव्य पेंशन पाकर अपने जन्मस्थान हड़हा को आये। उनके परिचय और सम्पर्क से इनकी कविताभिरुचि अत्यन्त प्रबल हो उठी, और फिर यह उन्हीं से हिन्दी-काव्य का मनन करने लगे। साहित्य की शिक्षा इन्होंने उन्हीं से प्राप्त की।

इसी बीच उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री० मुन्शी रामसहायजी "तमन्ना" शिक्षा-विभाग उन्नाव के डिप्टी-इन्सपेक्टर से इनकी भेंट हुई। उन्होंने आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि ये अवश्य अध्यापकी करें; क्योंकि इस विभाग में पढ़ने-पढ़ाने का अच्छा अवसर और विशेष सुविधा रहती है। अतएव इन्होंने १५, १६ वर्ष ही की अवस्था में अध्यापकी कर ली, और 'तमन्ना' जी ही की कृपा से शीघ्र ही नार्मल स्कूल लखनऊ में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजे गये। वहाँ ये एक योग्यतम विद्यार्थी थे और सभा उत्सव आदि में अपनी मधुर कविता से लोगों को मुग्ध करते थे। इनके इन अपूर्व गुणों से अध्यापक-गण अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे। उस समय इन्हें उर्दू-कविता में नार्मल स्कूल के फ़ारसी मुदर्रिस मौ० सय्यद इब्राहीम हुसेन "नाज़िम" से इसलाह लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

वहाँ से आने के कुछ मास के पश्चात् ही ये सफीपुर में फाइनल स्कूल के सेकंड मास्टर नियुक्त हुए। वहाँ के उर्दू मशायरे में ये सदा भाग लेते थे। उन्नाव में फाइनल स्कूल खुलने पर ये उन्नाव चले आये, और यहीं पर अपने कृपालु "तमन्ना" साहब से अधिक सम्पर्क

होने के कारण उर्दू में भी ख़ूब कहने लगे। इस समय ये 'रसिक मित्र' रसिक-रहस्य 'काव्य-सुधानिधि' और 'साहित्य सरोवर' आदि कविता-सम्बन्धी मासिक पत्रों में प्राचीन शैली की कविता करते रहे।

हिन्दी-कविता में इन्होंने अपना उपनाम सनेही और उर्दू में त्रिशूल रक्खा।

'प्रताप' में इन्होंने एक अत्यन्त करुणापूर्ण और बड़ी कविता "कृषक-क्रन्दन" नाम की प्रकाशनार्थ भेजी। उसे लोगों ने बहुत ही पसन्द किया और प्रताप-सम्पादक ने भी ख़ूब दाद दी। तभी से ये खड़ी-बोली में सामयिक कविताएँ लिखने लगे। 'प्रताप' में प्रकाशित इनकी कविताओं ने सरस्वती-सम्पादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान आकर्षित किया। द्विवेदीजी ने इन्हें 'सरस्वती' में कुछ लिखने का आदेश दिया और इन्होंने सब से पहले अगस्त सन् १९१४ की 'सरस्वती' में 'दहेज की कुप्रथा' नामक एक कविता लिखी, जिसे लोगों ने बहुत ही पसन्द किया। तब से द्विवेदीजी की उत्तेजना और प्रोत्साहन से इन्होंने कई कविताएँ सरस्वती में बड़े मार्के की लिखीं। द्विवेदीजी ही की कृपा से इनकी भाषा और भी परिमार्जित और विशुद्ध होने लगी।

हिन्दी के वयोवृद्ध प्रसिद्ध कवि श्रीयुत पण्डित नाथूरामशङ्कर शर्म्माजी ने एक बार "कंस-वध" नामक कविता 'रसिक-मित्र' में पढ़कर 'रसिक-मित्र' में बधाई छपवाई थी और बधाई ही में सम्पादक महाशय को लिखा था कि "सनेहीजी भारत-रत्न, कवीन्द्र, साहित्य-दिवाकर और भारत-सर्वस्व आदि सबसे अच्छा लिखते हैं। आपने इन्हें प्रथम स्थान न देकर बड़ा अन्याय किया है।"

सन् १९१६ ई० में ये बागरमऊ के स्कूल में काम करते थे। वहाँ के ताल्लुकेदार रायबहादुर चौधरी महेन्द्रसिंह आनरेरी मजिस्ट्रेट व

मुंसिफ़ से, जो कि कविता के प्रेमी और बड़े ही मर्मज्ञ थे, परिचय हुआ और परस्पर इतना प्रेम बढ़ा कि बिना सनेहीजी के उन्हें चैन ही न पड़ता था। कई बार इन्होंने समस्याओं पर ज़बानी और तत्क्षण ही उत्तमोत्तम पूर्तियाँ करके चौधरी साहब का मन मुग्ध कर दिया। निदान एक बार चौधरी साहब ने एक बड़ा दरबार करके इन्हें स्वर्णपदक और द्रव्यादि देकर सम्मानित किया और अपनी वक्तृता में कहा कि "आज मुझे बड़ी शान्ति मिली। क्योंकि इसके लिय मेरा दिल मुझे एक अर्से से मजबूर कर रहा था"। एक बार एक उर्दू-कविता सुनकर उन्होंने कहा—'उर्दू में हमारे सनेही हमारे चकबस्त हैं।'

कुछ दिनों तक ये उन्नाव ट्रेनिङ्ग स्कूल के हेडमास्टर थे। आजकल नौकरी से असहयोग करके कानपुर में रहते हैं और साहित्य-सेवा करते हैं। भरतपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर जो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हुआ था, उसके ये सभापति थे।

सरकारी नौकरी के दिनों में त्रिशूल के नाम से इन्होंने बहुत-सी ललित कविताएँ उर्दू में लिखी हैं, जिनको लोगों ने बहुत पसन्द किया।

आजकल ये 'सुकवि' नामक एक कविता-सम्बंधी मासिक पत्र के सम्पादक और संचालक हैं।

इनका ध्यान पुस्तक-रचना की ओर बहुत कम आकृष्ट हुआ है। इनके कितने ही शिष्य हैं, जो काव्य-रचना में प्रसिद्धि-प्राप्त हैं।

अबतक इनकी रचित पुस्तकें ये हैं—(१) प्रेम पचीसी, (२) कुसुमाञ्जलि (३) कृषक-क्रन्दन प्रकाशित; और मानस-तरङ्ग तथा करुण-भारती अप्रकाशित।

ये स्वभाव के अत्यन्त सरल, सहिष्णु तथा प्रेमी हैं। इनकी कविता भावपूर्ण और हृदय-ग्राहिणी होती है। करुण-रस इनको बहुत प्रिय है।

इनकी कविता की भाषा परिमार्जित और बोलचाल की होती है। यहाँ इनकी कुछ कविताएँ नमूने के तौर पर उद्धृत की जाती हैं:—

भक्त की अभिलाषा

(१)

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥

(२)

तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ।
तू है अगर दक्षिण पवन तो मैं कुसुमकी धूल हूँ।
तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसका मीन हूँ;
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अङ्क में आसीन हूँ॥

(३)

तू अगर सर्वाधार है तो एक मैं आधेय हूँ,
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या आश्रेय हूँ।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ,
तुझको नहीं मैं भूलता हूँ दूर हूँ या पास हूँ॥

(४)

तू है पतितपावन प्रकट तो मैं पतित मशहूर हूँ,
छल से तुझे यदि है घृणा, तो मैं कपट से दूर हूँ।
है भक्ति की यदि भूख तुझको, तो मुझे तव भक्ति है,
अति प्रेम है तेरे पदों में, प्रेम है आसक्ति है॥

(५)

तू है दया का सिन्धु तो मैं भी, दया का पात्र हूँ,
करुणेश तू है, चाहता मैं नाथ करुणा-पात्र हूँ।
तू दीनबन्धु प्रसिद्ध है, मैं दीन से भी दीन हूँ,
तू नाथ! नाथ अनाथ का, असहाय मैं प्रभु-हीन हूँ॥

(६)

तव चरण अशरण-शरण हैं, मुझको शरण की चाह है,
तू शीतकर है दग्ध तो मेरे हृदय में दाह है।
तू है शरद राकाशशी, मम चित्त चारु चकोर है
तव ओर तजकर देखता वह, और की कब ओर है॥

(७)

हृदयेश अब तेरे लिए, है हृदय व्याकुल हो रहा,
आ आ इधर आ शीघ्र आ, यह शोर यह गुल हो रहा।
यह चित्त चातक है तृषित, कर शान्त करुणा वारि से
घनश्याम तेरी रट लगी आठो पहर है अब इसे॥

(८)

तू जानता मन की दशा रखता न तुझसे बीच हूँ,
जो कुछ कि हूँ तेरा किया हूँ उच्च हूँ या नीच हूँ।
अपना मुझे अपना समझ तपना न अब मुझको पड़े,
तजकर तुझे यह दास जाकर द्वार अब किसके अड़े॥

(९)

तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूँ,
सब भावनायें छोड़कर अब कर रहा यह शोर हूँ।
मुझमें समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है,
जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है॥

सवैया

(१)

वह बेपरवाह बने तो बने हमको इसकी परवाह का है।
वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं ढँग जाना हमारा निबाह का है॥
कुछ नाज़ जफ़ा पर है उनको तो भरोसा हमें बड़ा आह का है।
उन्हें मान है चन्द्र से आनन पै अभिमान हमें भी तो चाह का है॥

(२)

दाह रही दिल में दिन द्वैक बुझी फिर आपै कराह नहीं अब।
मानि कै रावरे रूरे चरित्र गुन्यौ हिय में कि निबाह नहीं अब॥
चाहक चारु मिले तुमको चित माँहि हमारे भी चाह नहीं अब।
जो तुममें न सनेह रहा हमको भी नहीं परवाह रही अब॥

लड़कपन

(१)

चित्त के चाव, चोचले मन के,
वह बिगड़ना घड़ी घड़ी बन के।
चैन था, नाम था न चिन्ता का,
थे दिवस और ही लड़कपन के॥

(२)

झूठ जाना कभी न छल जाना,
पाप का पुण्य का न फल जाना।
प्रेम वह खेल से खिलौनों से,
चन्द्र तक के लिए मचल जाना॥

(३)

चन्द्र था और और ही तारे,
सूर्य भी और थे प्रभा धारे।
भूमि के ठाट कुछ निराले थे,
धूलि-कण थे बहुत हमें प्यारे॥

(४)

सब सखा शुद्ध चित्त वाले थे,
प्रौढ़ विश्वास प्रेम पाले थे।
अब कहाँ रह गईं बहारें वे,
उन दिनों रङ्ग ही निराले थे॥

(५)

सूर्य के साथ ही निकल जाना,
दिन चढ़े धूम-धाम घर आना।
काम था काम से न धन्धे से,
काम था सिर्फ़ खेलना खाना॥

(६)

फिर मिला इस तरह नया जीवन,
पुस्तकों में पड़ा लगाना मन।
मिल चले जब कि मित्र सहपाठी,
बन गया एक बाग़ बीहड़ बन।

(७)

भार यद्यपि कठिन उठाना था,
किन्तु उद्योग ठीक ठाना था।

हौसिले से भरा हुआ मन था,
और दिन और ही ज़माना था॥

(८)

अब दशा कहाँ रही मन की,
फ़िक्र है धर्म्म, धाम, तन, धन की।
एक घूँसा लगा गई दिल पर,
याद जब आ गई लड़कपन की॥

सत्य

(१)

सत्य सृष्टि का सार सत्य निर्बल का बल है;
सत्य सत्य है सत्य नित्य है अचल अटल है।
जीवन सर में सरस मित्रवर यही कमल है;
मोद मधुर मकरन्द सुयश सौरभ निर्मल है।
मन-मलिन्द मुनि वृन्द के मचल मचल इस पर गये।
प्राण गये तो इसी पर न्योछावर होकर गये॥

(२)

अटल सत्य का प्रेम भरे जिस नर के मन में;
पाये जो आनन्द आत्मबल के दर्शन में।
पशुबल समझे तुच्छ खड्ग भूषण गर्दन में;
सनके भी जो नहीं गोलियों की सन-सन में।
जीवन में बस प्रेम ही जिसका प्राणाधार हो।
सत्य गले का हार हो इतना उस पर प्यार हो॥

(३)

इस पथ में बस वही वीर पहुँचा मंज़िल पर;
डाल न सकती शक्ति मोहिनी जिसके दिल पर।
उस से भिड़कर कौन भाल फोड़ेगा सिल पर,
खेड़े में जो अड़ा या कि वह रौलट बिल पर॥
समझो सम्मुख ही धरा जो कुछ उसका ध्येय है।
विश्व-विजयिनी शक्ति यह परम अभेद्य अजेय है॥

(४)

सहकर सिर पर भार मौन ही रहना होगा;
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।
रङ्गमहल सी जेल आहनी गहना होगा;
किन्तु न मुख से कभी हन्त हा! कहना होगा।
डरना होगा ईश से और दुखी की हाय से।
भिड़ना होगा ठोंककर खम अनीति अन्याय से॥

(५)

तुम होगे सुकरात ज़हर के प्याले होंगे।
हाथों में हथकड़ी पदों में छाले होंगे।
ईसा से तुम और जान के लाले होंगे,
होगे तुम निश्चेष्ट डस रहे काले होंगे।
होना मत व्याकुल कहीं इस भवजनित विषाद से।
अपने आग्रह पर अटल रहना बस प्रह्लाद से॥

(६)

होंगे शीतल तुम्हें आग के भी अङ्गारे;
मर न सकोगे कभी मौत के भी तुम मारे।

क्या गम है गर छूट जायँगे साथी सारे;
बहलावेंगे चित्त चन्द्र चमकीले तारे।
दुख में भी सुख शान्ति का नव अनुभव हो जायगा।
प्रेम-सलिल से द्वेष का सारा मल धो जायगा॥

(७)

धीरज देगी तुम्हें मित्रवर मीराबाई;
प्रेम-पयोनिधि थाह भक्ति से जिसने पाई।
रही सत्य पर डटी प्रेम से बाज़ न आई;
कृष्ण-रङ्ग में रँगी कीर्ति उज्वल फैलाई।
आई भी उस की टली वह विष प्याला पी गई।
मरी उसीकी गोद में जिस को पाकर जी गई॥

(८)

सत्य रूप हे नाथ! तुम्हारी शरण रहूँगा;
जो व्रत है ले लिया लिये आमरण रहूँगा;
ग्रहण किये मैं सदा आपके चरण रहूँगा;
भीत किसी से और न हे भयहरण रहूँगा।
पहली मंजिल मौत है प्रेम-पन्थ है दूर का।
सुनता हूँ मत था यही सूली पर मन्सूर का॥

रूपनारायण पाण्डेय

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय का जन्म लखनऊ के रानी-कटरे में संवत् १६४१, आश्विन शुक्ल १२, को हुआ। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण गेगासों के पाण्डेय (षट्कुल) हैं। इनके पिता का नाम पं० शिवराम पाण्डेय था। जब ये एक ही

वर्ष के थे, उसी समय उनका देहान्त हो गया था। इस अवस्था में, इनके पितामह पं० राधाकान्त पाण्डेय ने अपने आश्रय एवं प्रेम से इनका लालन-पालन किया।

इनका विद्यारम्भ पहले-पहल घर ही पर कराया गया। पहले संस्कृत की शिक्षा दी जाती रही। फिर इन्होंने कैनिङ्ग कालेज से प्रथमा परीक्षा पास करके मध्यमा का कोर्स पढ़ना शुरू किया। इसी अवसर में बाबा का भी देहान्त हो गया और गृहस्थी का सारा भार इन्हीं पर आ गिरा उसे सम्हालने में पढ़ाई से हाथ खींचकर इन्हें नौकरी का सहारा लेना पड़ा। किन्तु विद्याभ्यास बराबर जारी रहा और वही क्रम अब भी जारी है। धर्म-भ्रष्ट होने के भय से, बाबा ने इन्हें अँग्रेज़ी की विशेष शिक्षा नहीं दिलाई; पर अपने परिश्रम से इन्होंने उसका भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

स्कूल में इनका विद्याध्ययन बहुत ही थोड़ा हुआ था। इन्होंने जो कुछ योग्यता प्राप्त की है, वह इनके निज के परिश्रम तथा पुस्तकावलोकन ही का फल है। स्कूल में इन्होंने संस्कृत सिद्धान्त-कौमुदी (समग्र), रघुवंश, मेघदूत, किरातार्जुनीय, माघ, तर्क-संग्रह, मुक्तावली, श्रुतबोध, साहित्य-दर्पण आदि का अध्ययन किया है। 'वर्ण-परिचय' देखकर इन्होंने एक सप्ताह में बँगला भाषा सीखी है। मराठी, गुजराती और उर्दू का भी साधारण ज्ञान स्वयं सीखकर प्राप्त किया है।

बचपन ही से इनको साहित्य से रुचि है। जब १५ वर्ष के थे, तभी से इन्होंने कुछ न कुछ लिखना आरम्भ कर दिया था। इस समय तक इनके द्वारा रचित और अनुवादित ग्रन्थों की संख्या सौ तक पहुँच चुकी है।

पहले कुछ दिनों तक बाबू कालीप्रसन्न सिंह सबजज के यहाँ रहकर ये "कृत्तिवास रामायण" का पद्यानुवाद करते रहे। फिर सात वर्ष तक

'नागरी-प्रचारक' मासिक-पत्र का संपादन किया। तीन वर्ष तक भारत धर्म-महामण्डल की मुख-पत्रिका 'निगमागम-चन्द्रिका' का सम्पादन किया। इसके पश्चात् दो वर्ष तक 'इन्दु' मासिक-पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम किया। वहाँ इन्हें "इन्दु रौप्य पदक" मिला। फिर एक वर्ष इंडियन प्रेस, प्रयाग में रहे। दो वर्ष तक 'कान्यकुब्ज' मासिक-पत्र का सम्पादन किया। अबतक इनके लिखे हुये लगभग २०० से अधिक गद्य-लेख और १०० से अधिक पद्य सामयिक पत्रों में निकल चुके हैं।

पाण्डेयजी बड़े विद्याव्यसनी, सुशील और मिलनसार हैं। अबतक इनका जीवन एकमात्र साहित्य-चर्चा ही में बीता है। इनके गद्य-पद्य दोनों प्रकार के लेख सरस और सुपाठ्य होते हैं। आजकल ये हिन्दी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'माधुरी' के सम्पादक हैं। इनकी कुशल लेखनी और सम्पादन-पटुता से उसने हिन्दी में एक मुख्य स्थान प्राप्त किया है।

इनके द्वारा रचित और अनुवादित मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की सूची नीचे दी जाती है :—

१—श्रीमद्भागवत का समग्र अविकल अनुवाद—शुकोक्ति सुधा-सागर, २—आँख की किरकिरी, ३—शान्तिकुटीर, ४—चौबे का चिट्ठा, ५—दुर्गादास, ६—उस पार, ७—शाहजहाँ, ८—नूरजहाँ, ९—सीता, १०—पाषाणी, ११—सूम के घर धूम, १२—भारत-रमणी, १३—बंकिम-निबन्धावली, १४—ताराबाई, १५—ज्ञान और कर्म, १६—विद्यासागर, १७—बाल कालिदास, १८—बालशिक्षा, १९—तारा, २०—राजा-रानी, २१—घर बाहर, २२—भूप्रदक्षिण, २३—गल्प-गुच्छ, (५ भाग), २४—समाज, २५—शिक्षा, २६—महा-भारत सम्पूर्ण का हिन्दी-अनुवाद, २७—रमा, २८—पतित पति,

२९—शूर-शिरोमणि, ३०—हरीसिंह नलवह, ३१—गुप्तरहस्य, ३२—खाँजहाँ, ३३—मूर्ख-मंडली, ३४—मंजरी, ३५—कृष्णकुमारी, ३६—बंकिमचन्द्र, ३७—अज्ञातवास, ३८—बहता हुआ फूल, ३९—पोष्य पुत्र, ४०—चंद्रप्रभ-चरित, ४१—पृथ्वीराज, ४२—प्रफुल्ल, ४३—शिवाजी, ४४—वीरपूजा, ४५—नारी-नीति, ४६—आचार-प्रबन्ध, ४७—घर-जमाई, ४८—स्वतन्त्रता देवी, ४९—नीति-रत्नमाला, ५०—भगवती-शतक, ५१—शिव-शतक, ५२—रंभा-शुक-संवाद (पद्यानुवाद), ५३—पत्र-पुष्प, ५४—दुरंगी दुनिया, ५५—गोरा, ५६—बुद्ध-चरित, ५७—खोई हुई निधि, ५८—गृहलक्ष्मी, ५९—विजया, ६०—अबला का बल (मौलिक अप्रकाशित), ६१—कर्त्तव्यपालन (मौलिक अप्रकाशित)। इनकी कुछ फुटकर कविताओं का संग्रह "पराग" नाम से अलग प्रकाशित हुआ है।

पांडेयजी की कविता के नमूने यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

दलित कुसुम

(१)

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने, हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला ॥

(२)

तड़प तड़प माली अश्रु-धारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुख देखा न जाता ॥
निठुर ! फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से।
इस नवलतिका की गोद सूनी किये से ॥

(३)

यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था ।
अगणित अभिलाषा और आशा-भरा था ॥
दलित कर इसे तू काल, क्या पा गया रे !
कण भर तुझ में क्या हा ! नहीं है दया रे !!

(४)

सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता ।
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता ॥
वह कुसुम रंगीला धूल में जा पड़ा है ।
नियति ! नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है ॥

वन-विहंगम

(१)

बन-बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में, एक कपोत-कपोती कहीं ।
दिनरात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले-मिले दोनों वहीं ।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं ।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं ॥

(२)

रहता था कबूतर मुग्ध सदा अनुराग के राग में मस्त हुआ ।
करती थी कपोती कभी यदि मान, मनाता था पास जा व्यस्त हुआ ।
जब जो कुछ चाहा कबूतरी ने, उतना वह वैसे समस्त हुआ ।
इस भाँति परस्पर पक्षियों में भी, प्रतीति से प्रेम प्रशस्त हुआ ॥

(३)

सुविशाल नभों में उड़े फिरते, अवलोकते प्राकृत चित्रछटा ।
कहीं शस्य से श्यामल खेत खड़े, जिन्हें देख घटा का भी मान घटा ।

कहीं कोसों उजाड़ में झाड़ पड़े, कहीं आड़ में कोई पहाड़ सटा।
कहीं कुञ्ज लता के बितान तने, सब फूलों का सौरभ था सिमटा॥

(४)

कहीं झील-किनारे बड़े बड़े ग्राम, गृहस्थ-निवास बने हुये थे।
खपरैलों में कद्दू, करैलों की बेल के खूब तनाव तने हुये थे।
जल शीतल, अन्न जहाँ पर पाकर, पत्ती घरों में घने हुये थे।
सब ओर स्वदेश-स्वजाति-समाज-भलाई के ठान ठने हुये थे॥

(५)

इस भाँति निहारते लोक की लीला प्रसन्न वे पत्ती फिरें घर को।
उन्हें देखते दूर ही से, मुख खोल के बच्चे चलें चट बाहर को।
दुलराने, खिलाने, पिलाने से था अवकाश उन्हें न घड़ी भर को।
कुछ ध्यान ही था न कबूतर को कहीं काल चढ़ा रहा है शर को॥

(६)

दिन एक बड़ा ही मनोहर था छवि छाई बसन्त की कानन में।
सब ओर प्रसन्नता देख पड़ी जड़ चेतन के तन में मन में।
निकले थे कपोत-कपोती कहीं पड़े झुंड में घूम रहे बन में।
पहुँचा यहाँ घोंसले पास शिकारी शिकार की ताक में निर्जन में॥

(७)

उस निर्दय ने उसी पेड़ के पास बिछा दिया जाल को कौशल से।
वहाँ देख के अन्न के दाने पड़े चले बच्चे अभिज्ञ जो थे छल से।
नहीं जानते थे, कि यहीं पर है कहीं दुष्ट भिड़ा पड़ा भूतल से।
बस, फाँस के बाँस के बन्धन में कर देगा हलाल हमें बल से॥

(८)

जब बच्चे फँसे उस जाल में जा तब वे घबड़ा उठे बन्धन में।
इतने में कबूतरी आई वहाँ दशा देख के व्याकुल हो मन में।

कहने लगी, "हाय हुआ यह क्या ! सुत मेरे हलाल हुये वन में।
अब जाल में जाके मिलूँ इनसे सुख ही क्या रहा इस जीवन में" ॥

(९)

उस जाल में जाके बहेलिये के ममता से कबूतरी आप गिरी।
इतने में कपोत भी आया वहाँ उस घोंसले में थी विपत्ति निरी।
लखते ही अँधेरा सा आगे हुआ घटना की घटा वह घोर घिरी।
नयनों से अचानक बूँद गिरे चेहरे पर शोक की स्याही फिरी ॥

(१०)

तब दीन कपोत बड़े दुख से कहने लगा—"हा ! अति कष्ट हुआ।
निबलों ही को दैव भी मारता है ये प्रवाद यहाँ पर स्पष्ट हुआ।
सब सूना किया, चली छोड़ प्रिया सब ही विधि जीवन नष्ट हुआ।
इस भाँति अभागा अतृप्त ही मैं सुख भोग के स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ ॥

(११)

गृह-लक्ष्मी नहीं जो जगाये रहा करती थी सदा सुखकल्पना को।
शिशु भी तो नहीं, जो उन्हीं के लिये सहता इस दारुण वेदना को।
वह सामने ही परिवार पड़ा पड़ा भोग रहा यमयातना को।
अब मैं ही वृथा इस जीवन को, रख कैसे सहूँगा विडम्बना को ॥

(१२)

यहाँ सोचता था यों कपोत वहाँ चिड़ीमार ने मार निशाना लिया।
गिर लोट गया धरती पर पक्षी बहेलिये ने मनमाना किया।
पल में कुल का कुल काल कराल ने भूत भविष्य में भेज दिया।
क्षणभंगुर जीवन की गति का यह एक निदर्शन है बढ़िया ॥

(१३)

प्रिय पाठक ! आप तो विज्ञ ही हैं, फिर आप को क्या उपदेश करें।
शिर पै शर ताने बहेलिया काल खड़ा हुआ है यह ध्यान धरें।

दशा अन्त को होनी कपोत की ऐसी परन्तु न आप ज़रा भी डरें।
निज धर्म के कर्म सदैव करें कुछ चिन्ह यहाँ पर छोड़ मरें॥

आश्वासन

(१)

वे उठते भी हैं अवश्य ही जो गिरते हैं।
दुर्दिन के ही बाद सुदिन सब के फिरते हैं॥
देखे दारुण दुःख वही नर फिर सुख पावे।
अवनति के उपरान्त घड़ी उन्नति की आवे॥
रवि रात बीतने पर प्रकट, होते प्रातः समय में।
बस यही सोचकर आप भी, धीरज रखिए हृदय में॥

(२)

होता प्रथम बसन्त ग्रीष्म ऋतु फिर आती है।
चले पसीना अंग आग सी लग जाती है॥
पत्ते फल या फूल बिना जल जल जाते हैं।
पशु-पक्षी भी घोर घाम से घबराते हैं॥
फिर शीघ्र देखते देखते, हरी-भरी होती मही।
आजाती वर्षाऋतु भली, सुख देती तत्काल ही॥

(३)

कवियों का सर्वस्व, स्वर्ग की शोभा भारी।
शिव के भी सिर चढ़ा और आकाश-विहारी॥
अमृत सहोदर चंद्र, कला जब घटने लगती।
तब होता है क्षीण और श्री लटने लगती॥
वह किन्तु शीघ्र ही पूर्ण हो, होता है फिर अभ्युदय।
है ठीक नियम यह प्रकृति का, परिवर्तन हो हर समय॥

रामचन्द्र शुक्ल

पंडित रामचंद्र शुक्ल का जन्म सं० १९४१ आश्विन की पूर्णिमा को गाँव अगोना (पो० कलवारी, ज़िला बस्ती) में हुआ। ये गर्ग-गोत्री सरयूपारी ब्राह्मण हैं। छः वर्ष की अवस्था में राठ (जि० हमीरपुर) में, जहाँ इनके पिता पंडित चंद्रबली शुक्ल सुपरवाइज़र क़ानूनगो थे, इनका अक्षरारंभ कराया गया। वहाँ के हिन्दी-उर्दू स्कूल में दो ही वर्षों में ये चौथे दरजे में पहुँच गये। सन् १८९२ में इनके पिता की नियुक्ति सदर क़ानूनगो के पद पर मिर्ज़ापुर में हुई। वे परिवार को राठ ही में छोड़कर स्थान आदि ठीक करने के लिए मिर्ज़ापुर गये। इधर इनकी माता २० दिन के एक बच्चे, इनके सब से छोटे भाई कृष्णचंद्र को, छोड़कर परलोक सिधारीं। इनके पिता १३, १४ घंटे बाद पहुँचे। वहाँ से वे सब को लेकर मिर्ज़ापुर चले आये।

मिर्ज़ापुर ही में पंडित रामचंद्र शुक्ल के जीवन का अधिक भाग व्यतीत हुआ। वहाँ जुबिली स्कूल में ये ९ वर्ष की अवस्था में भरती होकर उर्दू के साथ अंग्रेज़ी पढ़ने लगे। इनका विवाह १२ वर्ष की अवस्था ही में काशीनिवासी पंडित रामफल पांडे ज्योतिषी की कन्या से हुआ। १४॥ वर्ष की अवस्था में इन्होंने मिडिल पास किया। अपने दरजे में ये हमेशा प्रथम रहते थे। इनके पड़ोस में संस्कृत-साहित्य के एक विद्वान पंडित विन्ध्येश्वरी प्रसाद रहते थे। वे कभी-कभी अपने शिष्यों को लेकर पर्वत की ओर निकल जाते थे और वहाँ बड़े मधुरस्वर से श्लोक-पाठ किया करते थे। रामचंद्रजी को प्राकृतिक दृश्यों से बालकपन ही से प्रेम है। ये भी उनके साथ चले जाया करते थे।

उनके सत्संग से इनकी प्रवृत्ति संस्कृत सीखने की ओर हुई। और उन्हीं दिनों बाबू काशीप्रसादजी जायसवाल की संगति से हिन्दी की ओर इनका अनुराग और बढ़ चला। एक बार ये काशी गये। वहाँ इनका परिचय पंडित केदारनाथजी पाठक से हुआ। पाठकजी की कृपा से इन्हें हिन्दी और बँगला की पुस्तकें पढ़ने को मिलने लगीं। सन् १९०१ के आरंभ में इन्होंने लन्दन मिशन से एंट्रेंस पास किया।

पुस्तक पढ़ने का इन्हें बड़ा व्यसन है। एंट्रेंस पास करने के बाद एफ० ए० में पढ़ने के लिये प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में इन्होंने नाम लिखाया। पर गृह-विवाद के कारण थोड़े ही दिनों में इन्हें कालिज छोड़कर बस्ती (अगोना) चला जाना पड़ा। कुछ दिन घर रहने के बाद क़ानून पढ़ने के लिये ये फिर प्रयाग आये। दो वर्ष तक पढ़कर ये फिर मिर्ज़ापुर चले गये। वहाँ कुछ दिन के बाद मिशन स्कूल में मास्टर हो गये। १९०६ में वकालत का इम्तहान दिया, पर पास न हुये। १९०८ तक ये मिशन स्कूल ही में रहे। इसके उपरांत काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का हिन्दी-कोश आरंभ हुआ और ये उसके सहायक संपादक के रूप में बुलाए गए। नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का भी संपादन इन्होंने ८, ९ वर्षों तक किया। आजकल काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग प्रधान के हैं। इनके दो पुत्र और तीन कन्यायें हैं। ज्येष्ठ पुत्र पंडित केशवचन्द्र शुक्ल, बी० ए०, एल-एल० बी० हाल में डिप्टी कलक्टर नियुक्त हुये हैं। छोटे पुत्र पंडित गोकुल-चंद्र शुक्ल ने भी अंग्रेज़ी और क़ानून की उच्च शिक्षा प्राप्त की है।

तेरह वर्ष की अवस्था में खिलवाड़ की तरह पर इन्होंने एक "हास्य-विनोद" नाम का नाटक लिखा, जिसे एक महाशय ने हँसते-हँसते फाड़ डाला। "संयोगता स्वयंवर" और "दीप-निर्वाण" को देख इन्हें पृथ्वीराज नाटक लिखने की इच्छा हुई और उसके दो अंक इन्होंने

लिख भी डाले। इनके अतिरिक्त अपने सहपाठी लड़कों की निन्दा में भी ये कवित्त और दोहे इत्यादि जोड़ते थे। १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने "मनोहर छटा" नाम की एक कविता लिखी, जो सरस्वती में प्रकाशित हुई। फिर तो इनके बहुत से लेख और कविताएँ सरस्वती, समालोचक आदि पत्रों में निकलीं। १६०२ में हिन्दी-लेखकों में बहुत सी कुप्रथाओं (जैसे, अनुवाद को स्वरचित ग्रंथ बतलाना) के विरुद्ध इन्होंने प्रयाग के Indian People नामक अँगरेज़ी पत्र में एक लेखमाला निकाली थी, जिसके कारण हिन्दी-संवादपत्रों में बहुत दिनों तक बड़ा कोलाहल रहा।

ये समय-समय पर गुप्त या प्रकट रूप में हिन्दी के संबन्ध में अँगरेज़ी पत्रों में भी लेख लिखा करते हैं। "माडर्न रिव्यू" नामक प्रसिद्ध अँगरेज़ी मासिकपत्र में कुछ दिनों तक ये हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना भी करते रहे। नागरी-प्रचारिणी-सभा का एक संक्षिप्त इतिहास भी इन्होंने ५० पृष्ठों का अँगरेज़ी में लिखा है। सन् १६१७ में श्रीयुत चिन्तामणि के नागरी संबन्धी प्रस्ताव पर प्रांतीय काउन्सिल के मुसलमान सदस्यों ने जो विरोध किया, उसके उत्तर में इन्होंने एक बहुत बड़ा और युक्तिपूर्ण लेख 'Hindi and the Mussalmans' 'लीडर' में लिखा। असहयोग की धूम के ज़माने में बाँकीपुर के Express नामक अँगरेजी पत्र में इन्होंने Non-co-operation and the non-mercantile classes के नाम से एक बहुत लंबा लेख लिखा, जो तीन संख्याओं में निकला है।

इनके लेखों में बिल्कुल इनके निज के विचार रहते हैं। इनके निबन्ध अधिकतर दुरूह और जटिल होते हैं। इससे साधारण हिन्दी-पाठकों का चाहे उनसे मनोरञ्जन न हो, पर हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिए वे बड़े काम के हैं। साहित्य विषय पर "कविता क्या है?"

'भारतेन्दु की समीक्षा', 'उपन्यास', 'भाषा का विस्तार' आदि इनके निबन्ध बहुत सारगर्भित हैं। 'शिशिर-पथिक', 'वसन्त', 'वसन्त-पथिक', 'भारत-बसन्त', 'दुर्गावती', 'तुलसीदास', 'प्रकृति-प्रबोध', हृदय का मधुर भार, आदि कविताएँ अत्यन्त रुचिर भावों से पूर्ण हैं। मनोविकारों पर इनकी लेखमाला में सर्वत्र स्वतंत्र, मौलिक और गूढ़ दार्शनिक भाव भरे हुए हैं। इनकी लेख-शैली गम्भीर, व्यवस्थित और निराली है। तुलसी, सूर और जायसी की बड़ी गूढ़ और गम्भीर समीक्षायें लिखकर इन्होंने हिन्दी में ऊँचे दरजे की समालोचना का सूत्रपात किया है।

फुटकर निबंधों और कविताओं के अतिरिक्त इनकी लिखी और अनुवाद की हुई कुछ पुस्तकें ये हैं—

(१) कल्पना का आनन्द (एडिसन के Essay on the Imagination का अनुवाद)

(२) मेगास्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (अँगरेज़ी का अनुवाद)

(३) राज्यप्रबन्ध-शिक्षा (सर टी० माधवराव के Minor Hints का अनुवाद)

(४) बा० राधाकृष्णदास का जीवनचरित

(५) प्रवाहगामिनी माला (काव्य, असमाप्त)

(६) प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास (अनुसंधान-पूर्ण)

(७) आदर्श जीवन

(८) विश्व-प्रपंच (हेकल के Riddle of the universe का अनुवाद। इसमें १५५ पृष्ठों की दर्शन-विज्ञान के तत्वों से पूर्ण भूमिका देखने योग्य है)।

(९) शशांक—राखालदास वन्दोपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास का अनुवाद। पिछले गुप्त सम्राटों के सम्बन्ध में अबतक ज्ञात सारी बातों

को भूमिका में देने के अतिरिक्त मूल पुस्तक की आख्यायिका में भी बड़े कौशल से फेर-फार किया है।

(१०) बुद्ध-चरित—Light of Asia के आधार पर आठ सर्गों का एक सरस काव्य। 'काव्य-भाषा' पर एक बहुत बड़ा निबन्ध भी भूमिका के साथ है, जिसमें खड़ी, ब्रज और अवधी तीनों बोलियों का तारतम्य दिखाते हुए बहुत सूक्ष्म और पांडित्य-पूर्ण विवेचन किया गया है। बुद्ध-चरित विविध छंदों में लिखा गया है। कविता बड़ी मधुर है।

(११) गोस्वामी तुलसीदास (आलोचना)
(१२) जायसी ग्रन्थावली ,,
(१३) महाकवि सूरदास जी ,,
(१४) भ्रमरगीत-सार ,,
(१५) हिन्दी-साहित्य का इतिहास
(१६) काव्य में रहस्यवाद

कठिन प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन की ओर भी इनका पूरा ध्यान रहता है। इन्होंने सूरदास के 'भ्रमर-गीत' और केशवदास के 'वीरसिंह-देव-चरित' का टीका-टिप्पणी के साथ सम्पादन किया है। नागरी-प्रचारिणी सभा से निकलनेवाली 'तुलसी-ग्रंथावली' के तीन सम्पादकों में एक ये भी है। उक्त ग्रंथावली में गम्भीर आलोचना-पूर्ण भूमिका इन्हीं की लिखी है। आपने 'जायसी-ग्रंथावली' का सम्पादन प्रचुर टीका-टिप्पणी के साथ बड़े विशद रूप में किया है। जिसके साथ २५५ पृष्ठों की बड़ी ही विस्तृत, गूढ़ और पांडित्य-पूर्ण समीक्षा है। सूर की आलोचना भी इसी प्रकार की है। काव्य के सिद्धान्तों पर ये एक बहुत बड़ी और स्वतन्त्र पुस्तक लिख रहे हैं।

शुक्लजी करुण-रस लिखने में तो सिद्धहस्त हैं ही, इनके प्राकृतिक

दृश्यों के वर्णन भी बड़े ही मार्मिक और मनोहर होते हैं। उनसे इनके प्राकृति के सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय मिलता है।

यहाँ शुक्लजी की कविता के नमूने दिये जाते हैं—

शिशिर पथिक

(१)

विकल पीड़ित पीय-पयान तें
चहुँ रह्यो नलिनी-दल घेरि जो।
भुजन भेंटि तिन्हैं अनुराग सों
गमन-उद्यत भानु लखात हैं॥

(२)

तजि तुरन्त चले मुहँ फेरि कै
शिशिर-शीत-सशंकित मेदिनी।
विहग आरत बैन पुकारते
रहि गए, पर नेकु सुन्यो नहीं॥

(३)

तनि गए सित ओस-बितान हू,
अनिल-भार-बहार धरा परी।
लुकन लोग लगे घर बीच हैं
विवर भीतर कीट पतंग से॥

(४)

युग भुजा उर बीच समेटि के,
लखहु आवत गैयन फेरि कै।
कँपत कम्बल बीच अहीर हैं;
भरमि भूलि गईं सब तान है॥

(५)

तम चहूँ दिशि कारिख फेरि कै
प्रकृति-रूप कियो धुँधलो सबै।
रहि गए अब शीत-प्रताप तें
निपट निर्जन घाटऽरु बाटहू॥

(६)

पर चलो वह आवत है लखो
विकट कौन हठी हठ ठानि कै।
चुप रहैं तब लौं जब लौं कोऊ
सुजन पूछनहार मिले नहीं॥

(७)

शिथिल गात पर्‌यो, गति मन्द है,
चहुँ निहारत धाम विराम को।
उठत धूम लख्यो कछु दूर पै
करत श्वान जहाँ रव भूँकि कै॥

(८)

कँपत आय भयो छिन में खड़ो
दृढ़ कपाट लगे इक द्वार पै।
सुनि पर्‌यो "तुम कौन ?" कह्यो तबै
"पथिक दीन दया यक चाहतो"॥

(९)

खुलि गए झट द्वार धड़ाक तें
धुनि परी मधुरी यह कान में—
"निकसि आय बसौ यहि गेह में
पथिक! बेगि सँकोच विहाय कै"॥

(१०)

पग धर्‌यो तब भीतर भौन के
अतिथि आवन आयसु पाय कै।
कठिन-शीत-प्रताप-विघातिनी
अनल दीर्घ-शिखा जहँ फेंकती॥

(११)

चपल दीठि चहूँ दिसि घूमि कै
पथिक की पहुँची इक कोन में,
वय-पराजित जीवन-जंग में
दिन गिनै नर एक परो जहाँ॥

(१२)

सिर-समीप सुता मन मारि कै
पितहिं सेवति सील सनेह सों,
तहँ खड़ी नत-गात कृशाङ्गिनी
लसति वारि-विहीन मृणाल सी॥

(१३)

लखि फिरी दिसि आवनहार के,
विमल आसन इङ्गित सों दयो।
अतिथि बैठि असीस दयो तबै
'फलवती सिगरी तव आस हो'॥

(१४)

मृदु हँसी करुणारस सों मिली
तरुणि आनन ऊपर धारि कै।
कहति "हाय, पथी! सुनु बावरे,
उकठि बेलि कहाँ फल लावई?॥

(१५)

गति लखी विधि की जब वाम मैं
जगत के सुख सों मुख मोरि कै।
सरुचि पालन पितृ-निदेश औ
अतिथि-सेवन को व्रत लै लियो" ॥

(१६)

अब कहौ परिचै तुम आपनो,
इत चले कितर्तें, कित जावगे ?
विचलि कै चित के किहि वेग सों
पग धर्‌यो पथ-तीर अधीर है ? ॥

(१७)

सलिल सों नित सींचति आस के
सतत राखति जो तन वेलि है,
पथिक ! बैठि अरे ! तुव बाट को
युवति जोवति है कतहूँ कोऊ ! ॥

(१८)

नयन कोउ निरन्तर धावते
तुमहिँ हेरन को पथ-बीच में।
श्रवण-द्वार कोऊ रहते खुले
कहुँ अरे ! तुव आहट लेन को ॥

(१६)

कहु कहूँ तोहि आवत जानि कै
निकटता तव मोद-प्रदायिनी।
प्रथम पावन हेतुहि होत है
चरण लोचन बीच बदा-बदी ॥

(२०)

करि दया भ्रम जो सुख देत है
सुमन-मंजुल जाल बिछाय कै।
कठिन काल निरंकुस निर्दयी
छिनहिँ छीनत ताहि निवारि कै ?" ॥

(२१)

दबि गयो इन प्रश्नन-भार सों
पथिक छीन मलीन थको भयो।
अचल मूर्त्ति बन्यो, पल एक लौं
सब क्रिया तन की, मन की रुकी ॥

(२२)

बदन शक्तिविहीन विलोकि कै
नयन नीरन उत्तर दे दियो—
"तव यथार्थ सबै अनुमान है,
अति अलौकिक देवि, दयामयी !"

(२३)

अचल दीठि पसारि निहारते
पथिक को अपनी दिशि देखि कै।
कहन यों पुनि आपहि सों लगी
अति पवित्र दया-व्रत-धारिणी ॥

(२४)

"कुशलता यहि में नहिं है कछू
अरु न विस्मय की कछु बात है।
दिवस खेइ रहे दुख ओर जो
गति लखैं मग में उलटी सबै" ॥

(२५)

उभय मौन रहे कछु काल लौं;
पथिक ऊपर दीठि उठाय के।
इक उसास भरी गहरी जबै
छुटि पड़ी मुख तें बचनावली॥

(२६)

"अवनि ऊपर देश विदेश में
दिवस घूमत ही सिगरे गये।
मिसिर, काबुल, चीन, हिरात की
पगन धूरि रही लपटाय है॥

(२७)

पर-दशा-दिशि-मानस-योगिनी
लखि परी इकली भुव बीच तू।
परखि पूछन साँच सुनाय है
हम गई तन ऊपर बीति जो॥

(२८)

मन परे दुख की जब वा घरी
पलटि जीवन जो जग में दियो।
चतुर मेजर मंत्रहि मानि कै
करि दियो सपनो अपनो सबै॥

(२९)

हित-सनेह-सने मृदु बोल सों
जब लियो इन कानन फेरि मैं।
स्वजन और स्वदेश-स्वरूप को
करि दियो इन आँखिन ओट हा!॥

(३०)

अब परे सुनि बोल यही हमैं
'धरहु, मारहु, सीस उतारहू'।
दिवस रैन रहै सिर पै खरी
अति कराल छुरी अफ़गान की॥

(३१)

चलि रहे चित आस बँधाय के
अवसि ही मम भामिनि भोरि को।
अपर-लोक-प्रयाण-प्रयास तैं
मम समागम-संशय रोकि है॥

(३२)

इत कहूँ इक मन्मथ गाँव है
जहँ घनी बस्ती विधुवंश की।
तहँ रहे इक 'विक्रमसिंह' जो
सुवन तासु यही 'रणवीर' है॥

(३३)

कढ़त ही इन बैनन के तहाँ
मचि गयो कछु औरहि रङ्ग ही!
वदन अञ्चल बीच छपावती
मुरि परी गिरि भू पर भामिनी॥

(३४)

असम साहस वृद्ध कियो तबै
उठि धरयो महि पै पग खाट तें।
"पुनि कहौ" कहि बारहि बार ही
पथिक को फिरि फेरि निहारतो॥

(३५)

आशा त्यागी बहु दिनन की नेकु ही में पुरावै।
लीला ऐसी जगत-प्रभु की, भेद को कौन पावै ?
देखो, नारी सुव्रत-फल को बीच ही माहिँ पायो।
भूलो प्यारो भटकि पथ तें प्रेम के फेरि आयो ॥

रंग-भवन में रात्रि

(१)

सोवती सँभार बिनु सोभा सरसाय, गात,
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर।
चीकने चिकुर कहूँ गुँथे हैं कुसुमदाम,
कारे सटकारे कहूँ लहरत लंक पर।
सोवैं थकि हास औ विलास सों पसारि पायँ,
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौ लौं
जौ लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर ॥

(२)

कंचन की दीवट पै दीपक सुगंध भरे
जगमग होत भौन भीतर उजास करि।
आभा रंग रंग की दिखाय रहीं तासों मिलि
किरन मयंक की झरोखन सों ढरि ढरि।
जामें है नवेलिन की निखरी निकाई अंग
अंगन की, बसन गए हैं कहूँ नेकु टरि।
उठत उरोज हैं उसासन सों बार बार,
सरकि परे हैं हाथ नीचे कहूँ ढीले परि ॥

(३)

देखि परैं साँवरे सलोने, कहूँ गोरे मुख,
भृकुटी विशाल बंक, बरुनी बिछी हैं श्याम।
अधखुले अधर दिखात दन्त कोर कछु,
चुनि धरे मोती मानौ रचिबे के हेतु दाम।
कोमल कलाई गोल, छोटे पायँ पैंजनी हैं,
देति झनकार, जहाँ हिलै कहूँ कोऊ वाम।
स्वप्न टूटि जात वाको जामें सो रही है पाय
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम॥

(बुद्धचरित)

तपश्चर्य्या

या ठौर श्रीभगवान बसि काटत कराल निदाघ को।
जलधार-मय घनघोर पावस, कठिन जाड़ा माघ को।
सब लोक हित धरि मलिन बसन कषाय कोमल गात पै।
माँगे मिलति जो भीख पलटि पसारि पावत पात पै॥

व्रत नियम औ उपवास नाना करत धारत ध्यान हैं।
लावत अखंड समाधि आसन मारि मूर्त्ति समान हैं॥
चढ़ि जानु ऊपर कूदि कबहूँ धाय जाति गिलाय हैं।
कन चुनत ढीठ कपोत कर ढिग कबहुँ कंठ हिलाय हैं॥

यों बिजन बन के बीच बसि प्रभु ध्यान धरि सोचत सदा।
प्रारब्ध की गति अटपटी औ मनुज की सब आपदा।
परिणाम जीवन के जतन को, कर्म की बढ़ती लड़ी।
आगम निगम सिद्धान्त सब औ पशुन की पीड़ा बड़ी॥

वा शून्य को सब भेद जहँ सोँ कढ़त सब दरसात है।
पुनि भेद वा तम को जहाँ सब अंत में चलि जात है।
या भाँति दोउ अव्यक्त बिच यह व्यक्त जीवन ढरत है।
ज्यों मेघ तें लै मेघ लौं नभ इन्द्रधनु लखि परत है॥

नीहार सों औ घाम सों जुरि जासु तन बनि जात है।
जो विविध रंग दिखाय कै पुनि शून्य बीच बिलात है।
पुखराज मरकत नीलमणि मानिक छटा छहराय कै।
जो छीन छन-छन होत अंत समात है कहुँ जाय कै॥

(बुद्धचरित)

सिद्धार्थ के मन पर बाह्य जगत् का प्रभाव

बोलि उठ्यो सिद्धार्थ "अहो! बनकुसुम मनोहर!
जोहत कोमल खिले मुखन जो उदित प्रभाकर,
ज्योति पाय हरषाय श्वास-सौरभ संचारत,
रजत, स्वर्ण, अरुणाभ नवल परिधान सँवारत,
तुम में ते कोउ जीवन नहिं माटी करि डारत,
नहिं अपनो हठि रूप मनोहर कोउ बिगारत।
एहो ताल! विशाल भाल जो रह्यो उठाई,
चाहत भेदन वियत पियत सो पवन अघाई—
शीतल नीरधि नील अंक जो आवति परसति,
मंजु मलयगिरि गंधभार भरि मंद मंद गति।
जानत ऐसो भेद कौन जासों, हे प्रिय द्रुम!
अंकुर तें फलकाल ताइँ हौ रहत तुष्ट तुम?

पंख सरीखे पातन सों मर्मर ध्वनि काढ़त,
अट्टहास सों हँसत हँसत तुम जग में बाढ़त।
तरु डारन पै विहरन-हारे, हे विहंगगन!
शुक, सारिका, कपोत, शिखी, पिक, चातक, खंजन!
तिरस्कार निज जीवन को नहिं तुमहु करत हौ,
अधिक सुखन की आस मारि तन मन न मरत हौ।"

(बुद्धचरित)

उपदेश

अप्रमेय को न शब्द बाँधि कै बताइए।
जो अथाह ताहि यों न बुद्धि सों थहाइए।
ताहि पूछि औ बताय लोग भूल ही करैं।
सो प्रसंग लाय व्यर्थ वाद माहिं ते परैं॥

अंधकार आदि में रह्यो पुराण यों कहै।
या महानिशा अखंड बीच ब्रह्म ही रहै।
फेर में न ब्रह्म के, न आदि के रहौ, अरे!
चर्मचक्षु को अगम्य और बुद्धि के परे॥

देखि आँखिन सों न सकिहै कोउ काहु प्रकार।
औ न मन दौराय पैहै भेद खोजनहार।
उठत जैहैं चले पट पै पट, न ह्वैहै अंत।
मिलत जैहैं परे पट पै पट अपार अनंत॥

चलत तारे रहत पूछन जात यह सब नाहिं।
लेहु एतो जानि बस—है चलत या जग माहिं।

सदा जीवन मरण, सुख दुख, शोक और उछाह।
कार्य-कारण की लरी औ कालचक्र-प्रवाह॥

और यह भवधार जो अविराम चलति लखाति।
दूर उद्गम सों सरित चलि सिन्धु दिशि ज्यों जाति।
एक पाछे एक उठति तरंग तार लगाय।
एक हैं सब, एक सी पै परति नाहिं लखाय॥

तरणि-कर लहि सोइ लुप्त तरङ्ग पुनि कहुँ जाय।
धुंवा से घन की घटा ह्वै गगन में थहराय।
आर्द्र ह्वै नगशृंग पै पुनि परति धारासार।
सोइ धार तरंग पुनि—नहिं थमत यह व्यापार॥

जानिबो एतो बहुत भू-स्वर्ग आदिक धाम।
सकल माया-दृश्य हैं; सब रूप है परिणाम।
रहत घूमत चक्र यह श्रम-दुःख-पूर्ण अपार।
थामि याको सकत कोऊ नाहिं काहु प्रकार॥

वंदना जनि करौ, ह्वै है कछु न वा तम माहिं।
शून्य सों कछु याचना जनि करौ, सुनिहै नाहिं।
मरौ जनि पचि औरहू मन ताप आप बढ़ाय।
क्लेश नाना भाँति के दे व्यर्थ तनहि तपाय॥

ब्रह्म-लोक तें परे सनातन शक्ति विराजति।
जो या जग में 'धर्म' नाम सों आवति राजति।
आदि अन्त नहिं जासु, नियम हैं जाके अविचल।
सत्त्वोन्मुख जो करति सर्ग-गति संचित करि फल॥

(बुद्धचरित)

आमंत्रण

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे उन्हें जग ज्योति जगाती जहाँ ;
जल बीच कलंब-करंबित कूल से दूर छटा छहराती जहाँ ;
घन अंजनवर्ण खड़े तृणजाल की झाईं पड़ी दरसाती जहाँ ;
बिखरे बक के निखरे सित पंख बिलोक बकी बिक जाती जहाँ ;

द्रुम-अंकित, दूब-भरी, जलखंड-जड़ी धरती छवि छाती जहाँ ;
हर हीरक-हेम-मरक्त-प्रभा, दल चंद्रकला है चढ़ाती जहाँ ;
हँसती मृदु मूर्ति कलाधर की कुमुदों के कलाप खिलाती जहाँ ;
घन-चित्रित अंबर अंक धरे सुषमा सरसी सरसाती जहाँ ;

निधि खोल किसानों के धूल-सने श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ ;
चुन के, कुछ चोंच चला करके चिड़िया निज भाग बँटाती जहाँ ;
कगरों पर काँस की फैली हुई धवली अवली लहराती जहाँ ;
मिल गोपों की टोली कछार के बीच है गाती औ गाय चराती जहाँ ;

जननी धरणी निज अंक लिए बहु कीट पतंग खेलाती जहाँ ;
ममता से भरी हरी बाँह की छाँह पसार के नीड़ बसाती जहाँ ;
मृदु वाणी, मनोहर वर्ण अनेक लगाकर पंख उड़ाती जहाँ ;
उजली कँकरीली गली में धँसी तनु धार लटी बल खाती जहाँ ;

दलराशि उठी खरे आतप में हिल चंचल चौंध मचाती जहाँ ;
उस एक हरे रँग में हलकी गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ ;
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित खंजन में मन भाती जहाँ ;
कविता, वह हाथ उठाए हुए, चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ ।

———

हृदय का मधुर भार

(१)

भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है
पीली पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एकरंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग-राशि-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमण्डल से
धुँधली सी नीली नगमाला उठी धुआँधार॥

(२)

लगती हैं चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी,
पास ही में होगा बस वहीं कहीं देवलोक।
बार बार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली सी
छाया बीच ढूँढ़ने को अमर-विलास-ओक।
ओट में अखाड़े वहीं होंगे वे पुरन्दर के,
अप्सराएँ नाच रही होंगी जहाँ ताली ठोंक।
सुनने को सुन्दर सङ्गीत वह मन्द-मन्द
बुद्धि की नहीं है अभी कहीं कोई रोक-टोक॥

सत्यनारायण

पण्डित सत्यनारायण कविरत्न का जन्म संवत् १९४१ माघ शुक्ला ३, चन्द्रवार को हुआ था। इनके पिता अलीगढ़ के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। बचपन ही में माता-पिता का वियोग हो जाने के कारण, इनकी मौसी ने इनका पालन-पोषण किया था। इनकी मौसी रियासतों में अध्यापन-कार्य किया करती थीं, और इन्हें बड़े लाड़-चाव से रखती थीं। परन्तु बाल्यावस्था ही में यह छत्रछाया भी इन पर से उठ गई। तब से धाँधूपर (तहसील आगरा) के रघुनाथजी के मन्दिर के ब्रह्मचारी बाबा रघुवरदासजी ने इन्हें अपने यहाँ रखकर इनका भरण-पोषण किया और इन्हें पढ़ाया-लिखाया। इनकी मौसी इसी गद्दी की चेली थीं। इसी कारण इन्हें ब्रह्मचारीजी को सौंप गईं। मिढ़ाकुर (ज़िला आगरा) के तहसीली स्कूल से हिन्दी-मिडिल की परीक्षा पास करके सत्यनारायणजी अँग्रेज़ी पढ़ने लगे। १९०८ ई० में इन्होंने एफ़० ए० परीक्षा दूसरी श्रेणी में पास की। सन् १९१० ई० में बी० ए० की भी परीक्षा दी, परन्तु उसमें उत्तीर्ण न हुये।

इन दिनों यह सेंट-जान्स कालेज में पढ़ते थे। एक दिन प्रिन्सिपल डरेण्ट साहब ने कहा कि केवल परीक्षा पास कर लेना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य नहीं है। इस बात को बहुतों ने सुना और एक कान से सुनकर दूसरे से बाहर निकाल दिया। पर सत्यनारायणजी पर इसका पूरा-पूरा असर हुआ। यहाँ तक कि उसी वर्ष से इन्होंने कालेज जाना बंद कर दिया।

कविता का शौक पहले-पहल इन्हें मिढ़ापुर की पाठशाला में

लगा। अधिकतर गाँव में रहने के कारण पहले यह राजपूती होली और सवैयों, दोहों आदि की रचना किया करते थे। कभी ईश-प्रेम में विह्वल होकर जो कविता कर डाली, तो उसमें वही प्राचीन भाव, कुछ नवीनता के साथ, भर दिये।

आगरे में प्रत्येक अवसर पर कविता रचकर सुनाना इनका कर्तव्य-सा हो गया था। इनकी इच्छा न होती तो भी लोग इन्हें ज़बरदस्ती खींच ले जाते। ये बेचारे इतने सीधे-सादे और भोले थे कि जो कोई खींच ले जाता उसी के साथ हो लेते। कहीं वैद्य-सम्मेलन में खड़े हड़-बहेड़े और आँवले के गुण गा रहे हैं, तो कहीं किसी अपरिचित अध्यापक की विदाई पर अपनी प्रतिभा के फूल बिखेर रहे हैं। किसी का दिल दुखाना तो मानो इन्होंने सीखा ही न था। चौबे न होकर भी आप "चतुर्वेदी" का सम्पादन बिना कुछ वेतन लिये करते थे।

इनकी देहाती सूरत देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता था कि ये अंग्रेज़ी का एक अक्षर भी जानते होंगे। निरभिमानी इतने थे कि एक रात इस नोट के लेखक के मकान पर टेसू के गीत गाने वाले गँवारों के साथ बेधड़क बैठकर आप भी उनके सुर में सुर मिलाकर और एक कान पर हाथ रखकर ज़ोर ज़ोर से तान अलापने लगे। कविता सुनाने का ढङ्ग इनका इतना अच्छा था कि अन्य भाषा-भाषी भी मन्त्र-मुग्ध-से हो जाते थे—हिन्दी वालों का तो कहना ही क्या है। पाश्चात्य कवियों की कविता का भी पारायण यह बड़े प्रेम से करते थे।

यों तो छोटी-मोटी कितनी ही पुस्तकें इनकी निकलीं, पर देशभक्त होरेशस, उत्तर रामचरित नाटक तथा मालती-माधव विशेष महत्व के रहे। रघुवंश के कुछ सर्गों का अनुवाद, भ्रमर-दूत, हंस-दूत आदि पुस्तकें इनकी अप्रकाशित पड़ी हैं। सुना है, इनकी छोटी-मोटी रचनाओं का संग्रह भी छपने वाला है।

सत्यनारायणजी व्रजभाषा के तो कवि थे ही, खड़ीबोली में भी कविता करते थे। इनकी राय थी कि खड़ी-बोली में भी कविता हो सकती है और होनी भी चाहिये। साथ ही व्रजभाषा का 'बॉयकाट' करना और उस 'भरती' को मारना एक बड़ा भारी पाप है, तुम उस पाप के सेहरे को अपने सिर क्यों बाँधा चाहते हो ? ऐसा भी उन्होंने कई बार इस लेखक से कहा था। इनके व्याख्यान से प्रेम और माधुर्य बरसता था। इनकी हरएक बात में जातीयता की झलक रहती थी।

"मेरी शारदा-सदन" के अधिष्ठाता पण्डित मुकुन्दरामजी की बड़ी कन्या से सत्यनारायणजी का विवाह हुआ था। अब उस दुखिया के सिवा और कोई सत्यनारायण का कुटुम्बी नहीं। हाँ, मित्र कई है। क़रीब क़रीब सभी आधुनिक लेखकों से इनका परिचय था। महाराज छत्रपुर, राजा कृष्णप्रसाद (हैदराबाद) तथा भारत-धर्म-महामण्डल आदि के द्वारा यह सम्मानित हुये थे।

एक दिन हँसी-हँसी में इस नोट के लेखक ने इनसे कहा—तुम सब के ऊपर कविता लिखते-फिरते हो, मेरी मृत्यु पर लिखोगे कि नहीं; सच बताओ। इन्होंने प्रेम के साथ डपटकर कहा—बड़े बकवादी हो; पिटोगे, अगर अब से कहा तो। खेद है, १६ अप्रैल, १९१८ को सत्यनारायणजी चल बसे और आज मुझे यह नोट लिखना पड़ रहा है। कुछ लोगों की राय है कि इनके उठ जाने से हिन्दी-संसार का एक रत्न खो गया। सच है, पर हमारा क्या खो गया ? यह हमीं जानते हैं।

बदरीनाथ भट्ट

सत्यनारायणजी से इन्दौर में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर मेरा परिचय हुआ था। सत्यनारायणजी इतने सीधे-सादे वेश में थे कि इस आडम्बर के ज़माने में इन्दौर के स्वयंसेवकों ने उन्हें पंडाल के भीतर घुसने में बाधा पहुँचाई थी।

सत्यनारायणजी का गृहस्थ-जीवन सुख से नहीं बीता। वे श्रीकृष्ण के भक्त और उनकी स्त्री आर्यसमाज की अनुयायिनी—पूर्व और पश्चिम में मेल कहाँ! उनके पदों में उनकी अंतर्पीड़ा साफ़-साफ़ झलक रही है।

यहाँ उनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं :—

(१)

भयो क्यों अनचाहत को संग।
सब जग के तुम दीपक मोहन, प्रेमी हमहु पतंग॥
लखि तव दीपति देह-शिखा में, निरत बिरह-लौ लागी।
खिँचति आप सों आप उतहिं यह, ऐसी प्रकृति अभागी॥
यदपि सनेह भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम, नित्य जरावत गात॥
जब जब लखत, तबहि तव चरनन, वारत तन मन प्रान।
जासों अधिक कहा, तुम निरदय, चाहत प्रेम प्रमान॥
सतत दुरावत ऐसो निज तन, अन्तर तनिक न भावत।
निराकार ह्वै जात यहाँ लों, तउ जन को तरसावत॥
यह स्वभाव को रोग तिहारो, हिय आकुल पुलकावै।
'सत्य' बतावहु का इन बातनि, हाथ तिहारे आवै॥

(२)

माधव अब न अधिक तरसैये।
जैसी करत सदा सों आये, वही दया दरसैये॥
मानि लेउ, हम कूर कुढंगी, कपटी कुटिल गँवार!
कैसे असरन-सरन कहा तुम, जन के तारनहार॥
तुम्हरे अछत तीन तेरह यह, देस दसा दरसावै।
पै तुमकों यहि जनम धरे की, तनिकहु लाज न आवै॥

आरत तुमहिं पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवन-राई।
अँगुरी डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई !!
अजहुँ प्रार्थना यही आप सों, अपनो बिरुद सँवारौ।
'सत्य' दीन दुखियन की बिपता, आतुर आइ निवारौ ॥

(३)

अब न सतावौ !

करुणाघन इन नैनन सों ह्वै, बुँदिया तो टपकावौ।
सारे जग सों अधिक कियो का, ऐसो हमने पाप।
नित नव दई निर्दई बनि जो, देत हमैं सन्ताप ॥
साँची तुमहिं सुनावत जो हम, चौंकत सकल समाज।
अपनी जाँघ उघारे उघरति, बस अपनी ही लाज ॥
तुम आछे हम बुरे सही बस, हमरो ही अपराध।
करनो हो सो अजहूँ कीजे, लीजे पुन्य अगाध ॥
होरी सी जातीय प्रेम की, फूँकि न धूरि उड़ावौ।
जुग कर जोरि यही 'सत' माँगत, अलग न आर लगावौ ॥

(४)

बस अब नहिं जाति सही।

विपुल वेदना विविध भाँति जो, तन मन व्यापि रही ॥
कबलौं सहैं अवधि सहिबे की, कुछ तो निश्चित कीजै।
दीनबन्धु यह दीन-दशा लखि, क्यों नहिं हृदय पसीजै ॥
बारन दुख-टारन तारन में, प्रभु तुम बार न लाये।
फिर क्यों करुणा करत स्वजन पै, करुणानिधि अलसाये ॥
यदि जो कर्म-यातना भोगत, तुम्हरे हू अनुगामी।
तौ करि कृपा बतायो चहियतु, तुम काहे के स्वामी ॥

अथवा विरद-बानि अपनी कछु , कै तुमने तजि दीनी ।
या कारण हम सब अनाथ की , नाथ न जो सुधि लीनी ॥
वेद बदत गावत पुरान सब , तुम त्रय ताप नसावत ।
शरणागत की पीर तनकहू , तुम्हें तीर सम लागत ॥
हमसे शरणापन्न दुखी को , जाने क्यों बिसरायो ।
शरणागत-वत्सल 'सत' यों ही , कोरो नाम धरायो ॥

बसन्त

सौख्य सुधा सरसाइय , सुभग सुलभ रसवन्त ।
बर बिनोद बरसाइय , बसुधा बिपिन बसन्त ॥१॥
दस दिसि दुति दरसाइय , सजि सुरभित सुठि साज ।
जग प्रिय हिय हरसाइय , रहि रसाल ऋतुराज ॥२॥
अमित अनारन अम्बन , अमल असोक अपार ।
बकुल कदम्ब कदम्बन , पुनि पलास परिवार ॥३॥
जहँ कोकिल कल बोलत , ठौर ठौर स्वच्छन्द ।
गुंजत षटपद डोलत , पद पद पी मकरन्द ॥४॥
जयति मधुर मनमोहन , जयति प्रकृति शृङ्गार ।
सुन्दर सब बिधि सोहन , कीजिय विपुल बिहार ॥५॥
नित नव निरमल निरखौ , रमि सुरम्यता कुंज ।
पुनि पुनि प्रमुदित परखौ , पूरन प्रियता-पुञ्ज ॥६॥
मृदु मंजु रसाल मनोहर मंजरी मोरपखा सिर पैं लहरैं ।
अलबेलि नवेलिन बेलिनु में नवजीवन जोति छटा छहरैं ॥
पिक भृङ्ग सुगुंज सोई मुरली सरसों सुभ पीतपटा फहरैं ॥
रसवन्त बिनोद अनन्त भरे ब्रजराज बसन्त हिये बिहरैं ॥७॥

भ्रमर-दूत

श्री राधावर निज जन-बाधा सकल नसावन ।
जाको ब्रजमनभावन जो ब्रज को मनभावन ॥
रसिक-सिरोमनि मन हरन, निरमल देह निकुञ्ज ।
मोदभरन उर सुखकरन, अविचल आँनद-पुञ्ज ॥
रँगीलो साँवरौ ॥ १ ॥

कंस मारि भूभार-उतारन खल दल तारन ।
विस्तारन विज्ञान विमल श्रुति-सेतु-सँवारन ॥
जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चितचोर ।
भवभय-भंजन मोहना, नागर नन्दकिशोर ॥
गयो जब द्वारका ॥ २ ॥

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई ।
श्याम-विरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई ॥
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर ।
सोचति मोचति निसिदिना, निसरत नैनन नीर ॥
विकल कल ना हिये ॥ ३ ॥

पावन सावन मास नई उनई घन पाँती ।
मुनि मन-भाई छई रसमई मञ्जुल काँती ॥
सोहत सुन्दर चहुँ सजल, सरिता पोखर ताल ।
लोल लोल तहँ अति अमल, दादुर बोल रसाल ॥
छटा चूई परै ॥ ४ ॥

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई ।
धोये धोये पातन की अनुपम कमनाई ॥

चातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित, कुञ्जन करत कलोल॥
निरखि घन की छटा॥ ५॥

इन्द्रधनुष औ इन्द्र बधूटिन की सुचि सोभा।
को जग जनम्यो मनुज जासु गन निरखि न लोभा॥
प्रिय पावन पावस लहरि, लहलहात चहुँओर।
छाई छवि छिति पै छहरि, ताको ओर न छोर॥
लसै मनमोहनी॥ ६॥

कहुँ बालिका-पुंज कुंज लखि परियत पावन।
सुख-सरसावन सरल सुहावन हिय हरसावन॥
कोकिल-कंठ-लजावनी, मन-भावनी अपार।
भ्रातृ-प्रेम-सरसावनी, रागत मंजु मल्हार॥
हिंडोलनि झूलतीं॥ ७॥

बालवृन्द हरसत उर दरसत चहुँ चलि आवैं।
मधुर मधुर मुसकाइ रहस बतियाँ बतरावैं॥
तरुवर डार हलावहीं, 'धौरी' 'धूमरि' टेरि।
सुन्दर राग अलापहीं, भौंरा चकई फेरि॥
विविध क्रीड़ा करैं॥ ८॥

लखि यह सुखमा-जाल लाल निज बिन नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी॥
सुधि-बुधि तज माथो पकरि, करि करि सोच अपार।
दृगजल मिस मानहुँ निकरि, बही विरह की धार॥
कृष्ण रटना लगी॥ ९॥

कहति विकल मन महरि कहाँ हरि ढूँढ़न जाऊँ।
कब गहि लालन ललकत मन गहि हृदय लगाऊँ॥

सीरी कब छाती करौं, कब सुत दरसन पाउँ।
कबै मोद निज मन भरौं, किहि कर धाइ पठाउँ॥
संदेसो श्याम पै॥ १०॥

कौने भेजौं दूत पूत सों बिथा सुनावै।
बातन में बहलाइ जाइ ताको यहँ लावै॥
त्याग मधुपुरी सों गयो, छाँड़ि सबन के साथ।
सात समुन्दर पै भयो, दूर द्वारिकानाथ॥
जाइगो को उहाँ॥ ११॥

अति उदास बिन आस सबै तन सुरति भुलानी।
पूत प्रेम सों भरी परम दरसन ललचानी॥
बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज श्याम।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम॥
भ्रमर के रूप में॥ १२॥

ठिठक्यो अटक्यो भ्रमर देखि जसुमति महरानी।
निज दुख सों अति दुखी ताहि मन में अनुमानी॥
तिहि दिसि चितवत चकित चित, सजल जुगुल भरि नैन।
हरि वियोग कातर अमित, आरत गदगद बैन॥
कहन तासों लगी॥ १३॥

तेरो तन घनश्याम श्याम घनश्याम उतै सुनि।
तेरी गुञ्जन सुरलि मधुप उत मधुर मुरलि धुनि॥
पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर चारु।
विपिन विहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगारु॥
जुगुल रस के चखा॥ १४॥

याही कारन निज प्यारे ढिग तोहिं पठाऊँ।
कहियो वासों बिथा सबै जो अबै सुनाऊँ॥

जैयो षटपद धाय के, करि निज कृपा विसेस।
लैयो काज बनाय के, दै मो यह सन्देस॥
सिदोसौ लौटियो॥ १५॥

जननी जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहु सों प्यारी।
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी॥
का तुम्हरी गति मति भई, जो ऐसौ बरताव।
किधौं नीति बदली नई, ताको पर्‌यो प्रभाव॥
कुटिल विष को भर्‌यो॥ १६॥

माखन कर पौछन सो चिक्कन चारु सुहावत।
निधुबन श्याम तमाल रह्यो जो हिय हरखावत॥
लागत ताके लखन सों, मति चलि वाकी ओर।
बात लगावत सखन सों, आवत नन्दकिशोर॥
कितहुँ सों भाजिकें॥ १७॥

वुही कलिन्दी कूल कदम्बन के बन छाये।
बरन बरन के लताभवन मनहरन सुहाये॥
वुही कुन्द की कुञ्ज पे, परम प्रमोद समाज।
पै मुकुन्द बिन खिस भये, सारे सुखमा साज॥
चित्त वाँही धर्‌यो॥ १८॥

लगत पलास उदास शोक में अशोक भारी।
बौरे बने रसाल माधवी लता दुखारी॥
तजि तजि निज प्रफुलित पनौ, विरह बिथित अकुलात।
जड़हू है चेतन मनौ, दीन मलीन लखात॥
एक माधौ बिना॥ १९॥

नित नूतन तृन डारि सघन बंसीबट छैयाँ।
फेरि फेरि कर कमल चराई जो हरि गैयाँ॥

ते तित सुधि अतिही करत, सब तन रही भुराय।
नयन स्रवत जल नहिं चरत, व्याकुल उदर अघाय॥
उठाये रहौं फिरें॥ २०॥

बचन हीन ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवत।
दरस लालसा लगी चकित चित इत उत चितवत॥
एक संग तिनकों तजत, अलि कहियो ए लाल!
क्यों न हीय निज तुम लजत, जग कहाय गोपाल॥
मोह ऐसो तज्यो॥ २१॥

नित नव परत अकाल काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन कों आनन्द न देख्यो जात यहाँ कहुँ॥
बढ़्यो यथेच्छाचारकृत, जहँ देखो तहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत, दिन दिन आर्यसमाज॥
दिनन के फेर सों॥ २२॥

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें विदेसी तङ्ग करत दै विपदा खासी॥
नहिं आये निरदय दई, आये गौरव जाय।
साँप छछूँदर गति भई, मन ही मन अकुलाय॥
रहे सब के सबै॥ २३॥

टिमटिमाति जातीय जोति जो दीप शिखा की।
लगत बाहिरी ब्यारि बुझन चाहत अबला सी॥
शेष न रह्यो सनेह कौ, काहू हिय में लेस।
कासों कहिये गेह कौ, देसहि में परदेस॥
भयो अब जानिये॥ २४॥

गिरिजा-सिन्धुजा-संवाद

सिन्धु-सुता इक दिना सिधाई, श्रीगिरि सुता दुवारे।
बिघ्न-विदारण मातु कहाँ ! यह, भाख्यो लागि किवारे॥
कष्टनिवारन मंगल-करनी, जाके सब गुन गावैं।
मेरे द्वार पास तिहि कारण, बिघन रहन नहिं पावैं॥
कहाँ भिखारी गयो यहाँ ते, करै जो तुव प्रतिपालो।
होगी वहाँ जाय किन देखो, बलि पै पर्‌यो कसालो॥
गरल-अहारी कहाँ ! बताओ, लेहुँ आप सों लेखो।
बार-बार का पूँछति मोको, जाय पूतना देखो॥
बहुरि पियारी मोहि बताओ, भुजग-नाह परवीनो।
देखहु जाय शेष-शय्या पर, जहाँ शयन तिन कीनो॥
कहाँ पशुपती मोहि दिखाओ, गोकुल डगर पधारो।
शैलपती कहँ ! कर मैं धारैं, गोबरधनहिं निहारो॥
'सत्यनरायन' हँसि के कमला, भीतर चरन पधारैं।
अस आमोद प्रमोद दोऊ को, हमरे शोक निवारैं॥

मन्नन द्विवेदी

पण्डित मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बी० ए०, एम० ए० एस० बी०, राप्ती नदी-तटस्थ गजपुर गाँव, ज़िला गोरखपुर के प्रसिद्ध रईस, ज़मींदार और ब्रजभाषा के अच्छे कवि पण्डित मातादीन द्विवेदी के ज्येष्ठ पुत्र थे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण, कश्यप-गोत्रीय मंगलायल के दुबे थे। इनका जन्म सं० १६४२ में

हुआ। सं० १९६५ में इन्होंने गवर्नमेंट कालेज बनारस से बी० ए० की परीक्षा पास की। जब ये अँग्रेज़ी के छठें दर्जे में पढ़ते थे, तभी से पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने लग गये थे। कविता करने और लेख लिखने का शौक़ इनको बालकपन ही से था।

ये आज़मगढ़ ज़िले में तहसीलदार थे। काम से बहुत कम अवकाश मिलने पर भी कुछ न कुछ साहित्य-सेवा किया करते थे। पण्डित मन्नन द्विवेदी बड़े मिलनसार, सरस हृदय, देशभक्त और हिन्दी के अच्छे लेखक थे। खेद है, सं० १९७८ में इनका देहान्त हो गया। इन्होंने ये पुस्तकें लिखी हैं:—

बन्धुविनय (पद्य), धनुष-भंग (पद्य), रणजीतसिंह का जीवन-चरित, आर्य-ललना, गोरखपुर-विभाग के कवि, भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष, प्रेम, रामलाल (उपन्यास), मुसलमानी राज का इतिहास, दो भाग।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं :—

जन्म दिया माता सा जिसने, किया सदा लालन पालन।
जिसके मिट्टी जल से ही है, रचा गया हम सब का तन॥
गिरिवर गण रक्षा करते हैं, उच्च उठा के शृङ्ग महान।
जिसके लता द्रुमादिक करते, हमको अपनी छाया दान॥
माता केवल बाल-काल में, निज अङ्कम में धरती है।
हमअशक्तजबतलक तभीतक, पालन पोषण करती है॥
मातृ-भूमि करती है मेरा, लालन सदा मृत्यु पर्यन्त।
जिसके दया प्रवाहों का नहिं, होता सपने में भी अन्त॥
मर जाने पर कण देहों के, इसमें ही मिल जाते हैं।
हिन्दू जलते यवन इसाई, दफ़न इसी में पाते हैं॥

ऐसी मातृभूमि मेरी है, स्वर्गलोक से भी प्यारी।
जिसके पद कमलों पर मेरा, तन मन धन सब बलिहारी॥

चमेली

सुन्दरता की रूपराशि तुम, दयालुता की खान चमेली।
तुमसी कन्यायें भारत को, कब देगा भगवान चमेली॥१॥
चहक रहे खगमृग वनों में, अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं, देखो हुआ प्रभात चमेली॥२॥
प्रेममग्न प्रेमीजन देखो, करें प्रभाती गान चमेली।
जिसने तुमसा वृक्ष लगाया, कर माली का ध्यान चमेली॥३॥
जग-यात्रा में सहने होंगे, कभी-कभी दुख भार चमेली।
काट-छाँट से मत घबराना, यह भी उसका प्यार चमेली॥४॥
छिन्न-भिन्न डालों का होना, अपने ही हित जान चमेली।
हरे हरे पत्ते निकलेंगे, सुमनों के सामान चमेली॥५॥
भ्रमर भीर गुञ्जार करेगी, तुमसे हास विलास चमेली।
दिगदिगन्त सुरभित होवेगा, पाकर सुखद सुवास चमेली॥६॥
अटल नियम कोभूल न जाना, जग में सबका नाश चमेली।
अस्त अंशुमाली भी होता, घूम अखिल आकाश चमेली॥७॥
नहीं रहेगा मूल न शाखा, नहीं मनोहर फूल चमेली।
निराकार से मिलकर होना, प्रियतम-पद की धूल चमेली॥८॥

चिन्ता

(१)

हरियाली निराली दिखाई पड़े,
शुभ शान्ति सभी थल छाई हुई।
पति संजुत सुन्दरी जा रही है,
श्रम चिन्तित ताप सताई हुई॥

(२)

सरिता उमड़ी तट जोड़ी खड़ी,
अति प्रेम से हाथ मिलाये हुए।
सुकुमारी सनेह से सींचती है,
वह प्रीतम भार उठाये हुए॥

(३)

दिन बीत गया निशि चंद्र लसै,
नभ देख लो सोभती तारावली।
इस मोदमई वर यामिनी में,
यह कामिनी कन्त ले भौन चली॥

(४)

मदमाता निषाद, नहीं सुनता,
मझधार में नैया लगाये हुए।
हे कन्हैया! उतार दे पार हमें,
हम तीन घड़ी से हैं आये हुए॥

उद्बोधन

हिमालय सर है उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है।
उधर शरद के हैं मेघ छाये, इधर फटिक जल छलक रहा है ॥ १ ॥
इधर घना वन हराभरा है, उपल पै तरुवर उगाया जिसने।
अचम्भा इसमें है कौन प्यारे, पड़ा था भारत जगाया उसने ॥ २ ॥
कभी हिमालय के शृङ्ग चढ़ना, कभी उतरते हैं श्रम से थक के।
थकन मिटाता है मंजु झरना, बटोही छाये में बैठ थक के ॥ ३ ॥
कृशोदरी गन कहीं चली हैं, लिये हैं बोझा छुटी हैं बेनी।
निकल के बहती हैं चन्द्रमुख से, पसीना बनकर छटा की श्रेनी ॥ ४ ॥
गगन समीपी हिमाद्रि शिखरों, घरों में जलती है दीपमाला।
यही अमरपुर उधर हैं सुरगण, इधर रसीली हैं देवबाला ॥ ५ ॥
गिरीश भारत का द्वारपट है, सदा से है वह हमारा संगी।
नृपति भगीरथ की पुण्यधारा, बगल में बहती हमारी गंगी ॥ ६ ॥
बता दे गंगा कहाँ गया है, प्रताप पौरुष विभव हमारा ?
कहाँ युधिष्ठिर, कहाँ है अर्जुन, कहाँ है भारत का कृष्ण प्यारा ॥ ७ ॥
सिखा दे ऐसा उपाय मोहन, रहें न भाई पृथक हमारे।
सिखा दे गीता की कर्मशिक्षा, बजा के वंशी सुना दे प्यारे ॥ ८ ॥
अँधेरा फैला है घर में माधो, हमारा दीपक जला दे प्यारे।
दिवाला देखो हुआ हमारा, दिवाली फिर भी देखा दे प्यारे ॥ ९ ॥
हमारे भारत के नवनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकाश धारे।
सुहृद हमारे हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे ॥१०॥
न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशो दिशा में प्रभा है छाई।
उठो अँधेरा मिटा है प्यारे! बहुत दिनों पर दिवाली आई ॥११॥

मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सं० १९४३ में चिरगाँव, झाँसी में हुआ। इनके पिता का नाम सेठ श्रीरामचरणजी था। वे भी कविता से बड़ा प्रेम रखते थे और स्वयं भी कवि थे। अब वे जीवित नहीं हैं। गुप्तजी पाँच भाई हैं। सब के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—महारामदास, रामकिशोर, मैथिली-शरण, सियारामशरण और चारुशीलाशरण।

वर्तमान हिन्दी-कवियों में बाबू मैथिलीशरणजी का नाम हिन्दी-संसार में सब से अधिक प्रसिद्ध है। इनकी रचना व्याकरण-सम्मत और विशुद्ध होती है। इनकी लिखी पुस्तकों में सब से प्रसिद्ध पुस्तक भारत-भारती है। इसका प्रचार भी बहुत है। इनकी लिखी और अनुवाद की हुई प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम ये हैं :—

साकेत, भारत-भारती, जयद्रथ-वध, गुरुकुल, हिन्दू, पञ्चवटी, अनघ, स्वदेश-संगीत, बक-संहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री, त्रिपथगा, झंकार, शक्ति, विकट भट, रंग में भंग, किसान, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, गुरु तेगबहादुर, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, मंगल-घट, वीरांगना, विरहिणी ब्रजांगना, प्लासी का युद्ध, स्वप्नवासवदत्ता, मेघ-नाद-वध, रुबाइयात उमरख़य्याम, चन्द्रहास, और तिलोत्तमा।

उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों और नवयुवकों में इनकी कविता ने हिन्दी के लिये बड़ा अनुराग उत्पन्न कर दिया है। ये संस्कृत भी जानते हैं और बँगला भाषा में काफ़ी दखल रखते हैं।

गुप्तजी बड़े सरस हृदय, मिलनसार, शुद्धप्रकृति और मिथ्याभिमान-रहित पुरुष हैं। 'साकेत' पर इनको मंगलाप्रसाद-पारितोषिक मिला

था। आयु के पचासवें वर्ष में काशी में इनकी जयंती मनाई गई और इनको मैथिली-मान-ग्रंथ भेंट किया गया।

इनकी कविता के नमूने आगे उद्धृत किये जाते हैं :—

मातृभूमि

(१)

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की;
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

(२)

मृतक समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अङ्क में त्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा थी पालन करती रही,
तू क्यों न हमारी पूज्य हो, मातृभूमि मातामही!॥

(३)

जिसकी रज में लोट-लोटकर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण "धूल-भरे हीरे" कहलाये।

हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि ! तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में ॥

(४)

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता।
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्मभर जिनसे नाता।
उन सब में तेरा सर्वदा व्याप्त हो रहा तत्व है।
हे मातृभूमि ! तेरे सदृश किसका महा महत्व है ॥

(५)

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान ! कभी हम रहें न न्यारे।
लोट-लोटकर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
उस मातृभूमि की धूल में जब पूरे सन जायँगे,
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे ॥

स्वर्गसहोदर

(१)

जितने गुणसागर नागर हैं,
कहते यह बात उजागर हैं।
अब यद्यपि दुर्बल आरत है,
पर भारत के सम भारत है ॥

(२)

बसते वसुधा पर देश कई,
जिनकी सुषमा सविशेष नई।
पर है किसमें गुरुता इतनी,
भरपूर भरी इसमें जितनी॥

(३)

प्रिय दृश्य अपार निहार नये,
छवि वर्णन में कवि हार गये।
उपमा इसकी न कहीं पर है,
धरणी-धर ईश-धरोहर है॥

(४)

कवि, पण्डित, वीर, उदार महा,
प्रकटे मुनि धीर अपार यहाँ।
लख के जिनकी गति के मग को,
गुरुज्ञान सदा मिलता जग को॥

(५)

क्षिति-मण्डल था जब अज्ञ सभी,
यह था अति उन्नत, सभ्य तभी।
बहु देश समुन्नत जो अब हैं,
शिशु-शिष्य इसी गुरु के सब हैं॥

(६)

शुचि शौर्य-कथा इतनी किसकी,
जग विश्रुत है जितनी इसकी!
अमरों तक का यह मित्र रहा,
अति दिव्य चरित्र पवित्र रहा॥

(७)

श्रुति, शास्त्र, पुराण तथा स्मृतियाँ,
बहु अन्य सुधी-गण की कृतियाँ।
नव-नीति-नियन्त्रित तन्त्र बने,
सब ही विषयों पर ग्रन्थ घने॥

(८)

कविता, कल नाट्य, सुशिल्पकला,
इस भाँति बढ़ी किस ठौर भला!
किस पै न रहा इसका कर है,
किस सद्गुण का न यहाँ घर है॥

ग्राम्य जीवन

(१)

अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सब का मन चाहे।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है?॥

(२)

यहाँ शहर की बात नहीं है, अपनी अपनी घात नहीं है।
आडम्बर का नाम नहीं है, अनाचार का काम नहीं है॥

(३)

वे रईस सरदार नहीं हैं, वे मछुए बाज़ार नहीं हैं।
कुटिल कटाक्ष-बाण के द्वारा; जाता नहीं पथिकजन मारा॥

(४)

भोगों में वह भक्ति नहीं है, अधिक इन्द्रियासक्ति नहीं है।
आलस में अनुरक्ति नहीं है, रुपयों में ही शक्ति नहीं है॥

(५)

वह अदालती रोग नहीं है, अभियोगों का योग नहीं है।
मरे फ़ौजदारी की नानी, दीवाना करती दीवानी॥

(६)

यहाँ गँठकटे चोर नहीं हैं, तरह तरह के शोर नहीं हैं।
गुण्डों की न यहाँ बन आती, इज्ज़त नहीं किसी की जाती॥

(७)

सीधे-सादे भोले-भाले, हैं ग्रामीण मनुष्य निराले।
एक दूसरे की ममता है, सब में प्रेममयी समता है॥

(८)

यद्यपि वे काले हैं तन से, पर अति ही उज्ज्वल हैं मन से।
अपना या ईश्वर का बल है, अन्तःकरण अतीव सरल है॥

(९)

प्रायः सब की सब विभूति है, पारस्परिक सहानुभूति है।
कुछ भी ईर्ष्या-द्वेष नहीं है, कहीं कपट का लेश नहीं है॥

(१०)

सब कामों में हिस्से लेकर, पति को अति सहायता देकर।
प्राणों से भी अधिक प्यारियाँ, हैं अर्द्धांङ्गी ठीक नारियाँ॥

(११)

गुदने गुदे हुये हैं तन में, भरी सरलता है चितवन में।
थोड़े से गहने पहने हैं, क्या सब आपस में बहनें हैं॥

(१२)

बात बात में अड़नेवाली, गहनों के हित लड़नेवाली।
दिखलानेवाली दुर्गतियाँ, हैं न यहाँ ऐसी श्रीमतियाँ॥

(१३)

छोटे से मिट्टी के घर हैं, लिपे-पुते हैं, स्वच्छ सुघर हैं।
गोपद-चिन्हित आँगन तट हैं, रक्खे एक ओर जल-घट हैं॥

(१४)

खपरैलों पर बेलें छाईं, फूली, फली, हरी, मन भाईं।
काशीफल-कुष्माण्ड कहीं हैं, कहीं लौकियाँ लटक रही हैं॥

(१५)

है जैसा गुण यहाँ हवा में, प्राप्त नहीं डाक्टरी दवा में।
सन्ध्या-समय गाँव के बाहर, होता नन्दन-विपिन निछावर॥

(१६)

श्रम-सहिष्णु सब जन होते हैं, आलस में न पड़े सोते हैं।
दिन दिनभर खेतों पर रहकर, करते रहते काम निरन्तर॥

(१७)

अतिथि कहीं जब आ जाता है, वह आतिथ्य यहाँ पाता है।
ठहराया जाता है ऐसे, कोई सम्बन्धी हो जैसे॥

(१८)

हुआ कभी कोई फ़रयादी, तो न उसे आती बरबादी।
देती याद उन्हें चौपालें, फिर क्यों वे घूँसे घर घालें?

(१९)

जगती कहीं ज्ञान की ज्योती, शिक्षा की यदि कमी न होती।
तो ये ग्राम स्वर्ग बन जाते, पूर्ण शान्ति-रस में सन जाते॥

जयद्रथ-वध

(१)

उस काल पश्चिम ओर रवि की रह गई बस लालिमा,
होने लगी कुछ कुछ प्रगट-सी यामिनी की कालिमा।
सब कोक-गण शोकित हुये विरहाग्नि से डरते हुये,
आने लगे निज निज गृहों को विहग रव करते हुये॥

(२)

यों अस्त होना देख रवि का पार्थ मानो हत हुये,
मुँदते कमल के साथ वे भी विमुद, गौरव-गत हुये।
लेकर उन्होंने श्वास ऊँचा वदन नीचा कर लिया,
संग्राम करना छोड़कर गाण्डीव रथ में रख दिया॥

(३)

बोला जयद्रथ से वचन कुरुराज तब सानन्द यों—
"हे वीर! रण में अब नहीं तुम घूमते स्वच्छन्द क्यों?
अब सूर्य के सम पार्थ को भी अस्त होते देख लो,
चलकर समस्त विपत्तियों को व्यस्त होते देख लो॥

(४)

कहकर वचन कुरुराज ने यों हाथ उसका धर लिया,
कर्णादि के आगे तथा उसको खड़ा फिर कर दिया।
उस काल निर्मल मुकुर-सम उसका वदन दर्शित हुआ,
पाकर यथा अमरत्व वह निज हृदय में हर्षित हुआ॥

(५)

वाचक! विलोको तो ज़रा, है दृश्य क्या मार्मिक अहो!
देखा कहीं अन्यत्र भी क्या शील यों धार्मिक कहो?

कुछ देखकर ही मत रहो, सोचो विचारो चित्त में,
बस तत्व है अमरत्व का वर-वृत्तरूपी वित्त में॥

(६)

यह देख लो, निज धर्म का सम्मान ऐसा चाहिये;
सोचो हृदय में सत्यता का ध्यान जैसा चाहिये।
सहृदय जिसे सुनकर द्रवित हों चरित वैसा चाहिये।
अति भव्य भावों का नमूना और कैसा चाहिये!॥

(७)

परिणाम सोच न भीम सात्यकि रह सके क्षणभर खड़े,
हा कृष्ण! कह हरि के निकट बेहोश होकर गिर पड़े।
यों देखकर उनकी दशा दृग बन्द कर अरविन्द से—
कहने लगे अर्जुन वचन इस भाँति फिर गोविन्द से॥

(८)

"रहते हुये तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं!
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्यबल ही सब कहीं।
जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी,
अच्युत! युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुम पर सभी॥

(९)

"सन्देश कह दीजो यही सब से विशेष विनय भरा—
खुद ही तुम्हारा जन धनञ्जय धर्म के हित है मरा।
तुम भी कभी निज प्राण रहते धर्म को मत छोड़ियो,
बैरी न जबतक नष्ट हों मत युद्ध से मुँह मोड़ियो॥

(१०)

"ये पाण्डु के सुत चार ही यह सोच धीरज धारियो,
हों जो तुम्हारे प्रण-नियम उनको कभी न बिसारियो।

है इष्ट मुझको भी यही यदि पुण्य मैंने हों किये,
तो जन्म पाऊँ दूसरा मैं वैर-शोधन के लिये ॥

(११)

"कुछ कामना मुझको नहीं है इस दशा में स्वर्ग की,
इच्छा नहीं रखता अभी मैं अल्प भी अपवर्ग की।
हा ! हा ! कहाँ पूरी हुई मेरी अभी आराधना ?
अभिमन्यु विषयक वैर की है शेष अब भी साधना ॥

(१२)

कहना किसी से और मुझको अब न कुछ सन्देश है,
पर शेष दो जन हैं अभी जिनका बड़ा ही क्लेश है।
कृष्णा सुभद्रा से कहूँ क्या ? यह न होता ज्ञात है,
मैं सोचता हूँ किन्तु हा ! मिलती न कोई बात है ॥

(१३)

जैसे बने समझा-बुझाकर, धैर्य सब को दीजियो ;
कह दीजियो, मेरे लिये मत शोक कोई कीजियो।
अपराध जो मुझसे हुये हों वे क्षमा करके सभी,
कृपया मुझे तुम याद करियो स्वजन जान कभी कभी ॥

(१४)

हा धर्मधीर अजातशत्रो ! आर्य भीम ! हरे ! हरे !
हा ! प्रिय नकुल ! सहदेव भ्रातः ! उत्तरे ! हा उत्तरे !
हा देवि कृष्णे ! हा सुभद्रे ! अब अधम अर्जुन चला ;
धिक् है—क्षमा करना मुझे—मुझसे हुआ रिपु का भला" ॥

(१५)

इस भाँति अर्जुन के वचन श्रीकृष्ण ये जब सुन रहे,
हँसकर जयद्रथ ने तभी ये विष-वचन उनसे कहे—

"गोविन्द ! अब क्या देर है ? प्रण का समय जाता टला,
शुभ कार्य जितना शीघ्र हो है नित्य उतना ही भला" ॥

(१६)

सुनकर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आगई,
गम्भीर - श्यामल - मेघ में विद्युच्छटा-सी छागई।
कहते हुये यों,—वह न उनका भूल सकता वेश है—
"हे पार्थ ! प्रण पालन करो, देखो, अभी दिन शेष है" ॥

उद्बोधन

(१)

निज पूर्वजों के सद्गुणों का गर्व जो रखती नहीं,
वह जाति जीवित जातियों में रह नहीं सकती कहीं ॥
हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं,
संसार में किस जाति को, किस ठौर वैसे प्राप्त हैं ॥

(२)

यदि हम किसी भी कार्य को करते हुये असमर्थ हैं,
तो उस अखिल-कर्त्ता पिता के पुत्र ही हम व्यर्थ हैं ॥
अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं ?
क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं ?

(३)

क्या हम सभी मानव नहीं किंवा हमारे कर नहीं ?
रो भी उठें हम तो बने क्या अन्य रत्नाकर नहीं ?
भागो अलग अविचार से, त्यागो कुसङ्ग कुरीति का,
आगे बढ़ो निर्भीकता से, काम है क्या भीति का ॥

(४)

चिन्ता न विघ्नों की करो, पाणिग्रहण कर नीति का—
सुर-तुल्य अजरामर बनो पीयूष पीकर प्रीति का।
संसार की समर-स्थली में वीरता धारण करो,
चलते हुये निज इष्ट पथ में सङ्कटों से मत डरो॥

शकुन्तला की विदा

(१)

त्यागी थे मुनि कण्व उन्हें भी करुणाआई,
होती है बस सुता धरोहर, वस्तु पराई।
होम-शिखा की परिक्रमा उससे करवाई,
और उन्होंने स्वस्ति-गिरा यों उसे सुनाई—

(२)

"तुझको पति के यहाँ मिले सब भाँति प्रतिष्ठा,
ज्यों ययाति के यहाँ हुई पूजित शर्मिष्ठा।
सार्वभौम पुरु पुत्र हुआ था उसके जैसे—
तेरे भी कुल-दीप दिव्य औरस हो वैसे॥

(३)

गुरुओं की सम्मान-सहित शुश्रूषा करियो,
सखी-भाव से हृदय सदा सौतों का हरियो।
करे यदपि अपमान मान मत कीजो पति से,
हूजो अति सन्तुष्ट स्वल्प भी उसकी रति से॥

(४)

परिजन को अनुकूल आचरण से सुख दीजो,
कभी भूलकर बड़े भाग्य पर गर्व न कीजो।

इसी चाल से स्त्रियाँ सुगृहिणी-पद पाती हैं,
उलटी चलकर वंश-व्याधियाँ कहलाती हैं ॥"

जीवन का अस्तित्व

जीव हुई है तुझको भ्रान्ति;
शान्ति नहीं, यह तो है भ्रान्ति।
अरे, किवाड़ खोल, उठ, कब से मैं हूँ तेरे लिए खड़ा;
सोच रहा है क्या मन ही मन मृतक-तुल्य तू पड़ा-पड़ा।
बढ़ती ही जाती है क्लान्ति;
शान्ति नहीं, यह तो है भ्रान्ति।

अपने आप घिरा बैठा है तू छोटे-से घेरे में;
नहीं ऊबता है क्या तेरा जी भी इस अन्धेरे में?
मची हुई है नीरव क्रान्ति;
शान्ति नहीं, यह तो है भ्रान्ति।

द्वार बन्द कर के भी तू है चैन नहीं पाता डर से;
तेरे भीतर चोर घुसा है उसको तो निकाल घर से।
चुरा रहा है वह कृति-कान्ति;
शान्ति नहीं, यह तो है भ्रान्ति।

जिस जीवन की रक्षा के हित है तू ने यह ढंग रचा,
होकर यों अवसन्न और जड़ वह पहले ही कहाँ बचा!
जीवन का अस्तित्व अशान्ति;
शान्ति नहीं, यह तो है भ्रान्ति।

स्वयमागत

तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ?
द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं;
शेष सभी धक्के खाते हैं;
कैसे घुसने पाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं ?

तेरी विभव कल्पना कर के,
उसके वर्णन से मन भर के,
भूल रहे हैं जन बाहर के,
कैसे तुझे भुलाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं ?

बीत चुकी है बेला सारी,
आई किन्तु न मेरी बारी;
करूँ कुटी की अब तैयारी,
वहीं बैठ पछताऊँ मैं।
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं ?

कुटी खोल भीतर आता हूँ,
तो वैसा ही रह जाता हूँ,
तुझको यह कहते पाता हूँ—
"अतिथि ! कहो क्या लाऊँ मैं ?"
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं ?

आय का उपयोग

निकल रही है उर से आह ;
ताक रहे सब तेरी राह ।
चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खड़ी ;
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी ।
सब को है जीवन की चाह ;
ताक रहे सब तेरी राह ।

हम अपनी अपनी कहते हैं किन्तु सीप क्या कहती है ?
कुछ भी नहीं, खोलकर भी मुँह वह नीरव ही रहती है ?
उसके आशय की क्या थाह ?
ताक रहे सब तेरी राह ।

तेरे दया-दान का मैंने, चातक ने भी भोग किया ;
किन्तु सीप ने उसको लेकर क्या अपूर्व उपयोग किया ?
बना दिया है मुक्ता, वाह !
ताक रहे सब तेरी राह ।

निरुद्देश निर्म्माण

प्यारे, तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया ;
यह विचित्र संसार सामने उसी समय मैंने पाया ।
दिवस गया, कब सन्ध्या आई, दीप जले, कब रात हुई;
याद नहीं कुछ मुझे, न जाने कहाँ कौन सी बात हुई ।

बेला की यह सारी खेला बस, बिजली-सी ज्ञात हुई,
मुझे आत्म-विस्मृत करने को तेरी स्मृति है! तात हुई।
'आखिर यही प्रभात पूर्व का पवन अपूर्व पुलक लाया;
प्यारे, तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया॥

दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा,
सो जाने के लिए जगत का यह प्रकाश है जाग रहा!
किन्तु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा,
निरुद्देश्य नख-रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति अहा!
बतला दे ओ नटनागर! तू यह तेरी कैसी माया?
प्यारे, तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया॥

लोचनप्रसाद पाण्डेय

छत्तीसगढ़ के बिलासपुर ज़िले में चित्रोत्पला गङ्गा महानदी के किनारे बालपुर नाम का एक पल्लीग्राम है। पांडेयजी का जन्म इसी ग्राम में एक प्रतिष्ठित और प्राचीन सरयूपारीण ब्राह्मण-वंश में सं० १९४२ विक्रमाब्द के पौष शुक्ल १०, मंगलवार को हुआ। इनके पिता पंडित चिन्तामणि पांडेय एक सच्चरित्र, विद्याप्रेमी और आदर्श गृहस्थ थे। उन्होंने अपने यहाँ हिन्दी का एक पुस्तकालय स्थापित किया था, जिसमें हिन्दी के उत्तमोत्तम काव्य-ग्रंथों का संग्रह था। अपने ग्राम में हिन्दी की एक पाठशाला के स्थापन और सञ्चालन-द्वारा उन्होंने अज्ञानान्धकार में पड़े हुये ग्रामीणों में पहले-पहल शिक्षा का आलोक फैलाया था।

इनके पितामह का नाम पंडित शालिग्राम पांडेय और पितामही का नाम कुसुमदेवी था। पं० शालिग्राम परम सत्यनिष्ठ, धार्मिक एवं कर्त्तव्य-परायण थे और अपने अञ्चल में एक प्रसिद्ध "साधु-ब्राह्मण-अतिथि-सेवक" गिने जाते थे।

सं० १६८२ में पांडेयजी के पितामह और पितामही का स्वर्गवास हो गया।

पाण्डेयजी ने अपने पिताजी के द्वारा स्थापित स्थानीय पाठशाला में अक्षरारम्भ किया। वहाँ हिन्दी की शिक्षा समाप्त कर ये अंग्रेज़ी पढ़ने के लिये सम्बलपुर के गवर्नमेंट हाई-स्कूल में भरती हुए। वहाँ से इन्होंने सन् १६०५ में कलकत्ता युनिवर्सिटी की प्रवेशिका परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की। इसके बाद ये उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिये सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस में भरती हुये। पर कई कारणों से अल्प समय ही में इनको घर लौट आना पड़ा। घर पर इन्होंने उड़िया और बँगला भाषायें सीखीं, तथा कुछ संस्कृत का भी अभ्यास किया।

इन्होंने अपने मामा पूज्य पं० अनन्तराम (अनंत कवि) तथा अपने अग्रज पं० पुरुषोत्तमप्रसादजी की सहायता एवं अनुरोध से सन् १६०४ से हिंदी लिखना शुरू किया और तब से आज तक गद्य और पद्य की छोटी बड़ी कोई ३०।३५ पुस्तकें लिखीं। जिनमें 'दो मित्र' 'बाल-विनोद' 'नीति-कविता' 'बालिका-विनोद', 'माधव-मंजरी', 'मेवाड़-गाथा' 'चरित-माला' 'रघुवंश-सार' 'पद्य-पुष्पांजलि' 'आनन्द की टोकनी', 'कविता-कुसुम-माला' आदि मुख्य हैं।

उड़िया में कविता करने की इनमें विलक्षण योग्यता है। इस भाषा में इन्होंने 'कविता-कुसुम', 'महानदी', 'रोगी-रोदन' आदि कई कविता-पुस्तकें भी लिखी हैं। ये उत्कल-साहित्य-संसार में सुपरिचित हैं। बामण्डा राज्य (उड़ीसा) के साहित्य-मर्मज्ञ राजा साहब राजकवि राजा सच्चि-

दानन्द ने इनको 'काव्य-विनोद' की उपाधि से भूषित किया था। इनकी उड़िया "कविता-कुसुम" की समालोचना में एक सुप्रसिद्ध उत्कल-साहित्य-विशारद पंडित नीलमणि शर्मा 'विद्यारत्न' ने लिखा था कि यदि कवि की जातीय उपाधि "पाण्डेय" के स्थान पर 'शर्म्मा' रख दी जाय तो कोई भी पाठक यह नहीं जान सकेगा कि ये कविताएँ उत्कल-भिन्न अन्य भाषाभाषी की रचना हैं। इनके इस उड़िया 'कविता-कुसुम' तथा 'कविता-कुसुम-माला' की प्रशंसा सर ग्रियर्सन साहब जैसे विश्व-विख्यात विद्वान् तक ने की है।

अंग्रेज़ी में भी इन्होंने Well Known men, Letters to my Brothers, The way to be Happy and Gay, Folk-Tales of Chhattis-garh, तथा Radha Nath, the National Poet of Orrissa आदि कई पुस्तकें लिखी हैं।

सन् १९१४ के नवम्बर में इनके ज्येष्ठ पुत्र माधवप्रसाद का शरीरान्त हो गया। इस घटना से पाण्डेयजी का दिल टूट गया। बालक बड़ा होनहार था। उसके वियोग पर "हा! वत्स माधवप्रसाद" नामक एक शोक-कविता लिखी गई थी, जो अभी छपी नहीं।

पाण्डेयजी की पुस्तकों का अच्छा प्रचार है। कइयों के तो दो-दो तीन-तीन संस्करण हो चुके हैं। मध्यप्रदेश, युक्तप्रान्त तथा पञ्जाब की टेक्स्टबुक कमेटियों ने इनकी कई पुस्तकों को Prize and Library Books में स्वीकृत किया है। इनकी कवितायें गुरुकुल काँगड़ी की तथा मध्यप्रदेश और पंजाब प्रान्त की हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में संगृहीत की गई हैं।

पाण्डेयजी ने ८-१० वर्षों के परिश्रम से अपने प्रान्त के संस्कृत शिलालेखों और ताम्र-शासनों का एक संग्रह "कोसल-प्रशस्ति-रत्नावली" के नाम से प्रस्तुत किया है। यह संग्रह तीन भागों में है। संग्रह में महा-

कोसल के सोमवंशीय, हैहयवंशीय और नागवंशीय नरपतियों के शिलालेखों की प्रधानता है।

महाराज पृथ्वीदेव, रत्नदेव, प्रतापमल्लदेव (हैहय), चोड़गङ्गदेव तथा यौधेयगण के ताम्र और स्वर्ण-मुद्राओं का संग्रह इन्होंने बड़े परिश्रम से किया है। ये मुद्रायें बालपुर ही में समय समय पर मिली हैं। कई चतुष्कोण मुद्राएँ बौद्धकालीन हैं।

सन् १९२१ में पाण्डेयजी मध्यप्रान्तीय चतुर्थ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गए थे। सम्मेलन का यह अधिवेशन जबलपुर में हुआ था। इनका भाषण ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण था।

पाण्डेयजी ने अपने जन्म-प्रान्त छत्तीसगढ़ के प्राचीन साहित्य और प्राचीन गौरव-गाथा की खोज करने में बड़ा परिश्रम किया है। इसके पहले यह बहुत कम लोगों को मालूम था कि छत्तीसगढ़ में भी हिन्दी के अनेक बड़े-बड़े कवि हो गये हैं।

इनके यत्न और उत्साह-दान से अनेक नवयुवक हिन्दी के परम प्रेमी और सुलेखक बन गए हैं।

ये अपने ग्राम बालपुर ही में निवास करते हैं। चार-पाँच गाँवों की ज़मींदारी है। ये ६ भाई हैं। बड़े भाई पंडित पुरुषोत्तमप्रसाद पाण्डेय बिलासपुर के डिस्ट्रिक्ट कौंसिल के मेम्बर हैं। आप दरबारी भी हैं। तथा छोटे भाई मुकुटधर हिन्दी के एक उदीयमान कवि और लेखक हैं। इनके अन्यान्य अनुज भी साहित्यानुरागी हैं।

अनेक संस्थाओं ने पाण्डेयजी को उनकी निःस्वार्थ हिन्दी-सेवा तथा प्रबन्ध-रचना-पटुता के लिए रौप्य तथा स्वर्ण-पदक प्रदान किये हैं।

मध्यप्रदेश की सरकार ने सर ग्रियर्सन साहब द्वारा अनुवादित "छत्तीसगढ़ी व्याकरण" के संशोधन और परिवर्द्धन का काम पाण्डेय-

जी को सौंपा था। अब यह ग्रन्थ तैयार हो गया है, और गवर्नमेंट प्रेस नागपुर के पते से २) में मिलता है।

पाण्डेयजी की रचना-उत्साह-वर्द्धिनी, सरल और सरस होती है। हम यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं:—

मृगी-दुःख-मोचन

(१)

बन एक बड़ा ही मनोहर था, रमणीयता का शुचि आकर सा।
सुख शान्ति के साज से पूरा सजा, वह सोहता था कुसुमाकर सा॥
शुभ सात्विक भाव की लीलास्थली, कुछ प्राप्त उसे था अहो! वर सा।
रहती थी वहाँ मृग-दम्पति एक, विचार के कानन को घर सा॥

(२)

रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के, पादपों की अति छाया घनी।
चर के तृण आते थके वहाँ बैठते, थे मृग औ उसकी घरनी॥
पगुराते हुये दृग मूँदे हुये, वे मिटाते थकावट थे अपनी।
खुर से कभी कान खुजाते कहीं, सिर सींघ पै धारते थे टहनी॥

(३)

कुछ काल अनन्तर ईश कृपा-वश, प्राप्त हुई उन्हें सन्तति दो।
गही दम्पति-प्रेम-प्रशस्त की धार ने, एक को छोड़ नई गति दो॥
अब दो विधि के अनुराग जगे, पगे वे सुख में सुकृती अति हो।
इस जीवन का फल मानो मिला, खिला प्रेम-प्रसून सुसङ्गति हो॥

(४)

दिन एक लिये युग शावकों को, चरने को अकेली मृगी गई थी।
वह चारु बसंत का काल रहा, बन शोभा निराली विभामई थी॥

शुचि शैशव चंचलता वशतः, मृगछौनों की लीला नई नई थी।
भरते बहु भाँति की चौकड़ियाँ, उनकी द्रुतदौड़ हुई कई थी॥

(५)

वह तीनों जने निज नित्य के स्थान से, दूर अनेक चले गये थे।
वन था वह नूतन ही उनको, सब दृश्य वहाँ के नये नये थे॥
तटनी-तटकी छबि न्यारी ही थी, लता-कुंज के ठाट भले ठये थे।
बहती थी सुगन्धित वायु अहा! तृण कोमल खूब वहाँ छये थे॥

(६)

चरने लगे वे सुख साथ वहाँ, भय की न उन्हें कुछ भावना थी।
यहाँ होगा बहेलिया पास कहीं, इसकी न उन्हें कभी कल्पना थी॥
पर दैव-विधान विचित्र बड़ा, उसकी कुछ और ही योजना थी।
पहुँचा वहाँ व्याध कराल महा, जिसको कि अहेर की चिंतना थी॥

(७)

लख बच्चों के साथ मृगी को वहाँ, झट घेर उन्हें चहुँओर लिया।
उनके बिना जाने बिछा दिये जाल यों, पार्श्व का मारग रोक दिया॥
लगा आग दी पीछे हुआ फिर आगे, लिये धनुबाण कठोर हिया।
उस व्याध ने छोड़ दिये फिर श्वान, धरो धरो का रव शोर किया॥

(८)

सहसा इस घोर विपत्ति से हो, कर्तव्य-विमूढ़ मृगी अकुलानी।
नव मास के गर्भ के भार से थी, वह यों ही स्वभाव ही से अलसानी॥
फिर साथ में थे मृदुशावक दो, सुकुमारता की जिनकी न थी सानी।
चहुँओर को देखती बोली वहाँ, वह कातर हो यह आरत बानी॥

(९)

दिशा उत्तर दक्षिण में लगे जाल, फँसे उस ओर भगे जो कभी।
यह दावा कराल है पूर्व की ओर, गये उस ओर हों भस्म अभी॥

करता हुआ शोर शिकारी खड़ा, पथ पश्चिम ओर के रोक सभी।
हम बंदी हुये चहुँओर से हा! मिटता क्या कपाल का लेखन भी॥

(१०)

तृण कोमल पत्तियाँ शाक बनस्पतियाँ बन में फिरते चरते।
पर-पीड़न हिंसा तथा अपकार, कदापि किसी की नहीं करते॥
हम भीरु स्वभाव ही से हैं हरे! न कठोरता, भीषणता धरते।
छल-छिद्र-विहीन हैं भोले निरे, फिर भी हैं यहाँ हम यों मरते॥

(११)

रहती मैं अकेली तो क्या भय था, मुझे सोच न था तनु का अपने।
पर साथ में लाड़ले जीवन-मूर, ये छौने दुलारे हैं दोनों जने॥
फिर गर्भ में बालक है सुकुमार, इसी से मुझे दुख होते घने।
हम चारों का अन्त यों होगा हरे! यह जाना न था मन में हमने॥

(१२)

अब क्या करूँ दीन के बंधु हरे! किसका मुझे बाकी भरोसा रहा।
पथ है चहुँओर से मेरा घिरा, गिरा चाहता काल का बज्र महा॥
यह पावक वेग से उग्र हुआ, इसी ओर बढ़ा चला आता रहा।
जिसकी खर ज्वाल से नन्हें अहो, इन छौनों का है तनु जाता दहा॥

(१३)

अरि-श्वान ये तीर से आते चले, इसी ओर को हैं अब खैर नहीं।
बढ़ता हुआ व्याध भी आ रहा है, बस अन्त है तीर जो छोड़ा कहीं॥
करते हम यों न बिलाप प्रभो! मृग प्यारा हमारा जो होता यहीं।
कहते हुए यों रुक कंठ गया, चुप हो मृगी हो गई स्तब्ध वहीं॥

(१४)

करुणा वरुणालय श्रीहरि की, इतने में हुई कुछ ऐसी दया।
घन-घोष के साथ गिरी बिजली, जिससे की शिकारी अचेत भया॥

सब श्वान भगे बन के गजों से, वह जाल समूह भी तोड़ा गया।
बरसा जल मूसलधार बुझी, बन दावा मिला उन्हें जन्म नया॥

(१५)

यहाँ तीनों हुये अति विस्मित से, लखि श्रीहरि की यह लीला अहा।
अति मूक हुये थे कृतज्ञता से, घर जा रहे थे गहे मोद महा॥
वहाँ देख विलम्ब को व्यग्र हुआ, मृग ढूँढ़ने को इन्हें आता रहा।
सुख सीमा नहीं थी मिले जब चारों, मृगी के सुनेत्र से आँसू बहा॥

(१६)

मधुसूदन माधव की दया से, हम रोगकी ज्वाला मिटाते रहें।
भवबंधन में हम बद्ध न हों, करि कर्म से धर्म कराते रहें॥
दुख श्वान से आकुल प्राण न हों, हम स्वास्थ्य-सुधा नित पाते रहें।
कलिकाल शिकारी के लक्ष्य न हों, यश श्रीहरि का नित गाते रहें॥

आत्मत्याग

एक समय सानन्द राज्य का शासन करते।
निर्भय रख गो-विप्र-प्रजागण के मन हरते॥
वीर-भूमि मेवाड़ में, सज्जन, सत्य-प्रतिज्ञ।
राजसिंह राणा प्रवर, थे भूपति वर विज्ञ॥
शान्ति सुख से महा॥ १॥

भीमसिंह जयसिंह नाम के बली धुरन्धर।
राजसिंह के पुत्र गुणी थे दो अति सुन्दर॥
यमल भ्रात थे वे उभय, पितृभक्त सुखसार।
भीमसिंह पर ज्येष्ठ थे, जन्म-काल-अनुसार॥
अतः कुलपूज्य थे॥ २॥

धर्मनीति अनुसार राज्य-पद के अधिकारी।
भीमसिंह थे स्वयं पिता के आज्ञाकारी॥
ज्येष्ठ पुत्र ही को सदा, निज पैतृक व्यवहार।
राजकाज इन सकल में, मिलता है अधिकार॥
न्याय की दृष्टि से॥ ३॥

भीमसिंह से किन्तु, किसी कारण-वश नृपवर।
रहते थे अति खिन्न चित्त में स्वीय निरन्तर॥
पापमूल कुविचारमय, दुष्ट द्वेष की दृष्टि।
करती कब किस ठौर में, है न भिन्नता सृष्टि॥
कहो हे पाठको! ॥ ४॥

इसी भाव से भूप-हृदय थी इच्छा भारी।
लघु-सुत को दे राज्य बनाना उसे सुखारी॥
न्यायी भी अवसर पड़े, न्यायान्याय बिसार।
फँस जाते अन्याय में, पक्षपात उर धार॥
अंध बन मोह से॥ ५॥

रानी कमलकुमारी ने यह बात सुनी जब।
ऊँच नीच बहु भाँति सुझाया राणा को तब॥
देख महा अन्याय भी, करें न कुछ जो लोग।
क्या न दुष्ट प्रत्यक्ष वे, देते उसमें योग॥
धर्म के न्याय से॥ ६॥

अस्तु; नृपति ने पक्षपात की बात बिसारी।
करने लगे तथैव सोच निज कृति पर भारी॥
सहसा करते कार्य जो, बनकर के अज्ञान।
है केवल उनका सदा, पश्चात्ताप निदान॥
सत्य यह मानिये॥ ७॥

अन्य दिवस भय, लाज, दुःख से अमित सताया।
भीमसिंह को सम्मुख राणा ने बुलवाया॥
चला भृत्य प्रमुदित हिये, नृप आज्ञा अनुसार।
उलझा विविध विचार में, लाने राजकुमार॥
तीर के वेग से॥ ८॥

भीमसिंह अवलोक दूत को स्मित-आनन में।
करने लगे विचार अनेकों अपने मन में॥
"हरे हरे कैसी हुई, नई बात यह आज।
पड़ा भूप का कौन सा, ऐसा मुझसे काज॥
बुलाया जो मुझे॥ ९॥

दे जयसिंह को राज्य-भार सब क्या राणा ने।
मुझे बुलाया आज अनुज का दास बनाने॥
नहीं नहीं मुझको कभी, है न सह्य अपमान।
इष्ट नहीं है दासता, भले जाय यह प्राण॥
सहित शुचि मान के॥ १०॥

हुई शांत क्रोधाग्नि अंत में जब कुछ क्षण में।
भीमसिंह ने तनिक विचारा अपने मन में॥
जाने में है हानि क्या, ग्लानि तथा भय लाज।
चल देखूँ तो क्या मुझे, कहते हैं नृप-राज॥
भला वह भी सुनूँ॥ ११॥

यही सोचकर भीमसिंह मन में रिस लाये।
राजसिंह नृपराज निकट तत्क्षण ही आये॥
किन्तु हुए विस्मित महा, देख दशा कुछ अन्य।
बैठे हैं राणा प्रवर, चिन्तित चित्त अनन्य॥
शीश नीचा किये॥ १२॥

जब राणा ने भीमसिंह को देखा सम्मुख।
कहा "वत्स प्रिय भीमसिंह"! कर नीचे को मुख॥
सुनकर यह करुणा भरी, भूपति वर की बात।
भीमसिंह अति चकित हो, बोले कम्पित गात॥
"पिताजी! हाँ, कहो"॥ १३॥

मधुर बात कर श्रवण पुत्र की अचरज सानी।
कही नृपति ने पुनः सँभल करके वर वाणी॥
"प्यारे सुत! धिक् है मुझे, मैंने तुमसे हाय।
मोह-जड़ित चित भ्रमित हो, किया बड़ा अन्याय॥
स्वीय अविचार से"॥ १४॥

राणा ने फिर कहा "पुत्र! अब रहो अचिन्तित।
करो न पश्चात्ताप हुई होनी उसके हित॥
भीमसिंह सच मान लो, राज्यासन अधिकार।
देऊँगा कल मैं तुम्हें, न्याय्य नीति अनुसार॥
छोड़ सब भिन्नता॥ १५॥

एक बात पर बड़ी कठिन आ पड़ी यहाँ है।
प्रकट भयङ्कर खड़ी कलह की जड़ी यहाँ है॥
जयसिंह का जिस वस्तु पर, है न लेश अधिकार।
समझ रहा है वह उसे, स्वीय गले का हार॥
हाय! मम भूल से॥ १६॥

यदि निराश हो जाय आज वह एकाएकी।
खड़ा करेगा विघ्न विषम बनकर अविवेकी॥
दोनों दल के समर से, अगणित बिना प्रमाण।
तुरत व्यर्थ ही जाँयगे, कितनों ही के प्राण॥
इसी अज्ञान से"॥ १७॥

सुनी बात यह भीमसिंह ने नृप मति जानी।
तथा चित्त में नृपति-न्याय-निष्ठा अनुमानी॥
चरण निकट रख खड्ग निज, आँखों में भर नीर।
पितृ-प्रेम लख मुग्ध हो, बोला यों वह वीर॥
अमृत साना हुआ॥ १८॥

"चिरञ्जीव जयसिंह अनुज मेरा अति प्यारा।
सुख दुख में आधार सदा सर्वत्र सहारा॥
दे सकता उसके लिये, मैं हूँ अपने प्राण।
तुच्छ राजपद दान फिर, है क्या बात महान॥
उचित सम्मान से॥ १९॥

दिया आपने राज्य हर्षपूर्वक लेता हूँ।
जयसिंह को फिर वही मुदित हो मैं देता हूँ॥
कथन आप यह लीजिए, सत्य सत्य ही मान।
होगा कभी न अन्यथा, मम प्रण विकट महान॥
अचल है सर्वथा॥ २०॥

त्याग राज्य चिर-ब्रह्मचर्य-व्रत में रत हो के।
हरी भीष्म ने व्यथा पिता की शङ्का खो के॥
तजकर निज तारुण्य को, पुरु ने धन्य समर्थ।
लिया जरा को मोद में, पूज्य पिता के अर्थ॥
जान कर्त्तव्य निज॥ २१॥

"रामचंद्र ने स्वयं पिता की आज्ञा मानी।
लिया गहन बनवास तुच्छ सुख-सम्पति जानी॥
जो न पिता आज्ञा करूँ, पालन किसी प्रकार।
तो मुझको धिक्कार है, बार बार शतबार॥
जन्म मम व्यर्थ है॥ २२॥

यदि रहने से यहाँ कदाचित् मेरे मन में।
राज्य-लोभ हो जाय कहीं सहसा कुक्षण में॥
इस कारण यह लीजिये, तजकर मैं घर-द्वार।
छोड़े देता हूँ अभी, मातृभूमि मेवार॥
जन्म भर के लिये" ॥ २३ ॥

इतना कहकर भीमसिंह निज-प्रण-पालन-हित।
शांत-भाव से भक्ति-युक्त हो अति प्रमुदित चित॥
कर प्रणाम नृपराज को, धारे हिये उमङ्ग।
छोड़ राज्य वह चल पड़े, कुछ अनुचर के सङ्ग॥
कहीं बाहर अहा! ॥ २४ ॥

बीता जब कुछ काल, भीमसिंह के सब साथी।
आये अपने देश लौट के घोड़े हाथी॥
भीमसिंह पर लौट कर, आये नहिं हा हंत!
आया तो आया मरण-समाचार ही अंत॥
लौट उस वीर का ॥ २५ ॥

धन्य धन्य हे भीमसिंह! प्रण के अनुरागी।
सज्जन, सत्यप्रतिज्ञ, विज्ञ, त्यागी बड़भागी॥
धन्य आपका प्रण तथा, आत्म-त्याग आदर्श।
धन्य धर्म-दृढ़ता तथा, भ्रातृ-प्रेम-उत्कर्ष॥
धन्य तव वीरता ॥ २६ ॥

उपदेश

रावण ने कर बन्धु विरोध लखो निज सम्पति जान गँवाई।
बालि ने व्यर्थ सुकण्ठ को कष्ट दे खोई स्वजीवन राज बड़ाई।
भूल से भी न कभी करिये निज भाइयों से इस हेतु लड़ाई।
काम हैं आते विपत्ति के काल में गाँठ का कञ्चन पीठ का भाई॥

कृषक

भोले-भाले कृषक देश के अद्भुत बल हैं।
राजमुकुट के रत्न कृषक के श्रम के फल हैं।
कृषक देश के प्राण कृषक खेती की कल हैं।
राजदण्ड से अधिक मान के भाजन हल हैं।
हल की पूजा सभ्य जाति का व्रत निर्मल है।
हल की पूजा देश-शान्ति का नियम अचल है।
तप करते हैं कृषक खेत शुभ हवनस्थल है।
हल श्रुवा आहुती देह के शुचि श्रम-जल है॥

प्रश्नोत्तर

(श्रीमद्भागवत से)

प्रश्न—विभुवर, कहिये पंडित किसका नाम है?
उत्तर—बन्ध मोक्ष का ज्ञान जिसे अभिराम है॥ १॥
प्र०—हे यदुनन्दन! लोग मूर्ख कहते किसे?
उ०—अहंभाव ही निज देहादिक में जिसे॥ २॥
प्र०—सुखकर पन्थ दयापूर्वक कहिए। अहो!
उ०—वेद-कथित विधि से जीवन निर्वाह हो॥ ३॥
प्र०—उत्पथ अथवा अनुचित पथ किसको कहें?
उ०—व्यर्थ चित्त-विक्षेप शान्ति को जो दहे॥ ४॥
प्र०—स्वर्ग नाम है किसका? हे यादव! हरे!
उ०—उदय सत्व गुण का जब तम-नाशन करे॥ ५॥
प्र०—हे मधुसूदन 'नरक' मुझे बतलाइए।
उ०—तम-गुण में जीवों को रत जब पाइए॥ ६॥

लक्ष्मीधर वाजपेयी

पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी का जन्म चै० शु० दशमी, सं० १९४४ में कानपुर ज़िले के मैथा (मायस्थ) नामक ग्राम में, जहाँ काशी के प्रसिद्ध स्वामी भास्करानन्दजी की जन्मभूमि भी है, हुआ। वाजपेयीजी की अवस्था जब चार ही पाँच वर्ष की थी, इनके पिता और पितामह ने इनको संस्कृत के नीति और धर्म्म के श्लोक कंठाग्र कराना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार साहित्य और कविता के प्रेम का अंकुर बचपन ही से इनके हृदय में अंकुरित हो उठा।

पाठशाला की शिक्षा इन्होंने केवल चौदह वर्ष की अवस्था तक प्राप्त की। इनका विवाह बारह वर्ष की अवस्था में पिता-माता और दादा ने कर दिया। कुछ काल बाद माता-पिता तथा दादा का देहान्त हो जाने के कारण इनकी गार्हस्थ्य-दशा ख़राब हो गई। अतएव स्कूल की पढ़ाई बन्द हो गई; और छोटे भाई, बहन, तथा अन्य कुटुम्बियों के पालन-पोषण के लिये इनको पंद्रह वर्ष की छोटी अवस्था में ही अध्यापक का कार्य स्वीकार करना पड़ा।

साहित्य और कविता का प्रेम, जो बचपन ही से इनमें अंकुरित हो उठा था, बराबर बढ़ता ही गया। बहुत से अर्वाचीन और प्राचीन कवियों की कवितायें तथा पुस्तकें और समाचार-पत्र पढ़ते-पढ़ते इनके मन में भी उसी समय कविता करने और लेख लिखने की धुन समाई। सन् १९०५ ई० में, १७ वर्ष की अवस्था में, पत्र-व्यवहार-द्वारा हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और देशभक्त पंडित माधवराव सप्रेजी से सौभाग्य-वश इनका परिचय होगया। सप्रेजी ने उस समय नागपुर से हिन्दी-ग्रन्थ-

माला नामक एक मासिक पत्र निकाला था। उसी की सहायता के लिये उन्होंने इनको बुला लिया। सप्रेजी के समान अनुभवी और विद्वान् साहित्य-सेवी के साथ वाजपेयीजी को साहित्य-सेवा का अच्छा अवसर मिला। तभी से इनकी कवितायें और लेख भारतमित्र, श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार, कान्यकुब्ज, सरस्वती, कमला इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं में निकलने लगे। सरस्वती-सम्पादक पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने भी इनकी साहित्य-सेवा को प्रोत्साहित किया।

सन् १९०७ में सप्रेजी ने हिन्दी-केसरी पत्र निकाला। वाजपेयी जी भी उसके सहायक सम्पादकों में थे। सप्रेजी की गिरफ्तारी और उस पत्र से उनका सम्बन्ध छूट जाने के बाद वाजपेयीजी ने हिन्दी-केसरी के सम्पादन का भार भी ग्रहण किया। हिन्दी-केसरी में समय-समय पर इनकी राष्ट्रीय कवितायें भी निकलती रहीं। लगभग दो वर्ष चलकर सन् १९०८ में ही, सरकार के प्रकोप के कारण, हिन्दी-केसरी बन्द होगया और वाजपेयीजी सप्रेजी के साथ मध्यप्रदेश के रायपुर नगर में रहने लगे। वहाँ दो तीन वर्ष रहकर इन्होंने सप्रेजी के साथ दासबोध, रामदास-चरित्र, शालोपयोगी भारतवर्ष इत्यादि ग्रन्थ लिखे। साथ ही मेघदूत का समश्लोकी और समवृत्त हिन्दी-अनुवाद भी किया जो इंडियन-प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इस बीच धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों से भी इनको विशेष रुचि उत्पन्न हो गई।

सन् १९११ में सप्रेजी तथा इनके प्रोत्साहन से चित्रशाला प्रेस के मालिकों ने हिन्दी में 'चित्रमय-जगत्' नामक मासिक पत्र निकाला। ये उसके सम्पादक होकर पूना चले गये और लगभग तीन वर्ष तक बड़ी योग्यता से उस पत्र का सम्पादन किया। इसके बाद आर्य-प्रतिनिधि-सभा, संयुक्तप्रांत के आग्रह से ये आगरा चले आये और इन्होंने 'आर्य-मित्र' का सम्पादन तीन वर्ष तक किया। उसी समय इन्होंने

अपनी "तरुण भारत-ग्रन्थावली" नामक सीरीज निकाली। सन् १९१६ में सभा के अधिकारियों से मतभेद हो जाने के कारण ये फिर पूना लौट गये, और दो वर्ष फिर इन्होंने 'चित्रमय-जगत्' का सम्पादन किया।

सन् १९१८ में वाजपेयीजी पूना छोड़कर प्रयाग में आगये। तब से बराबर, यहीं रहकर जीविका के लिए अपनी "तरुण-भारत-ग्रन्थावली' का प्रकाशन करते हुए साहित्य-सेवा, देश-सेवा और समाज-सुधार का कार्य करते हैं।

महात्मा गान्धीजी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन में भी इन्होंने अच्छा कार्य किया है। इस बीच में इन्होंने धर्म-शिक्षा, गार्हस्थ्य-शास्त्र, सदाचार और नीति, काव्य और सङ्गीत, इत्यादि कई मौलिक ग्रन्थ लिखे। इसके सिवाय मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्वर्गीय हरिनारायण आपटे के वज्राघात, उषःकाल, चन्द्रगुप्त इत्यादि कई बड़े-बड़े उपन्यासों का अनुवाद भी किया है।

सन् १९३७ से वाजपेयी जी ने "लक्ष्मी आर्ट प्रेस" नामक अपना एक छोटा-सा प्रेस भी खोल लिया है। "तरुण-भारत-ग्रन्थावली" के अतिरिक्त ये "राष्ट्रमत" नामक एक साप्ताहिक-पत्र का भी सम्पादन करते हैं।

पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी एक निर्भीक और स्वतन्त्र विचार के देश-भक्त, साहित्य-सेवी और समाज-सुधारक हैं।

इनकी कविता के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं :—

शरद

नील नीरद नाहिँ दीसत इन्द्र-धनु नहिँ भाय।
मन्द गति सरितान की भइ बुढि सोई दरसाय ॥१॥

व्योम शोभा बढ़ति निशि में नखत-अवली पाय।
मनु सितारन-जड़ित माया-नील-पट सरसाय ॥ २ ॥
विमल सरवर लसत कहुँ कहुँ जल अगाध लखाय।
ललित पीत सुशालि की मृदु महँक सौंधि सुहाय ॥ ३ ॥
विविध रँग के खिले सरसिज कुमुदनी लहराय।
भ्रमरगण गुञ्जरहि मानहुँ प्रकृति-यश को गाय ॥ ४ ॥
मोर मद सों मत्त ह्वै अब शोर नाहिँ मचाय।
नृत्य-रत कहुँ नाहिँ दीसत उपवननि में जाय ॥ ५ ॥
हंस कलरव करत अब वर विमल सरितन-तीर।
सारसन की सुभग जोड़ी कहुँ किलोलत नीर ॥ ६ ॥
शुक चकवाक लखाहि कहुँ कहुँ खंजननि की भीर।
स्वेत पंछी उड़त नभ-पथ मनहुँ उजरो चीर ॥ ७ ॥
कंज-रज सों सौरभित सुचि बहत मन्द समीर।
हरत हिय संताप कों अरु करि निरोग शरीर ॥ ८ ॥
पाय सुखमय समय यह है देश-सेवा-वीर!
करहु भारत को सुखी सब हरहु वाकी पीर ॥ ९ ॥

ग्रीष्म का अन्तिम गुलाब

ग्रीष्म-काल के अंत समय की, यह कलिका है अति प्यारी।
विकसी हुई अकेली शोभा, पाती इसकी छवि न्यारी॥
कलियाँ और खिली थीं जो सब, थीं इसकी सखियाँ सारी।
सो सब कुम्हला गई देखिये, सूनी है उनकी क्यारी॥
"सुख दुख दोनों एक साथ ही, आते हैं बारी बारी।
इन कलिकाओं से सूचित है, विधि-विपाक यह संसारी॥

वियोगी चन्द्र

(उषःकाल के समय चन्द्र की ओर देखकर)

सखे चन्द्र ! तुम अधोवदन बैठे क्यों ऐसे ?
उदासीन यह हुआ फूल-सा मुखड़ा कैसे !
कहो मित्र ! किसके वियोग से शोकाकुल हो ?
जिससे इतने तेजोहत हो औ व्याकुल हो ॥
सुता तारकापति के गृह को विदा हुई है;
दुखी हुए तुम; क्योंकि अभी वह जुदा हुई है !
कन्याजन तो सदा मित्र ! दूजे का धन है ;
उदासीन क्यों किया व्यर्थ ही इतना मन है !
जुदा हुई अथवा तुमसे कौमुदी तुम्हारी;
जिससे यह है हुई तुम्हारी हालत सारी ?
नहीं नहीं प्रेमातिरेक से हुए भ्रान्त हो।
दशा विचारो अपनी कुछ तो अभी शांत हो।
देखो तो ये सूर्य सामने आये मिलने;
लज्जा से ही मित्र ! चाँदनी लगी छिपकने।
होती लज्जाशील देवियाँ हैं स्वभाव से,
शोभा इनकी यही, नहीं कुछ हाव-भाव से।
दुःख दूरकर करो 'मित्र का' स्वागत सुख से।
करके कुछ सत्कार मधुर बोलो श्रीमुख से।
दुःख तुम्हारा देख कुमुदिनी सकुची देखो।
अपनी ही सी दशा मित्र ! तुम सबकी लेखो।
सुख सँयोग से दुख वियोग से स्वाभाविक है।
अनुभव करता इसे सदा प्रेमी भाविक है ॥

सज्जनों का स्वभाव

(१)

दिनकर कमलों को स्वच्छ देता सुहास।
शशि कुमुदगणों को रम्य देता विकास।
जलद बरसते हैं भूमि में अम्बु-धारा।
सुजन बिन कहे ही साधते कार्य सारा॥

(२)

विकल अति क्षुधा से देख के पुत्र प्यारा,
जननि-हृदय से है छूटती दुग्धधारा।
लखकर कुदशा त्यों दीन दुःखी जनों की;
सहज प्रकट होती है दया सज्जनों की॥

(३)

लहर-रहित होता है पयोधि प्रशान्त।
सहृदय रहते त्यों धीर गम्भीर शान्त॥
सुख दुख भय चिन्ता आदि से हो अलिप्त—
स्थिरमति रहते हैं साधु ही आत्म-तृप्त॥

(४)

सब नद नदियों का नीर धारा-प्रवाही—
बहकर मिलता है सिन्धु में सर्वदा ही;
तदपि न तजता है आत्म-मर्याद सिन्धु।
सुविपुल सुख में भी गर्व लाते न साधु॥

(५)

यदि सब सरिताएँ ग्रीष्म में शुष्क हों भी,
वह उदधि रहेगा पूर्ण ही मित्र, तो भी।

धन सुख प्रभुता का सर्वथा हो अभाव,
पर सम रहता है सज्जनों का स्वभाव ॥

षोडशोपचार पूजा ।

व्यापक है जो विश्व में, जगदाधार पवित्र ।
उसका आवाहन कहाँ, किया जाय हे मित्र ! ॥१॥
जड़जङ्गम सब जगत को, जिसका ही आधार ।
आसन उसको दें कहाँ, सूझे नहीं विचार ॥२॥
स्वच्छ निरञ्जन निरामय, है जो सभी प्रकार ।
कहो उसे क्यों चाहिये, अर्घ्य-पाद्य की धार ॥३॥
जो स्वाभाविक शुद्ध है, जो निर्मल भगवान ।
स्नान और आचमन का, क्यों चाहिये विधान ?॥४॥
भरा हुआ है उदर में, जिसके यह ब्रह्मण्ड ।
फिर क्यों आवश्यक उसे, तुच्छ वस्त्र का खण्ड?॥५॥
जाना जा सकता नहीं, जिसका कुछ आकार ।
पहनावें कैसे उसे, यज्ञ-सूत्र का हार ? ॥६॥
सुन्दरता का हेतु जो, जो जीवन-आधार ।
कहो उसे क्यों चाहिए, अलङ्कार उपहार ? ॥७॥
जिसे नहीं है वासना, जो सब विधि निर्लेप ।
पुष्पवास क्यों चाहिए, क्यों चन्दन का लेप ?॥८॥
जो विश्वम्भर तृप्त है, परिपूरण सब काल ।
है उसके किस काम के, नैवेद्यों के थाल ॥९॥
जो स्वामी त्रैलोक्य की, सम्पति का है एक ।
उसे दक्षिणा की भला, कहो कौन है टेक ? ॥१०॥

नहीं जान पड़ता कहीं, जिसका पारावार।
कैसे करें प्रदक्षिणा, उस अनन्त की यार ? ॥११॥
अद्वय जो सर्वेश है, नहीं स्वरूप न नाम।
नहीं समझ पड़ता करें, कैसे उसे प्रणाम ? ॥१२॥
जिसका गुण गाते हुए, वेद हुए हैं मौन।
उसका कीर्तन जगत में, कर सकता है कौन ? ॥१३॥
पाते हैं रवि, शशि अनल, जिससे प्रखर प्रकाश।
कहो उसी को कहाँ से, लावें दीप-उजास ? ॥१४॥
भीतर बाहर पूर्ण है, जिसका रूप अनूप।
करें विसर्जन हम कहाँ, उसका वही स्वरूप ? ॥ १५ ॥
पूजा के ये देखिये, हैं षोड़श उपचार।
प्यारे पाठक ! कीजिए, इनका खूब विचार ॥ १६ ॥

अलका-वर्णन

(मेघदूत से)

(१)

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं स चित्राः।
सङ्गीताय प्रहतमुरजाःस्निग्धगम्भीरघोषम् ॥
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः।
प्रासादास्त्वां तुलयतुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

अनुवाद

तेरे साथी सुरधनु तड़ित् हैं वहाँ चित्र नारी।
उन्में गान ध्वनि मुरज की गर्ज तेरी सुप्यारी।
वे ऊँचे त्वत्सम, मणिमई भूमि, तू नीर-धारी,
तेरे ही से सदन अलका के लसें कामचारी !

(२)

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं ।
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ॥
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं ।
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥

अनुवाद

हाथों में श्री कमल अलकों में कली कुंद की है;
पांडु-श्री है वदन पर जो लोध्र रेणू लगी है ।
वेणी में हैं कुरवक गुँथे, कर्ण में हैं शिरीष,
स्त्री साजे हैं तहँ तव दिये नीप से माँग-केश ।

(३)

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्य-पुष्पाः
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्याः ॥
केकोत्कंठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापाः
नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥

अनुवाद

फूले वृक्षों पर अलि जहाँ नित्य गुञ्जारते हैं;
हंसश्रेणीयुत सर सदा कंज भी फूलते हैं ।
नाचैं नित्योत्सुक भवन के चारु प्यारे कलापी
सायंकाल प्रतिदिन जहाँ चंद्रिका है सुहाती ॥

(४)

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै—
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।

नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति—
विंत्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

अनुवाद

आनन्दाश्रु तजकर जहाँ अन्य अश्रू नहीं है;
नाहीं कामज्वर तज व्यथा साध्य जो भोग से है।
कोई मान-प्रिय तज नहीं है वियोग-प्रयोग;
यक्षों को है तरुण वय को छोड़ना और योग।

(५)

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि—
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
सङ्क्रीड़न्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥

अनुवाद

सेती हैं जो सुरसरि-मरुत् सीर औ नीरधारी,
लेती हैं जो सुरतरु तले छाँह संतापहारी।
ऐसी कन्या लखकर जिन्हें देव होते अधीर,
खेलें खोजें कनक-रज में मुष्टि से गुप्त हीर॥

शिवाधार पांडेय

पण्डित शिवाधार पांडेय का जन्म शिवरात्रि सं० १९४४, तदनुसार, ६ फरवरी सन् १८८८ को श्रीमान् पं० शिवदत्त जी पांडेय के यहाँ बुलन्दशहर में हुआ। इनका निवासस्थान पुराना फीलखाना बाजार कानपुर है।

ये कान्यकुब्ज, पटियारी के पांडेय हैं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अलीगढ़ के जिला स्कूल में हुई। सन् १९०१ में इन्होंने फ़र्रुखाबाद के जिला-स्कूल से एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् ये कानपुर के मिशन कालेज में भरती हुये। वहीं से १९०५ में इन्होंने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। १९०७ में इन्होंने म्योर कालेज, प्रयाग से एम० ए० पास किया। १९०८ में ये एल-एल० बी० भी हो गये।

एम० ए०, एल-एल० बी० हो जाने पर पांडेयजी ने दो वर्ष से कुछ अधिक कानपुर में और एक वर्ष तक प्रयाग की हाईकोर्ट में वकालत की। १९११ में, कुछ महीने प्रयाग के समाचार-पत्रों (लीडर, अभ्युदय आदि) से भी इनका सम्बन्ध रहा। १९१२ में म्योर कालेज में इनको अँगरेजी के प्रोफेसर का पद मिल गया। आजकल इलाहाबाद युनिवर्सिटी में रीडर हैं।

पांडेयजी का जीवन बड़ा सादा और स्वभाव अत्यन्त मृदु तथा सरल है। दिखलावे के इन दिनों में, अँगरेजी साहित्य के इतने बड़े विद्वान् होते हुए, इनकी नम्रता तथा विनयशीलता बहुत ही सराहनीय है।

पांडेयजी का अँगरेजी साहित्य पर तो अच्छा अधिकार है ही, हिन्दी-साहित्य के भी ये अच्छे मर्मज्ञ हैं। अभी तक इनकी लिखी हुई केवल दो पुस्तिकाएँ 'समर्पण' और 'पदार्पण' प्रकाशित हुई हैं।

अपनी कविता में बहुत ही सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग करके ये उसे बड़ी ही हृदयहारिणी बना देते हैं। यहाँ इनकी रचना का कुछ चमत्कार हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं :—

बेला-चमेली

बेला चमेली, दोनों सहेली,
बगिया में लागीं विलास करन।

दोनों गोरी गोरी, वयस की दोनों थोरी,
हिलमिल लागीं हुलास करन ॥
नीबू नरङ्गी, सेब जंगी जङ्गी,
आये अलौकिक अनार।
आलूबुखारे, आम प्यारे प्यारे,
लग गये कतारों दरबार ॥
चकई औ चकवा, चटक चतकवा,
चहकैं चहूँ दिसि अपार।
कुहू कुहू बोलैं, कोकिला कलोलैं,
मोर करें शोर बेशुमार ॥
आई अनन्दिनि, छत्र धरे चन्दिनि,
छाई चहूँ दिसि अपार।
काले काले भँवर, झलैं चारु चँवर,
तितलियाँ डुलावें बयार ॥
मोटी मोटी मूलीं, हिँडोलों में झूलीं,
भाँटे झुलावें बार बार।
आली मतवाली, कलेजे की काली,
गाजरें गवावें मलार ॥
जामुन दुरङ्गी, साजैं सरङ्गी,
लीचियाँ बजावैं नैठी ताल।
तुरयाँ तरोई, ककड़ियाँ कोई कोई,
घूसैं घनी ले ले थाल ॥
चंद की चपाती, चुवैं चुहचुहाती,
कहीं पक पिरथी का पोल।

बादलों की बूँदें, कोई खोलें मूँदें,
कोई उड़ावैं ही ओस ॥
बेला चमेली, गावैं सहेली,
तान चली फैल आसमान ।
फूल सारे जुट गये, लट्टू हुये लुट गये,
छूट गया कोयलों का मान ॥
आये गुलाबी, आये महताबी,
आवे गुललाला गुलाब ।
गेंदा दमक उठी, चम्पा चहक उठी,
फूल उठा फूल आफ़ताब ॥
केतकी चटक चली, मालती मटक चली,
सूख गई सेवती की शान ।
बचपन से खेली, संगिनी सहेली,
भूल गईं आपन बिरान ॥
बेला गुलाब मई, सोहै सुरखाबमई,
खिल उठा अखिल अकास ।
चंचल चमेली, बकुल गलमेली,
हूल उठा सारा हुलास ॥
बदरी करौंदे, सारे सीधे औंधे,
खड़े हुये बाँधे कतार ।
फूले फूले फालसा, खिन्नियाँ मदालसा,
थेई थेई थिरकैं अपार ॥
केला नासपाती, बन ठन बराती,
नाचैं शराबियों की तौर ।

आलू रतालू, ले ले के ब्यालू,
खावैं अलग चुप चोर ॥
गाजरों की टोली, भाँटों से ठठोली,
कर कर नाचैं सनाथ।
मूलियाँ सहम गईं, झूलने में थम गईं,
जम गईं, सलगमों के साथ ॥
इतने में पहली, सुन्दर सुनहली,
चुपके किरन आई पास।
कोई पिछड़ गये, कोई पेड़ों चढ़ गये,
भाग गईं भाजियाँ उदास ॥
कलियाँ चटक गईं, चिड़ियाँ सटक गईं,
फैल गया पिरथी प्रकास ॥
नैन मेरे खुल गये, स्वप्न सारे धुल गये,
भूला न हिरदय हुलास ॥
अजौं जाकी आस।

लुकालुकी

माची लुकालुकी या जग जङ्गम आवैं विहंगम जावैं हजारौं।
कोऊ दुराव करैं परि पायन कोऊ दुरैं चढ़ि पुएय पहारौं ॥
कैसे कोऊ वरनै वपुरो विधनाहू दुराय रह्यो मुख चारौं।
मोकों निहारे लुको तू तो लोकन या वन मैं दुरि तोकों निहारौं ॥

हृदय-दुलारी

हृदय दुलारी! किसकी हो प्यारी
जिसका हो हृदय अपार।
सकल जगत को जो नित भूलै—प्रणय-तपस्या कर कर फूलै।

ताही के हिरदय का हार ।।

हृदय दुलारी ! किसकी कुमारी

जिसका हो हृदय उदार ।

अखिल चराचर को जो चाहे—तृण तृण को सुख दुख अवगाहे ।

ताही के लेहौं अवतार ।।

जमुन-जल

जल तेरो जमुने ! आजौ सोई जल !

साँवरे बरन भरो बाँसुरी सुरन भरो ।
रास महारास के हुलास हिये हहरो ।।
अमर कलोल करै मन मेरे कल-कल ।
तप के प्रसाद तू ही ब्रज विहरनहारी ।
विष्णुहू के वाहन से तू ही करै रखवारी ।।
तैंनेही उबारे कलि काली से अखिल खल ।
सूर्य की सुता तूही यम की स्वसा तूही ।
कलि में कालिन्दी श्रीकृष्ण की प्रिया तूही ।।
सरग सिधारैं सीधे सबरे तोरेई बल ।
अवनि न पुनि आवैं भुवन भुवन धावैं ।
दया सों तिहारी दोऊ हाथ दोऊ लोक पावैं ।।
सेवा करैं तोरी सदा तजि के कपट-छल ।
सुख के सदन जाऊँ प्रभु के पदन पाऊँ ।
सदा मैं तिहारे तीर तेरोई सुयश गाऊँ ।।
परम प्रसाद पाऊँ यही मैं तो पल पल ।

उत्तरा-मिलन

वीर हो बली हो सुविदित विजयी हो तुम
अस्त्रन में पंडित अखंडित अमोघ शर।
भूरि महाभाग भागिनेय भगवान के हो
अगजग में जाहिर पिता के पुनि जैसे सुत।
भरतकुल-भूषण विभूषण वसुधा के सुठि
जननी जिय जीवन सजीवन हो मोरे प्रिय !
वीर दुहिता हूँ वीरवंश की सुता हूँ प्रभु
वीर की बधू हूँ वसुधा व्यापी जिनको यश।
संगर को तुमको सिधारत सन्नाह धरे
कैसे कहे उत्तरा न जाओ नाथ ! रण-पथ ?
चलन लगैंगी पल भर में तलवारैं चल
भिड़न लगैंगे भरि भरि कै भुज भारी भट।
दोऊ दल उमहत महान मुठभेड़ ह्वै है
सागर सों सागर अभेरैं ज्यों मत्त जल।
भाँति भाँति फिरिहैं अवर्त्त महा बार बार
ज्यों ज्यों क्रुद्ध करिहैं महान युद्ध महारथ।
कारी अँधियारी कई कोसन कलेसवारी
भारी रणमंडल उमंडिहैं मतंग घट
मानो घोर सोर भरे हलका हिलोरन के
इक पै इक धाइ हैं दिगन्त लौं रोषमय।
हेरि हेरि मारिहो अपार अरि घेरि घेरि
चारों दिसि नाचिहै अपूर्व कर्णिकार ध्वज।
गर्व भरो गर्जि है शरासन रौहिणेयदत्त
धीर वीर धारा बाँधि धाइ हैं इधर उधर।

ऐसो युद्ध माचिहौ मदान चक्रव्यूह मध्य
आर्यपुत्र अवसि पसारिहौ अमर जस।
कौन कौन कीरति निहारी छिति छाइ जैहै
हौं हूँ पिय! सुनिहौं अघाइहौं न जीवन भर।
रोम रोम जननी तुम्हैं हू नव जन्म दैहै
गर्जि गर्जि हँसिहैं टँकोरैं गांडीवधारी
साधु साधु श्रीमुख उचारैंगे चक्रधर।
जाओ रणदेवता समस्त कल्याण करैं।
शंखचक्रधारी त्रिपुरारी की रहो शरण।
जाओ पिय पद निहारिहौं गवाच्छन सों
तुम्हरो रणश्रंगण उतंग कर्णिकार ध्वज।

छन छन इन श्रवनन तव छाइहैं टंकोरैं पिय
सहसन में सुनिहौ अवश्य तव आवत रथ।
दौरि दौरि आरती उतारिहौं अनन्दमई
सेइहौं तिहारे पिय! पूजिहौं पियारे पद।
जाओ देव! तुमको न रोकिहौं दयामय अब
लौटत पिय! लूटिहौं तुम्हीं सों या जय को फल
पत्नी हूँ आपकी महीपति महाव्रत!

कविता-गायत्री

(क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंमपथस्तत्कवयो वदन्ति)

कविता ताको कहैं हृदय पृथिवी जब हालै।
गहन गहन बन गुहा गगन ज्यों गेंद उछालै॥

कविता ताको कहँ हृदय रमनी जब रूठै।
मधुर मधुर जग कोऊ नवल मुरली धुनि तूठै॥
कविता सो सत्कल्पना, दे सपनध्या प्रात।
कविता जिय को जागरन, भुवन भुवन की रात॥
मिहिरमिलित ससि सिला सिखर हिमवत सी बिहरैं।
प्रलय-समुद की बृहद हिलोरैं दुर्मद लहरैं॥
मुख मुकुन्द के लसै ललित रेखा गोरोचन;
किधौं राम को हृदय किधौं सीता के लोचन॥
बलि बलि कला अखण्ड की, कियो अमर उजियार।
जगै दिवानिसि कल्पना, जगत जगावनहार॥

—:—

माखनलाल चतुर्वेदी

पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म सं० १९४५ में चैत्र शुक्ल ११ को हुआ। ये गौड़ ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम पण्डित नन्दलाल चतुर्वेदी था। इनके पूर्वज रानोली ज़िला जयपुर से आकर बाबई ज़िला होशंगाबाद में बस गये थे। इनका जन्म बाबई ही में हुआ। गाँव के मदरसे में शिक्षा समाप्त करके इन्होंने नार्मल पास किया और ये पहले-पहल खँडवा में सन् १९०४ में अध्यापक हुये। अँग्रेज़ी इन्होंने स्वतन्त्र रूप से खँडवा ही में सीखी। अँग्रेज़ी में भी इनको व्यावहारिक ज्ञान काफ़ी है।

पण्डित माधवराव सप्रे के साथ मिलकर पहले इन्होंने 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। कुछ दिनों तक उसके सम्पादक रहे।

सन् १६२१ में असहयोग-आन्दोलन के समय इन्हें ८ महीने के लिये जेल जाना पड़ा। जेल से निकलने पर ये फिर राजनीतिक आन्दोलन में लग गये। मध्यप्रदेश की जनता इनका बड़ा सम्मान करती है। ये बड़े निर्भीक और स्पष्टवादी वक्ता हैं। बीच में कुछ दिनों तक 'कर्मवीर' बन्द हो गया था। उसे इन्होंने फिर खँडवा से निकाला। ये ही उसके सम्पादक भी हैं।

चतुर्वेदीजी बचपन ही से कविता रचने लगे थे। "एक भारतीय आत्मा" के नाम से इनकी कविताएँ पत्रों में प्रकाशित होती हैं। हिन्दी के ये एक राष्ट्रीय कवि हैं। इनकी रचना में शुद्ध देशभक्ति और आत्म-त्याग का बड़ा प्रभावशाली वर्णन रहता है। सं० १६७१ में इनकी स्त्री का देहान्त हो गया। इसका इनके मन पर बहुत मार्मिक प्रभाव पड़ा।

ये बड़े मितभाषी, सरस हृदय, सच्चे देशभक्त, प्रेम के मर्मज्ञ और त्यागी व्यक्ति हैं।

इनकी कविता के नमूने आगे दिये जाते हैं :—

मेरा उपास्य

"लो आया"—उस दिन जब मैंने सन्ध्या-वन्दन बन्द किया,
क्षीण किया सर्वस्व कार्य्य के उज्ज्वल क्रम को मन्द किया।
द्वार बन्द होने ही को थे,—वायु-वेग बलशाली था,
पापी हृदय कहाँ ! रसना में रटने को वनमाली था।
अर्द्धरात्रि, विद्युत-प्रकाश, घन गर्जन करता घिर आया,
लो जो बीते सहूँ—कहूँ क्या,—कौन कहेगा—"लो आया"॥

"लो आया"—छप्पर टूटा है वातायन दीवारें हैं,
पल-पल में विह्वल होता हूँ, कैसी निर्दय मारें हैं।
मैं गिर गया, कहा—क्या तू भी भूल गया ममता माया;
सुनता था दुखिया पाता है—तू कहता है—"लो आया"॥

"लो आया"—हा ! वज्र-वृष्टि है, निर्बल ! सह ले किसी प्रकार,
मेरी दीन पुकार, धन्य है उचित तुम्हारी निर्दय ! मार;
आराधना, प्रार्थना, पूजा, प्रेमाञ्जली, विलाप, कलाप;
"तेरा हूँ, तेरे चरणों में हूँ"—पर कहाँ पसीजे आप !
सहता गया—जिगर के टुकड़ों का बल,—पाया, हाँ, पाया;
आशा थी-वह अब कहता है-अब कहता है—"लो आया"॥

"लो आया"—हा हंत ! त्यागकर दुखिया ने हुँकार किया,
सब सहने जीवित रहने के लिये हृदय तैयार किया।
साथ दिया प्यारे अंगों ने, लो कुछ शीश उठा पाया,
जलते ही पर शीतल बूँदें ! बिजली ने पथ चमकाया !
पर यह क्या ? झोंकों पर झोंके—उहँ, बस बढ़ कुछ झुँझलाया,
थर्राया, अकुलाया—हाँ, सब कुछ दिखला लो "लो आया" ॥

हाथ-पाँव हिल पड़े, हुआ हाँ सन्ध्यावन्दन बन्द हुआ,
ईंटे पत्थर रचता हूँ—स्वाधीन हुआ ! स्वच्छन्द हुआ।
टूटी, फूटी, कुटी,—पधारो !—नहीं,—यहाँ मेरे आवें,
मेरी, मेरी, मेरी, कह प्यारे चरणों से चमकावें।
दीन, दुखी, निर्बल, सबलों का विजयी दल कुछ कर पाया;
नभ फट पड़ा—उजेला छाया,—गूँज उठा—लो, "लो आया"॥

भारतीय विद्यार्थी

(१)

समय जगाता है, हम सब को झटपट जग जाना ही होगा,
देख विश्व-सिद्धान्त कार्य में निर्भय लग जाना ही होगा।

दृढ़ करके मस्तिष्क मनस्वी बनकर वीर कहाना होगा,
पूर्ण-ज्ञान-सर्वेश-चरण पर, जीवन-पुष्प चढ़ाना होगा।
यह स्वार्थी संसार एक दिन बने हमीं से जब परमार्थी,
तब हम कहीं कहा सकते हैं, सच्चे भारतीय विद्यार्थी ॥

(२)

देख देख भारत को उनके है बहती आँसू की धारा,
मानो यह बन गया उन्हीं से सृष्टि-मेखला-सागर खारा।
पर अब अपनी ओर देख मन उनका धीरज धर पाया है,
यह संसार सदा नवयुवकों ही का दम भरता आया है।
'हम पर है सब भार'—बन्धु! यह बात ध्यान से टले न देखो,
विश्वासी वे आर्य्य स्वर्ग में कर कमलों को मलें न देखो॥

(३)

सीख रहे हों पश्चिम से जो धर्म-स्थल में मरने के गुण,
नैतिक छान-बीन की दृढ़ता मर्म-स्थल में धरने के गुण।
हृदय, हाथ, मस्तिष्क मिला कर, कर्म-स्थल जय करने के गुण,
अपनी कार्य्य-शक्ति से दुनिया भर के मन वश करने के गुण।
वे ही हैं माता के रक्षक, वे ही हैं सच्चे शिक्षार्थी,
वे ही हैं लक्ष्यों के लक्षक, प्यारे भारतीय विद्यार्थी॥

(४)

आज जगत की राज-पुस्तिका में भारत का नाम नहीं है!
वर्तमान आविष्कारों में, हाय! हमारा काम नहीं है!
रोता है सब देश, देश में दानों का भी दाम नहीं है!
कहते हैं सब लोग यहाँ के लोगों में कुछ राम नहीं है॥
'नाम नहीं है! काम नहीं है! दाम नहीं है! राम नहीं है!
तो बस, इन्हें प्राप्त करने तक हमको भी आराम नहीं है॥

(५)

भारतमाता ! अपने इन पुत्रों को पहले का-सा बल दे,
हे भारती ! दयाकर क्षण में सब की दुर्बलता तू दल दे।
भारत की सच्ची आत्मायें आगे बढ़ें, उन्हें क्यों भय हो ?
भारतवासी मिलकर गावें—'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो।'
यह सुनकर जगतीतल कह दे, 'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो'
प्रतिध्वनि में जगदीश्वर कह दें, 'भारतवर्ष तुम्हारी जय हो' ॥

(६)

जीवन-रण में वीर ! पधारो मार्ग तुम्हारा मंगलमय हो,
गिरि पर चढ़ना, गिरकर बढ़ना, तुम से सब विघ्नों को भय हो।
नेम निभाओ, प्रेम दृढ़ाओ, शीश चढ़ा भारत उद्धारो,
देवों से भी कहला लो यह—'विजयी भारतवर्ष ! पधारो।'
भारत के सौभाग्य-विधाता, भारत-माता के आशार्थी,
भारत-विजय-क्षेत्र में जाओ प्यारे भारतीय विद्यार्थी ॥

भारत के भावी विद्वान्

(१)

आज कई वीरों के रहते हुआ न उन्नत हिन्दुस्तान,
बना सका कोई गुण, विद्या, बल में उसे न गौरव-वान ॥
तो भी धीरज धरो, डरो मत, मेरे आशाकारी प्राण।
देखो, कुछ कर दिखलावेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥

(२)

हैं किस दुख से दुखी ? विचारो, उनका हरो शीघ्र सन्ताप।
क्यों दुर्बल हैं ? क्यों रोते हैं ? क्यों भूले हैं मधुरालाप ?

मातात्र्यो ! समझाओ उनको, देकर तन मन जीवन दान,
देखो ! दुखी न होने पावें भारत के भावी विद्वान ॥

(३)

आर्य्य-कीर्ति के स्तम्भ, सौख्य के सेतु, महत्ता के अवतार,
कठिन समय में, आशा के बस एकमात्र सच्चे आधार ॥
यही तुम्हारा कष्ट हरेंगे यही बनेंगे शक्ति-निधान।
पिता ! प्राण दे पालो ये हैं भारत के भावी विद्वान ॥

(४)

"अन्न नहीं है, फ़ीस नहीं हैं, पुस्तक है न सहायक, हाय !
जी में आता है, पढ़ लिख लें, पर इसका है नहीं उपाय।
कोई हमें पढ़ाओ भाई ! हुए हमारे व्याकुल प्राण";
हा ! हा ! यों रोते फिरते हैं भारत के भावी विद्वान ॥

(५)

"शुभ्र वस्त्र हैं, बुद्धि शस्त्र है, पढ़ते हैं वन में निश्शंक,
बढ़ा रही है बल वैभव को, प्यारी मातृभूमि की अङ्क ॥
ब्रह्मचर्य्य रख सरस्वती पर दान करेंगे तन, मन, प्राण"।
ये हैं, निस्सन्देह हमारे, भारत के भावी विद्वान ॥

(६)

सूरज ! सावधान हो जाओ, मातृ-भूमि ! तुम धरलो धीर।
पश्चिम ! तू भी शीघ्र सम्हल ले, नीति बदल बन जा गम्भीर ॥
कर्म-क्षेत्र में आते हैं अब, करने को जननी का त्राण।
कई करोड़ दुखों से व्याकुल भारत के भावी विद्वान ॥

देश में ऐसे बालक हों

(१)

विश्व में सब बहनों के लाल, रहे स्वातन्त्र्य-हिँडोले भूल।
स्वर्ग से वे देखो सानन्द, चढ़ाये जाते उन पर फूल॥
अभागिन हूँ मैं ही भगवान, उड़ाई जाती मुझ पर धूल।
चढ़ाये जाते मुझ पर वज्र, गड़ाये जाते मुझको शूल॥
दोष-दुख-दुर्जन-घालक और, विश्वरथ के संचालक हों।
दुखी हूँ, दो, हे दीनानाथ! देश में ऐसे बालक हों॥

(२)

शक्ति हो, हो न कभी हे देव! दुर्बलों के दलने की चाह।
ध्यान हो, कर देगी संहार, सृष्टि का यह दुखियोंकी आह॥
नीचतम नीति न हो स्वीकार, कपट की रहे न मारामार।
रहें यों थोदे कायर नहीं, सहें जो ठोकर अत्याचार॥
हृदय-मण्डल पर लेता रहे, सदा स्वातन्त्र्य-समुद्र तरङ्ग।
प्राण तक दे देने को नित्य, चित्त में उठती रहे उमङ्ग॥

(३)

करें कुछ बिजली का सञ्चार, नसों में भूतकाल के चित्र।
न बिगड़े वर्तमान का हाय! कर्म-मय सुन्दर दृश्य विचित्र॥
बने क्यों कोई बूढ़ा सिंह, भविष्यत् का यों ठीकेदार।
बनावें युवक आप भवितव्य, सँभालें भारत का सब भार॥
समय के सन्देशे के वेद, सुनाई पड़ें, बढ़ावें रोष—
सजावें कोष, हटावें दोष, मिटावें तोष, जगावें जोश॥

(४)

सुनावें तो बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जाँय॥
सृष्टि कट मरने से बच जाय, शस्त्र चाण्डालों के रुक जाँय।

पाप के पण्डे पावें दण्ड, दम्भ से दुनियाँ भर डर जाय।
भगीरथ-मन की विनती मान, स्फूर्ति की गङ्गा कुछ कर जाय॥
प्रेम के पालक हों या न हों, प्रणों के पूरे पालक हों।
भारती ने यों रोकर कहा, "देश में ऐसे बालक हों"॥

आराधना

विश्वदेव! यह देख तुम्हारी दुर्गम चालें,
किससे क्या क्या कहें? कहाँ तक आँसू ढालें?
जी होता है,—तुम्हें सम्हालें देखें भालें;—
'सुनो सुनो,—क्या सुनें? भुजायें स्वयं उठा लें।
लो, सुनो,—सफलता आ रही, है किन्तु मृत्यु के साथ है।
बस, उठो, कर्म करने लगो, जीत तुम्हारे हाथ है॥

हृदय

वीर-सा गम्भीर-सा यह है खड़ा
धीर होकर यह अड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में
जन-दान में सानन्द जीवन-दान में॥

हट रहा जो दम्भ आदर प्यार से
बढ़ रहा जो आप अपनों के लिये॥
डट रहा है जो प्रहारों के लिये
विश्व की भरपूर मारों के लिये॥

देवताओं को यहाँ पर बलि करो
दानवों का छोड़ दो सब दुःख-भय।
"कौन है"?—यह है महान मनुष्यता
और है संसार का सच्चा 'हृदय'॥

क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियाँ?
दासता की हाय! हथकड़ियाँ पड़ीं॥
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी?
कण्ठ पर जञ्जीर की लड़ियाँ पड़ीं।

दास्य भावों के हलाहल से हरे!
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों?
यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों?

वह सुनो! आकाश वाणी हो रही
"नाश पाता जायगा तबतक विजय"
वीर?—'ना' धार्मिक?—'नहीं' सत्कवि? 'नहीं'
देश में पैदा न हो जबतक 'हृदय'॥

देश के बलवान भी भरपूर हैं
और पुस्तक-कीट भी थोड़े नहीं।
हैं यहाँ धार्मिक ढले टकसाल के
पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं॥

ठोकरें खातीं मनों की शक्तियाँ
राम-मूर्ति बने ख़ुशामद कर रहे।
पूजते हैं—देवता दबते नहीं;
दीन, दब्बू बन करोड़ों मर रहे॥

"हे हरे ! रक्षा करो"—यह मत कहो
चाहते हो इस दशा पर जो विजय,
तो उठो ढूँढ़ो छुपा होगा कहीं
राष्ट्रका बलि 'देश का ऊँचा हृदय' ॥

फूल से कोमल, छबीला रत्न से
वज्र से दृढ़ शुचि सुगन्धी यश से।
अग्नि से, जाज्वल्य हिम से शीत भी,
सूर्य्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से ॥

वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा
भूमि से बढ़कर क्षमा की मूर्ति है।
कर्म का औतार रूप शरीर जो
श्वास का संचार की वह स्फूर्ति है ॥

मन महोदधि है वचन पीयूष है
परम निर्दय है बड़ा भारी सदय;
कौन है ! है देश का जीवन यही
और है वह, जो कहाता है 'हृदय' ॥

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे
विश्व में फैली भयानक भ्रान्तियाँ।
दंड अत्याचार बढ़ते ही गये
कट गये लाखों, मिटी विश्रान्तियाँ ॥

गद्दियाँ टूटीं असुर मारे गये—
किस तरह ? होकर करोड़ों क्रान्तियाँ
तब कहीं है पा सकी मातामही
मृदुल जीवन में मनोहर शान्तियाँ ॥

बज उठीं संसार भर की तालियाँ
गालियाँ पलटीं—हुई ध्वनि जयति जय ॥
पर हुआ यह कब ! जहाँ दीखा अहो !
विश्व का प्यारा कहीं कोई 'हृदय' ॥

क्यों मुझे तुम खींच लाये ?

एक गो-पद था, भला था, कब किसी के काम का था ?
क्षुद्र तरलाई गरीबिन, अरे कहाँ उलीच लाये ?
एक पौधा था पहाड़ी, पत्थरों में खेलता था,
जिये कैसे, जब उखाड़ा ? गो अमृत से सींच लाये !

एक पत्थर बे घड़ा-सा, पड़ा था जग-ओट लेकर,
उसे और नगण्य दिखलाने नगर-रव बीच लाये ?
एक वन्ध्या गाय थी, हो मस्त वन में झूमती थी,
उसे प्रिय, किस स्वाद से सिंगार वध-गृह बीच लाये !

एक वन मानुस, बनों में, कन्दरों में, जी रहा था,
उसे बलि करने कहाँ तुम, ऐ उदार दधीच लाये ?
जहाँ कोमलतम, मधुरतम वस्तुयें जी से सजाईं,
इस अमर सौन्दर्य में, क्योंकर उठा यह कीच लाये ?

चढ़ चुकी है, दूसरे ही देवता पर, युगों पहिले,
वही बलि निज देव पर देने, दृगों को मींच लाये !
क्यों मुझे तुम खींच लाये !

जयशङ्करप्रसाद

बाबू जयशङ्करप्रसाद का जन्म माघ शुक्ल १०, सं० १९४६ में, काशी में हुआ। इनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसादजी सुँघनी साहु था, जो काशी के गण्य-मान्य रईसों में थे; दान-वीरता में सुप्रसिद्ध और स्वजाति के मुकुट-स्वरूप थे और जिनकी सहायता से बहुसंख्यक विद्यार्थियों को संस्कृत के पंडित और विद्वान् होने का अवसर मिला।

योग्य पिता के योग्य पुत्र होने के कारण जयशंकरप्रसादजी बाल्यावस्था ही से बड़े होनहार थे। पहले-पहल इन्हें घर ही पर संस्कृत और हिन्दी की शिक्षा दिलाई गई। फिर ये क्वींस-कालेजियट स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ने के लिये भर्ती किये गये। बारह वर्ष ही की अवस्था में इन्होंने मिडिल पास किया। किन्तु इन्हीं दिनों इनके पिता का स्वर्गवास होगया, इससे इन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा। इनके बड़े भाई शंभुरत्नजी ने घर पर ही पंडित, मास्टर और मौलवी रखकर इनको संस्कृत, अँग्रेज़ी और उर्दू-फ़ारसी पढ़ाने की व्यवस्था कर दी। इससे अल्पकाल ही में इन्होंने उपर्युक्त तीनों विषयों में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। इनकी सत्रह वर्ष की अवस्था में इनके बड़े भाई का भी देहान्त हो गया। इससे गृहस्थी, ज़मींदारी, दूकान और कारखाने का एक बड़ा बोझ इनके कंधे पर आ पड़ा। इन्होंने बड़ी योग्यता से उसे सँभाला। लोकोपकार, दीन-हीन जनों की सहायता, वाणिज्य-व्यवसाय आदि का कार्य जैसा इनके पिताजी के समय से चला आ रहा था, इन्होंने उसे वैसा ही क़ायम रक्खा। स्वजाति में इनको वैसा ही सम्मान मिला, जैसा इनके पिताजी और बड़े

भाई का था। कार्य का इतना भार ऊपर रखते हुये भी इन्होंने साहित्य-सेवा में कोई कमी नहीं आने दी।

कविता की ओर इनकी रुचि बालकपन ही से थी। सात-आठ वर्ष ही की अवस्था से ये चटपटी तुक-बन्दियाँ करने लगे थे। ये केवल एक प्रसिद्ध कवि ही नहीं, सिद्ध-हस्त कहानी-लेखक और प्रसिद्ध नाटककार भी थे। इन्होंने हिन्दी में सर्व-प्रथम छायावाद और भिन्न-तुकान्त पद्य-रचना का श्रीगणेश किया था। भाव और मौलिकता इनकी लेखनी की विशेषता थी।

कामायनी पर इनको १२००) का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक मिला था। पर पुरस्कार मिलने के पहले ही इनका देहान्त हो चुका था। इनके सिवा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लेख और कविताएँ निकलती ही रहती थीं। हिन्दी के प्रायः सभी सुलेखक, सुकवि और सम्पादक इनकी कविता की मौलिकता, भाषा और भाव की सराहना करते हैं। ये हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों में सरस कविता रचने में पटु थे।

इनका जीवन कवित्व-मय था। ये बड़े ही प्रसन्नचित्त और मिलन-सार मनुष्य थे। बड़े अध्ययनशील थे। शोक की बात है कि १९३८ में इनका क्षयरोग से देहान्त होगया। हिन्दी-संसार ने इनकी मृत्यु का हृदय से दुःख अनुभव किया।

इनके प्रकाशित ग्रंथों की सूची यह है :—कानन-कुसुम (फुटकर कविताओं का संग्रह), प्रेम-पथिक (भिन्नतुकान्त काव्य), महाराणा का महत्व (भिन्नतुकान्त काव्य), सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (ऐतिहासिक), छाया (गल्पों का गुच्छा), उर्वशी (चम्पू), राज्यश्री (नाटिका), करुणालय (गीति-नाटक), प्रायश्चित्त (नाटक), कल्याणी-परिणय (रूपक), विशाख (ऐतिहासिक नाटक), झरना (काव्य-माला), अजातशत्रु (बौद्धकालिक नाटक), जन्मेजय का नाग-यज्ञ (नाटक),

आँसू (भावपूर्ण काव्य), प्रतिध्वनि (छोटी कहानियों का संग्रह), कङ्काल (उपन्यास), नवपल्लव (कहानियाँ), कामना (नाटक), स्कन्दगुप्त (नाटक) और कामायनी (महाकाव्य)।

यहाँ इनकी रचना के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं:—

पाइ आँच दुख की उठत जब आह सब
धीरज नशाय तब कैसे थिर होइये।
पावत न और ठौर तुम्हरी सरन छोड़
रहे मुख मोड़ तुम काके सौंह रोइये।
छाइ रही आह तिहुँलोकन में मेरे जान,
तेरी करुना ते ताहि कैसे करि गोइये।
हिलि उठै हिय, जहाँ आसन तुम्हारो, तऊ
तुम ना हिलत ऐसे अचल न होइये॥

विमल इन्दु की विशाल किरनें प्रकाश तेरा बता रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगत को लीला दिखा रही है॥
प्रसार तेरी दया का कितना यह देखना हो तो देखे सागर।
तेरी प्रशंसा का राग प्यारे तरङ्ग-मालायें गा रही हैं॥
तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वो देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हँसने की धुन में नदियाँ निनाद करती ही जा रही हैं॥

किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का यह थका चरण है॥

आँखों में अलख जगाने को,
यह आज भैरवी आई है।
ऊषा-सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है।
कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज-भरी चितवन।
है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की अँगड़ाई है।
लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
सागर का उद्वेलित अंचल।
है पोंछ रहा आँखें छलछल,
किसने यह चोट लगाई है?

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबा रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये,
अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

सब जीवन बीता जाता है।
धूप-छाँह के खेल सदृश,
सब जीवन बीता जाता है।
समय भागता है प्रति क्षण में
नव-अतीत के तुषार-कण में
हमें लगाकर भविष्य-रण में
आप कहाँ छिप जाता है!
सब जीवन बीता जाता है।

× ×

बंशी को बस बज जाने दो
मीठी मीड़ों को आने दो
आँख बन्द करके गाने दो
जो कुछ हमको आता है।
यह जीवन बीता जाता है।

—स्कंदगुप्त

आह! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे संध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन-विपिन की तरुछाया में

पथिक, उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई ?
लगी सतृष्ण दीठ थी सब की
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह ! बावली !
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ में,
प्रलय चल रहा अपने पथ में,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर—
उससे हारी होड़ लगाई।

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !
जब सावन-घन-सघन बरसते
इन आँखों की छाया-भर थे !
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे।
सुरधुन-रंजित नव-जलधर से
भरे क्षितिज-व्यापी अम्बर से
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे !
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे।
प्राण-पपीहा के स्वरवाली,
बरस रही थी जब हरियाली,
रस जलकन मालती-मुकुल से
जो मदमाते गंध-विधुर थे।
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !

अस्ताचल पर युवती संध्या की, खुली अलक घुँघराली है।
लो मानिक मदिरा की धारा, अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी, झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का, हृदय मृदु प्रणय रोष-भरा,
वे हँसती हुई दुलार-भली, मधु लहर उठानेवाली हैं॥

× ×

भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग-भरे अधरों से उन्हें लगा ली है।
वसुधा मदमाती हुई उधर, आकाश लगा देखो झुकने,
सब झूम रहे अपने सुख में, तूने क्यों बाधा डाली है?

—ध्रुवस्वामिनी

उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौंदर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के, सपने सब जगते रहते हैं।

प्रायः लोग कहा करते हैं रात भयानक होती है।
घोर कर्म भीमा रजनी के आश्रय में सब होते हैं॥
किन्तु नहीं, दुर्जन का मन उससे अँधियारा होता है।
जहाँ सरल के लिये अनेक अनिष्ट विचारे जाते हैं॥
जिसकी संकीर्णता निरखकर स्वयं अँधेरा घबरावे।
उस खल हृदय से कहीं अच्छी होती है भव में रजनी॥
जहाँ दुखी प्रेमी निराश सब मीठी निद्रा में सोते।
आशा-स्वप्न कभी भी तो तारा-सा झिलमिल करता है॥

चिर-बिछोहियों को क्रीड़ावश होकर निद्रा बीच कभी।
कुहुक कामिनी मिला दिया करती है, इतना क्या कम है ?

भूलि-भूलि जात पद कमल तिहारो, कहो
ऐसी नीच मूढ़ मति कीन्हीं है हमारी क्यों ?
धाय के धँसत काम क्रोध सिंधु संगम में
मन की हमारे ऐसी गति निरधारी क्यों ?
झूठे जग लोगन में दौरिके लगत नेह
साँचे सच्चिदानँद में प्रेम ना सुधारी क्यों ?
बिकल बिलोकत न हिय पीर मोचत हो
एहो दीनबन्धु, दीनबन्धुता बिसारी क्यों ?

---

(१)

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आई।

(२)

बस गई एक बसती है, स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील-निलय में।

(३)

ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी, उस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल, मेरे उस महा मिलन के।

(४)

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना।

(५)

जल उठा स्नेह दीपक-सा, नवनीत हृदय था मेरा;
अब शेष धूम-रेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा।

(६)

इस विकल वेदना को ले, किसने सुख को ललकारा!
वह एक अबोध अकिञ्चन, बेसुध चैतन्य हमारा!

(७)

छलना थी तब भी मेरा, उसमें विश्वास घना था;
उस माया की छाया में, कुछ सच्चा स्वयं बना था।

(८)

तुम रूप-रूप थे केवल, या हृदय भी रहा तुमको?
जड़ता की सब माया थी, चैतन्य समझकर हमको।

(९)

लहरों में प्यास भरी थी, थे भँवर-पात्र भी खाली,
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली।

(१०)

चेतना लहर न उठेगी, जीवन-समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग-प्रलय थी, विच्छेद मिलन फिर होगा।

चल, वसंत-बाला-अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त;
आतीं मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त।
मधुकर से कर संधि विचर कर उषा नदी के तट—उस पार;
चूसा रस पत्ती पत्ती से, फूलों का दे लोभ अपार।

लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलों के;
अवयव थे, शृङ्गार रहे जो बनमाला के झूलों से।
आशा देकर गले लगाया, रुके न वे फिर रोके से;
उन्हें हिलाया, बहकाया भी, किधर उड़ाया झोंके से।
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे, फिर गिरे अलग हो वृन्तों से;
वे निरीह मर्माहत होकर, कुसुमाकर से कुन्तों से।
नवपल्लव का सृजन ! तुच्छ है, किया बात से वध जब क्रूर;
कौन फूल-सा हँसना देखे, वे अतीत से भी अब दूर।
लिखा हुआ उनकी नस-नस में इस निर्दयता का इतिहास;
तू अब 'आह' बनी घूमेगी, उनके अवशेषों के पास।

तेरा प्रेम-हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते हैं।
विरह-सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥
दौड़, दौड़ कर थका हुआ है, पड़कर प्रेम-पिपासा में।
हृदय खूब ही भटक चुका है, मृग-मरीचिका-आशा में॥
मेरे मरुमय-जीवन के हे, सुधा-स्रोत दिखला जाओ।
अपनी आँखों के आँसू से, इसको भी नहला जाओ॥
डरो नहीं, जो तुमको मेरा, उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन, इस मुख को 'चुप' कर देगा॥

क्या अलका की बिकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब;
सुखी सो रहे थे इतने दिन ! कैसे ? हे नीरद ! निकुरम्ब।
बरस पड़े क्यों आज अचानक, सरसिज-कानन का संकोच।
अरे, जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए क्यों ? किसका सोच ?

किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ़-समान।
पिघल रहे किसकी गर्मी से हे करुणा के जीवन-प्रान!

चपला की व्याकुलता लेकर, चातक का ले करुण-विलाप।
तारा आँसू पोंछ गगन के रोते हो किस दुख से आप?

किस मानस-निधि में न बुझा था वड़वानल जिससे बन भाप।
प्रेम प्रभाकर-कर से चढ़कर इस अनन्त का करते माप!

क्यों जुगनू का दीप जला है पथ में पुष्प और आलोक।
किस समाधि पर बरसे आँसू? किसका है यह शीतल शोक?

थके प्रवासी बनजारों से लौटे किस मन्थर गति से।
किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से?

विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ केवल, चंचल मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल तब होता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में
विश्व के कुसुमित कानन में।
जब लेता हूँ आभारी हो बल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती अलियों का हो गान;
विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति तेरे आँगन में।
जब करता हूँ कभी प्रार्थना कर संकलित विचार,
तभी कामना के कंकण की हो जाती झनकार;
चमत्कृत होता हूँ मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में।

---

(१)

उसी स्मृति सौरभ में मृग-मन मस्त रहे
　　यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।
शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं में
　　छिपिये उसी में मत बाहर हो भींजिये॥
हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा
　　अहो प्राणप्यारे! तो कठोरता न कीजिये।
क्रोध से, विषाद से, दया या पूर्व प्रीति ही से
　　किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये॥

(२)

आवे इठलात जलजात पात के से विन्दु,
　　कैधों खुली सीपी माँहिं मुकुता दरस है।
कढ़ी कंज कोषतें कलोलिनी के सीकर से,
　　प्रात हिमकन से न सीतल परस है।
देखे दुख दूनो उमगत अति आनँद सों,
　　जान्यो नहीं जाय याहि कौन सो हरष है।
तातो, तातो, कढ़ि रूखे मन को हरित करे,
　　ऐरे मेरे आँसू ये पियूष से सरस है॥

पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए॥
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे॥
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं॥

गोपालशरणसिंह

रीवाँ राज्य में नईगढ़ी का इलाक़ा बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है। ठाकुर गोपालशरणसिंह नईगढ़ी के सुप्रतिष्ठित इलाक़ेदार और सेंगर-वंश के भूषण हैं। इनके पिता का नाम लाल जगतबहादुरसिंह था। वे बड़े ही दयालु और धर्म-निष्ठ तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान् और विद्या-व्यसनी थे। उन्होंने एक संस्कृत-पाठशाला खोल रक्खी थी, जिसमें विद्यार्थियों को शिक्षा ही मुफ़्त नहीं दी जाती थी, बल्कि भोजन और वस्त्र भी मिलता था।

ठाकुर साहब के पितामह पुरानी चाल-ढाल के बड़े शूरमा क्षत्रिय थे। उनके रण-कौशल की अनेक किम्वदन्तियाँ सुनी जाती हैं; जिनसे पता चलता है कि वे वास्तव में एक वीर पुरुष थे।

पौष शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १६४८ को ठाकुर गोपालशरणसिंह का जन्म हुआ। 'होनहार बिरवान के, होत चीकने पात', इस कहावत के अनुसार बाल्यकाल ही से इनमें नैसर्गिक प्रतिभा थी। शैशवावस्था के पश्चात् पिताजी के निरीक्षण में इनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। हिन्दी की साधारण योग्यता हो जाने पर इनको संस्कृत का अभ्यास कराया गया। अल्पकाल ही में इन्होंने संस्कृत-भाषा में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। १२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ किया। इसी वर्ष इनके पिताजी का देहान्त हुआ। १५ वर्ष की अवस्था में ये दरबार हाई-स्कूल, रीवाँ में प्रविष्ट हुए और सन् १६१० में ये मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। छात्रावस्था में इन पर अध्यापकों की विशेष कृपा रहती थी और ये अपनी कक्षा में उत्तम विद्यार्थी गिने जाते थे।

इन्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर चुकने पर ये विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षाओं के लिये तैयार हुये और प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में इन्होंने प्रवेश किया। परन्तु कई कारण ऐसे पड़े कि इनको दुःख के साथ कालेज छोड़ना पड़ा। पर ज्ञान-पिपासा शान्त न हुई। घर ही पर अभ्यास करके इन्होंने अनेक विषयों में बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली है।

ये रीवाँ राज्यान्तर्गत प्रथम कक्षा के सुप्रतिष्ठित ताज़ीमी इलाकेदारों में हैं और चमर-छड़ी आदि राज-चिन्हों से विभूषित हैं। इनके सुप्रबन्ध से इनके इलाके की प्रजा विशेष सुखी है। बेदखली और नज़राना वग़ैरह का तो यहाँ नाम तक नहीं है। वसूली लगान की भी कार्रवाई इस प्रकार की जाती है, जिससे प्रजा को कष्ट न हो। ग़रीब से ग़रीब प्रजा की भी ठाकुर साहब के पास पहुँच और सुनवाई हो जाती है और सब के दुख दूर करने की यथेष्ट चेष्टा की जाती है। फलतः इलाके की सारी प्रजा ठाकुर साहब के प्रति विशेष भक्ति-भाव रखती है और इनके न्याय-दया-युक्त शासन की प्रशंसा करती है।

ठाकुर साहब अपने परिवार के सम्बन्ध में बड़े सौभाग्यवान् हैं। इनके चार सहोदर भाई हैं, जिनमें से दो भाई शिक्षा प्राप्त करके राज्य के दो उच्च पदों पर नियुक्त हैं और बहुत अच्छी तरह काम कर रहे हैं। सब से छोटे भाई कुँवर दिवाकरसिंह भी सुशिक्षित हैं। ठाकुर साहब के सात पुत्र और तीन कन्याएँ हैं। सब से बड़े पुत्र कुँवर सोमेश्वरसिंह बी० ए०, एल-एल० बी० हैं। उनका विवाह श्रीमान् राजा बहादुर कुशलपालसिंह साहब की सौभाग्यवती पुत्री से हुआ है। कुँवर साहब अपने कवि-पिता के कवि-पुत्र हैं। ऐसा सुन्दर संयोग संसार में बहुत कम दिखाई पड़ता है। जब कुँवर साहब की अवस्था १४-१५ वर्ष की थी, तभी से वे हिन्दी में कविता लिखने लगे थे। इनकी

दो पुस्तकें,—'रत्ना' और 'दृगजल', जिनमें इनकी कविताओं का संग्रह है, प्रकाशित हो चुकी हैं।

ठाकुर साहब को बाल्य-काल ही से कविता से प्रेम है। जब इनकी अवस्था १०, ११ वर्ष की थी, तभी ये हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनाएँ चाव से पढ़ा करते थे। संस्कृत में भी इनकी अभिरुचि काव्यों ही की ओर विशेष थी। थोड़ी ही उम्र से ये संस्कृत के रघुवंश और शिशुपाल-वध इत्यादि काव्यों का अध्ययन करने लगे थे। यद्यपि काव्यानुराग इनमें पहले ही से विद्यमान् था, परन्तु पढ़ाई में लगे रहने के कारण १८ वर्ष की उम्र तक कविता लिखने की ओर इनका ध्यान नहीं रहा। इनके रचना-काल का आरम्भ सन् १९११ से हुआ, जब ये अपनी शिक्षा समाप्त करके घर पर रहने लगे थे। एक-आध साल तक इन्होंने ब्रज-भाषा में स्फुट रचनाएँ कीं। सन् १९१२ से फिर बोलचाल की भाषा में कविताएँ लिखना आरम्भ किया, जो मुख्यतः सरस्वती में प्रकाशित होती रहीं। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में कवित्व की मात्रा पर्याप्त देखकर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी कविता लिखते रहने के लिये इनको बराबर प्रोत्साहित करते रहते थे।

सन् १९१६ तक ठाकुर साहब बराबर सरस्वती में कविता लिखते रहे। उसके बाद, जब इलाके का प्रबन्ध इनके हाथ आ गया, तब इनका समय उसी में लगने लगा। इससे रचना-कार्य ५, ६ वर्षों तक प्रायः स्थगित-सा रहा। परन्तु सन् १९२३ से इन्होंने फिर से कविता लिखनी शुरू की और तब से बराबर प्रतिमास इनकी दो-एक कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। थोड़े ही समय में इनकी रचनाओं की हिन्दी-संसार में धूम मच गई। सरस और सरल होने के कारण इनकी कविताएँ विशेष लोक-प्रिय हो गई हैं।

इन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि बोलचाल की भाषा में भी

वैसी ही मधुर रचना हो सकती है, जैसी व्रज-भाषा में हो चुकी है। कानपुर के अखिल-भारतीय कवि-सम्मेलन के सभापति बाबू जगन्नाथप्रसाद "भानु" ने अपने भाषण में स्वीकार किया है कि ठाकुर साहब की रचनाएँ मधुरता में व्रज-भाषा की कविताओं की स्पर्द्धा करती हैं। डाक्टर गंगानाथ झा तथा और भी कितने ही बड़े-बड़े विद्वानों ने इनकी रचनाओं की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाद्र०, १६८१ की सरस्वती में ठाकुर साहब के विषय में एक लेख लिखा था; जिसमें वे लिखते हैं—"ठाकुर गोपालशरणसिंह कविता की दृष्टि से भी राजा हैं और लौकिक विभूति की दृष्टि से भी। आप बड़े विद्या-व्यसनी, बड़े उदार-चरित और हिन्दी के बहुत बड़े प्रेमी हैं। यद्यपि आपसे मिलने का सौभाग्य हमें कभी नहीं प्राप्त हुआ; तथापि पत्र-द्वारा प्रकट हुये आपके सौजन्य, औदार्य और शिष्टतापूर्ण व्यवहार पर हम मुग्ध हैं।"

ठाकुर साहब सं० १९८२ में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ होने वाले अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन, वृन्दावन के सभापति निर्वाचित हुए थे।

ठाकुर साहब तीन वर्षों तक, सन् १६३२ से १६३४ तक, रीवाँ राज्य के मंत्रि-मंडल के सदस्य रहे।

सन् १६३३ में प्रयाग में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के अभिनंदनार्थ जो द्विवेदी-मेला के नाम से साहित्यिक समारोह हुआ था, ठाकुर-साहब उसके स्वागताध्यक्ष थे।

मैसूर में सन् १६३५ में होनेवाली ओरियंटल कान्फ्रेंस के अवसर पर ठाकुर साहब अखिल भारतीय बहुभाषा-कवि-सम्मेलन के सभापति हुये थे। यह सम्मान समस्त हिन्दी-कवियों के लिये भी बड़े गौरव का कहा जायगा।

ठाकुर साहब सन् १९३० से हिन्दुस्तानी एकेडेमी की कार्यकारिणी समिति के प्रमुख सदस्यों में हैं। ये मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर के उपसभापति थे और रीवाँ के श्रीरघुराज-साहित्य-परिषद् के सभापति भी हैं।

ठाकुर साहब बड़े सरस हृदय और मैत्री के सच्चे निर्वाहक व्यक्ति हैं। बड़े प्रसन्नचित्त, मिलनसार और सुशील हैं। इलाहाबाद में इनकी कोठी प्रायः सभी विचारों के साहित्यिकों का एक अड्डा है। साहित्यिकों के सिवा प्रायः सभी उच्च श्रेणी के सरकारी और ग़ैर सरकारी व्यक्तियों में ठाकुर साहब की मान्यता है। ऐसी लोकप्रियता शायद ही किसी हिन्दी-साहित्यिक को प्राप्त हो।

ठाकुर साहब की कविताओं के पाँच संग्रह अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं।—माधवी, कादंबिनी, मानवी, ज्योतिष्मती और संचिता। इन संग्रह-ग्रंथों में इनकी बहुमुखी प्रतिभा के अनेक चमत्कार दिखाई पड़ते हैं। ठाकुर साहब बड़ी ही परिमार्जित भाषा में अपने भावों को बड़ी सरलता से व्यक्त कर सकते हैं, यह इनकी खास विशेषता है।

यहाँ ठाकुर साहब की कुछ चुनी हुई कविताएँ दी जाती हैं—

माधवी से—

ब्रज-वर्णन

(१)

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृङ्ग,
उर कलियों में सदा ब्रज-नर-नारी की।
कण-कण में है यहाँ व्याप्त दृग-सुखकारी,
मञ्जु मनोहारी मूर्ति मञ्जुल मुरारी की।

किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देखकर गोवर्धन-धारी की?
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्म-भूमि यही,
जन-मन-हारी वृन्दा-विपिन-विहारी की॥

(२)

अङ्कित ब्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता-द्रुम बल्लियों में और फूल-फूल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल वतला-सी रही,
ग्वाल-बाल सङ्ग वह लोटे इस धूल में।
कलकल-रूप में है वंशी-रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिन्दजा के कूल में।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मञ्जु मानस-दुकूल में॥

(३)

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिलाती है।
फूली फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हीं की दिव्य देह की ही आती है।
सुयश उन्हीं का शुक-सारिका सुनातीं सदा,
कूक-कूक कोकिला उन्हीं का गुण गाती है।
हरी-भरी दृग-सुखदाई मनभाई मञ्जु,
यह ब्रज-मेदिनी उन्हीं की कहलाती है॥

वह

(१)

रहती उसी की मञ्जु मूर्ति मन-मन्दिर में,
जगमग ज्योति जग रही मन भाई है।
लोचनों ने जल भर-भर नहलाया उसे,
अश्रु-मोतियों की मृदु माला पहनाई है।
उर ने पवित्र प्रेम-आरती दिखाई उसे,
साँसों ने चलाया पंखा अति सुखदाई है।
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब सेवा में उसी की लगी,
प्राणों में उसी की आज होती पहुनाई है॥

(२)

क्या न है बसेरा प्राण ही में प्राण-वल्लभ का,
फिर क्यों सदैव प्राण रहता अधीर है?
क्यों न तृप्त होते पान करके विलोचन ये,
उसके स्वरूप की सुधा ही नेत्र-नीर है।
जानता नहीं क्या उर-कुञ्ज में छिपा है वह,
क्यों सदा पुकारता उसी को कण्ठ कीर है?
एक क्षण भी है उसे भूलने न देती कभी,
धन्य धन्य धन्य मेरे मानस की पीर है॥

चन्द्र-खिलौना

देख पूर्ण चंद्रमा को मचल गया है शिशु,
लूँगा मैं खिलौना यह मुझे अति भाया है।

माता ने अनेक भाँति उसे समझाया पर,
एक भी न माना और ऊधम मचाया है।
निज मुख-चंद्र का रुचिर प्रतिबिम्ब तब,
दिखाकर दर्पण में उसे बहलाया है।
हँसकर कौतुक से बोली चारु चंद्र-मुखी,
ले तू अब चंद्र वह इसमें समाया है॥

वियोगिनी

सोह रहे ठौर-ठौर जलज जलाशयों में,
मोह रहे मन को निकुञ्ज-पुञ्ज न्यारे हैं।
फूल रहे कमनीय केतकी कदम्ब कुन्द,
भूल रहे जिन पर भृङ्ग मोद-धारे हैं।
बोल रहे कोकिल हैं ललित लताओं पर,
डोल रहे मोर मञ्जु पक्ष को उभारे हैं।
किन्तु प्राणप्यारे दृश्य प्यारे ये तुम्हारे बिना,
प्यारे हमें होकर भी लगते न प्यारे हैं॥

संयोग

हो रहते तुम नाथ जहाँ, रहता मन साथ सदैव वहीं है।
मञ्जुल मूर्ति बसी उर में, वह नेक कभी टलती न कहीं है।
लोलुप लोचन को दिखती, वह चारु छटा सब काल यहीं है।
है वह योग मिला हमको, जिसमें दुख-मूल वियोग नहीं है॥

स्मृति

प्रात-प्रयाण-कथा सुन के, उसके मुख-पङ्कज का मुरझाना।
और ज़रा हँस के उसका, अपने मन का वह भाव छिपाना।
किन्तु अचानक ही उसके, वर लोचन में जल का भर आना।
सम्भव है न कभी मुझको, इस जीवन में वह दृश्य भुलाना॥

निवेदन

यही परिताप है कि मुझे यह सूझा नहीं,
पाप की लता है कभी फलती न फूलती।
निज निठुराई की विशाल प्रतिभा कराल,
नागिन-समान मेरे लोचनों में झूलती।
जिनको सताया उन्हीं दीन दुखियों की आह,
हरदम मेरे उर में है शूल हूलती।
मोह से मदान्ध हो तुम्हें जो नाथ! भूल गया,
मुझे वह भूल है भुलाए नहीं भूलती॥

गोपाल

कब से तुम्हारी राह दिन-रात देखता हूँ,
दयाधन! दया कर दया दिखलाओ तुम।
यह तो बताओ तुम छिपे किस लोक में हो,
आओ शीघ्र मुझे मत और तरसाओ तुम।
राधा के सहित करो मेरे उर में निवास,
और सब मेरी भव-बाधा को मिटाओ तुम।
जाऊँ मैं कहाँ गोपाल शरण तुम्हारी छोड़,
नाम के ही नाते अब मुझे अपनाओ तुम॥

प्रश्न

किसके मनोज्ञ मुख-चन्द्र को निहारकर,
मेरा उर-सागर सदैव है उछलता।
किसके समीप शुद्ध भाव से पहुँचकर,
किसी ओर मेरा चल चित्त भी न चलता।
मेरा प्राण-वायु किसे पंखा झलता है सदा,
किसका अनूप रूप आँखों में टहलता।
यह तो बता दो ज़रा मेरे मनो-मन्दिर में,
किसका पुनीत प्रेम-दीपक है जलता॥

शिशु की दुनिया

(१)

माना सदा जाता रजनीश है खिलौना वहाँ,
बनता तमाशा वहाँ नित्य अंशुमाली है।
डाले हुए पैर का अँगूठा मुख में मनोज्ञ,
आता वहाँ याद शिशु-रूपी वनमाली है।
लाली अनुराग की सदैव रहती है वहाँ,
रखती उजाला वहाँ चन्द्र-मुखवाली है।
बनते मनुज भी हैं हाथी और घोड़ा वहाँ,
शिशु ! सचमुच तेरी दुनिया निराली है॥

(२)

छाई रहती हैं सदा सुख की घटायें वहाँ,
होती कभी चित्त से न दूर हरियाली है।

चिन्ता, दुख-शोक वहाँ आने नहीं पाते कभी,
करती सदैव वहाँ माता रखवाली है।
मोह, मद, मत्सर का होता न प्रवेश वहाँ,
रहता न कोई वहाँ कपटी कुचाली है।
राजा है न कोई वहाँ रानी है न कोई वहाँ,
शिशु ! सब भाँति तेरी दुनिया निराली है॥

कादम्बिनी से—

अनन्त जीवन

पावन प्रेम-सदन,
है अनन्त जीवन।
विश्व-मोहिनी सुन्दरता का
पद-पद पर प्रसरण;
चूमा करती हैं रवि-किरणें
जिसके चारु चरण।
जग-छवि - अवलोकन,
है अनन्त जीवन।

हैं पल्लवित विटप-शाखाएँ
कुसुमित है कानन;
मधु मकरन्द दान करता है
खिल-खिल सुमन-सुमन।
कोकिल - कल - कूजन,
है अनन्त जीवन!

नई उमंग, तरंग नई है
नया हृदय-कम्पन ;
है नवीन आशा-अभिलाषा
नया प्रेम-बन्धन ।
जग का नवयौवन ,
है अनन्त जीवन ।

आशा और निराशा का है
उर - क्रीड़ा - कानन ;
शान्ति-अशान्ति विकास-ह्रास का
जग ही है आँगन ।
सुख - दुख - आवर्त्तन ,
है अनन्त जीवन ।

निष्ठुर निर्दयता का नर्त्तन,
पशुता का तर्जन ;
बर्बरता की घोर घटा का
वज्र - नाद गर्जन ।
वसुधा - उर - कम्पन ,
है अनन्त जीवन ।

गति से प्रगति, प्रगति से अवगति,
अवगति से चिन्तन ;
निखिल-निरीक्षण, मनन-विवेचन,
पठन और पाठन ।
ज्ञान - जलधि - मन्थन ,
है अनन्त जीवन ।

कुसुमाकर

विश्व-वाटिका के शृङ्गार,
ऐ कुसुमाकर शोभागार!
वन-विहगावलि डोल-डोल कर,
वर वचनावलि बोल-बोल कर,
सुमनावलि उर खोल-खोल कर,
मधुपावलि मधु घोल-घोल कर,
करती हैं स्वागत-सत्कार,
ऐ कुसुमाकर शोभागार!

बैठ विटप-सिंहासन ऊपर,
राजदंड सुमनों का लेकर,
ताज शीश पर बौरों का धर,
तुम ऋतुराज बने हो सुन्दर,
हो बसन्त हो तुम्हीं बहार,
ऐ कुसुमाकर शोभागार!

लता-द्रुमों के प्रेम-सदन हो,
मृदु सुमनों के शोभा-धन हो,
मदन-महीपति के स्यन्दन हो,
नव-नारी-उर के स्पन्दन हो,
महामहिम हो सभी प्रकार,
ऐ कुसुमाकर शोभागार!

समरस्थल है कुसुमित कानन,
बना गन्ध-वाहन है वाहन,

है अति सुन्दर सुमन-शरासन,
है हुङ्कार मधुर अलि-गुञ्जन,
विश्व-विजय के हो अवतार,
ऐ कुसुमाकर शोभागार !

दैन्य-दुःख से पीड़ित मन में,
विरह-रात्रि के शून्य-सदन में,
सुख-निद्रा-विरहित लोचन में,
जग से उदासीन जीवन में,
ला दो निज सुख का संसार,
ऐ कुसुमाकर शोभागार !

मानवी से—

मानवी

है स्वामिनी जगत के उर की
प्रेम-राज्य की रानी।
युग-युग के अगणित क्लेशों की
तू है करुण कहानी॥
मानव-कुल को शक्तिदायिनी
तू है भव्य भवानी।
बनती है तू विश्व-विजयिनी
ले आँखों में पानी॥

दुलहिन

निज देश छोड़ सागर से
जाती है सरिता मिलने।
मृदु गोद लता की तजकर
नव कली चली है खिलने॥

परदे में

परदे में सुख का घर है,
सम्पदा स्वयं है चेरी।
पर दुःख-शोक भी हरदम
हैं वहाँ लगाते फेरी॥
गंगा-यमुना की धारा
बहती सूने सदनों में।
परदे के भीतर सागर
लहराता है नयनों में॥
साथ ही साथ रहती हैं,
अबलायें और बलायें।
शशि की कमनीय कलायें
घन की घनघोर घटायें॥

ज्योतिष्मती से—

कारण

भूल न जाऊँ कहीं तुम्हें मैं यह डरता हूँ।
देव! इसीसे ध्यान तुम्हारा मैं धरता हूँ॥

सूख न जावें कहीं मृदुल पद-पद्म तुम्हारे।
इस भय से ही अश्रु-अर्घ्य अर्पित करता हूँ॥
हो न तुम्हारे वास-स्थल में कहीं अँधेरा।
इसीलिये मैं व्यथा-ज्योति उर में भरता हूँ॥

अपराधी

मैं हूँ अपराधी किस प्रकार?

सुनकर प्राणों के प्रेम-गीत।
निज कम्पित अधरों से सभीत॥
मैंने पूछा था एक बार,
है कितना मुझसे तुम्हें प्यार॥
मैं हूँ अपराधी किस प्रकार?

हो गये विश्व के नयन लाल।
कँप गया धरातल भी विशाल॥
अधरों से मधु-प्रेमोपहार।
कर लिया स्पर्श था एक बार॥
मैं हूँ अपराधी किस प्रकार?

कर उठे गगन में मेघ घोष।
जग ने भी मुझको दिया दोष॥
सपने में केवल एक बार।
कर ली थी मैंने आँख चार॥
मैं हूँ अपराधी किस प्रकार?

पागल

गाता जा गाता जा, पागल ।
सुमन हँसें, फूलें द्रुम बेलें,
कर दे तू जंगल में मंगल ।
झूम-झूम कर भाव बतावें,
नृत्य-निरत तरु में पल्लव-दल ।
सिञ्चित हो संगीत-सुधा से,
विकसित हो वसुधा-उर-शतदल ।
ऊपर तारागण हो चंचल,
नीचे सागर में हो हल-चल ।
तेरे मृदु गीतों के स्वर से,
नभस्थली भर ले निज अञ्चल ।
गान मुग्ध हो बहे समीरण,
कट जावें जग के दुख-बादल ।
मदुरव से गुंजित हो जल-थल,
सुन न पड़े जग का कोलाहल ।
तेरे मधुर कण्ठ की ध्वनि से,
हो वसुन्धरा कंपित पल-पल ।
तुहिन-बिन्दु बन गिरे गगन से,
करुणामय का अविरल दृग-जल ।

संचिता से—

आँख की किरकिरी

आँख है बेचैन रहती हर घड़ी,
आँसुओं की है लगी रहती झड़ी ।

यत्न कर-कर थक गए निकली नहीं,
हाय ! कैसी किरकिरी इसमें पड़ी !

आँख रो-रोकर गई है फूल-सी,
है गई उसकी चपलता भूल-सी।
हाय ! उसमें एक छोटी किरकिरी,
सालती है सर्वदा ही शूल-सी॥

रूप पर अभिमान करना भूल है,
वह कभी बनता बहुत दुख-मूल है।
रीझकर सौन्दर्य्य पर ही क्या नहीं !
आँख में आकर पड़ी यह धूल है।

यह न जाने कौन मुझसे कह गया,
सब मनोरथ आँसुओं में बह गया।
पर मनोरथ एक अब भी आँख में,
किरकिरी बनकर छिपा ही रह गया।

अब ज़रा मुझसे सुनो इसकी कथा,
क्यों विकल है आँख रहती सर्वथा।
है किसी की मूर्ति उसमें बस रही,
बस, इसी से हो रही उसको व्यथा॥

देवंगता

(१)

कैसे भूल सकूँ तुझे तनिक भी, मैं भूल से भी भला ?
मेरे मानस-व्योम की रुचिर है, तू चन्द्रमा की कला।

तेरी मञ्जुल मूर्ति सौख्य-सुध-सी, आती सदा ध्यान में,
पक्षी-सी नित तू विहार करती, मेरे मनोद्यान में।

(२)

है तेरा सब भाँति राज्य मन में, तू हो भले ही कहीं,
कैसे मैं यह मान लूँ अब भला, वामोरु! तू है नहीं?
प्यारी! तू रहती सदैव मुझको, प्रत्यक्ष ही ध्यान में,
होता ज्ञात नहीं कि प्राण तुझ में, हैं या कि तू प्राण में।

भाग्य-लक्ष्मी

(१)

सौभाग्य-श्री हमारी सुख-मूल मोददायी,
जब से गई यहाँ से फिर लौटकर न आई।

(२)

बल से उसे किसी ने क्या हर लिया यहाँ से?
या मोह-वश हमीं से वह थी गई चिढ़ाई?

(३)

किम्वा किसी कुटिल ने छल से उसे फँसाया?
या मुग्ध हो किसी पर वह हो गई पराई?

(४)

क्या हो गईं कलायें कौशल सभी हमारे?
किसने शताब्दियों की ली छीन सब कमाई?

(५)

सब कुछ पलट गया है पलटे न दिन हमारे,
सौभाग्य पर हमारे किसने नज़र लगाई ?

(६)

निज जन्म-भूमि की अब आकर दशा निहारें,
श्रीराम वह कहाँ हैं ? हैं वह कहाँ कन्हाई ?

ग्राम

प्रकृति-सुन्दरी की गोदी में,
खेल रहा तू शिशु-सा कौन ?
कोलाहलमय जग को हरदम,
चकित देखता है तू मौन।

जग के भोलेपन का प्रतिनिधि,
सहज सरलता का आख्यान;
विमल स्रोत मानव-जीवन का,
तू है विधि का करुण-विधान।
छिपा मही के मृदु अञ्चल में,
जग का मूर्त्तिमान अनुराग;
तुझ से ही सीखता जगत है,
औरों के हित करना त्याग।

भोली ललनाओं से लालित,
विश्व-पुष्प का पुष्प-पराग।
कृषकों के श्रम-जल से सिंचित,
जग का छोटा-सा है बाग।

होकर भी असभ्य तू ही है,
विश्व-सभ्यता का आधार।
स्वावलम्ब की समुचित शिक्षा,
पाता तुझसे है संसार॥

सरल बालकों का क्रीड़ा-स्थल,
जगती के कृषकों का प्राण;
करता है इस विपुल विश्व का,
तू ही सदा क्षुधा से त्राण।

मानवता का प्रेम-निकेतन,
आदि सभ्यता का इतिहास;
भ्रातृ-भाव, समता, क्षमता का,
तू है अवनी में अधिवास।

भोली चितवन से तू जग को,
सदा देखता है अविकार।
सब के लिए खुला रहता है,
सन्तत तेरे उर का द्वार।

दया-क्षमा-ममता आदिक हैं,
तेरे रत्नों के भाण्डार;
है निर्मल जल, शुद्ध वायु ही,
तेरे जीवन के उपहार।

छल से रहता दूर किन्तु तू,
बल-पौरुष में है भरपूर;
तेरे जीवन-धन हैं जग में,
बस, किसान एवं मज़दूर।

जग को जगमग करनेवाला,
है तुझमें न प्रकाश महान;
पर मिट्टी के ही दीपक से,
रहता है तू ज्योतिष्मान।
काँटे चुभते रहते ही हैं,
उड़ती रहती तुझ पर धूल ;
तो भी तू न मलिन होता है
विश्व-वाटिका का मृदु फूल !
रखकर सबसे निपट निराला,
जगती-तल में निज व्यक्तित्व ;
करता है तू सफल सर्वदा,
अपना छोटा-सा अस्तित्व।

बद्रीनाथ भट्ट

पंडित बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०, गोकुलपुरा (आगरा)-निवासी पंडित रामेश्वर भट्ट के पुत्र थे। पंडित रामेश्वर भट्ट संस्कृत के विद्वान् और साहित्य के मर्मज्ञ पंडित थे। उनके प्रायः सभी पुत्र सुशिक्षित और साहित्यिक हुये।

पंडित बदरीनाथ भट्ट का जन्म सं० १९४८ में हुआ था। ये अंतिम वर्षों में लखनऊ यूनिवर्सिटी में हिन्दी के लेक्चरर थे। इन्होंने हिन्दी-गद्य-पद्य में कई पुस्तकें लिखी हैं। ये नाटक-कार भी थे।

इनकी प्रकाशित पुस्तकों के नाम ये हैं—चंद्रगुप्त, दुर्गावती, विवाह-विज्ञापन, लबड़धोंधों और बेन-चरित।

खेद है, सन् १९३२ में इनका देहान्त हो गया।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं :—

सूरदास

सूर को अन्धा कौन कहे ?
करे लोक को जो आलोकित अन्धा वही रहे ? ॥ १ ॥
क्या प्रभु ने प्रत्यक्ष दिखाया दीप तले तम-रूप ?
नहीं, घोरतम में दिखलाया दीपक दिव्य अनूप ॥ २ ॥
दिये विहारी चकाचौंध से सब के नेत्र बिगाड़,
अन्तर्दृष्टि किन्तु दी तुमको सभी हटाई आड़ ॥ ३ ॥
नेत्र-रहित हो उस अथाह की पाई तुमने थाह,
नेत्र-सहित हम थके भटकते नहीं सूझती राह ॥ ४ ॥
गही कृष्ण ने बाँह तुम्हारी हुई न अड़चन नेक,
तुम्हें कृष्ण ही थी सब दुनिया ये तुम दोनों एक ॥ ५ ॥
जिस अदृश्य ने अन्धकूप से खींच किया दुख दूर,
कैद उसी को किया हृदय में हो तुम सचमुच सूर ॥ ६ ॥
कहीं न देखा सुना गया था सूर-श्याम का साथ,
लेकिन तुमने कर दिखलाया वह भी हाथों-हाथ ॥ ७ ॥
अलंकार-ध्वनि-रसमय निकली हृदय-वेणु से तान,
वही हमारे लिये बन गई मधुर अलौकिक गान ॥ ८ ॥
जिस सद्भक्ति-तत्व को उसने फैलाया सब ठौर,
उसे भूलकर हन्त ! हुये हम आज और के और ॥ ९ ॥

प्रार्थना

अशरण-शरण ! शरण हम तेरी।
भूले हैं मग विपिन सघन है, छाई गहन अँधेरी ॥ १ ॥
स्वार्थ-समीर चली ऐसी सब सुमन-सुमन बिखराये ;
हा ! सद्भाव-सुगन्धि चुराई, प्रेम-प्रदीप बुझाये ॥ २ ॥
कलह-कण्टकों से छिदवाया, सुख-रस सभी सुखाया ;
भ्रातृ-भाव के बन्धन तोड़े, अपना किया पराया ॥ ३ ॥
करुणा-सिन्धु ! सहारा तेरा, तू ही है रखवाला,
दीन अनाथ हुये हम हा ! हो तू दुख हरनेवाला ॥ ४ ॥

सद्गुरु-प्रार्थना

जीवन-नौका बहती है,

तव कृपा-सुरसरी-धार में, जीवन-नौका बहती है।
नहीं डाँड़ पतवार यहाँ है, बेसुध खेवनहार यहाँ है।
तुझ पर दारमदार यहाँ है, यों हँसती रहती है।
जीवन-नौका बहती है ॥ १ ॥
रुष्ट प्रकृति का हास यहाँ है, यम-यातना विलास यहाँ है।
तथा मृत्यु-उपहास यहाँ है, पर सब कुछ सहती है।
जीवन-नौका बहती है ॥ २ ॥
पार लगी तो भर पावेगी, डूब गई तो तर जावेगी।
निश्चय अपने घर जावेगी, आशा यों कहती है।
जीवन-नौका बहती है ॥ ३ ॥

स्वामीजी

इसे ही कहते हैं वैराग्य ?

तो विरागता के सचमुच ही फूटे समझें भाग्य !
निर्मल वसन बिगाड़ा उस पर धरा सुनहरी रंग,
लज्जित हुआ जाल माया का देख जटा का ढंग।
क्रोध-कमण्डलु, मोह माल, कर लिया द्रोह का दंड,
लोभ लँगोट बाँध फैलाते हो प्रचंड पाखंड।
तन में भस्म रमाई, कर के भस्म सभी घर-बार,
अब चिमटा ले निकल पड़े हो करने जग-उद्धार।
घर-घर टुकड़े माँग रहे हो तप के बल हो धन्य !
दर-दर नित धक्के खाते हो अहो कष्ट तप-जन्य !
चोरी, जुवा, लफंगेपन में हो तुम गुरुघंटाल,
गाँजा, भंग, अफीम, चरस रस मदिरा के हो काल।
संसृति में खुद फँसे हुए हो हमें दिखाते मुक्ति !
धन्य-धन्य अध्यात्म-शक्ति को, धन्य मुक्ति की युक्ति !
बहुत हो चुकी गुरुडम-लीला अब इससे मुँह मोड़,
बाबाजी, अब बन मनुष्य तू बनमानुसपन छोड़।

जीवन-मुक्त-पञ्चक

पूछते हो क्या मेरा नाम ?

जड़ चेतन सब दिखा रहे हैं, मेरा रूप ललाम।
जल, थल, अनल, अनिल, गगन, सब में हूँ मैं व्याप्त;
विश्व बीज ओङ्कार तक, मुझमें हुआ समाप्त।

आत्म-ज्ञान की नाव में, बैठा हूँ सानन्द;
भव-सागर में घूमता, फिरता हूँ स्वच्छन्द।
भव-जल में मैं कमल हूँ, भव-धन में आदित्य;
भव-घट-मठ में व्योम हूँ, अद्भुत, अक्षर, नित्य।
नर-तनु है धारण किया, करने को खिलवाड़;
कोई देख सका नहीं, तिल की ओट पहाड़।
अहङ्कार का हार, डाल कल्पना के गले;
माया - मय संसार, बन बैठा मैं आप ही।

नौकरी

१—प्रश्न

सुन्दर हार कहाँ से पाया?
इसकी उजली चमक दमक ने सब का हृदय लुभाया॥
बड़े मनोहर रत्न जड़े हैं—धन के दुर्ग खड़े हैं।
जिनके प्रभा-पूर्ण विशिखों ने रिपु दारिद्र्य मिटाया॥
सुन्दर हार कहाँ से पाया?

२—उत्तर

झूठा हार गले लटकाया।
इसकी कोरी तड़क-भड़क ने दुनिया को बहकाया॥
सभी काम इसका है नकली इसने हमें फँसाया।
भीतर कुछ बाहिर कुछ कुछ का कुछ है हमें बनाया॥
झूठा हार गले लटकाया।

सियारामशरण गुप्त

बाबू सियारामशरण बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। इनका जन्म भाद्रपद शुक्ल १५, सं० १९५२ को हुआ। इनकी कविता की भाषा बहुत शुद्ध और परिमार्जित होती है। भावों को व्यक्त करने की इनकी अपनी अलग शैली है। ये गद्य भी अच्छा लिखते हैं और सफल नाटककार भी हैं। हिन्दी के वर्तमान कवियों में इन्होंने एक श्लाघनीय स्थान पर अधिकार कर रक्खा है। इनकी प्रकाशित पुस्तकों के नाम ये हैं :—

गोद (उपन्यास), नारी (उपन्यास), अन्तिम आकांक्षा, मानुषी (कहानियाँ), पुण्यपर्व (नाटक), मौर्य-विजय (कविता), दूर्वादल (कविता), आत्मोत्सर्ग, अनाथ, विषाद, आर्द्रा, पाथेय, मृण्मयी, बापू (कविता)।

इनकी रचना के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं :—

मौर्य-विजय

जग में अब भी गूँज रहे हैं गीत हमारे।
शौर्य-वीर्य गुण हुए न अब भी हमसे न्यारे॥
रोम, मिस्र, चीनादि काँपते रहते सारे।
यूनानी तो अभी अभी हम से हैं हारे॥
सब हमें जानते हैं सदा भारतीय हम हैं अभय,
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय॥ १॥

साक्षी है इतिहास हमी पहले जागे हैं।
जाग्रत सब हो रहे हमारे ही आगे हैं॥

शत्रु हमारे कहाँ नहीं भय से भागे हैं।
कायरता से कहाँ प्राण हमने त्यागे हैं॥
हैं हमीं प्रकम्पित कर चुके सुरपति तक का भी हृदय,
फिर एक बार हे विश्व ! तुम गाओ भारत की विजय॥ २॥

कहाँ प्रकाशित नहीं रहा है तेज हमारा।
दलित कर चुके सभी शत्रु हम पैरों-द्वारा॥
बतलाओ वह कौन नहीं जो हमसे हारा।
पर शरणागत हुआ कहाँ कब हमें न प्यारा॥
बस, युद्धमात्र को छोड़कर कहाँ नहीं हैं हम सदय ?
फिर एक बार हे विश्व ! तुम गाओ भारत की विजय॥ ३॥

कारण-वश जब हमें क्रोध कुछ हो आता है।
अवनि और आकाश प्रकम्पित हो जाता है॥
यही हाथ वह कठिन कार्य कर दिखलाता है—
स्वयं शौर्य भी जिसे देखकर सकुचाता है॥
हम धीर वीर गम्भीर हैं, है हमको कब कौन भय ?
फिर एक बार हे विश्व ! तुम गाओ भारत की विजय॥ ४॥

अनुरोध

जब इस तिमिरावृत मन्दिर में, उषालोक कर उठे प्रवेश,
तब तुम हे मेरे हृदयेश !
कर देना झट हाथ उठा इस, दीपक की ज्वाला निःशेष,
यही प्रार्थना है सविशेष।
जब यह कार्य प्रपूर्ण कर चुके, देह होमने के उपरान्त,
स्वयं प्रकाशित हो यह प्रान्त।

पूर्ण-प्रभा में कर निमग्न तब, कर देना प्रदीप यह शान्त ;
देर न करना जीवन-कान्त !

माली

माली, देखो तो, तुमने यह, कैसा वृक्ष लगाया है !
कितना समय हो गया, इसमें, नहीं फूल भी आया है।
निकल गये कितने बसन्त हैं, बरसातें भी बीत गईं ;
किन्तु प्रफुल्लित इसे किसी ने, अबतक नहीं बनाया है !
साथ छोड़ती जाती हैं सब, शाखा आदि रुखाई से ;
शुष्क हुए पत्तों को इसने, इधर-उधर छितराया है।
अतुल तुम्हारे इस उपवन की, इससे भी कुछ शोभा है ?
क्या निज कौशल दिखलाने को, इसे यहाँ उपजाया है ?
अरे, काट ही डालो इसको, अथवा हरा-भरा कर दो ;
कहें सभी—आहा ! तुमने यह, कैसा वृक्ष लगाया है !

गूढ़ाशय

स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब, तुमने उसको फेंक दिया ;
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब, मैंने तुमसे हटा लिया।
सोचा—मैं उपवन में जाकर, सुमन इन्हें दिखलाऊँ लाकर।
मैंने जल्दी चित्त लगाकर, कण्टक-वेष्टन पार किया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब,
तुमने उसको फेंक दिया।
उपवन-भर के श्रेष्ठ सुमन सब, जाकर तोड़ लिये सहसा जब,
समझा।। तुम्हारा गूढ़ाशय तब, हुआ विशेष कृतज्ञ हिया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब,
तुमने उसको फेंक दिया।

पथ

हे अलक्ष्यगामी पथ,
आये हो कहाँ से तुम ?
करके मनोरथ
यहाँ से तुम
यात्री हुए कौन दूर देश के ?
कौन-से प्रदेश के
तुम अधिवासी हो,—
कब के प्रवासी हो ?
किस दिन माया-जाल तोड़ के,
गेह निज छोड़ के,
बाहर हुए ये इस अक्षय भ्रमण को,
—विश्वमहासिन्धु सन्तरण को—?
हे सर्वत्रगामी चर,
विचर-विचर कर
ढूँढ़ते किसे हो तुम,—
कौन प्रेयसी है वह, चाहते जिसे हो तुम ?
कोई कहीं मेला है,
या कि नव खेला है;
करके इसी से टेक
बीच-बीच में अनेक
आये मार्ग-बालकों के ये समूह;
गाँवों से, विभेद विजनों के व्यूह;
लेके इन्हें साथ में

पकड़ा के तर्जनी को हाथ में
आगे चले जाते तुम,
कहाँ, कहाँ इनको घुमाते तुम!
दूर किसी नगरी में जाके,
भीड़ में समा के,
नई-नई बातें देखते हो वहाँ;
जहाँ - तहाँ
घूमते हो नागरिक बनके
चिन्ह मिटते हैं ग्राम्यपन के
घूम-फिर यहाँ-वहाँ जाते हो,
गलियों में बिलाते हो!
फिर भी क्या रहता अधूरा है
मनोकाम,—होता नहीं पूरा है?
देते हो दिखाई तुम आगे गये।
कौन-से नये-नये,
दृश्य देखने की तुम्हें साध है!
पाई गति तुमने अबाध है।
ऊँचे ताड़ जैसे दैत्यकाय झाड़
रक्षक बनाये है जहाँ पहाड़,—
व्याघ्र की दहाड़ बड़ी,
हाथी की चिंघाड़ कड़ी
करती जहाँ है किसी पागल का अट्टहास;
दिन में भी रात का जहाँ है वास;
दुर्गम वहाँ के गर्त गड्ढों से
खड्डों से—

'मार्गभ्रष्ट' होने नहीं पाते तुम ;
शीघ्र लिखे अक्षरों में शीघ्रतर
सर्प-चाल चलकर,
कुशल-कथा-सी लिख जाते तुम !
स्रोतस्विनी आके पैर धोती जहाँ,
कलकल, कान्तध्वनि होती जहाँ,
करके चमर तीरवासी द्रुम
कोमल कुसुम—
जहाँ तुम पै चढ़ाते हैं ;
मानो पुष्पशय्या-सी बिछाते हैं ;
लेने को विराम वहाँ तुम रुक जाते क्या ?
या कि किसी सेतु को सवारी-सम पाते क्या ?
या कि एक ग़ोता साध करके,
भीतर ही भीतर अगाध जल तरके,
आगे अविराम चले जाते हो,
नृत्य और गान आदि से न छले जाते हो !
किन्तु जहाँ पारावार
फैला हुआ अगम अपार—
अन्तहीन है ;
हाहाकार—
होता नहीं जिसका विलीन है ;
लहरें विलोल-लोल हारकर,
सुध-सी बिसार कर
मुँह से गिराती हुई फेन-पुञ्ज, भ्रान्त क्लान्त,
आके अनजाने किसी दूर देश से अशांत,

गिरती धड़ाम से हैं तट पर,
किन्तु शीघ्र उठकर,
लौट वहीं जाती हैं उसी प्रकार ;
अन्य लहरों के लिए कूल का विरामागार
खाली कर जाती हैं,
और फिर दृष्टि नहीं आती हैं ;
पूरी तीर्थयात्रा वहीं होती है तुम्हारी क्या,
पैदल भ्रमण-वांछा मिटती है सारी क्या !
फिर तुम दीख पड़ते हो नहीं,
सागर के गर्भ में समाते तुम क्या वहीं !
या किसी जहाज पर हो सवार
जाते हो अपर पार !
बैठ के या नीर-गर्भ-गामी किसी पोत पर,
या कि महावीर ज्यों छलाँग एक मारकर
पार जा उतरते ;
ज्ञात-हीन देशों में विहार फिर करते !

❀ ❀ ❀

ज्ञात किसे, कहाँ-कहाँ घूम तुम आये हो ;
कितनी विलुप्त-कथा,
हर्ष-व्यथा,
धूल के कणों में तुम यत्न से छिपाये हो;--
वर्षा, शीत, आतप में
—रात दिन मग्न रह मौन आत्मतप में—
कितने प्रवासियों के

—मर्त्यलोक-वासियों को—
तुमने ठिकाने पहुँचाया है ;
पार-सा लगाया है !
पूरी दिन-चर्या जहाँ लिखित तुम्हारी हो ,
आश्रुत युगों की गूढ़गाथा छिपी सारी हो ,
उस तहखाने तक तुम पहुँचाओ हमें ,
अपना अनन्तकोष खोलके दिखाओ हमें !

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज मल-मलकर सारे तन में
किस निर्मम निर्दय ने मुझको बाँधा है इस बन्धन में ?
फाँसी-सी है पड़ी गले में नीचे गिरता जाता हूँ ;
बार-बार इस अंध-कूप में इधर-उधर टकराता हूँ ।
ऊपर-नीचे तम ही तम है बन्धन है अवलम्ब यहाँ !
यह भी नहीं समझ में आता गिरकर मैं जा रहा कहाँ !!
काँप रहा हूँ भय के मारे हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण ;
ऐसे दुखमय जीवन से हा ! किस प्रकार पाऊँ मैं त्राण ?
सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या नहीं दीखता एक उपाय ;
यह क्या !—यह तो अगम नीर है, डूबा ! अब डूबा, मैं हाय !!
भगवन्! हाय! बचा लो अब तो, तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक ।
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में आर्तनाद करके तब तक ।
अरे, कहाँ वह गई रिक्तता, भय का भी अब पता नहीं ;
गौरववान हुआ हूँ सहसा; बना रहूँ तो क्यों न यही ?
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा उज्ज्वल-तर जीवन लेकर ;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता यह नव-जीवन भी देकर ।

मुकुटधर

पंडित मुकुटधर शर्मा बालपुर (जि० बिलासपुर) निवासी पांडेय लोचनप्रसाद शर्मा के छोटे भाई हैं। इनका जन्म सं० १९५२ के आश्विन मास में हुआ। पंडित लोचनप्रसादजी के साहित्यिक जीवन का इन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। बालकपन ही से इनकी रुचि का झुकाव हिन्दी-साहित्य की ओर हो चला था। बहुत छोटी अवस्था ही से येपद्य-रचना करने लगे थे। सब से प्रथम सं० १९६६ में इनकी कविता पत्रों में प्रकाशित हुई। सं० १९७२ में इन्होंने प्रयाग-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका-परीक्षा पास की। इसके बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये ये प्रयाग के क्रिश्चियन कालेज में भरती हुये। किन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने से थोड़े ही दिन पीछे घर लौट गये।

अपने अग्रज भाई पंडित मुरलीधरजी के साझे में इन्होंने पूजाफूल, शैल-बाला, लच्छमा, मामा, परिश्रम आदि कई पुस्तकें लिखीं और अनुवादित की हैं। ये गद्य भी अच्छा लिखते हैं। भारतधर्म-महामंडल से इन्हें एक मानपत्र और रौप्य-पदक भी मिल चुका है। बंगला भाषा भी ये जानते हैं।

मुकुटधरजी प्रकृति के बड़े उपासक हैं। बचपन ही से इन्हें चित्र, कविता और संगीत से बड़ा प्रेम रहा है। बचपन में हरे-हरे खेतों, मैदानों और नदी के किनारे चट्टानों पर अकेले घूमने में इन्हें बड़ा आनन्द आता था, और खेतों में काम करते हुये किसानों से और मुसाफ़िरों से बातें करने में ये मानसिक सुख का अनुभव करते थे।

मुकुटधरजी एक प्रकृत कवि हैं। पहले कौमुदी-कुञ्ज में इनके पद्यों को स्थान देने का मेरा विचार था; किन्तु इनके पद्यों का जब मैं संग्रह

करने लगा, तब मैं इनकी प्रतिभा पर मुग्ध हो गया, और उससे विवश होकर मुझे इनके लिये यह स्थान देना पड़ा।

इनकी कविता के कुछ नमूने आगे उद्धृत किये जाते हैं:—

विश्व-बोध

खोज में हुआ वृथा हैरान !
यहाँ ही था तू हे भगवान !

गीता ने गुरु-ज्ञान बखाना, वेद-पुराण जन्म भर छाना;
दर्शन पढ़े, हुआ दीवाना, मिटा न पर अज्ञान ॥ १ ॥
जोगी बन सिर जटा बढ़ाया, द्वार-द्वार जा अलख जगाया।
जङ्गल में बहु काल बिताया, हुआ न तो भी ज्ञान ॥ २ ॥
शैया से ज्यों उठकर आया, अन्वेषण में ध्यान लगाया;
पर तेरा कुछ पता न पाया, हुआ दिवस अवसान ॥ ३ ॥
अस्ताचल में हँसकर थोड़ा, सूरज ने अपना मुख मोड़ा;
विहँगों ने भी मुझ पर छोड़ा, व्यंग्य-वचन का बाण ॥ ४ ॥
विधु ने नभ से किया इशारा, अधोदृष्टि करके ध्रुव-तारा;
तेरा विश्व-रूप रस सारा, करता था नित पान ॥ ५ ॥
हुआ प्रकाश तमोमय मग में, मिला मुझे तू तत्क्षण जग में;
तेरा हुआ बोध पग-पग में, मिटा सकल अज्ञान ॥ ६ ॥
मुक्ति-धाम हरि के मन्दिर में, श्रीगुरु के उपदेश रुचिर में।
जीवमात्र के हृदय-अजिर में, था तव वास-स्थान ॥ ७ ॥
दीन-हीन के अश्रु-नीर में, पतितों की परिताप-पीर में,
सन्ध्या की चञ्चल समीर में, करता था तू गान ॥ ८ ॥
सरल स्वभाव कृषक के हल में, पतिव्रता रमणी के बल में;
श्रम-सीकर से सिञ्चित धन में, विषय-मुक्त हरिजन के मन में,
कवि के सत्य पवित्र वचन में, तेरा मिला प्रमाण ॥ ९ ॥

पर-पीड़न से रहित धर्म में, समतापूर्ण ममत्व मर्म में;
विष्णु-भक्ति के सुधापान में, भक्ति-सहित हरि-भजन-ध्यान में
महिमामय हरिनाम-गान में, था तव तत्व निदान ॥१०॥
देखा मैंने—यहीं मुक्ति थी, यहीं भोग था—यहीं भुक्ति थी,
घर में ही सब योग-युक्ति थी, घर ही था निर्वाण ॥११॥

ओस की निर्वाण-प्राप्ति

आ पड़ा हाय! संसार कूप में, भाग्य-दोष से गिरकर ओस;
पर हर्षित होकर किया सुशोभित उसने स्फुट गुलाब का कोष॥
उस ओर व्योम पर तारादल ने किया बड़ा उसका उपहास।
इस ओर घेरकर काँटों ने भी दिया व्यर्थ ही उसको त्रास॥
उस पर रजनी ने डाल कृष्णपट उसके यश को मन्द किया,
पर इन कुटिलों के कुटिल कृत्य पर ज़रा न उसने ध्यान दिया॥
जब सूर्यागम का समय देखकर प्राची ने निज भरा सुहाग,
तब उसने भी हँसकर मिल उससे प्रकट किया अपना अनुराग।
कब लख सकता था पर-सुख-कातर प्रात-वात उसका यह मोद,
कर दी खाली झट उसे गिरा कर उसने मृदु गुलाब की गोद।
हो स्थानच्युत भी हुआ नहीं वह चिन्तित मन में किसी प्रकार।
निज भग्न हृदय को ले पहनाया उसने तृण को मुक्ताहार॥
जब कर्मसूत्र से खिंचकर नभ में उदित हुए भास्कर भगवान,
उस पर प्रसन्न हो किया उन्होंने उसको निज गुणरूप प्रदान॥
पर किसी जन्तु के उद्धत पद ने उसे भूमि पर गिरा दिया।
तब भी उसने पसीज पृथ्वी के निष्ठुर उर को सिक्त किया॥

होकर विमुग्ध इस कृति पर रवि ने किया और भी हर्षप्रकाश।
निज किरण दूत के द्वारा उसको बुला लिया फिर अपने पास॥
इस भाँति ओस ने सत्कर्मों से प्राप्त किया जग से निर्वाण।
लेकर वीणा हाथों में सुमधुर किया प्रकृति ने तद्गुण गान॥

कृषक का गीत

जब वर्षाऋतु की ऊष्मा में, होकर श्रम से क्लान्त महान,
हल जोतते किसान छेड़ता है जब अपनी लम्बी तान।
सुन तब उसे बाटिका से निज करता मैं उर-बीच विचार,
खेतों में यों आर्त्तस्वर से यह किसको है रहा पुकार!
या कि शिशिर की शीत-निशा में मींज रहा हो जब वह धान,
सुनता हूँ तब शैया से मैं उसका करुणा-पूरित गान।
भर जाता है जी, नेत्रों से निद्रा करती शीघ्र प्रयाण,
हृदय सोचता—जलते किसके विरहानल से इसके प्राण।

अधीर

यह स्निग्ध सुखद सुरभित समीर,
कर रही आज मुझको अधीर!
किस नील उदधि के कूलों से अज्ञात वन्य किन फूलों से;
इस नव-प्रभात में लाती है, जाने यह क्या वार्त्ता गभीर! ॥१॥
प्राची में अरुणोदय-अनूप, है दिखा रहा निज दिव्य रूप;
लाली यह किसके अधरों की, लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर!
विकसित सर में किञ्जल्क-जाल, शोभित उन पर नीहार-माल;
किस सदय-बन्धु की आँखों से, है टपक पड़ा यह प्रेम-नीर! ॥२॥

प्रस्फुटित मल्लिका-पुञ्ज पुञ्ज कमनीय माधवी कुञ्ज-कुञ्ज;
पीकर कैसी मदिरा प्रमत्त फिरती है निर्भय भ्रमर-भीर ! ॥४॥
यह प्रेमोत्फुल्ल पिकी प्रवीण, कर भाव-सिन्धु में आत्मलीन;
मञ्जरित आम्र-तरु में छिपकर, गाती है किसका मधुर-गीत ! ॥५॥
है धरा बसन्तोत्सव-निमग्न, आनन्द-निरत कल-गान-लग्न,
रह-रह मेरे ही अन्तर में उठती यह कैसी आज पीर ! ॥६॥
यह स्निग्ध सुखद सुरभित समीर,
कर रही आज मुझको अधीर ॥

रूप का जादू

(१)

निशिकर ने आ शरद-निशा में, बरसाया मधु दशों दिशा में,
विचरण कर के नभोदेश में, गमन किया निज धाम।
पर चकोर ने कहा भ्रान्त हो,
प्रिय-वियोग-दुख से अशान्त हो,
गया, छोड़कर के जीवनधन, मुझे कहाँ ! हा राम !

(२)

हुआ प्रथम जब उसका दर्शन, गया हाथ से निकल तभी मन,
सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात।
वह चित-चोर कहाँ बसता था,
किसको देख-देख हँसता था;
पूँछ सका मैं उसे मोहवश नहीं एक भी बात ॥

(३)

मैंने उसको हृदय दिया था, रुचिर रूप-रसपान किया था,
था न स्वप्न में मुझको उसकी निष्ठुरता का ध्यान।

मन तो मेरा और कहीं था,
मुझको इसका ज्ञान नहीं था;
छिपा हुआ शीतल किरणों में, है मरुभूमि महान ॥

(४)

अच्छा किया मुझे जो छोड़ा, मुझसे उसने नाता तोड़ा;
दे सकता अपने प्रियतम को कभी नहीं मैं शाप।
इतना किन्तु अवश्य कहूँगा,
जबतक उसको फिर न लहूँगा;
तब तक हृदय-हीन जीवन में, है केवल सन्ताप ॥

कुररी के प्रति*

(१)

बता मुझे ऐ विहग विदेशी! अपने जी की बात।
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात?
निद्रा में जा पड़े कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द।
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द ॥
इस नीरव-घटिका में उड़ता है तू चिन्तित गात।
पिछड़ा था तू कहाँ हुई क्यों तुझको इतनी रात?

(२)

देख किसी माया-प्रान्तर का चित्रित चारु दुकूल,
क्या तेरा मन मोह-जाल में गया कहीं था भूल?

---

*दिनभर सुदूर खेतों में चुगने के पश्चात् बड़ी रात गये महानदी के गर्भ में विश्राम करने को लौटती हुई कुररियों को सम्बोधित कर यह पद्य लिखा गया है। कुररी पक्षीविशेष है, जो जाड़े के दिनों में देखा जाता है।

क्या उसकी सौन्दर्य-सुरा से उठा हृदय तव ऊब ?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब ?
या होकर दिग्भ्रान्त लिया था तू ने पथ प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

(३)

अन्तरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ?
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?
किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?
जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग ?
शून्य गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल विलाप ?
बता कौन-सी व्यथा तुझे है, है किसका परिताप ?

(४)

यह ज्योत्स्ना रजनी हर सकती क्या तेरा न विषाद ?
या तुझको निज जन्मभूमि की सता रही है याद ?
विमल व्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये दीप ;
इन्द्रजाल तू उन्हें समझकर जाता है न समीप ?
यह कैसा भयमय विभ्रम है कैसा यह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू, आई क्या तुझे गेह की याद ?

(५)

कितनी दूर ? कहाँ ? किस दिशि में तेरा नित्य-निवास ?
विहग विदेशी आने का क्यों किया यहाँ आयास ?
वहाँ कौन तारा-गण करता है आलोक-प्रदान ?
गाती है तटिनी उस भू की बता कौन-सा गान ?

कैसी स्निग्ध समीर चल रही ! कैसी वहाँ सुवास !
किया यहाँ आने का तूने कैसे यह आयास !

स्वागत

स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार !
आओ हृदय-मार्ग से मेरे प्रियतम प्राणाधार !
आओ, हे घनश्याम उदार !
आओ, प्रेम-वारि बरसाओ, विटप बेलियों में लहराओ
आओ, झरनों से मिल गाओ, हे कवि ! कुशल अगार ॥
आओ ऊषा के संग आओ, किरणों के मिस कर फैलाओ
विकसित अमल कमल बन जाओ पहनो मुक्ताहार ॥
सरस-वसन्तानिल सरसाओ, श्रावण-घन बनकर नभ छाओ
शरदाकाश-विलास दिखाओ चारु चन्द्रिकागार ॥
आओ, भाव-हरित बन धाओ, हृदयस्थित सब कलुष बहाओ
तन-मन-नयन मध्य भर जाओ मोहन ! छवि-आधार ॥
स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार !

वियोगी हरि

वियोगी हरिजी का पूर्व-नाम पंडित हरिप्रसाद द्विवेदी था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम पंडित बलदेवप्रसादजी द्विवेदी था। इनका जन्म छत्रपुर राज्य (बुन्देलखण्ड) में चैत्र शुक्ल रामनवमी, संवत् १९५२ वि० में हुआ था। यह ६ महीने के भी न हो पाए थे कि इनके पिताजी का देहान्त हो

गया। बाल्यावस्था में इनका पालन-पोषण ननिहाल में हुआ। इनके नाना पंडित अच्छेलाल तिवारी का इन पर विशेष प्रेम था। विद्यारम्भ के पूर्व ही, ७ वर्ष की आयु में, इन्होंने सर्वप्रथम एक कुण्डलिया बनाई थी। ८ वर्ष की अवस्था में घर ही पर इनकी हिन्दी की शिक्षा प्रारम्भ हुई। हिन्दी के साथ ही साथ ये पंडित अनन्तरामजी त्रिपाठी से संस्कृत भी पढ़ते थे। आरम्भ ही से इनको गो० तुलसीदास की विनय-पत्रिका तथा श्रीमद्भागवत अत्यन्त प्रिय हैं।

हिन्दी की शिक्षा पा चुकने के पश्चात् ये छत्रपुर के हाई स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ने लगे, और सन् १९१५ में मैट्रीकुलेशन-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। छात्रावस्था ही से ये एकान्त-प्रिय हैं। स्कूल के लड़कों के साथ खेल-कूद में कभी सम्मिलित नहीं होते थे। स्कूल की पढ़ाई समाप्त होने पर इनकी प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र की ओर हुई। दर्शन के अध्ययन में इनके साथी छत्रपुर-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी बा० गुलाबरायजी, एम० ए०, तथा बा० भोलानाथजी, बी० ए०, थे। उस समय ये अद्वैतवाद की ओर विशेष-रूप से झुक रहे थे।

बाल-काल ही से छत्रपुर-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंहजू देव की धर्मपत्नी गोलोक-वासिनी श्रीमती कमलकुमारीदेवी (उपनाम श्रीजुगल-प्रियाजी) इन्हें पुत्रवत् प्यार करती थीं। श्रीमतीजी माध्व-सम्प्रदाय की अनुयायिनी थीं। उनकी सत्सङ्गति में पड़कर हरिजी अद्वैतवाद की सीमा से निकलकर द्वैतवादी हो गए।

लगभग १८ वर्ष की आयु में इन्होंने प्रेम-शतक, प्रेम-पथिक, प्रेमाञ्जलि और प्रेम-परिषद नामक पुस्तकें प्रेम-धर्म पर लिखीं, जिन्हें आरा के प्रेम-मन्दिर के प्रेम-पुजारी स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन ने प्रकाशित की थीं। इसी समय इनके विवाह की चर्चा चली। घरवालों

के बहुत आग्रह करने पर भी इन्होंने विवाह नहीं किया और आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

श्रीमती महारानी साहिबा की चित्त-वृत्ति भगवद्भक्ति तथा तीर्थाटन की ओर अधिक थी। हरिजी ने उन्हीं के साथ भारत के सम्पूर्ण तीर्थों की कई बार यात्रायें कीं। तीर्थ-यात्रा से इनको चित्त-शान्ति के साथ ही साथ संसार के अनुभव भी ख़ूब हुए। इसी तीर्थ-यात्रा के सम्बन्ध में ये पहले-पहल सन् १९१६ ई० में प्रयाग आए। यहाँ श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डन ने इनको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए रोक लिया। प्रयाग में रहकर 'सम्मेलन-पत्रिका' के सम्पादन के अतिरिक्त इन्होंने 'संक्षिप्त सूरसागर' का भी सम्पादन किया। इसी बीच में इन्होंने 'तरङ्गिणी' नामक एक सुन्दर गद्य-काव्य की भी रचना की। बीच में फिर महारानी साहिबा के साथ तीर्थाटन के लिये चले गये। वहाँ से लौटकर इन्होंने बँगला के प्रसिद्ध 'शुकदेव' के ढङ्ग पर 'शुकदेव' नामक एक खंड-काव्य खड़ी-बोली में लिखा।

इसके बाद फिर महारानी साहिबा के साथ इन्होंने दक्षिण के तीर्थों के लिये प्रस्थान किया। यात्रा से लौटते ही चैत्र शुक्ल ७, संवत् १९७८, को महारानी साहबा का सहसा गोलोकवास हो गया। उनके स्वर्गवास से इन्हें असह्य आन्तरिक वेदना पहुँची। इस दैवी वज्राघात से प्रयाग आकर त्रिवेणी-तट पर इन्होंने माध्व-सम्प्रदाय के अन्तर्गत—जिसकी आज्ञा इनके गुरुदेव (महारानी साहिबा) ने स्वर्ग-प्रस्थान के समय दी थी—संन्यास ले लिया। इनका संन्यासाश्रम का नाम श्रीहरितीर्थ है। परन्तु इन्होंने अपने सर्वस्व के वियोग में आजन्म के लिये अपना नाम ही वियोगी हरि रख लिया।

इन्होंने चार वर्ष तक 'सम्मेलन-पत्रिका' का सम्पादन किया। साथ ही ये पुस्तक-लेखन का भी काम करते रहे। उन्हीं दिनों इनकी

चार नई पुस्तकें फिर प्रकाशित हुईं—'श्रीछद्मयोगिनी' (नाटिका), 'साहित्य-विहार', कवि-कीर्तन और अनुराग-वाटिका। साहित्य-विहार में इनके भक्तिरस-पूर्ण सरस लेख हैं। कवि-कीर्तन में हिन्दी के १०० कवियों के पद्यात्मक परिचय दिये गये हैं। अनुराग-वाटिका में प्रेम-भक्ति पर ब्रजभाषा में १०० पद हैं। इन्होंने, 'ब्रज-माधुरी-सार' नामक एक सरस ग्रंथ का भी सम्पादन किया है। यह ग्रंथ ब्रजभाषा की भक्ति-विषयक कविता का एक अपूर्व संग्रह है। इसमें ब्रजभाषा के आचार्य भक्त कवियों की गवेषणापूर्ण तुलनात्मक जीवनी के अतिरिक्त उनकी बहुत-सी अप्रकाशित और प्रकाशित कविताओं का सटिप्पण संग्रह भी है। इन्होंने गो० तुलसीदास-कृत विनय-पत्रिका पर 'हरितोषिणी' नाम की एक बृहत् टीका भी लिखी है, जो अपने समय की सर्वोत्तम टीका मानी जाती है।

इनकी बाल-रचनाओं में 'वीर हरदौल' (नाटक) और 'मेवाड़-केशरी' (काव्य) बहुत ही उत्तम थे। इन्होंने 'प्रेम-गजरा' नामक लगभग ७०० उर्दू-शेरों की एक पुस्तक भी लिखी थी। पर इनकी स्वाभाविक लापरवाही के कारण अब इन पुस्तकों का पता नहीं।

उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ राष्ट्रीय पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनके नाम ये हैं :—

चरखा-स्तोत्र (संस्कृत-पद्य), महात्मा गाँधी का आदर्श, बढ़ते ही चलो (गद्य), चरखे की गूँज, वकील की रामकहानी, असहयोग-वीणा, वीर-वाणी (पद्य), श्रीगुरु-पुष्पांजलि—इनकी गुरु-भक्ति-पूर्ण कविताओं का संग्रह।

ब्रजभाषा में इन्होंने वीररस सम्बंधिनी 'वीर-सतसई' नाम की एक सतसई लिखी है। जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से इन्हें 'मंगला-प्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हुआ है।

हरिजी की लिखित और सम्पादित पुस्तकों के नाम ये हैं :—

साहित्य-विहार, पगली, मंदिर-प्रवेश, विश्वधर्म, प्रबुद्ध यामुन, छद्म-योगिनी, ब्रजमाधुरी-सार, संक्षिप्त सूरसागर, कवि-कीर्त्तन, शुकदेव, विहारी-संग्रह, सूर,पदावली, वृत्त-चन्द्रिका, अनुराग-वाटिका, भजन-माला, योगी अरविन्द की दिव्यवाणी, बुद्धवाणी, संतवाणी, ठंडे छींटे, प्रेमयोग, गीता में भक्तियोग, भावना, प्रार्थना, अन्तर्नाद, विनय-पत्रिका की टीका, तुलसी-सूक्ति-सुधा, वीर-सतसई, हिन्दी-गद्य-रत्नावली, हिन्दी-पद्य-रत्नावली और मीराबाई आदि का पद्य-संग्रह।

सन् १९३२ के नवम्बर में ये हरिजन-सेवक-संघ में सम्मिलित हुये और हरिजन-सेवक पत्र के सम्पादक नियुक्त हुये। १९३७ में ये 'गाँधी-सेवा-संघ' के सेवक-सदस्य हुये। जिसके लिये यह नियम है कि कोई सेवक-सदस्य अपनी जीविका का दूसरा प्रबंध नहीं कर सकता। १९३८ के मार्च से ये हरिजन-बस्ती (दिल्ली) के उद्योग-शाला के व्यवस्थापक का काम बड़ी तत्परता से कर रहे हैं।

अनन्य वैष्णव होते हुए भी इनमें विचार-सांकीर्ण्य नहीं है। प्रायः पंद्रह-बीस वर्षों से ये फल पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं, और आजीवन अन्न न खाने का इन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। कविता ये विशेष कर ब्रजभाषा ही में किया करते थे, खड़ी-बोली में बहुत ही कम। खड़ी-बोली की कविता में उर्दू-मिश्रित भाषा को ये अधिक पसन्द करते हैं। अँगरेज़ी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत और बँगला का भी ज्ञान है। इनकी रचना में भक्ति, प्रेम और विरह का अच्छा समन्वय पाया जाता है। सन् १९३४ से इन्होंने कविता-संन्यास ले लिया है। अब दिमाग़ी उड़ान छोड़कर ये ठोस काम में लग गये हैं।

४ मई, १९३९ को मैं इनसे हरिजन-बस्ती में मिला; वहाँ मैंने इनको हरिजन-बालकों को पढ़ाते हुये और बढ़ई, दरजी और मोची के

हिसाब-किताब में एक सतर्क बनिये की तरह भिड़ा हुआ पाया। इन्हें अब एक साहित्यिक तपस्वी कहना चाहिये, जो साहित्य-निर्माण के रास्ते से दूसरे रास्ते पर उतर गये हैं।

इनकी कविता के कुछ नमूने आगे दिये जाते हैं :—

दोहे

जाके पान किये सबै, जगरस नीरस होत।
जयतु सदा सो प्रेमरस, उर आनन्द उदोत ॥१॥
बैन थके तन मन थके, थके सबै जग ठाट।
पै ये नैना नहि थके, जोहत तेरी बाट ॥२॥
प्रेम तिहारे ध्यान में, रहे न तन को भान।
अँसुअन मग बहि जाय कुल, कान मान अभिमान ॥३॥
जापै तृन लौं वारिये, राग, बिराग, सुहाग।
बड़े भाग तें पाइये, सो अगाध अनुराग ॥४॥
ब्रजबानी पद माधुरी, मधुसानी रसलीन।
बिधिरानी गावति अजौं, जासु गुननि लै बीन ॥५॥

स्तुति

जय गोविन्द हरे,
बोल हरे, जय बोल हरे। जय गोविन्द०।
जय नँदनन्दन, दुष्ट-निकंदन
केशव बोल हरे। जय गोविन्द०।
श्रीराधाधव, जय श्यामाधव
माधव बोल हरे। जय गोविन्द०।
जयति मुरारे, गिरिवरधारे,
प्यारे बोल हरे। जय गोविन्द०।

ललित त्रिभंगी, रतिरसरंगी,
न्यारे बोल हरे। जय गोविन्द०।
जय ब्रजवल्लभ, गोपीवल्लभ,
वल्लभ बोल हरे। जय गोविन्द०।
रुक्मिनिवल्लभ, वल्लभ वल्लभ
वल्लभ बोल हरे। जय गोविन्द०।
कुञ्जविहारी, रसिकविहारी
प्रीतम बोल हरे। जय गोविन्द०।
घट-घट-वासी, आनँदरासी,
अनुपम बोल हरे। जय गोविन्द०।
भव-भय-भंजन, खल-दल-पुञ्ज—
विभञ्जन बोल हरे। जय गोविन्द०।
जन-दृग-अञ्जन, निखिल निरञ्जन,
रंजन बोल हरे। जय गोविन्द०।
श्याम हरे, घनश्याम हरे जय
हरि-हरि बोल हरे। जय गोविन्द०।
राम हरे, अभिराम हरे जय,
हरि-हरि बोल हरे। जय गोविन्द०।

सवैया

(१)

जो अनवेद्य अनादि अनन्त अखंड अनन्य अनूप अकाम है।
जाहि निरूपहिं वेद सदा कहि नित्य निरीह निरंजन नाम है।
जो जनरंजन दुष्टविभंजन गंजन-गर्व 'हरी' सुखधाम है।
सोइ त्रिलोक को नाथ अली वृषभानुलली की गली को गुलाम है॥

(२)

जब ब्रह्म निरंजन ध्याइ रही मनमन्दिर मोहन आइ गयो।
'हरिजू' मुख मोरि नचाइ गयो हग ओठनि में मुसुकाइ गयो॥
करि औचक आँखमिचौनी लला मुख चूमि सुधारस प्याइ गयो।
तुव ग्यान गमाइ कै प्रीति हढ़ाइ कै प्रेम कौ पाठ पढ़ाइ गयो॥
(श्रीछद्मयोगिनी नाटिका)

शिखरिणी

(१)

बहै धीरी-धीरी, जहँ पवन सीरी उमँग की,
लता लूमें झूमें, प्रिय-सुरति घूमें मद छकी।
मिलैगो 'उत्साही, पुर' तहँ तुम्हें आनँदकरी,
चले जैयो पंथी, यह मग धरे प्रीतम-पुरी॥

(२)

कँपै कैसी नैया, थरथर सुनैया कोउ नहीं,
अहो डूबी भैया, इहि जग बचैया कोउ नहीं।
पुकारैं यों रोवैं, सरबस जु खोवैं नहिं जगै,
सुनो, पंथी प्यारे, मृगसरि-किनारे जिनि लगै॥
(प्रेम-पथिक)

प्रेमाञ्जलि

(१)

तू शशि में चकोर, तू स्वाती में चातक तेरा प्यारे!
तू घन में मयूर, तू दीपक में पतङ्ग ऐ मतवारे!

तू धन में लोभी, तू सरबस में अति तुच्छ सखा तेरा !
सब प्रकार से परम सनेही ! मैं तेरा हूँ तू मेरा !

(२)

देखी प्यारे गगन-तल में, लालिमा ज्यों प्रभा की
धाया त्योंही समझ कर "मैं हाथ तेरे गहूँगा—
ठंडा होगा हृदय"-पर, हा ! नाथ, धोखा दिया क्यों ?
मेरा ही है रुधिर उसमें, दग्ध जो था बहाया !

शुकदेव

है यदि पुत्र स्वर्गप्रद तो फिर धर्म निरर्थक ही है,
जिनके बहुत पुत्र हैं उनके जीवन सार्थक ही है।
बहु सुत जननी खरी, कूकरी, अधम शूकरी नारी,
नखी नागिनी आदि जीव क्या सभी स्वर्ग-अधिकारी ? ॥१॥
क्षुद्र जीव-समुदाय सभी यदि पुत्रवान होने से—
सहज ऊर्ध्वगति पा सकते हैं विषय-बीज बोने से—
तो फिर वृथा कर्म-साधन सब आश्रम-धर्म वृथा है ;
स्वर्ग-लाभ करने की क्या ही सच्ची सहज प्रथा है ! ॥२॥
कौन नर्क जावेगा ? हैं यदि सभी स्वर्ग-अधिकारी,
ऐसा क्षुद्र तर्क करते क्यों ? होकर ब्रह्म-विचारी।
स्वर्गवास, यश, पौरुषादि, यदि पुत्र-लाभ से पाते—
कर लालन-पालन ही उसका, कौन यमालय जाते ? ॥३॥
ऐसे नश्वर गृह-सुख से क्या ज्ञानी मोहित होगा ?
जिसमें जरा-मरण का जिसने सदा दुःख ही भोगा।
हितकर समझ अंक में जिनके गृही सदा सोते हैं,
वे ही सुत, वनितादि मूढ़ के प्रति-बन्धक होते हैं ॥४॥

समझ चुका जो भेद जगत का 'है यह मिथ्या माया',
उसके आगे सभी धूल है कनक, कामिनी, काया।
यह यौवन गिरि-नदी-वेग सम उसको लख पड़ता है,
क्षणिक शरीर जान यम से भी बाहु ठोंक लड़ता है ॥५॥
जग-असारता, आयु-चपलता नश्वरता भोगों की,
देख-देख भी नहीं चिकित्सा की जिसने रोगों की।
उस अन्धे को जन्म-मरण की बदी भोगमानी है,
जीवन उसका पाप ताप की बनीं राजधानी है ॥६॥
सूर्योदय के साथ अस्त यदि उसका नियमित होगा,
धीरे धीरे जीवन भी तब क्या न अस्तमित होगा?
किन्तु, अहो! आश्चर्य महा है, जीव मूढ़ है कैसा?
इस असार संसार-मोह में पगा हुआ हो ऐसा ॥७॥
जन्म-जरा को देख नहीं कुछ मरने का भय खाता,
मोहमयी मदिरा निशिवासर है पीता ही जाता।
ऐसे ज्ञानशून्य पथ का क्या शुक अनुसरण करेगा?
इन कामान्ध विमूढ़ जनों का क्या अनुकरण करेगा? ॥८॥

पद

(१)

हाँ, हम सब पंथन तें न्यारे।
लीनों गहि अब प्रेम-पंथ हम और पंथ तजि प्यारे ॥
नायँ कराय सकैं षट दरसन दरसन मोहन तेरो।
दिन दूनो नित कौन बढ़ावै या हिय माँझ अँधेरो ॥
तो अभेद कौ भेद कहा ए वेद बापुरे जानैं।
वा झिलमिली झलक कौ नीरव रहस कहा पहिचानैं ॥

सूत्र-ग्रन्थ जे नहिँ निरवारत बिरह-ग्रन्थि पिय तेरी।
पचि तिनमें सुरझत सपनेहुँ नहिँ उरझन बढ़ति घनेरी॥
सब धर्मन तें परे धर्म जो प्रीतम-प्रेम-सगाई।
ताको धर्म-अधर्म-व्यवस्था कौन समृति करि पाई॥
जो तुव ललित रूप को लालन बरन-भेद नहिँ पावै।
ऐसे नीरस बरन-धर्म कों पालि कौन पछितावै॥
जो पै रस-आश्रम नहिँ सेयौ अति झीनो रँगभीनो।
नाहक आश्रम-धर्म साधिकै कौन धर्म हम कीनो॥
याही तें सब वेदविहित अरु लोक-धर्म हू त्यागे।
तो छबि-छाक-छके हरि अब तो नेह-सुधा-रस पागे॥

(२)

पियारे, धन्य तिहारो प्रेम।
साँचेहु बिना प्रेम बसुधा पै झूठे नीरस नेम॥
भरयो अगम सागर कहूँ, तहँ खेलति उमगि हिलोर।
ता सँग झूलति झूलना, कोइ नैन-रँगीलो-कोर॥
मानस मधि झरना झरत, इक रस-रसिक रसाल।
मधु-समीर आँगुरिनि पै, कोइ बिहरत मत्त मराल॥
बिरह-कमल फूल्यो कहूँ, चहुँ छायो दरस-पराग।
बँध्यो बावरो अलि अधर, तहँ लहत सनेह-सुहाग॥
धरी कहूँ इक आरसी, अति अद्भुत अलख अनूप।
उझकि उझकि झाँकत कोई, तहँ धूप छाँह को रूप॥
अरी प्रेम की पीर! तू, जब मचलति सहज सुभाय।
करि चख-पूतरि तोय को; तब लाड़ लड़ावत आय॥
उठी उमगि घन-घटा कहुँ, पै रही हियें घुमराय।
परति फुही अँखियान में, यह कैसी प्रेम-बलाय॥

कहा कहौं वा नगर की, कछु रीति कही नहिं जाय।
हेरत हिय-हीरा गई, यह हेरनि हाय हिराय॥
इक मरजीवा मरमी बिना, हरि मरम न समुझै कोय।
हिलग-तीर को पीर बिनु, कोइ कैसे मरमी होय॥

(३)

मो बौरी के ढिग मति बैठै।
हौं तौ बैठी हौं अपने रँग, या गृह तू मति पैठे॥
कैसी लोक-लाज कुल कैसो, कहा निगम की बानी।
भ्रमरी है हरि-बदन-कमल पै, घूमत फिरति दिवानी॥
प्रान-निछावरि दै लीनी जो, प्रीतम की दृग-कोरैं।
तो काहे यह जाति जरीं सब, मोकों मिलि झकझोरैं॥
सरबस सौंपि जु चाख्यौ चख भरि, पिय-छवि-आसव न्यारो।
देहि बताय नेक काहू कौं, यामें कहा इजारो॥
मो अँखियन गड़ि गई गँसीली, पिय-चितवनि अनियारी।
किरकिरात पै नैन तिहारे, या मति पै बलिहारी॥
आई कहा निकासन उर तें, काँटो अरी हठीली।
चुभ्यौ रहन दै लागति वाकी, मीठी कसक चुभीली॥
जाहि करै किन सुधा-पान तू, हौं तौ विषही घूँट्यौ।
हानि-लाभ कछु वे नहिं जानति, सब लुटाय रस लूट्यौ॥
लागी लगन नायँ छूटेगी, भई स्याम की दासी।
नेम-सिंधु तजि प्रेम-बुंद की, हौं चातकी पियासी॥

(४)

आये नैन पाहुने तेरे।
द्वार खोलि दै प्रेम-भौन कौ, करि पहुनई सबेरे॥

सुनि-सुनि तेरे दरस-तीर्थ कौ, पुन्य महातम भारी।
छानत-छानत धूरि कहाँ तें, आये हैं व्रतधारी॥
विरह-बावरे इन पंथिन कों, फल-इच्छा नहिँ कोई।
जाहि देखि उमड़े रस माँगत, एक 'रूप-पट' सोई॥
क्यों नहिँ तीरथ सुफल करावत, छाँड़ि गरूर हठीले।
हरि ढूँढ़ेहु नाय मिलैंगे, ऐसे नेह-रँगीले॥

(५)

अरे चलि वा मन्दिर की ओर।
करत शक्ति-आराधन जहँ नित, वीर भक्त उठि भोर॥
तात बिमल निज हृदय-रक्त सों, करि वाकौ अभिषेक।
क्यों न चढ़ावत ललित लाल तेहि, मौलि-माल गहि टेक॥
लाज-अग्नि सोइ धूप-दीप पुनि, नव नैवेद्य-विधान।
अपने कर तें काटि सीस निज, करु पुनीत बलिदान॥
रौद्र प्रचण्ड अखण्ड ज्योतिमय, करु नीराजन जाय।
करि हरि विनय वीर वाणी सों, शक्तिहिँ लेहि रिझाय॥

(६)

बहैगो नैननि तें कब नीर।
देखि-देखि रण-रङ्ग रङ्गीले, अचल बाँकुरे बीर॥
छिरक्यो देखि रकत केसरिया, बागेन पै सुचि रङ्ग।
फूलि उठैगी यह छाती कब, ह्वैहैं पुलकित अंग॥
अरि ललकार सुनत ही मुख पै, चढ़िहै ओज अखण्ड।
फरकि उठैंगे अति प्रचण्ड कब, यह दोऊ भुज-दण्ड॥
लैहैं मूँदि भानु-मण्डल कब, ह्वै पवि-पञ्जर बाण।
चढ़िहैं हरि कब बलि-वेदी पै, हँसि-हँसि कै यह प्राण॥

वीर-सतसई के कुछ दोहे

एक छत्र बनको अधिप, पंचानन ही एक।
गज-शोणित सों आप ही, कियौ राज अभिषेक ॥ १ ॥

दंति-कुम्भ-शोणित सनी, लसति सिंह की डाढ़।
मनु मङ्गल ससि-शृङ्ग कों, भेंटत भरि भुज गाढ़ ॥ २ ॥

छिन्नभिन्न ह्वै उड़ति क्यों, मद भौंरन की भीर।
दार्‌यौ कुम्भ करीस को, कहूँ केहरी बीर ॥ ३ ॥

चाटत प्रभु-पद स्वान लों, फिरत हलावत पूँछ।
बनत कहा अब मरद तू, यों मरोरि कै मूँछ ॥ ४ ॥

शायर ओध-नवाब की, करूँ कहा तारीफ।
राज-काज कों पीठि दै, सोचत बैठि रदीफ ॥ ५ ॥

रँगत रहे रिपु-रुधिर में, केसनि जे निरवारि।
तिन के कुल अब हीजड़ा, काढ़त माँग सँवारि ॥ ६ ॥

लखि जिनके मजबूत भुज, काँपत है जमदूत।
भारत-भू तें उठि गये, वे बाँके रजपूत ॥ ७ ॥

पावस ही में धनुष अब, नदी-तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में बीर ॥ ८ ॥

जोरि नाम संग 'सिंह' पद, करत सिंह बदनाम।
ह्वैहो कैसे सिंह तुम, करि सृगाल के काम ॥ ९ ॥

या तेरी तरवारि में, नहिँ कायर अब आब।
दिल हू तेरो बुझि गयो, वामें नैक न ताब ॥ १० ॥

गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददासजी का जन्म सं० १६५३ में विजयादशमी को हुआ। ये जबलपुर के सुप्रसिद्ध दीवान बहादुर सेठ जीवनदासजी के पुत्र, और राजा सेठ गोकुलदासजी के पौत्र हैं। ये जाति के महेश्वरी वैश्य हैं।

बालकपन ही से ये स्वभाव के बड़े सौम्य हैं। खेलने के लिये बहुत-से खिलौने आते थे, वे सब एक मकान में सजाकर रक्खे जाते थे। ये उन्हें देखकर ही सुख का अनुभव कर लेते थे। कभी उन्हें हाथ में लेकर तोड़ते-फोड़ते न थे।

पाँच वर्ष की अवस्था में इनका शिक्षारंभ हुआ। इनको घर ही पर पढ़ाने के लिये बहुत योग्य शिक्षक नियुक्त किये गये। शिक्षकों में रायबहादुर पंडित विश्वम्भरनाथ ठुलल और बाबू द्वारकानाथ सरकार, (प्रोफ़ेसर गवर्नमेंट कालिज, जबलपुर) का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अंग्रेज़ी में बी० ए० तक का कोर्स इनको घर ही पर पढ़ाया गया। निरर्थक विषय नहीं पढ़ाये गये। अंग्रेज़ी-साहित्य की शिक्षा पर ही विशेष ध्यान दिया गया। अंग्रेज़ी के साथ-साथ संस्कृत की भी साधारण शिक्षा इनको घर ही पर दी गई। बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषायें इन्होंने स्वयं सीख लीं। अब कुछ न कुछ लिखते-पढ़ते रहने का इनको व्यसन-सा है।

राजा गोकुलदासजी इनको बहुत प्यार करते थे। वे इनको प्रायः अपने पास ही रखते थे। वे बड़े धार्मिक पुरुष थे। उनकी सङ्गति से इनमें भी धार्मिक भाव बालकाल ही से जाग्रत हो गया था। इनका कुटुम्ब वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुयायी है। ये अपने घर ही के मंदिर

में, उत्सवों पर, बड़े चाव से ठाकुरजी की झाँकी बनाया करते थे। धार्मिक भाव इनमें अब भी पहले ही जैसा है।

१३ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ। इस समय इनके एक कन्या और एक पुत्र है। ग्यारह वर्ष की अवस्था ही से इन्हें हिन्दी पढ़ने का शौक़ हुआ। पहले चन्द्रकान्ता आदि उपन्यासों के पढ़ने से उसी प्रकार की पुस्तकें लिखने का शौक़ हुआ। चम्पावती, कृष्णलता और सोमलता नामक तीन उपन्यास उसी ढङ्ग के १२ से १५ वर्ष तक की अवस्था में ही इन्होंने लिखे भी। सोमलता के तीन भाग प्रकाशित भी हुये। पर ऐसी पुस्तकों को समाज के लिये निरर्थक समझकर १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने शेक्सपियर के रोमियो-जुलियट, पैरीक्लिस, प्रिंस आफ़ टायर और विन्टर्स टेल की कथाओं के आधार पर सुरेन्द्र-सुन्दरी, कृष्ण-कामिनी, होनहार और व्यर्थ संदेह नामक उपन्यास लिख डाले। इनमें शेक्सपियर की पुस्तकों की केवल कथा-मात्र ली गई है। बाक़ी ये पुस्तकें मौलिक-रूप में लिखी गई हैं। ये चारों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इसी समय में कविता की ओर इनकी रुचि हुई। कुछ कविताएँ उपन्यासों में भी हैं। इसके पश्चात्, इन्होंने "बाणासुर-पराभव" नामक एक महाकाव्य लिखा। यह काव्य विविध छन्दों में बहुत ही मनोहर रचा गया है। इसमें कुल १८ सर्ग हैं। इसके सिवा इन्होंने विश्व-प्रेम नामक मौलिक नाटक और तीर्थ-यात्रा नामक यात्रा-सम्बन्धी दो ग्रन्थ और भी लिखे।

ग्रन्थ-रचना के सिवा इनके फुटकर लेख और कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में निकलती ही रहती हैं।

इन्हीं के उद्योग से जबलपुर में शारदा-भवन पुस्तकालय की स्थापना हुई। उसके महोत्सव में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्याख्याता सम्मिलित

हुये थे। उसी समय से जबलपुर में सार्वजनिक जीवन में कुछ जान आई। इसका श्रेय सेठ गोविन्ददासजी ही को है।

पटना-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर जबलपुर में राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की नींव पड़ी। शारदा-भवन पुस्तकालय भी उसको सौंप दिया गया। उसी के द्वारा शारदा मासिक पत्रिका और शारदा पुस्तकमाला प्रकाशित होती थीं। इस संस्था को सेठ गोविन्ददासजी ने पचास हज़ार रुपये दिये। इनकी हिन्दी-हितैषिता के परिणाम-स्वरूप जनता ने इनको तृतीय मध्यप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति चुना।

असहयोग-आन्दोलन से इनका राजनीतिक जीवन प्रारम्भ होता है। कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस के पश्चात् इन्होंने आनरेरी मैजिस्ट्रेटी छोड़ी। मध्यप्रान्तीय कौंसिल में ये निर्विरोध जा रहे थे, उससे भी मुँह मोड़ा। बेजवाड़े की मीटिङ्ग के बाद पिताजी से अनुरोध करके कलकत्ते की 'लैंडर अरबथ नाट' नामक अँग्रेज़ी दूकान से सम्बंध छुड़वाया। इस दूकान से इनका १५ वर्ष से सम्बंध चला आता था। इस दूकान से सत्तर-अस्सी हज़ार रुपये वार्षिक कमीशन की आय इनको होती थी। कम्पनी ने बहुत ख़ुशामद की, पर इन्होंने देश-सेवा ही को अर्थ-लोभ पर विजय दी। स्वराज्य-फ़ंड में इन्होंने दस हज़ार रुपये दिये। असहयोग आंदोलन का प्रचार मध्यप्रांत में जो कुछ हुआ है, उसमें सेठ गोविन्ददासजी का बहुत बड़ा भाग है। वर्धा के सेठ जमनालालजी और जबलपुर के सेठ गोविन्ददासजी के कंधों ही पर मध्यप्रांत में असहयोग आंदोलन खड़ा हुआ था। 'यंग इण्डिया' में महात्मा गाँधी ने भी इनके कार्यों की प्रशंसा की थी। ये प्रथम हिन्दी मध्यप्रांतीय राजनीतिक-कांफ्रेंस की स्वागत-समिति के सभापति चुने गये थे। उसी समय से ये अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य हुये।

सन् १९२३ में स्वराज्य पार्टी का संगठन हुआ। विचारों की एकता से ये उसमें सम्मिलित हुये। ये अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टी के कोषाध्यक्ष और हिन्दी-मध्यप्रांतीय स्वराज्य पार्टी के सभापति भी रह चुके हैं।

ये बड़े उदार हैं। लोकोपकारी संस्थाओं को बराबर सहायता पहुँचाते रहते हैं। जबलपुर में अनाथाश्रम खोला गया, उसमें इन्होंने पाँच हज़ार रुपये दिये, और चंदा भी इकट्ठा करने-कराने में पूरी सहायता दी। सन् १९२१ में जबलपुर में प्लेग के समय में प्लेग रिलीफ़ कमेटी के लिये इन्होंने १५०००) का चन्दा इकट्ठा किया और उसके मंत्री का कार्य किया।

यह तो इनके सार्वजनिक जीवन की संक्षिप्त बातें हैं। इनका जातीय जीवन भी बहुत ही श्लाघनीय है, महेश्वरी जाति का सुधार और उसमें सद्‌गुणों की वृद्धि करना भी इनके जीवन का एक लक्ष्य है। पूना में तृतीय महाराष्ट्र-प्रांतीय माहेश्वरी-सभा तथा जलगाँव में पंचम बुम्बई प्रांतीय माहेश्वरी-सभा के ये सभापति हुये थे।

अखिल भारतीय माहेश्वरी महासभा (अकोला) के चतुर्थ अधिवेशन के सभापति भी ये ही चुने गये थे। पर बीमारी के कारण ये उसमें जा न सके।

सन् १९३८ में ये त्रिपुरी-कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। ये अखिल भारतवर्षीय माहेश्वरी सभा के मन्त्री भी रह चुके हैं। इस समय केंद्रीय लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य हैं।

बाबू गोविन्ददासजी बड़े सुशील, मधुरभाषी और मिलनसार हैं। स्वजाति के मुख्य-मुख्य पुरुषों में तो इनका मान हई है, समस्त देश के प्रमुख व्यक्तियों में भी इनके प्रति बड़े ही अच्छे भाव हैं।

सन् १९३० में इन्होंने तीन नाटक लिखे, जिनके नाम हैं—कर्त्तव्य, हर्ष और प्रकाश। तीनों नाटक जेल में लिखे गये, जब ये राजनीतिक आंदोलनों में भाग लेकर तीन बार जेल गये थे। हिन्दी-जगत् में इन नाटकों की बड़ी ख्याति हुई और इनकी भूमिका से इनके नाट्य-शास्त्र के प्रशंसनीय ज्ञान का पता चला।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने उद्धृत किये जाते हैं :—

जन्म-भूमि-प्रेम

था एक सुहावन सुख-स्वरूप। नन्दन कानन-सा वन अनूप॥
थे उसके द्रुम दानी-समान। देते फल-सौरभ-छाँह-दान॥
कुछ शाख-भार लेकर सचाव। द्रुम दिखलाते थे बन्धु-भाव॥
कुछ मिले हुए शाखा समेट। करते शाश्वत सस्नेह भेंट॥
कुछ झूम रहे थे कुसुम-बेलि। मानों हो करते कलित केलि॥
वन के इन द्रुम-गण में विशाल। था वहाँ एक तरुवर रसाल॥
सब में उसकी थी छवि विशेष। मानों वह वन का हो द्रुमेश॥
थे पत्र-पुष्प मंगल-प्रदान। लाते थे जिनको गृह सुजान॥
फल ऋतु में निशि-दिन टूट-टूट। गिरते थे पृथिवी पर अटूट॥
तरु हवन-यज्ञ की सिद्धि अर्थ। आमंत्रित होता था समर्थ॥
था खगगण का वह गृह विशाल। रक्षक था उनका सर्व काल॥
अरि-सूर्य-अग्नि-जल-शीत-वात। इनका न इन्हें था दुःख ज्ञात॥
कुछ काल गये उस विपिन-बीच। पहुँचा मृगया-हित व्याध नीच॥
लखकर उसने मृग-यूथ एक। तक छोड़े उस पर शर अनेक॥
पर दैवयोग से बाण चूक। आ लगे शाखियों में अचूक॥
थे परम तीक्ष्ण विष-बुझे बाण। पल में द्रुम-गण ने तजे प्राण॥
हो गये नष्ट लघु तरु समस्त। तरु-पति की भी श्री हुई अस्त॥

अब उसको सब खग छोड़-छोड़ । भागे नित नाता तोड़-तोड़ ॥
पर इन विहगों में एक कीर । था अग्रगण्य अति धीर-वीर ॥
तरु पर नितांत रहकर स्वतन्त्र । नित जपता था वह यही मन्त्र ।
"जब तक है तन में प्राण शेष । तब तक न तजूँगा मैं स्वदेश ॥"
सब क्षुधा-कष्ट से बाल कीर । चल बसे त्यागकर निज शरीर ॥
तब दुखी शुकी ने भी स्वप्राण । तज दिये वत्स निज मरे जान ॥
पर जन्म-भूमि का भक्त कीर । वह हुआ न विचलित धीर वीर ॥
कुछ दिन में सुरपति रथारूढ़ । आये लखने यह तत्त्व गूढ़ ॥
रथ को तज, धर कर विप्र-वेष । शुक-निकट पहुँच बोले सुरेश-
"तू क्यों देता है यहाँ प्राण । जा अन्य स्थल को शुक सुजान !"
यद्यपि खग था गतकण्ठप्राण । तो भी हैं 'सुरपति', गया जान ॥
बोला साहस कर झुका शीश । "पा लिया भाग्य से तुम्हें ईश ॥
सुनिये प्रभु, इसको त्याग आज । यदि मिलता भी हो स्वर्ग-राज ॥
तो समझ उसे भी तृण-समान । मैं दूँगा इस पर वार प्राण ॥"
सुनकर यह बोले श्रीसुरेश—। "है वस्तु यहाँ पर क्या विशेष ?
शुक, हंस विवेकी भी महान । सर शुष्क जान करता पयान ॥
उत्तर में बोला शुक गँभीर—। "है हंस बड़ा स्वार्थी, अधीर ॥
कहिये, जग में क्या कभी मीन । चल देती लख सर जल-विहीन ?
मैं जन्मा था इस पर अबोध । पाया इस ही पर सुधि-बोध ॥
इसने ही देकर बल विशेष । है सिखलाया उड़ना, सुरेश !
वे मृदुल-मृदुल हैं याद डाल । जिन पर बोता था बाल-काल ॥
ये मौर-युक्त वे छदन लाल । कैसे भूलूँगा वे रसाल ॥
खाकर जिनको मैं शुकी-सङ्ग । यौवन में करता राग-रङ्ग ॥
तज वृद्ध-काल में खेद सर्व । शिशु-चरित देखता था सगर्व ॥
हैं याद मुझे वे दिन अतीत । होती जब वर्षा-घाम-शीत ॥

यह स्वयम् सहनकर सर्व क्लेश । था मुझे बचाता, हे सुरेश !
यों सुख-दुख में रख एक दृष्टि । जिसने की मुझपर प्रेम-वृष्टि ॥
जब हुआ अकिञ्चन वही आज । जब मिटे नित्य के सौख्य साज ॥
तब छोड़ उसे जाना, सुरेश ! है मानी-हित अपयश विशेष ॥
मैं इसे न त्यागूँ, शुनासीर ! चाहे तन त्यागें असु अधीर ॥"
सुनकर शुक के ये बचन आर्द्र । होगया इन्द्र का चित्त दयार्द्र ॥
बोले हँस करके वे सप्रीति—। 'प्रिय शुक, यह सीखी कहाँ नीति ?
इस भूतल पर तू तप-स्वरूप । है तुझसा तू ही खग अनूप ॥
वर माँग, हुआ मैं शुक ! प्रसन्न । द्रुत तुझे करूँगा सुखासन्न ॥"
बोला शुक, "यदि है कृपा, नाथ ! वन तरु-गण-युत होवे सनाथ ॥"
सुरपति 'तथास्तु' कह, सुधा सींच । होगये गुप्त उस विपिन-बीच ॥
द्रुम हुए हरित सब उसी काल । होगया हरा तरुवर रसाल ॥
वन की जैसी थी छटा पूर्व । होगयी पुनः वैसी अपूर्व ॥
जी उठी शुकी, शुक-बाल सर्व । वे लगे विचरने फिर समर्थ ॥
आगये लौटकर अब विहङ्ग । सब गाते शुक-यश बैठ सङ्ग ॥
"जय जन्मभूमि-गौरव-निधान । जय रूप त्याग के मूर्तिमान ॥
जय धर्म-परायण महा धीर । प्रणवीर अलौकिक जयति कीर ॥"

प्रेमी

(१)

प्रेमी, घन सम जग-हितवारे ।

वे तज भेदनीर बरसावत, सस्य विविध विधि के उपजावत,
त्यों सब पर ये दया दिखावत, करत कार्य हितकारी सारे ॥

सुरपति सर उन पर नित छोड़त, तऊ कर्म तें मुख नहीं मोड़त,
नहीं प्रतिज्ञा येहू तोड़त, कबहूँ दुख तें टरत न टारे॥
तदपि वायु बल उन्हें सतावत, तोहू वह शीतलता पावत।
भलो इहैं हू सब को भावत, शत्रु मित्र सम लागत प्यारे॥

(२)

सबै मिलि दीजै प्रेमहिँ मान।
जो हिय प्रेम-वारि सों वञ्चित, सो मरुभूमि समान॥
प्रेमहिँ सों घन जल बरसावत, बढ़त पयोधि महान।
गूँजत भ्रमर कञ्ज विकसित हैं, पूरन प्रेम प्रमान॥
दीपक देखि पतङ्ग प्रेमवश, वारत हैं निज प्रान।
फूलत फूल कोकिला कूकत, राख प्रेम की बान॥
योगी यती भक्त आराधक, धरत सप्रेमहि ध्यान।
ईश-स्वरूप प्रेम ही साँचो, गावत वेद पुरान॥

(विश्वप्रेम से)

वर्षा

मन्दाक्रांता

धीरे-धीरे समय निकला ग्रीष्म का दुःखदायी।
आई वर्षा सुखद जग को व्योम में मेघ छाये॥
योहीं सारे दिवस दुख के काल पा बीतते हैं।
मर्यादा है सुख-दुख-मई घूमती चक्र जैसी॥१॥

दर्शाते हैं गगनतल में मेघ भीमच्छटा यों।
मानो सेना अमरगण की युद्ध को आ रही हो॥

नाना रंगी जलद नभ में दीखते हैं अनूठे।
योद्धा मानो विविध रँग के वस्त्र धारे हुए हों ॥२॥

देती जैसी द्युति कटक में आयुधों की दिखाई।
वैसी ही है झलक दिखती दामिनी की घनों में ॥
होता है ज्यों रव समर में घोर बाद्यादिकों का।
त्योंही भारी गरज नभ में मेघ भी हैं सुनाते ॥३॥

छाया ऐसा निविड़तम है वारिदों से धरा पै।
मानों पृथ्वी गगन मिलके एक ही हो गए हों ॥
हो जाता है उदित नभ में इंद्र का चाप वैसे।
योद्धा जैसे विजय पर हैं राष्ट्र-झंडा उठाते ॥४॥

भौंरे होते मुदित उनसे छोड़ के एक चंपा।
जैसे छोड़ें बुधजन सदा संग दोषी जनों का ॥
गुञ्जारों में मधुर स्वर से पुष्प का सार लेते।
मानों अर्थी विशद यश हों गा रहे दानियों का ॥५॥

पीहू पीहू अविरत रटैं मग्न हो हो पपीहे।
ऊँची केका ध्वनि कर शिखी मोद से नाचते हैं ॥
ये वर्षा के परम सुख से मोद या वारिदों को।
मानो मीठे निज निनद से आशिशें दे रहे हों ॥६॥

ठंडा-ठंडा पवन बहता चित्त को शांति देता।
धीरे-धीरे मधुर उसमें पुष्प की गंध आती ॥
ऐसी वर्षा तृषित जग को हर्ष देती पधारी।
सारे प्राणी प्रमुदित हुए उष्णता के सतायें ॥७॥

(बाणासुर-पराभव)

उषा का विवाह

अति मृदु पलकों पै धूलि थी बालिका के।
नयन कमल दोनों आँसुओं से भरे थे॥
अवयव कृशता से दीखते थे न पूरे।
रहित तन सभी था भूषणों से उषा का॥

मुख-छवि कुम्हलाई दीख ऐसी रही थी।
सरसिज दिखता है धूप में म्लान जैसा॥
मुख पर अलकें थीं छा रही यों उषा के।
तिमिर-निचय जैसे चंद्र को है दबाता॥

वह व्यथित हुई यों पूर्ण उन्मत्त जैसी।
निज प्रिय सखियों से बाग में बोलती थी॥
सखि यह दिखता है आज उद्यान कैसा।
द्युति सब इसकी भी कान्त हैं ले गये क्या!

सकल रुचिर कुञ्जें श्री-विहीना हुई हैं।
ललित रव खगों का शान्त कैसा हुआ है॥
सुमन सब मुँदे-से क्यारियों में झुके हैं।
मम दुख लख मानो शोक है बाग को भी॥

इधर-उधर शाखी-वृन्द क्यों झूमते हैं!
प्रिय-विरह-व्यथा से हैं पराभूत क्या वे!
मृदुल नव लतायें काँपती दीखती हैं।
प्रिय सखि मुझको ये देख के हैं दुखी क्या॥

प्रिय-विरह-व्यथा में देख के दग्ध होते।
मुझ विरहिन को यों भींगते आँसुओं से॥

यह सर लहरों के व्याज से आज मानो।
कर कर ध्वनि ऊँची दुःख में रो रहा है॥

अहह सखि लखो तो साँझ की दुर्दशा को।
रवि-विरह-व्यथा से पांडुता छा गई है॥
सरसिज कुम्हलाते भानु के अस्त से हैं।
प्रिय-रहित प्रिया का दृश्य हैं ये दिखाते॥

न कर मद अरी तू यों नवेली चमेली।
मुझ विरह जली को देख तू फूलती है॥
पर यह मद तेरा क्या सदा ही रहेगा?
सुख दुख दिन सारे तुल्य जाते नहीं हैं॥

फलमय तरु पीले लाल यों दीखते हैं।
अनल जल रहा है बाग में आज मानो॥
मुझ विरहवती के ताप की तीव्रता से।
प्रकृति सकल कैसी भिन्न-रूपा हुई है॥

सुनकर तुलसी माँ! दुःख मेरा मिटा दो।
प्रिय जननि तुम्हें मैं नित्य सींचा करूँगी॥
नवल दल तुम्हारे विष्णु को भेंट दूँगी।
तुम मुझ दुखिया को कान्त से माँ, मिला दो॥

(बाणासुर-पराभव)

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हिन्दी के वर्तमान साहित्य-जगत् में कई पहलोंवाले वह हीरा हैं, जो अपने प्रत्येक पहल से परमोज्ज्वल प्रकाश की किरणें चारोंओर, समान रूप से, फेंकते रहते हैं। वे गद्य के जानदार लेखक, पद्य के शानदार कवि और अनोखी आनबान के राजनीतिक वक्ता हैं। वे स्व० गणेशशङ्कर विद्यार्थी के शिष्य, अन्तरंग मित्र और विश्वासपात्र साथी रह चुके हैं, और स्व० गणेशजी की एक सजीव यादगार हैं। अपने जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने पटने के 'नवशक्ति' साप्ताहिक पत्र के कई अङ्कों में एक लम्बा वर्णन दिया है। हम उसमें से कुछ आवश्यक बातें, उन्हीं के शब्दों में, लेकर यहाँ उद्धृत करते हैं।—

'मेरा जन्म ग्वालियर राज्य के शुजालपुर नामक परगने के भयाना नामक गाँव में हुआ था। मेरी माता कहा करती है कि गायों के बाँधने का एक बाड़ा मेरे ताऊजी के घर में था। उसी में अपने राम ने जन्म लिया। वहाँ कई गायों ने बछड़े ब्याये होंगे। मेरी जननी ने उसी गोशाला में मुझे भी जना। मेरे पिता बहुत ग़रीब थे—निःसाधन, किन्तु भगवद्भक्त ब्राह्मण। अतः जन्म के वक़्त सिवा थाली बजने के और कुछ धूमधाम न हुई। गाँव का सादा जीवन, ग़रीबी और अर्थाभाव, ये मेरे चिर-परिचित मित्र हैं। जब मुझे कुछ होश हुआ तो मुझे इतना याद पड़ता है—मैं कोई तीन साढ़े तीन वर्ष का रहा हूँगा—कि मेरी माता मुझे गोद में लिटाकर, मीठे-मीठे विहाग के स्वरों में अष्टछाप के पदों को गाकर मुझे लोरियाँ सुनाती और सुलाया करती थी।

इसके बाद मैं कुछ और बड़ा हुआ। गाँव में लड़कों के साथ

खेला करता था। मैं कुछ बुद्धू-सा था। खेल में ज़रा फ़िसड्डी रहता था।

फिर कुछ दिन गुज़रे और चूँकि मेरे पिता श्रीश्रीमद्वल्लभाचार्य के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और उदयपुर-राज्यान्तर्गत वैष्णवों के प्रधान तीर्थस्थल श्रीनाथद्वारा चले गये थे, अतः मेरी माता मुझे लेकर नाथद्वारे चली गईं। नाथद्वारे में मैं काफ़ी दिनों रहा। पर वहाँ पढ़ाई का कोई इन्तज़ाम नहीं था। मेरी माता दूरदर्शिनी हैं। उन्होंने पिताजी से कहा कि लड़का यहाँ आवारा हो जायगा। वे मुझे लेकर ग्वालियर-राज्य के शाजापुर नामक कसबे में चली आईं। यह स्थान राज्य का एक ज़िला है। यहाँ हिन्दी-अँग्रेज़ी मिडिल स्कूल है। यहीं पर जीवन के कोई ग्यारहवें वर्ष में मेरी शिक्षा का क्रम प्रारम्भ हुआ।

मेरे परम सौभाग्य से मुझे यहाँ मेरे पिता के पुरातन मित्र सेठ भगवानदासजी झालानी के परिवार का आश्रय मिल गया।

मेरे परिवार के लोग चार आने महीने के मकान में रहते थे। फिर शायद आठ आने महीने के मकान में रहने लगे। बरसात में मकान टपकता था। रात-भर सोना दूभर था। मैं ख़ूब खाता था। कुछ दूध की ज़रूरत भी महसूस होती थी। पर दूध के लिये पैसे कहाँ से आवें? तब माताराम ने लोगों का अनाज पीसना शुरू किया। इससे जो पैसे मिलते थे, उससे मैं दूध पीता था। पैरों में जूते पहनना एक आराम-तलबी समझी जाती थी। इसलिये बन्दा नंगे पैरों रहता था।

कपड़ों की भी ऐसी कोई इफ़रात नहीं रहती थी। पैवन्द लगे कपड़े पहनना और साल में सिर्फ़ दो धोतियों पर गुज़र करना एक मामूली और बिलकुल स्वाभाविक बात थी। किताबें कुछ ख़रीदी जाती थीं और कुछ माँग ली जाती थीं। इसी तरह जीवन के ये बरस बीते।

शाजापुर से अँग्रेज़ी मिडिल पास करने के बाद मैं हाई-स्कूल की

शिक्षा के लिये उज्जैन चला आया। यहाँ पर माधव कालेज नामक एक शिक्षा-संस्था में मेरी शिक्षा होने लगी।

पाठक पूछेंगे कि मैं पढ़ने में कैसा था। साफ़ बात यह है कि पढ़ाई-लिखाई में मैं निहायत साधारण और थर्ड क्लास था। स्मरण-शक्ति बहुत मामूली; परिश्रम का माद्दा कम। कुछ सपने देखने का और हवाई किले बनाने का आदी। कम्बख्ती है कि आजतक यह आदत नहीं छूटी। सन् १९१६ ई० में, जब मैं दसवें दर्जे में था, उस साल लखनऊ में कांग्रेस होनेवाली थी, जिसमें नरम और गरम, दोनों दल, मिल बैठने का निश्चय कर चुके थे, मैं लखनऊ कांग्रेस में शामिल हुआ था।

मैट्रिकुलेशन परीक्षा के बाद नतीजा आया और मैं पास हो गया। अब आगे पढ़ने की सूझी। सोचा, चलो, कानपुर चलें और पढ़ें; पिता के पास तो कुछ था नहीं, जो कालेज का खर्चा दे सकते। इसलिये मैंने स्वावलम्बी होकर पढ़ने की ठानी। मैंने अपना बिस्तर बाँधा, ट्रंक में कुछ किताबें भरीं और कानपुर का टिकट कटाकर चल दिया। आज मैं जब पीछे की ओर घूमकर देखता हूँ तो यह पाता हूँ कि मेरे जीवन में लखनऊ कांग्रेस की मेरी पहली यात्रा और परीक्षा के बाद कानपुर की यह दूसरी यात्रा बहुत महत्वपूर्ण साबित हुईं। उन्होंने मेरे जीवन का प्रवाह एकदम बदल दिया। पहली यात्रा में गणेशजी, माखनलालजी आदि गुरुजनों के दर्शन मिले, उनसे परिचय हुआ। दूसरी यात्रा में गणेशजी का आश्रय मिला, दुनिया को देखने का अवसर मिला और राजनीति तथा साहित्य में थोड़ा-बहुत प्रवेश करने एवं कार्य करने की प्रेरणा मिली।

गणेशजी मेरे लिये क्या थे, यह मैं क्या बताऊँ? मुझे पंद्रह वर्षों तक उनके चरणों में बैठने का, उनके नेतृत्व में काम करने का,

उनकी प्रेरणा से कारागार की ओर अवसर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि उनके सदृश मुझे दूसरा आदमी आजतक देखने को नहीं मिला।

उन दिनों जब कानपुर आया तो मैं खाता खूब था। चालीस-चालीस रोटियाँ उड़ा जाना बायें हाथ का खेल था। छात्रावास के सभी महराजों के लिये मैं जू-जू था। लोग मुझे अपने मेस (रसोईघर) में लेते हिचकते थे। गणेशजी ने ही मेरा सब प्रबन्ध किया। लिखने की ओर जो मेरी प्रवृत्ति हुई, उसका श्रेय भी पूज्य-चरण गणेशजी ही को है। यों तो बहुत पहले से लिखने की ओर रुचि थी; पर प्रेरणा गणेशजी की ही थी। अगर मैं यों कहूँ कि उन्होंने मुझे कलम पकड़कर लिखना सिखलाया तो अत्युक्ति न होगी।

असहयोग आंदोलन में बी० ए० (चतुर्थ वर्ष) से कालेज छोड़कर आने के बाद का मेरा जीवन तो बहुत कुछ प्रकट ही है। अतः उसके सम्बंध में मैं क्या लिखूँ ? प्रताप से मेरा जो सम्बंध है, वह शायद केवल पंडित शिवनारायण मिश्र को छोड़कर अन्य सभी से प्राचीनतम है।

पहली मर्तबा जब मैं डेढ़ वर्ष के लिये, सन् १९२१ के दिसम्बर में, जेल गया, उसी समय मैंने जेल में अपनी 'विस्मृता ऊर्मिला' लिखनी शुरू की थी, जो बाहर आने पर ठप हो गई और जिसे मैंने गत १९३२ की ढाई बरस वाली सजा में पूरा किया।

सन् १९३० की दो बार की जेल-यात्रा तथा १९३२ के लम्बे कारावास की एक कहानी है। पर अब न कहूँगा।"

नवीनजी की 'अपनी बात' में मैंने काफ़ी काट-छाँट की है। फिर भी नवीनजी की जो बातें पाठकों के सामने हैं, वह कीचड़ में फूले हुये एक कमल के इतिहास के समान हैं। भारतवर्ष में भी ग़रीब गृहस्थ का

लड़का उन्नति कर सकता है, नवीनजी का जीवन-चरित इसका एक जीता-जागता उदाहरण है।

मुझे नवीनजी की कविता बहुत प्रिय लगती है। भाषा की दृष्टि से नवीनजी उसके नियमोपनियमादि से काफ़ी स्वतन्त्र दिखाई पड़ते हैं, पर खड़ी-बोली की कविता में लोक-भाषा में सुप्रचलित मधुर और भाव-प्रवण शब्दों को उठाकर वे जो शिष्ट शब्दों की पंक्ति में बैठा देते हैं, यह उनकी ख़ास विशेषता है। इससे पंक्ति की शोभा भी बढ़ जाती है और उसमें रस भी उमड़ आता है।

नवीनजी की कविता में वीर और शृङ्गार-रस का बड़ा उन्मादक संमिश्रण रहता है। हृदय में उमड़ते हुये जोश को वे अपनी प्रत्येक पंक्ति में आकंठ भर देने का प्रयत्न करते हैं। एक अविवाहित कवि के जीवन की घन-घटा में विरह की बिजली तो कौंधती ही रहती है। नवीन-जी के अंतस्ताल में निहित इस रहस्य का उद्घाटन उनकी प्रत्येक कविता में हुआ है। हास्य-रस की कविता वे शायद ही लिख सकें।

नवीनजी एक योद्धा पुरुष हैं। यह एक बड़ी विशेषता है, जो उनको हिन्दी के कवियों से अलग प्रदर्शित करती है। वे बड़े चरित्रवान्, ज़िद्दी और साथ ही साथ भावुक भी हैं।

नवीनजी की कविताओं का कोई संग्रह अभी पुस्तकाकार नहीं प्रकाशित हुआ है। प्रताप प्रेस से एक संग्रह निकालने की बात वर्षों से सुनी जा रही है। सम्भव है, कोई संग्रह शीघ्र प्रकाशित हो।

यहाँ नवीनजी की कुछ चुनी हुई कवितायें, जो सामयिक पत्रों में निकल चुकी हैं, दी जाती हैं।—

तुम युग-युग की पहचानी-सी

तुम युग-युग की पहचानी-सी,
हो कौन सुमुखि अनजानी-सी ?

मुझको तो कुछ भी नहीं स्मरण, उस प्राण मिलन के वे गत क्षण,
उन घड़ियों पर है पड़ा हुआ प्रति कालान्तर का युगावरण;
फिर भी तुमको जो अब देखा तो सजनि, लगी तुम जानी-सी।
तुम कौन कहो पहचानी-सी !

लम्बा रिश्ता है क्या कोई, जो देख तुम्हें आँखें रोईं !
क्या पर्दा-सा हट गया, जोकि;—लगतीं दशदिशि धोई-धोई !
जग नया लग रहा; पर तुम तो लगती हो बहुत पुरानी-सी ;
तुम कौन सुमुखि अनजानी-सी !

नयनों में भरी खुमारी थी; पलकें कुछ भारी-भारी थीं,
तुमने देखा था यूँ, गोया, कुछ बहुत पुरानी यारी थी,
उस दिन ही से हो गईं हमारी आँखें ज़रा बिरानी-सी।
जब तुम आईं पहचानी-सी !

थी रही चाँदनी छिटक वहाँ, जब तुम आई थीं निकट वहाँ,
यूँ लगा कि तुमको देख ज़रा—रह गया चाँद भी ठिठक वहाँ,
हम थे स्तम्भित, थी प्रकृति स्तब्ध, जब आईं तुम मुस्कानी-सी।
ओ युग-युग की पहचानी-सी !

अभिशाप

एक चुम्बन ही हुआ यह शाप जीवन का भयङ्कर,
अधर-सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयङ्कर;

(१)

आज सोचूँ हूँ अरे, क्यों राग की सम्पूर्ति चाही !
क्यों न अव्यभिचार की चिर रीति जीवन में निबाही !
क्यों तड़पकर, एक क्षण को तोड़ दी तोबा वृथा ही !

बन रहा अब तो असुन्दर वह चिरन्तन स्वप्न सुन्दर।
एक चुम्बन बन गया अभिशाप जीवन का भयङ्कर।

(२)

आज सूखी पत्तियों-सा जल उठा है शुष्क जीवन,
और झुलसा जा रहा है फूँस-सा सम्पूर्ण तन-मन;
झर रहे निःश्वास में चिनगारियों के प्रज्वलित कन,

आज, सहसा फूट निकली अग्नि-धारा तीव्र, दुस्तर।
एक चुम्बन बन गया अभिशाप जीवन का भयंकर।

जगत उबारो

धधक रहा है सब भूमण्डल भूधर खौल रहे निशि-वासर,
सखे, आज शोलों की बारिश नभ से होती है झर-झर-झर।
घन-गर्जन से भी प्रचण्डतर शतघ्नियों का गर्जन भीषण-
घर्षण करता है मानव-हिय जग में मचा घोर संघर्षण।

नर ही स्वयं बना है नर के रक्त-मांस का प्यासा भक्षक;
आज पुष्प-से मानव-हिय में आ बैठा है कोई तक्षक।
जहाँ दौड़ते थे पहले नर जीवन-दान मृतों को देने,
वहीं आज बढ़ते हैं वे ही जीवित के प्राणों को लेने।

नाश-शकट अपने चक्रों से चूर-चूर करता है जन को,
हिंसा की व्यालिनी उगलती है विष, फैलाये निज फन को।
मानव ने अपनापन खोया उसने अपनाई दानवता,
भीषण संघर्षण में पड़कर चकनाचूर हुई मानवता।

यह कैसी विक्षिप्तता अरे ! यह कैसा उन्माद भयंकर !
जला रहे हम अपना ही घर ! काट रहे हैं अपना ही सर !
अरे, हमें तो शान्ति-सौख्य का देना है वरदान नरों को,
ध्वस्त नहीं, निर्मित करना है हमको गाँवों को, नगरों को।
आज खून का नहीं अमिय का वर्षण करने यहाँ पधारो,
आओ इस झण्डे के नीचे, अहो, वीर ! यह जगत उबारो ॥

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए।

(१)

एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का, धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात भूधर हो जाएँ,
पाप-पुण्य, सदसद्भावों की,—धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाएँ,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए ॥

(२)

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्राङ्गण में घहराए,

नाश! नाश! हा, महानाश! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाए॥

प्रज्ज्वलित वह्नि

(राग, विहाग—तिताला)

वह चली, आह कैसी बयार!
खोला अतीत का जटिल द्वार।
जीवन-वन की वृन्तावलियाँ, विस्मृत पथ की सँकरी गलियाँ,
अति व्यथित हास्य की नव कलियाँ, तिमिर-ग्रस्ता पर्णावलियाँ,
कर रही अनोखा आज प्यार;—
वह चली, आह, कैसी बयार!
बीते दिवसों का अन्धकार, घेरे था जिसका क्षुद्र द्वार,
उस हृदय-कूप का नीर क्षार, कम्पित होता है बार-बार;
लेवे कोई इसको उबार—
वह चली, आह, कैसी बयार!
मन-मन्दिर की उस सीढ़ी पर कल्पना, भावनायें चढ़कर,
देती थीं विमल अर्घ्य सत्वर जिस मूक-भाव के पत्थर पर,
उससे निकलीं ये बूँद चार
वह चली, आह, कैसी बयार!
सुन्दरता के झकझोरों में, वासन्ती के कल भौरों में,
श्रावण के प्यार हिंडोरों में, दुख की रोटी के कौरों में।
मिल गया आज फिर से दुलार;
वह चली, आह, कैसी बयार!

पागल की बहकी बातें हैं; योगी को ये भ्रम रातें हैं।
तुम रोते हो, हम गाते हैं; टूटे स्वर में सुख पाते हैं।

दुख ही में पाया सुख प्रसार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

मेरी निकुञ्ज की गलियों में, आता वह मृत ले पलियों में,
धरता है दीवे अलियों में, गणना है उसकी छलियों में,

स्मृति-दीपक बुझता बार-बार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

किसको आराधूँ! चलूँ कहाँ! किसकी मुरली को सुनूँ कहाँ!
किसका प्रेमामृत पियूँ कहाँ! किस अग्नि-लोक में जियूँ कहाँ!

जिससे छूटें बन्धन-विचार—
बह चली, आह, कैसी बयार!

गत आनन्दों के अश्रु क्षीण! आगत दुख के अनुभव प्रवीण!
अव्यक्त भावना-भरी वीन! यों हाथ जोड़ कहता 'नवीन'
प्रज्ज्वलित वह्नि सुलगे अपार—हृत्खंड करे फिर जल-विहार!

निकलें सोते उनसे अपार—
बह चली, अहो, ऐसी बयार!

सूर्यकान्त त्रिपाठी (निराला)

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी (निराला) का जन्म माघ सुदी ११ सं० १९५५ में महिषादल स्टेट (मेदिनीपुर—बंगाल) में हुआ। इनके पिता का नाम पंडित रामसहाय त्रिपाठी था। इनका असली मकान युक्तप्रांत के उन्नाव ज़िले में गढ़ाकोला गाँव में है। पर पंडित रामसहाय-जी महिषादल स्टेट में नौकर थे, और वे वहीं बस गये थे। इसी से उनका वंश-विस्तार बंगाल ही में हुआ। पंडित सूर्यकान्त अपने माता-पिता के इकलौते हैं।

इनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा सब राज ही के प्रबन्ध से हुआ। ये जब स्कूल में पढ़ते थे, तभी से कविता रचने लग गये थे। प्रतिभा अच्छी थी। इससे स्कूल के अध्यापकों और राजा साहब के ये बड़े स्नेह-पात्र थे। अंग्रेज़ी के स्वनामधन्य लेखक बाबू हरिपद घोषाल, एम० ए०, एम० आर० ए० एस०, इनके अंग्रेज़ी के अध्यापक थे। वे भी इनकी प्रतिभा पर मुग्ध थे।

कविता की ओर इनकी रुचि बचपन ही से थी। पर मैट्रिकुलेशन में पहुँचकर इनकी मनोवृत्ति का झुकाव दर्शन की ओर हुआ। बहुत समय तक ये उसी प्रवाह में प्रवाहित रहे। पहले ये सभाओं में संस्कृत और बंगला ही में कविता पढ़ा करते थे। पर बड़े होने पर इनका स्वाभाविक प्रेम हिन्दी पर हुआ। ब्रजभाषा और नागरी लिपि का ज्ञान

तो थोड़ा-बहुत पहले ही से था; अपनी प्रखर बुद्धि से इन्होंने खड़ी बोली में भी प्रगल्भता प्राप्त कर ली।

बीस वर्ष की अवस्था में इनकी पत्नी का देहान्त हो गया, जिससे इनको बड़ी मानसिक वेदना सहनी पड़ी। साथ ही गृहस्थी का भी भार सिर पर आ पड़ा। यदि समय-समय पर महिषान्दल के कृपालु राजा श्रीमान् गोपालप्रसाद गर्ग बहादुर इनकी आर्थिक सहायता न करते रहते, तो इनको गृहस्थी में बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता। इन्होंने दरबार में नौकरी कर ली। दरबार में इनका सम्मान बहुत था। संगीत की शिक्षा इनको दरबार ही में मिली। राजा बहादुर इन्हें बहुत चाहते थे।

इनकी कविता का रचना-काल सं० १९७२ से प्रारंभ होता है। जूही की कली और अधिवास इनकी पहली रचनायें हैं। स० १९७८ में ये समन्वय के सम्पादक हुये। दो वर्ष तक उसका सम्पादन बड़ी योग्यता से करके इन्होंने उसे छोड़ दिया और फिर एक वर्ष तक 'मतवाला' में लिखते रहे।

इन्होंने रवीन्द्र-कविता-कानन नामक पुस्तक में कविवर रवीन्द्रनाथ की कविताओं की समालोचना की है। इनकी फुटकर कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हुये हैं। खड़ी-बोली में अतुकान्त कविता लिखने में इन्होंने सफलता पाई है। इनकी कविता में पूर्व और पश्चिम के भावों का बड़ा अनोखा मिलन होता है। ये अपनी शैली के निराले कवि हैं। इनका उपनाम भी "निराला" है। छन्दों के विकृतरूप होने की ये परवा नहीं करते। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं:—

(१) रवीन्द्र-कविता-कानन; (२) शकुन्तला का कथानक; (३) महाराणा प्रताप; (४) भीष्म-पितामह; (५) प्रह्लाद;

(६) हिन्दी-बँगला-शिक्षा; (७) परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द; (८) रामकृष्ण-वचनामृत; (९) वात्स्यायन कामसूत्र; (१०) अनामिका; (११) लिली; (१२) रेखा; (१३) अप्सरा; (१४) परिमल; (१५) अलका; (१६) निरुपमा; (१७) प्रबन्ध-पद्य (१८) तुलसीदास; (१९) गीतिका, (२०) कुली भाट।

यहाँ हम इनकी कविताओं के नमूने उद्धृत करते हैं—

जूही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी, जूही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्रांक में
वासन्ती निशा की।
विरह-विधुर प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन—
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात—
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात—
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधीरात,
फिर क्या!—पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन—
कुञ्ज-लता पुञ्जों को पारकर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि,
कली खिली साथ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह!

नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिण्डोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही,
अथवा मतवाली थी
यौवन की मदिरा पिये, कौन कहे?
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की।
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारोंओर फेर
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुखी हँसी,—खिली
खेल रङ्ग प्यारे संग।

जागरण-वीणा

जागो फिर एक बार!
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार!
आँखें अलियों की किस मधु की गलियों में फँसी—
बन्द कर पाँखें, पी रही हैं मधु मौन,
अथवा सोईं कमल-कोरकों में?—
बन्द हो रहा गुञ्जार!

जागो फिर एक बार !
अस्ताचल ढले रवि
शशि-छवि विभावरी में चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एकटक चकोर-कोर, दर्शन-प्रिय,
आशाओं भरी मौनभाषा बहु भावमयी
घेर रही चन्द्र को चाव से;
शिशिर-भार व्याकुल कुल खुले फूल झुके हुए
आया कलियों में मधुर मद-उर यौवन-उभार—
जागो फिर एक बार !
पिउ-रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें—
रातें मन-मिलन की,
मूँद रही पलकें चारु,
नयन-जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !
सहृदय समीर जैसे पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल बाहें भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो,
छूट-छूट अलस फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल ऋजु-कुटिल प्रसारकामी केश-गुच्छ,
तन-मन थक जायँ,

मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार!
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती रति कवि-कण्ठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट,
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन पक्ष-मास,
वर्ष कितने हज़ार।
जागो फिर एक बार!

विधवा

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।
षड्ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—

व्यथा की भूली हुई कथा है
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यासा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।
हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगी मन मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार।
उस करुणा की सरिता के मलिन-पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर,
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
मुख-रूखे, सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
है रोती अस्फुट स्वर में;
सुनता है आकाश धीर, निश्चल समीर—
मृदु सरिता की लहरें भी ठहर-ठहर कर।

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है

वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु ज़रा गम्भीर—नहीं है उनमें हास-विलास;
हँसता है तो केवल तारा एक,
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली—
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा;
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनु-झुनु रुनु-झुनु रुनु-झुनु नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप-चुप-चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम-मंडल में—जगती-तल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमिलिनी-दल में—
सौन्दर्य गर्विता के अति विस्तृत वक्षस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन जलधि प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप-चुप-चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—

और क्या है ! कुछ नहीं
मदिरा की वह नदी बहाती आती
थके हुये जीवों को वह सस्नेह, प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखाती फिर विस्मृति के कितने मीठे सपने !
और जब अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती वह लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहातुर कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता है एक विहाग ।

नयन

मदभरे ये नलिन-नयन मलीन हैं।
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं !
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी—
बीत जाने पर हुये ये दीन हैं !

आह ! कितने विकल जन-मन मिल चुके,
खिल चुके, कितने हृदय हैं हिल चुके,
तप चुके वे प्रिय व्यथा की आँच में,
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके !

क्यों हमारे ही लिये वे मौन हैं !
पथिक ! वे कोमल कुसुम हैं—कौन हैं !"

शेफालिका

बन्द कंचुकी के सब तोड़ दिये
प्यार से यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके।
मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।
जागती-प्रिया के नक्षत्र-दीप-कक्ष में
वक्षपर सन्तरण-आशी आकाश है,
पार करना चाहता
सुरभिमय समीर-लोक—
शोक-दुःख-जर्जर
इस नश्वर संसार की
क्षुद्र सीमा—
पहुँच कर प्रणय-छाये
अमर विराम के
सप्तम सोपान पर।
पाती अमर प्रेमधाम,
आशा की प्यास
एक रात में भर जाती है,
सुबह को आली! शेफाली झर जाती है।

तुम और मैं

(१)

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अंधकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरण जाल मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

(२)

तुम मृदु-मानस में भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप और मैं सुख-शीतल-तल शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठहार मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार मैं व्याकुल विरह रागिनी॥
तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु॥

(३)

तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार पार जाने की मैं अभिलाषा॥

तुम नभ हो मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा॥

तुम गंध कुसुम कोमल पराग मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥

तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति॥

(४)

तुम हो प्रियतम मधुमास और मैं पिक कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका-रचना॥

तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य मैं युवति मधुर, नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद आकार सार मैं कवि-शृङ्गार-शिरोमणि॥

तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इंदु-अरविंद-शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

फुटकर

(१)

प्रिय, मुंदित दृग खोलो !
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल नव किरणों से धोलो—
मुंदित दृग खोलो !
जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर बह चलीं चतुर्दिक कर्म-लीन
तुम भी निज तरुण-तरङ्ग खोल नव अरुण-सङ्ग होलो—
मुंदित दृग खोलो !
वासना-प्रेयसी बार-बार श्रुति-मधुर मन्दस्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के जीवन में, प्रिय, आई बहार
बहती इस विमल वायु में बह चलने का बल तोलो—
मुंदित दृग खोलो !

(२)

भूलूँ मैं अपने मन को भी तुझ को अपने प्रियजन को भी !
फिर तू हँसती हुई दशा पर मेरी, प्रिय मुख मोड़
जायेगी ज्यो का त्यों मुझ को यहाँ अकेला छोड़ !
भला इतना तो कह दे सुख या दुःख भर लेगी,
जब इस नद से तू कभी नई नैया अपनी खेयेगी !

तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर ।

कोई न छायादार पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन, नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,करते बार-बार प्रहार :—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप; गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप; उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू ,गर्द चिनगीं छा गईं
प्रायः हुई दुपहर:—
वह तोड़ती पत्थर।
देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं, देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं, सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह कांपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
मैं तोड़ती पत्थर।

राम की शक्ति-पूजा

रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शत शेल-सम्वरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,

प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित वह्नि—राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मूर्च्छित-कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम-विश्वजिद्दिव्य-शर-भङ्ग-भाव,—
विद्धांग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-बल,—
मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,—
वारित सौमित्रि-मल्लपति-अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर,—
जानकी-भीरु-उर-आशाभर, रावण-सम्वर।

सुमित्रानन्दन पंत

पंडित सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सं० १९५७, ता० २४ मई, सन् १९०० को कौसानी, ज़ि० अल्मोड़ा में हुआ। इनके पिता पंडित गङ्गादत्त पन्त बड़े धर्मानुरागी और आचारवान् पुरुष थे। वे कौसानीटी स्टेट के खजाञ्ची और ज़मींदार थे। ज़मींदारी का कारोबार अब भी है।

पन्तजी चार भाई हैं। सुमित्रानन्दनजी सबसे छोटे हैं।

ये सात वर्ष की अवस्था में गाँव के पाठशाले में भर्ती हुये। बारह वर्ष की अवस्था में गवर्नमेंट स्कूल, अल्मोड़ा में अंग्रेज़ी पढ़ने लगे। सन् १९१९ में इन्होंने बनारस के जयनारायण हाई-स्कूल से स्कूल-लीविंग की परीक्षा पास की। फिर प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में पढ़ना प्रारंभ किया। सन् १९२० में सेकेंड इयर से उसे भी छोड़ दिया। अब स्वतंत्र हैं। कभी घर, कभी प्रयाग और कभी कालाकांकर (अवध) रहते हैं। अविवाहित हैं। कविता करते हैं और सुख से विचरण करते हैं। हिन्दी और अँग्रेजी के सिवा संस्कृत और बँगला का भी ज्ञान रखते हैं। बड़े सरस हृदय, मधुरभाषी, सुन्दर और सुघर हैं।

कविता की रुचि इनमें स्वाभाविक उत्पन्न हुई थी। छंदों का ज्ञान "हिन्दी-पद्य-रचना" पढ़कर हुआ। सन् १९१५ में इन्होंने 'हार' नाम का एक उपन्यास लिखा था। उस समय में ये विधि-पूर्वक हिन्दी-कविता रचने लगे। १९२१ में इनके कुछ पद्यों का संग्रह "उच्छ्वास" नाम से प्रकाशित हुआ था। १९२६ में एक दूसरा संग्रह "पल्लव" नाम से प्रकाशित हुआ।

पन्तजी की कवितायें हिन्दी में बिल्कुल नये ढङ्ग की हैं। हिन्दी-कविता में नये युग के प्रवर्तकों में इनकी गणना की जाती है। मनो-भावों और अंगों के इंगित-इशारों को साकार पदार्थ मानकर ये उस पर जो कल्पनायें करते हैं। यद्यपि वे हिन्दी के पुराने ढर्रे के कवियों और कविता के प्रेमियों को कम रुचेंगी, पर नवयुवकों में उनका प्रसार बड़ी तेज़ी से हो रहा है। वह रुक नहीं सकता।

अभी तक पंतजी के निम्नलिखित काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।—

ग्रन्थि, गुञ्जन, पल्लव, वीणा, ज्योत्स्ना और युगान्त आदि।

पन्तजी एक प्रकृत कवि हैं। इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ा है। यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

उच्छ्वास

मन्द, विद्युत-सा हँसकर,
वज्र-सा उर में धँसकर,
गरज गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में।
भर अपना सन्देश उरों में औ अधरों में;
बरस धरा में, बरस सरित, सर, गिरि, सागर में।
हर मेरा सन्ताप पाप जग का क्षणभर में;

× × ×

बालिका ही थी वह भी।
सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,

× × ×

उसके उस सरलपने से मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर-मधुर गीतों से उसका उर था उकसाया।

× × ×

मैं मंदहास-से उसके मृदु अधरों पर मँडराया;
औ उसकी सुखद सुरभि से प्रतिदिन समीप खिँच आया।

× × ×

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,

अवलोक रहा है बार-बार नीचे जल में निज महाकार ;
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण-सा फैला है विशाल !!

× × ×

वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर।

× × ×

सरल-शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

आँसू

कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

× × ×

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

× × ×

हाय ! किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार !

× × ×

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन मानस सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले मेघों से मेरे भरे नयन।

× × ×

इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे-सी धूमिल, घोर,
दीखती भावी चारोंओर !

तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर मुझे करता है अधिक अधीर
जुगनुओं में उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हे निदान!

× × ×

देखता हूँ, जब उपवन पियालों में फूलों के
प्रिये! भर भर अपना यौवन पिलाता है मधुकर को;

× × ×

देखता हूँ, जब पतला इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान मुझे करता तब अन्तर्धान
न जाने तुमसे मेरे प्राण चाहते क्या नादान।

अनङ्ग

अहे, विश्व-अभिनय के नायक! अखिल सृष्टि के सूत्राधार!
उर-उर की कम्पन में व्यापक! ऐ त्रिभुवन के मनोविकार!
ऐ असीम सौन्दर्य सिन्धु की विपुल वीचियों के शृंगार!
मेरे मानस की तरंग में पुनः अनङ्ग बनो साकार।

विसर्जन

अनुपम इस सुन्दर छवि से मैं आज सजा लूँ निज मन,
अपलक अपार चितवन पर अर्पण कर दूँ निज यौवन!
इस मन्दहास में बहकर गा लूँ मैं बेसुर—प्रियतम',
बस इस पागलपन में ही अवसित कर दूँ निज जीवन

× × ×

नव कुसुमों में छिप छिपकर जब तुम मधुपान करोगे,
फूली न समाऊँगी मैं उस सुख में हे जीवन-धन !
यदि निज उर के काँटों को तुम मुझे न पहनाओगे
उस विरह-वेदना से मैं नित तड़पूँगी कोमल-तन !
तुम मुझे भुला दो मन से मैं इसे भूल जाऊँगी।
पर वंचित मुझे न रखना अपनी सेवा से पावन !

छाया

कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हे भी त्याग गया क्या अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?
पीले पत्तों की शय्या। पर तुम विरक्ति-सी मूर्छा-सी
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन दुख-विधुरा-सी ?

× × ×

पछतावे की परछाईं-सी तुम भूपर छाई हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई सी, अपराधी-सी, भय से मौन,

× × ×

निर्जनता के मानस-पट पर बार-बार भर ठंडी साँस
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का लिखती हो अकरुण इतिहास ?

× × ×

निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर नीरव शब्दों में निर्भर

× × ×

किस अतीत का करुण चित्र तुम खींच रही हो कोमलतर !

× × ×

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा, बढ़कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से ढँककर अपने कोमल अङ्ग;

× × ×

पर-सेवा-रत रहती हो तुम हरती नित पथ-श्रान्ति अपार।

× × ×

हाँ सखि! आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

स्वप्न

बालक के कम्पित अधरों पर वह किस अज्ञय स्मृति का हास,
जग की इस अविरत निद्रा का आज कर रहा है उपहास?
उस स्वप्नों की सुचि सरिता का सजनि! कहाँ है जन्म-स्थान?
मुसक्यानों में उछल-उछल वह बहती है किस ओर अजान?
किन कर्मों की जीवित छाया उस निद्रित विस्मृति के सङ्ग,
आँखमिचौनी खेल रही है? यह किस अभिनय का है ढङ्ग?
मुँदे नयन पलकों के भीतर किस रहस्य का सुखमय चित्र,
गुप्त वञ्चता के मादक कर खींच रहे हैं सजनि! विचित्र?
निद्रा के उस अलसित वन में वह क्या भावी की छाया,
दृगसम्मुख मृदु विचर रही है? अहा! मनोहर यह माया!
मृदुल मुकुल में छिपा हुआ जो रहता है छविमय संसार,
सजनि! कभी क्या सोचा तूने वह किसका है शयनागार?
प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का रहता है अविकच अज्ञान,
जिसे नहीं चिन्ता पाती है, जो है केवल अस्फुट ज्ञान।
दिनकर की अन्तिम किरणों ने उस नीरव तरु के ऊपर,
स्वप्नों का जो स्वर्ण-सदन है निर्माया सुखमय, सुन्दर।

सजनि ! हमारा स्वप्न-सदन क्यों काँप उठा है यह थर-थर,
किस अतीत के स्वप्न-अनिल में गूँज उठा है वह मर-मर।
विरस डालियों से यह कैसा फूट रहा है रुदन मलिन,
हम भी हरी-भरी थीं पहिले पर अब स्वप्न हुये वे दिन।
पत्रों के विस्मित अधरों से यह किसका नीरस सङ्गीत,
मौन-निमन्त्रण देता है यह अन्धकार को सजनि ! सभीत।
सघन द्रुमों के भीतर अब वह निद्रा का नीरव निःश्वास,
अन्धकार में मूँद रहा है, अपने अलसित नयन उदास।
सखि ! सोते के स्वप्न जगत के इसी तिमिर में बहते हैं,
पर जाग्रति के स्वप्न हमारे अन्तर ही में रहते हैं।
अहा ! परम घन अन्धकार में डूब रहा है अब संसार !
कौन जानता है, कब इसके छूटेंगे ये स्वप्न असार ?
सखि ! क्या कहती है प्राची से फिर उज्वल होगा आकाश !
उषा स्वप्न क्या भूल गई तू ? क्या उसमें है प्रकृति-प्रकाश ?

प्रथम रश्मि

प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहङ्गिनि ! पाया तूने यह गाना ?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में पङ्खों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर प्रहरी-से जुगुनू नाना !
शशि-किरणों से उतर-उतरकर भू पर काम-रूप नभचर,
चूम नवल कलियोंका मृदु-मुख सिखा रहे थे मुसकाना !
स्नेह-हीन तारों के दीपक, श्वास-शून्य थे तरु के पात
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में, तम ने था मण्डप ताना।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि ! गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि ! बतलाया उसका आना।
निकल सृष्टि के अन्ध-गर्भ से छाया-तन बहु छाया-हीन;
चक्र रच रहे थे खल निशिचर चला कुहुक, टोना-माना।
छिपा रही थी मुख शशि-बाला निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि, कोक शोक से दीवाना।
मूर्छित थीं इन्द्रियाँ स्तब्ध जग, जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल साँसों का आना जाना।
तूने ही पहले बहु दर्शिनि ! गाया जागृति का गाना,
श्री, सुख, सौरभ का नभ-चारिणि ! गूँथ दिया ताना-बाना।
निराकार-तम मानो सहसा ज्योति-पुञ्ज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगज्जाल में धरकर नाम-रूप नाना।
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल, सुप्त-समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर हिल मोती का-सा दाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि, खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पन्दन, कम्पन, नव-जीवन फिर सीखा जग ने अपनाना।
प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ हे बाल-विहङ्गिनि ! पाया यह स्वर्गिक गाना ?

सुभद्राकुमारी चौहान

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का नाम हिन्दी की स्त्री-कवियों में आदर के साथ लिया जाता है। इनकी कविता शुद्ध भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से प्रशंसनीय मानी जाती है।

ये क्षत्राणी हैं। इनका जन्म श्रावण शुक्ल ५, सं० १९६१ को प्रयाग में हुआ। प्रयाग के निहालपुर महल्ले में अब भी इनका मकान है। इनके पिता का नाम ठाकुर रामनाथसिंह था। इनके बड़े भाई ठाकुर रामप्रसादसिंह पहले पुलीस में सब-इन्स्पेक्टर थे। असहयोग-आन्दोलन के समय उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। उनसे छोटे दूसरे भाई ठाकुर राज-बहादुरसिंह, बी० ए०, एल-एल० बी०, मध्यभारत के अजयगढ़ स्टेट में सेशन्स जज हैं।

सुभद्राकुमारी के पिता ठाकुर रामनाथसिंह भजन गाने के बड़े प्रेमी थे। उनके भजन सुन-सुनकर बालिका सुभद्रा के हृदय में भी तरंगें उठा करती थीं और वह भी गुनगुनाने लगती थी।

सुभद्राजी बचपन में बड़ी नटखट थीं। इससे घर के लोग इन्हें "गोगा आया" "गोगा पकड़ लेगा," आदि भय-सूचक वाक्य कहकर डराया करते थे। पर बालिका को कभी गोगा दिखाई नहीं पड़ा। इसी तरह पिता के भजनों में वर्णित ईश्वर भी उसे कभी दिखाई नहीं पड़ते थे। गोगा और ईश्वर की यह समानता नटखट बालिका के लिये बड़ी कौतूहल-जनक हुई। उसने यह तुकबंदी तैयार की—

तुम बिन व्याकुल हैं सब लोगा।
तुम तो हो इस देश के गोगा॥

छः-सात वर्ष की कन्या की यह प्रतिभा देखकर लोग चकित हो गये। सबसे आश्चर्य-जनक बात यह है कि तुकबंदी में "इस देश" का उल्लेख है, जो बड़ी होने पर श्रीमती सुभद्राकुमारी का एक प्रधान विषय हो गया।

सुभद्राकुमारी ने प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में शिक्षा पाई है। सं० १९७६ में इनका विवाह खँडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान बी० ए०, एल-एल० बी०, के साथ हुआ। विवाह के उपरान्त भी इनका अध्ययन जारी रहा। पर कलकत्ते की कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव पास होने पर इन्होंने स्कूल छोड़ दिया। उसी वर्ष इनके पति ने वकालत की परीक्षा पास की थी। इन्हीं के आग्रह से उन्होंने भी वकालत न करने का निश्चय किया। इनको सुशिक्षिता बनाने में इनके भाई ठाकुर राजबहादुरसिंहजी ने बहुत ध्यान दिया। वे इनको सदा उत्साहित किया करते रहे।

वकालत पास करके ठाकुर लक्ष्मणसिंह जबलपुर चले गये और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के साथ कर्मवीर पत्र के सम्पादन और कांग्रेस के काम में योग देने लगे। सुभद्राकुमारी भी पति के साथ जबलपुर गईं और मध्यप्रदेश के राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने लगीं। ये जबलपुर और नागपुर में दो बार राष्ट्रीय झंडा-सत्याग्रह में गिरफ़ार हुईं और पहली बार एक दिन हवालात में रखकर छोड़ दी गईं, दूसरी बार जेल में रक्खी गईं। पर कुछ दिन बाद ही सरकार ने बिना मुक़दमा चलाये ही छोड़ दिया।

असहयोग-आन्दोलन के शिथिल पड़ जाने पर ये फिर अपनी साहित्य-चर्चा में लगीं। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविता बराबर निकला करती रही और हिन्दी-संसार में रुचि से पढ़ी जाती रही है।

सुभद्राकुमारीजी के ये ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं—मुकुल, बिखरे मोती, त्रिधारा, सभा का खेल और उन्मादिनी।

यहाँ इनकी कुछ कविताएँ उद्धृत की जाती हैं—

चलते समय

तुम मुझे पूछते हो, "जाऊँ" ? मैं क्या जवाब दूँ ? तुम्हीं कहो !
"जा" कहते रुकती है ज़बान, किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो ?
सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरशाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था।
मैं सदा रूठती ही आई प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहिचाना।
वह मान बाण-सा चुभता है अब देख तुम्हारा यह जाना॥

समर्पण

सूखी-सी अधखिली कली है, परिमल नहीं, पराग नहीं।
किन्तु कुटिल भौंरों के चुम्बन का है इन पर दाग़ नहीं॥
तेरी अतुल कृपा का बदला, नहीं चुकाने आई हूँ।
केवल पूजा ।मैं ये कलियाँ, भक्ति-भाव से लाई हूँ॥
प्रणय जल्पना चिन्त्य कल्पना, मधुर वासनाएँ प्यारी।
मृदु अभिलाषा, विजयी आशा, सजा रही थीं फुलवाड़ी॥
किन्तु गर्व का झोंका आया, यदपि गर्व वह था तेरा।
उजड़ गई फुलवारी सारी बिगड़ गया सब कुछ मेरा॥
बची हुई स्मृति की ये कलियाँ, मैं बटोर कर लाई हूँ।
तुझे सुझाने, तुझे रिझाने, तुझे मनाने आई हूँ॥
प्रेम-भाव से हो, अथवा हो दयाभाव से ही स्वीकार।
ठुकराना मत, इसे जानकर मेरा छोटा-सा उपहार॥

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सोहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली॥
दीप-शिखा है अंधेरे की, घनी घटा की उजियारी।
ऊषा है यह कमल-भृंग की, है पतझड़ की हरियाली॥
सुधा-धार यह नीरस दिल की, मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवित ज्योति नष्ट नयनों की, सच्ची लगन मनस्वी की॥
बीते हुए बालपन की यह, क्रीड़ा-पूर्ण वाटिका है।
वही मचलना वही किलकना, हँसती हुई नाटिका है॥
मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद, करबट काशी यह मेरी।
पूजा-पाठ ध्यान जप-तप है, घट-घट-वासी यह मेरी॥
कृष्ण-चंद की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृ-मोद को, अपने ही मन में देखो॥
प्रभु ईसा की क्षमाशीलता, नबी मुहम्मद का विश्वास।
जीवदया जिन वर गौतम की, आओ देखो इसके पास॥
परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय दूँ इसका।
वही जान सकता है इसका, माता का दिल है जिसका॥

ठुकरा दो या प्यार करो

देव! तुम्हारे कई उपासक, कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे, कई रंग के लाते हैं॥
धूमधाम से साजबाज से, वे मन्दिर में आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुयें, लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥
मैं ही हूँ ग़रीबिनी ऐसी, जो कुछ साथ नहीं लाई।
फिर भी साहसकर मंदिर में, पूजा करने को आई॥

धूप-दीप नैवेद्य नहीं है, झाँकी का शृङ्गार नहीं।
हाय गले में पहिनाने को, फूलों का भी हार नहीं॥
अस्तुति कैसे करूँ कि स्वर में, मेरे है माधुरी नहीं।
मन का भाव प्रगट करने को, मुझमें है चातुरी नहीं॥
नहीं दान है नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई।
पूजा की भी विधि न जानती, फिर भी नाथ चली आई॥
पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो॥
मैं उन्मत्त प्रेम का लोभी, हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ॥
चरणों पर अर्पण है इसको, चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो॥

झाँसी की रानी

(१)

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की क़ीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरङ्गी को करने की सबने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(२)

कानपूर के नाना की मुँह बोली बहिन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,

नाना के सँग पढ़ती थी वह नाना के सँग खेली थी,
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी,
वीर शिवाजी की गाथाएँ उसको याद ज़बानी थीं।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(३)

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार,
नक़ली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना ख़ूब शिकार,
सैन्य घेरना दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(४)

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई ख़ुशियाँ छाईं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में,
चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(५)

उदित हुआ सौभाग्य! मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई,

तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं,
रानी विधवा हुई हाय! विधि को भी नहीं दया आई,

निःसन्तान मरे राजाजी रानी शोक समानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(६)

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौज़ी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अवसर अच्छा पाया,
फ़ौरन् फ़ौजें भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश-राज्य झाँसी आया,

अश्रु-पूर्ण रानी ने देखा झाँसी हुई विरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(७)

अनुनय-विनय नहीं सुनता है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया,
डलहौज़ी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,

रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(८)

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातों बात,
क़ैद पेशवा था बिठूर में हुआ नागपुर का भी घात,

उदीपूर, तंजौर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात,
जब कि सिंध,पञ्जाब,ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,

बङ्गाले, मद्रास आदि की भी तो वही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(९)

रानी रोईं रनिवासों में, बेगम ग़म से थी बेज़ार,
उनके गहने-कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार,
सरे आम नीलाम छापते थे अंग्रेज़ों के अख़बार,
'नागपूर के जेवर लेलो' 'लखनऊ के लो नौलखहार,

यों परदे की इज़्ज़त परदेशी के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१०)

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्दूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,

हुआ यज्ञ प्रारम्भ, उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(११)

महलों ने दी आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी,

झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं,
मेरट, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचाई थी,
जबलपूर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१२)

इस स्वतन्त्रता—महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना, धुन्दूपन्त, ताँतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिराम,
भारत के इतिहास-गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,
लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुर्बानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१३)

इनकी गाथा छोड़, चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेन्ट वोकर आ पहुँचा आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,
ज़ख्मी होकर वोकर भागा उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१४)

रानी बढ़ी कालपी आई कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर गया स्वर्ग तत्काल सिधार,

यमुना-तट पर अँग्रेज़ों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी किया ग्वालियर पर अधिकार,

अँग्रेज़ों के मित्र सेंधिया ने छोड़ी रजधानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१५)

विजय मिली, पर अँग्रेज़ों की फिर सेना घिर आई थी,
अबके जनरल स्मिथ सम्मुख था उसने मुँह की खाई थी,
काना और मंदिरा सखियाँ रानी के सँग आई थीं,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थीं,

पर, पीछे ह्यूरोज़ आगया, हाय घिरी अब रानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१६)

तो भी रानी मार-काटकर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आगये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार,

घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१७)

रानी गई सिधार! चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,

अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता-नारी थी,
दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

(१८)

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू ख़ुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी-वाली रानी थी॥

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ में, फर्रुखाबाद में हुआ। इनके पिता का नाम बाबू गोविन्दप्रसादजी और माता का श्रीमती हेमरानी-देवी है। बाबू गोविन्दप्रसादजी एक अच्छे विद्वान् पुरुष हैं और आजकल भागलपुर के एक कालेज में हेडमास्टर हैं; और संभवतः शीघ्र ही अवकाश ग्रहण करनेवाले हैं।

महादेवीजी के दो भाई और एक बहन हैं। भाइयों के नाम श्रीजगमोहन वर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी० और श्रीमनमोहन

वर्मा, एम० ए०, हैं। श्रीमनमोहन वर्मा ने एडिनबरा में भी शिक्षा पाई है। बहन श्रीमती श्यामादेवीजी डाक्टर बाबूराम सक्सेना, (प्रो० इलाहाबाद युनिवर्सिटी) की धर्मपत्नी हैं।

महादेवीजी के नाना ब्रजभाषा के अच्छे कवि और भक्त पुरुष थे और माता भी हिन्दी-कविता की अच्छी विदुषी और भक्त थीं। वे पद-रचना भी किया करती थीं। तुलसी, सूर और मीरा का साहित्य महादेवीजी ने अपनी माता ही से पढ़ा। इस प्रकार महादेवीजी का जन्म ही ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें पीढ़ियों से हिन्दी-साहित्य का स्थायी प्रभाव रहा है।

आठ-नौ वर्ष की अवस्था ही से महादेवीजी अपनी माता की पद-रचना में शरीक हो जाया करती थीं और उनके पद में पद जोड़ा करती थीं। उन दिनों माता की देखा-देखी देव-पूजन में भी इनका बहुत अनुराग था और व्रत भी किया करती थीं।

यद्यपि अब मूर्त्ति-पूजा में इनका विश्वास नहीं रहा है, पर बाल्य-काल के संस्कार-वश सुन्दर मूर्त्तियों को दृष्टि की सीमा में रक्खे रहने का व्यसन अब भी है।

महादेवीजी का विवाह दस या ग्यारह वर्ष की अवस्था में डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हुआ; जो आजकल गोरखपुर में स्वतंत्र-रूप से डाक्टरी करते हैं।

विवाह होने के उपरांत महादेवीजी ने अपनी शिक्षा जारी रखकर सन् १९३३ में संस्कृत में एम० ए० पास किया। उसी वर्ष वे प्रयाग के महिला-विद्यापीठ में आचार्या के पद पर नियुक्त हुईं। और अभी तक उसी पद पर हैं। इनकी सुव्यवस्था ही का यह परिणाम है कि आज प्रयाग का महिला-विद्यापीठ युक्तप्रान्त ही का नहीं, भारतवर्ष का एक कीर्त्तिवन्त शिक्षण-संस्थान है। आचार्या महादेवीजी को लोक-

प्रियता से आकर्षित होकर दक्षिण भारत, आसाम और पंजाब तक की कन्यायें उक्त विद्यापीठ में शिक्षा ग्रहण करने आती हैं।

कवि महादेवीजी के जीवन में काव्य की धारा बीजरूप से थी, यह ऊपर बताया जा चुका है। पहले ये ब्रजभाषा में रचनायें किया करती थीं; पीछे बाबू मैथिलीशरण गुप्त की खड़ी-बोली की कविता से प्रभावित होकर इन्होंने भी अपनी भाषा का मार्ग बदला, और आज ये अपने मार्ग की रानी हैं।

अबतक महादेवीजी की रचनाओं के चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।—नीहार, रश्मि, नीरजा और सान्ध्य-गीत। चारों में इनके सुमधुर गीतों के संग्रह हैं।

मनुष्य के अंतस्तल के कोमल, करुण और सूक्ष्मतर भावनाओं को सरल, सरस और प्रासादिक भाषा में व्यक्त करने की कला में इनकी निपुणता अद्वितीय है। हृदय के स्पन्दनों को ग्रहण करने की इनकी क्षमता अद्भुत है। मीरा के बाद हिन्दी के किसी कवि ने विरह का ऐसा उन्मादकारी वर्णन अपनी कविता में नहीं किया है, जैसा महादेवीजी ने किया है।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं।—

(१)

पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं!
तम ने धोया नभ-पन्थ सुवासित हिम-जल से,
सूने आँगन में दीप जला दिये झिलमिल-से;
आ प्रात बुझा गया कौन अपरिचित जानी नहीं;
मैं प्रिय पहचानी नहीं!
धर कनक-थाल में मेघ सुवासित पाटल-सा,
कर बालारुण का कलश विहग-रव मंगल-सा,

आया प्रिय पथ से प्रात सुनाई कहानी नहीं!
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

नव इन्द्रधनुष-सा चीर महावर अञ्जन ले
अलि गुञ्जित मीलित पंकज, नूपुर रुनझुन ले;
फिर आई मनाने साँझ मैं बेसुध मानी नहीं,
मैं प्रिय पहचानी नहीं!

इन श्वासों के इतिहास आँकते युग बीते
रोमों में भर-भर पुलक लौटते पल रीते;
यह ढुलक रही है याद नयन से पानी नहीं,
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

अलि कुहरा-सा नभ विश्व मिटे बुद्बुद जल-सा
यह दुख का राज्य अनन्त रहेगा निश्चल-सा,
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि पथ की निशानी नहीं,
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

(२)

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी, रागिनी भी हूँ!
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में;
प्रथम जागृत थी जगत के प्रथम स्पन्दन में;
प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में;
शाप हूँ जो बन गया वरदान-बन्धन में;
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!
नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ;
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ;
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ;
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ;

दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !

आग हूँ जिसके ढुलकते बिन्दु हिमजल के ;
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के ;
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में ;
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में ;

नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ !

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी ;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी ;
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी ;
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी ;

अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ !

---

(३)

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल ;
प्रियतम का पथ आलोकित कर ।
सौरभ फैला विपुल धूप बन ;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन ;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित ,
तेरे जीवन का अणु-अणु गल !

पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !
सारे शीतल कोमल नूतन ,
माँग रहे मुझसे ज्वाला-कण ;

विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझमें मिल'!
सिहर-सिहर मेरे दीपक जल!
जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेह-हीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का उर जलता;
विद्युत ले घिरता है बादल!
विहँस-विहँस मेरे दीपक जल!
द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम;
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हल-चल!
बिखर-बिखर मेरे दीपक जल!
मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किए हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल!
सहज-सहज मेरे दीपक जल!
सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से—
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल!
सजल-सजल मेरे दीपक जल!
तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर;

तम के अणु-अणु में विद्युत-सा—
अमिट चित्र अंकित करता चल !
सरल-सरल मेरे दीपक जल !
तू जल-जल कितना होता क्षय ;
वह समीप आता छलनामय ;
मधुर मिलन में मिट जाना तू—
उसकी उज्ज्वल स्मिति में घुल मिल !
मदिर-मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

(४)

मधुरिमा के,मधु के अवतार सुधा-से, सुषमा-से,छविमान ,
आँसुओं में सहमे अभिराम, तारकों-से हे मूक अजान !
सीखकर मुस्काने की बान ,
कहाँ आये हो कोमल प्राण ?
स्निग्ध रजनी से लेकर हास, रूप से भरकर सारे अंग ,
नये पल्लव का घूँघट डाल, अछूता ले अपना मकरन्द ,
ढूँढ़ पाया कैसे यह देश ?
स्वर्ग के हे मोहक संदेश !
रजत-किरणों-से नैन पखार, अनोखा ले सौरभ का भार ,
छलकता लेकर मधु का कोष, चले आये एकाकी पार ,
कहो क्या आये मारग भूल ?
मंजु छोटे मुस्काते फूल !
उषा के छू आरक्त कपोल, किलक पड़ता तेरा उन्माद ।
देख तारों के बुझते प्राण, न जाने क्या आ जाता याद ?

हेरती है सौरभ की हाट,
कहो किस नमोंही की वाट !
चाँदनी का शृंगार समेट अधखुली आँखो की यह कोर,
लुटा अपना यौवन अनमोल ताकती किस अतीत की ओर?
जानते हो यह अभिनव प्यार,
किसी दिन होगा कारागार !
कौन वह है सम्मोहन राग खींच लाया तुमको सुकुमार !
तुम्हें भेजा जिसने इस देश कौन वह है निष्ठुर कर्तार !
हँसो, पहनो काँटों के हार,
मधुर भोलेपन के संसार !

हरिवंशराय (बच्चन)

बच्चनजी का जन्म सं० १९६४ (२७ नवम्बर, १९०७) में इलाहाबाद में हुआ। इनके पिता का नाम बाबू प्रतापनारायण है। बच्चनजी एम० ए०, बी० टी० हैं। जब ये इलाहाबाद युनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे, तभी इनकी कविता ने विद्यार्थियों पर काफ़ी गहरा रंग चढ़ा लिया था। अब तो सभी हिन्दी-प्रान्तों के कवि-सम्मेलनों में बच्चनजी का रंग कुछ निराला ही रहता है और ये सहज ही में श्रोताओं के केन्द्र बन जाते हैं।

हिन्दी-साहित्य के प्याले में बच्चनजी ने हालावाद का एक नया रस ढाला है, जो सचमुच निराला है। फ़ारसी और उर्दू में सूफ़ीवाद की कविता में जो मादकता है, उससे कम उन्माद बच्चनजी की कविता में नहीं है।

अपने समकालीन कवियों की कविता से बच्चनजी की कविता में एक ख़ास विशेषता है। वह है, भाषा का सुथरापन। अपने निजी निर्णय के अनुसार मैं कह सकता हूँ कि बच्चनजी ने अपनी रचनाओं में महावरों का जितना अधिक प्रयोग अवतक किया है, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं किया है। प्राचीन कवियों में यह विशेषता केवल तुलसीदास में पाई जाती है। बच्चनजी की कविताकी दूसरी विशेषता है, उसका प्रसाद-गुण-पूर्ण होना। कवि के भावों को स्पष्ट करने में उनकी भाषा कहीं वाधक नहीं दिखाई पड़ती। मेरा विश्वास है, कि बच्चनजी केवल हाला और मधुशाला ही पर नहीं, किसी भी विषय पर, जिसके वे विशेषज्ञ हों, भाव-गर्भित कविता लिखने में सफल हो सकते हैं। 'निशा-निमंत्रण' इसका एक प्रमाण है। अतएव उनके 'हालावाद' से हमें घबराने की आवश्यकता नहीं है; प्रतिभाशाली कवि कभी किसी एक विषय से बँधकर नहीं रहता।

बच्चनजी की लिखी हुई निम्नलिखित पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं।—

मधु-शाला, मधु-बाला, मधु-कलश, ख़ैयाम की मधुशाला और निशा-निमंत्रण। कुछ पुस्तकें और भी प्रकाशित होनेवाली हैं।

यहाँ बच्चनजी की कविताओं के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं।—

मधु-शाला

(१)

एक समय संतुष्ट बहुत था पी मैं थोड़ी-सी हाला,
भोला-सा था मेरा साक़ी, नन्हा-सा मेरा प्याला,
छोटे-से इस जग की मेरे स्वर्ग बलाएँ लेता था,
विस्तृत जग में, हाय, गई खो मेरी नन्हीं मधुशाला।

(२)

एक समय छलका करती थी मेरे अधरों पर हाला,
हुआ निछावर मुझपर करता था, हा, एक समय प्याला,
एक समय पीनेवाले, साक़ी आलिंगन करते थे,
आज बनी हूँ निर्जन मरघट, एक समय थी मधुशाला।

(३)

जला हृदय की भट्ठी खींची मैंने आँसू की हाला,
छल-छल छलका करता इससे पल-पल पलकों का प्याला,
आँखें आज बनी हैं साक़ी, गाल गुलाबी पी होते,
कहो न विरही मुझको मैं हूँ चलती-फिरती मधुशाला।

(४)

छोड़ा मैंने पंथ-मतों को तब कहलाया मतवाला।
चली सुरा मेरा पग धोने तोड़ा मैंने जब प्याला।
अब मानी मधुशाला मेरे पीछे-पीछे फिरती है,
क्या कारण ! अब छोड़ दिया है मैंने जाना मधुशाला।

(५)

कितनी आईं और गईं पी इस मदिरालय में हाला।
अबतक टूट चुकी है कितने मादक प्यालों की माला।
कितने साक़ी अपना-अपना काम खतम कर दूर हुये।
कितने पीनेवाले आये किन्तु वही है मधुशाला।

(६)

वह हाला, कर शांत सके जो मेरे अन्तर की ज्वाला,
जिसमें मैं बिंबित-प्रतिबिंबित प्रतिपल, वह मेरा प्याला,
मधुशाला वह नहीं जहाँ पर मदिरा बेंची जाती है,
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती मेरी तो वह मधुशाला।

(७)

जितनी दिल की गहराई हो उतना गहरा है प्याला ,
जितनी मन की मादकता हो उतनी मादक है हाला ,
जितनी उर की भावुकता हो उतना सुन्दर साक़ी है ,
जितना ही जो रसिक, उसे है उतनी रस-मय मधुशाला ।

मधु-बाला

(१)

था एक समय, थी मधुशाला,
था मिट्टी का घट, था प्याला,
थी किन्तु नहीं साक़ी बाला,
था बैठा-ठाला विक्रेता दे बंद कपाटों पर ताला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(२)

तब इस घर में था तम छाया,
था भय छाया, था भ्रम छाया,
था मातम छाया, गम छाया,
ऊषा का दीप लिये सिर पर मैं आई करती उजियाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(३)

मुझको छूकर मधु-घट छलके,
प्याले मधु पीने को ललके;
मालिक जागा मलकर पलकें,
अँगड़ाई लेकर उठ बैठी चिर-सुप्त, विमूर्च्छित मधुशाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(४)

प्यासे आये, मैंने आँका,
वातायन से मैंने झाँका,
पीनेवालों का दल बाँका,
उत्कंठित स्वर से बोल उठा,'कर दे पागल,भर दे प्याला !'
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(५)

चाहे जितनी मैं दूँ हाला,
चाहे जितने तू पी प्याला,
चाहे जितना बन मतवाला,
सुन, भेद बताती हूँ अन्तिम यह शांत नहीं होगी ज्वाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(६)

मधु कौन यहाँ पीने आता,
है किसका प्यालों से नाता;
जग देख मुझे है मद-माता,
जिसके चिर-तंद्रित नयनों पर तनती मैं स्वप्नों का जाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

(७)

यह स्वप्न-विनिर्मित मधुशाला,
यह स्वप्न-रचित मधु का प्याला,
स्वप्निल तृष्णा, स्वप्निल हाला,
स्वप्नों की दुनिया में भूला फिरता मानव भोला-भाला ।
मैं मधुशाला की मधुबाला ।

मधु-कलश

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(१)

पार तम के दीख पड़ता एक दीपक झिलमिलाता,
जा रहा उस ओर हूँ मैं मत्त-मधुमय गीत गाता।
इस कुपथ पर या सुपथ पर मैं अकेला हो नहीं हूँ,
जानता हूँ, क्यों जगत फिर उँगलियाँ मुझ पर उठाता—
मौन रहकर इस लहर के साथ सङ्गी बह रहे हैं,
एक मेरी ही उमंगें हो उठी हैं व्यक्त स्वर में।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(२)

क्यों बताऊँ पोत कितने पार हैं इसने लगाये?
क्यों बताऊँ वृक्ष कितने तीर के इसने गिराये?
उर्वरा कितनी धरा को कर चुकी वह क्यों बताऊँ?
क्यों बताऊँ गीत कितने इस लहर ने हैं सुनाये?
कूल पर बैठे हुये कवि से किसी दुख की घड़ी में?
क्या नहीं पर्याप्त इतना जानना, गति है लहर में?
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(३)

फल-भरे तरु तोड़ डाले शांत मत लेकिन पवन हो,
वज्र घन चाहे गिराये किन्तु मत सूना गगन हो,
बढ़ बहा दे बस्तियों को पर न हो जलहीन सरिता।

हो न ऊसर देश चाहे कंटकों का एक वन हो,
पाप की ही गैल पर चलते हुये ये पाँव मेरे,
हँस रहे हैं उन पगों पर, जो बँधे हैं आज घर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(४)

यह नहीं, सुनता नहीं, जो शंख की ध्वनि आ रही है,
देव-मन्दिर में जनों को साधिकार बुला रही है,
कान में, आती अज़ानें, मस्जिदों का यह निमंत्रण,
और ही संदेश देती किन्तु बुलबुल गा रही है;
रक्त से सींची गई है राह मंदिर-मस्जिदों की,
किन्तु रखना चाहता मैं पाँव मधु-सिंचित डगर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(५)

है न वह व्यक्तित्व मेरा जिस तरफ़ मेरा क़दम हो,
उस तरफ़ जाना जगत के वास्ते कल से नियम हो,
औलिया-आचार्य बनने की नहीं अभिलाष मेरी;
किसलिये संसार तुझको देख मेरी चाल गम हो!
जो चले युग-युग चरण ध्रुव धर मिटे पद-चिन्ह उनके,
पद प्रकंपित, हाय, अङ्कित क्या करेंगे दो प्रहर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(६)

मैं कहाँ हूँ ? और वह आदर्श मधुशाला कहाँ है ?
विस्मरण दे जागरण के साथ, मधुबाला कहाँ है ?
है कहाँ प्याला कि जो दे चिर-तृषा, चिर-तृप्ति में भी !
जो डुबा तो ले मगर दे पार कर, हाला कहाँ है ?
देख भीगे होठ मेरे और कुछ संदेह मत कर,
रक्त मेरे ही हृदय का है लगा मेरे अधर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(७)

सोचता है विश्व, कवि ने कच्च हैं बहु विधि सजाये,
मदिर-नयना यौवना को गोद में अपनी बिठाये,
होठ से उसके विचुंबित प्यालियों को रिक्त करते,
झूमते उन्मत्तता से ये सुरा के गान गाये !
राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन,
हैं लिखे मधु-गीत मैंने हो खड़े जीवन-समर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

(८)

पाँव चलने को विवश थे जब विवेक-विहीन था मन,
आज तो मस्तिष्क दूषित कर चुके पथ के मलिन कण,
मैं इसीसे क्या करूँ अच्छे-बुरे का भेद, भाई,
लौटना भी तो कठिन है, चल चुका युग एक जीवन।

हो नियति इच्छा तुम्हारी पूर्ण, मैं चलता चलूँगा,
पथ सभी मिल एक होंगे तम-घिरे यम के नगर में!

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

निशा-निमंत्रण

(१)

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।
हो जाय न पथ में रात कहीं,
मंज़िल तो भी है दूर नहीं—
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है।
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।

(२)

बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीड़ों से झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है!
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।

(३)

मुझसे मिलने को कौन विकल?
मैं होऊँ किसके हित चंचल—?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को, भरता उर में विह्वलता है।
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।

रात आधी हो गई है

(१)

जागता मैं आँख फाड़े,
हाय सुधियों के सहारे।
जब कि दुनिया स्वप्न के जादू-भवन में खो गई है।
रात आधी हो गई है।

(२)

सुन रहा हूँ शांति इतनी।
है टपकती बूँद जितनी।
ओस की, जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गई है।
रात आधी हो गई है।

(३)

दे रही कितना दिलासा,
आ झरोखे से जरा-सा
चाँदनी पिछले पहर की पास में जो सो गई है।
रात आधी हो गई है।

रामधारीसिंह (दिनकर)

दिनकर हिन्दी के क्रांतदर्शी कवि हैं। इनकी कविता हृदय को झकझोर डालती है। वर्तमान भारत की दलित आत्मा दिनकर की कविता में जाग-सी उठी है। हिन्दी में अपने समकक्ष ये एक ही कवि हैं और हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं।

बाबू रामधारीसिंह अपने असली नाम की अपेक्षा हिन्दी-जगत् में अपने 'दिनकर' उपनाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। दिनकरजी का जन्म सं० १९६५ में, गाँव सिमरिया, ज़िला मुँगेर में हुआ। सिमरिया वह स्थान है, जहाँ गंगाजी की वह धारा फिर आकर मिली है, जो मैथिल-कोकिल विद्यापति की मृत्यु के समय उनके पास गई बताई जाती है।

गाँव के स्कूल से मिडिल पास करने के बाद ही,से ये कुछ गीत वग़ैरह लिखने लगे थे। 'पथिक' का अनुसरण करते हुये इन्होंने पहले-पहल एक 'वीरबाला' काव्य लिखना प्रारंभ किया। पर उसे बीच ही में छोड़कर इन्होंने रामायण की कथाओं पर एक काव्य लिखा। बचपन ही से प्रबन्ध-काव्य की ओर इनकी विशेष रुचि थी।

मैट्रिक पास करने के बाद इनका एक प्रबन्ध-काव्य 'प्रण-भंग' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके बाद इनके गीतों का एक संग्रह 'रेणुका' नाम से प्रकाशित हुआ। काव्य-रसिक जनता ने 'रेणुका' का अच्छा स्वागत किया। इनकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'हुङ्कार' नाम से १९३९ में प्रकाशित हुआ और 'रसवंती' और 'द्वंद्वगीत' नाम से दो संग्रह छप रहे हैं।

सन् १९३५ में ये विहार-प्रांतीय-साहित्य-सम्मेलन के १३वें कवि-सम्मेलन के सभापति चुने गये। इनकी 'हिमालय' कविता पर वनैली के कुमार कृष्णानन्दसिंह ने इनको एक स्वर्ण-पदक दिया। इनकी एक दूसरी कविता 'नई दिल्ली' भी वहुत पसन्द की गई। 'हिमालय' और 'नई दिल्ली' दोनों का गुजराती भाषा में गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि मेघाणीजी ने अनुवाद किया। यह इनकी लोक-प्रियता का एक सुन्दर प्रमाण है। दिनकरजी को इतिहास, राजनीति और दर्शन से विशेष रुचि है और इनकी कविता में सर्वत्र इनकी रुचि का आभास दिखाई पड़ता है।

ये हिन्दी के सिवा उर्दू, संस्कृत और बँगला भी जानते हैं और इन भाषाओं के काव्यों का इन्होंने अध्ययन भी अच्छा किया है।

दिनकरजी ने सन् १९३२ में पटना युनिवर्सिटी से इतिहास लेकर 'आनर्स' के साथ बी० ए० पास किया। आजकल ये सीतामढ़ी (मुज़फ़्फ़रपुर) में सब-रजिस्ट्रार हैं।

यहाँ इनकी कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं।—

वन-फूलों की ओर

आज न उडु के नील कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
आज चमेली में न चन्द्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी
अधरों में मुसकान न लाली बन कपोल में छाऊँगी
कवि ! तेरी क़िस्मत पर भी मैं आज न अश्रु बहाऊँगी।

नालन्दा वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार ;
धूसर भुवन-स्वर्ग-ग्रामों में कर पाये न विहार।

आज यह राज-वाटिका छोड़
चलो, कवि ! वन-फूलों की ओर।

चलो, जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं
मलयानिल भूलता भूलकर जिधर नहीं अलि जाते हैं
कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्योति पसार
चले शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम-कुमार।

कब्र पर मैं कवि ! रोऊँगी
जुगुनु - आरती सजोऊँगी।

विद्युत् छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण-कुटी प्रवेश
तुम गाँवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिनी का लूँ वेश
स्वर्णाञ्चला अहा ! खेतों में उतरी संध्या श्यामपरी
रोमन्थन करती गाएँ आ रहीं रोंदती घास हरी
घर-घर से उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी-बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते—'कहँ अटके बनवारी !'
पनघट से आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार
किसी भाँति ढोती गागर, यौवन का दुर्वह भार।

बनूँगी मैं कवि ! इसकी माँग
कलस, काजल, सिन्दूर, सुहाग।

बन-तुलसी की गंध लिये हलकी पुरवैया आती है
मंदिर की घंटा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है
'टिम-टिम' दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशु-गण
परदेसी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन—
"भैया! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग;
चारो कोने खेम-कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग।"

दूतिका मैं बन जाऊँगी;
सखी ! सुधि उन्हें सुनाऊँगी।

पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली
रहते रात रमणियाँ आईं ले-ले फूलों की डाली
स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत-माँ का पुण्य तरल
भक्ति-अश्रुधारा-सी निर्मल गंगा बहती है अविरल
लहर-लहर पर लहराते हैं मधुर प्रभाती गान
भुवन स्वर्ग बन रहा उड़े जाते ऊपर को प्राण

पुजारिन की बन कण्ठ-हिलोर
भिगो दूँगी अग-जग का छोर।

ऋण-शोधन के लिये दूध-घी बेंच-बेंच धन जोड़ेंगे
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिये नहीं कुछ छोड़ेंगे
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी!
इतने पर भी धनपतियों की होगी उन पर मार
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार

फटेगा भू का हृदय कठोर
चलो, कवि! वन-फूलों की ओर।

(रेणुका से)

परिचय

सलिल-कण हूँ कि पारावार हूँ मैं,
स्वयं छाया, स्वयं आधार हूँ मैं।
बँधा हूँ, स्वप्न है, छोटा बना हूँ,
नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं।

समाना चाहती जो बीन-उर में,
विकल उस शून्य की झंकार हूँ मैं।
भटकता खोजता हूँ ज्योति तम में,
सुना है, ज्योति का आगार हूँ मैं।

जिसे निशि खोजती तारे जलाकर,
उसी का कर रहा अभिसार हूँ मैं।
जनमकर मर चुका सौ बार लेकिन
अगम का पा सका क्या पार हूँ मैं?

कली की पंखड़ी पर ओस-कण में,
रँगीले स्वप्न का संसार हूँ मैं।
मुझे क्या आज ही या कल झड़ूँ मैं,
सुमन हूँ, एक लघु उपहार हूँ मैं।

जलन, हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ,
किसी का हाय, खोया प्यार हूँ मैं।
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमर-तरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।

मधुर जीवन हुआ कुछ प्राण! जब से,
लगा ढोने व्यथा का भार हूँ मैं।
रुदन ही एक पथ प्रिय का, इसी से,
पिरोता आँसुओं का हार हूँ मैं।

मुझे क्या गर्व हो अपनी विभा का?
चिता का धूलि-कण हूँ, क्षार हूँ मैं।
पता मेरा तुम्हें मिट्टी कहेगी,
समा जिसमें चुका सौ बार हूँ मैं।

न देखे विश्व पर मुझको घृणा से,
मनुज हूँ, सृष्टि का शृंगार हूँ मैं।
पुजारिन! धूलि से मुझको उठा ले,
तुम्हारे देवता का हार हूँ मैं।

सुनूँ क्या सिन्धु! मैं गर्जन तुम्हारा!
स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं।
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का,
प्रलय-गाण्डीव का टंकार हूँ मैं।

दबी-सी आग हूँ भीषण क्षुधा की,
दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग, संसार तू निज को सँभाले,
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।

बँधा तूफान हूँ, चलना मना है,
बँधी उद्दाम निर्झर धार हूँ मैं।
कहूँ क्या कौन हूँ! क्या आग मेरी!
बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं।

प्रीति

प्रीति न अरुण साँझ के घन, सखि!
पलभर चमक बिखर जाते जो
मना कनक-गोधूलि-लगन, सखि!
प्रीति नील गंभीर गगन, सखि!
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक-मगन, सखि!

प्रीति न पूर्ण चन्द्र जगमग, सखि !
जो होता नित क्षीण एक दिन
विभा-सिक्त करके अग-जग, सखि !
दूज-कला यह लघु नभ-नग, सखि !
शीत, स्निग्ध, नवरश्मि छिड़कती
बढ़ती ही जाती पग-पग, सखि !
मन की बात न श्रुति से कह, सखि !
बोले प्रेम विकल होता है
अनबोले सारा दुख सह, सखि !
कितना प्यार ! जान मत यह, सखि !
सीमा, बन्ध, मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह, सखि !
तृणवत् धधक-धधक मत जल, सखि !
ओदी आँच धुनी बिरहिनि की
नहीं लपट की चहल-पहल, सखि !
अन्तर्दाह मधुर-मंगल, सखि !
प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे जो
सुलग रहा तिल-तिल, पल-पल, सखि !

(रसवन्ती से)

गीत-अगीत

(१)

गीत-अगीत कौन सुन्दर है !
गाकर गीत बिरह के तटिनी वेगवती बहती जाती है
दिल हलका कर लेने को उपलों से कुछ कहती जाती है।

तट पर एक गुलाब सोचता 'देते स्वर यदि मुझे विधाता
अपने पतझड़ के स्वप्नों का मैं भी जग को गीत सुनाता।'
गा-गाकर बह रही निर्झरी
पाटल मूक खड़ा तट पर है!
गीत-अगीत कौन सुन्दर है!

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर जो खोंते पर छाया देती
पंख फुला नीचे खोंते में शुकी बैठ अण्डे है सेती
गाता शुक जब किरण वसन्ती छूती अंग पर्ण से छनकर
किन्तु शुकी के गीत उमड़कर रह जाते सनेह में सनकर
गूँज रहा शुक का स्वर बन में
फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत-अगीत कौन सुन्दर है!

(३)

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब बड़े साँझ आल्हा गाता है
पहला स्वर उसकी राधा को घर से यहाँ खींच लाता है
चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की विधना,' यों मन में गुनती है
वह गाता पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत-अगीत कौन सुन्दर है!

(रसवन्ती से)

रुबाइयाँ

(१)

तारे लेकर जलन, मेघ आँसू का पारावार लिये,
संध्या लिये विषाद, पुजारिन उषा विफल उपहार लिये,
हँसे कौन ? तुझको तजकर जो चला वही हैरान चला,
रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये।

(२)

देख न पाया प्रथम चित्र त्यों अन्तिम दृश्य न पहचाना,
आदि-अन्त के बीच सुना मैंने जीवन का अफ़साना,
मंज़िल थी मालूम न मुझको, और पन्थ का ज्ञान नहीं,
जाना था निश्चय इससे चुपचाप पड़ा मुझको जाना।

(३)

कलिके, मैं चाहता तुम्हें उतना जितना यह भ्रमर नहीं,
अरी तटी की दूब, मधुर तू उतनी जितना अधर नहीं,
किसलय, तू भी मधुर, चन्द्रवदनी-निशि, तू मादक रानी,
दुख है इस आनन्द-कुञ्ज में मैं ही केवल अमर नहीं।

(४)

दूब-भरी इस शैल-तटी में उषा विहँसती आयेगी,
युग-युग कली हँसेगी युग-युग कोयल गीत सुनायेगी,
घुल-मिल चन्द्र-किरण में बरसेगी भू पर आनन्द-सुधा,
केवल मैं न रहूँगा, यह मधु-धार उमड़ती जायेगी।

(५)

पत्थर ही पिघला न कहो करुणा की रही कहानी क्या ?
टुकड़े दिल के हुए नहीं तब बहा दृगों से पानी क्या ?

मस्ती क्या जिसको पाकर फिर दुनिया की भी याद रही ?
डरने लगी मरण से तो फिर चढ़ती हुई जवानी क्या ?

राजा-रानी

(१)

राजा बसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी
राजा के मुख में हँसी, कण्ठ में माला
रानी का अन्तर विकल, दृगों में पानी।

(२)

डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने
परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने
खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आई
उमड़ी जानें क्या व्यथा लगी वह रोने।

(३)

रानी, रोओ, पोंछो न अश्रु अंचल से
राजा अबोध खेलें कचनार-कमल से
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे ?
सींचो न धरा यदि तुम आँसू के जल से।

(४)

लेखनी ! लिखो मन में जो निहित व्यथा है
रानी की सब दिन गीली रही कथा है
त्रेता के राजा क्षमा करें, यदि बोलूँ,
राजा-रानी की युग से यही प्रथा है।

(५)

राजा हँसते हैं, हँसें; तुम्हें रोना है
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है
रानी, विधि का अभिशाप यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है।

× × ×

(६)

पग-पग पर झरते कुसुम, सुकोमल पथ है
रानी, कबरी का बन्ध तुम्हारा श्लथ है
झिलमिला रही मुसकानों से अँधियाली
चलता अबाध निर्भय राजा का रथ है।

(७)

छिटकी तुम विद्युच्छिखा, हुआ उजियाला
तम-विकल सैनिकों में संजीवन डाला
हल्दीघाटी हुङ्कार उठी जब रानी
तुम धधक उठी, बनकर जौहर की ज्वाला।

(८)

राजा की स्मृति बन ज्योति खिली जौहर में
असि चढ़ चमकी रानी की विभा समर में
भू पर रानी जूही, गुलाब राजा है
राजा-रानी हैं सूर्य-सोम अम्बर में।

(रेणुका, द्वि० सं० से)

हिन्दी की नवीन धारा के कवि

राय कृष्णदास

पिता का नाम	राय प्रह्लाददास
जन्म-संवत्	१६४६
जन्म-स्थान	काशी
शिक्षा	हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेज़ी और बँगला।
रचनायें	भावुक; ब्रजरज; संलाप; छायापथ; प्रवाल; अनाख्या; सुधांशु; साधना; भारतीय मूर्ति-कला; भारतीय चित्र-कला आदि।
वर्तमान जीवन	घर के रईस हैं, कला-भवन (काशी) की पूर्ण देख-रेख करते हैं। कला-विशेषज्ञ और उच्चकोटि के कहानीकार भी हैं।

प्रस्ताव

भावुक, निज पद-पद्म के, मधु से अब भरपूर।
दो ये आँखें आँजने, तिमिर-जाल हो दूर॥
तिमिर-जाल हो दूर, द्वन्द्व-दर्शन मिट जावे।
दिव्य-दृष्टि द्रुत मिले, शांति शीतलता आवे॥
मेरे भाव मधुकरों ने वह
मधु संचित करके कब से।
स्निग्ध हृदय के छाते में है,
रक्खा अति रक्षित सब से॥
आज बस हो उसका उपयोग।
नष्ट हो नष्ट दृष्टि का रोग॥

सम्बन्ध

मैं इस झरने के निर्झर में
प्रियवर सुनती हूँ वह गान।
कौन गान? जिसकी तानों से
परिपूरित हैं मेरे प्राण॥
कौन प्राण? जिनको निशि-वासर
रहता एक तुम्हारा ध्यान।
कौन ध्यान? जीवन-सरसिज को
जो सदैव रखता अम्लान॥

क्षुद्र का महत्व

क्षणिक क्षणों का मोल बता दूँ कब जाना था?
उन्हें युगों से अधिक कहाँ मैंने माना था?
करती थी प्राणेश! प्रतीक्षा जब कुञ्जों में।
चौंकाता था वायु मुझे जब तरु-पुञ्जों में॥
धड़क-धड़ककर हृदय लगाये था प्रिय रटना।
अद्रि सदृश था मुझे एक ही क्षण का कटना॥
तब समझी, यह वस्तु नहीं है खो देने की।
है स्वकार्य के अर्थ यत्न से रख लेने की॥

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

पिता का नाम	डाक्टर कालिकाप्रसादसिंह
जन्म-सं०	१६५०
जन्म-स्थान	जमानिया, ज़िला गाज़ीपुर
शिक्षा	बी० ए०, एल-एल० बी०
रचनायें	सरस सुमन, कुसुम-कुञ्ज, वंशोध्वनि, नूरजहाँ, वन-श्री
वर्तमान जीवन	आज़मगढ़ म्युनिसिपल बोर्ड में इक्जिक्यूटिव आफ़िसर हैं।
विशेष	प्रकृति-सौन्दर्य के सूक्ष्म-द्रष्टा और भावुक कवि हैं।

वंग-देश का सौन्दर्य

ऊषा की कोमल किरणें पहले जिनको नहलाती हैं।
जिसके पग पर अगणित नदियाँ आकर सलिल चढ़ाती हैं।
जिसका चरणोदक पयोधि ले सूर्य-करों-द्वारा वह जल—
बरसा करके सारे जग पर पावन करता विश्व सकल॥
जहाँ रसा के सुन्दर तन पर लहराती धानी सारी।
जहाँ मलय के झोंके में आती सुगंध प्यारी-प्यारी॥
शैलों पर 'सालों' की शोभा नीचे 'शालों' की शैली।
लता-पाश-आबद्ध दूर तक तरुओं की अवली फैली॥
विरही के दृग से पर्वत के चश्मे करते हैं छल-छल।
कल्लोलिनी विकल मानस को कहती हाथ उठा कल-कल॥
जहाँ विहरती है नितम्बिनी केश-केत को फहराती,
पान-राग-रंजित होठों से मन्द-मन्द-सी मुसकाती।
अथवा जहाँ रसिक बंगाली कोमल स्वर में गाता है,
मंत्र-मुग्ध हो निज प्रेयसि को अपनी बीन सुनाता है।

जिसके अंगों पर बहती हैं गंगा-जमुनी धारायें,
जिनके कटि में देख क्षीणता लज्जित होती दारायें।
केहरि-गति से वह सर के तट पर जल पीने जाता जब।
जिधर आँख फिर जाती उसकी जंगम जड़ हो जाता सब॥

रंग-रंग के तोता-मैना जहाँ विहरते दल के दल।
चातक और चकोर, कोकिला, मोर, धनेश, लवा, दहियल॥
सरि के तट पर चाहा, बगुला, कछुवा, सारस, आँजन, ढेंक।
बतें, लालसर, टीका, चकवा विचर रहे हैं विहग अनेक॥

जहाँ ब्रह्मपुत्रा मानस से निकली हुई बढ़ी आती।
शंकर-जटा-जाल से गंगा निकली हुई चढ़ी आती॥
जहाँ गले मिल-मिलकर फिर दोनों सरितायें हुईं निहाल।
बिछ है गया उमँगकर भूपर अगणित स्नेह-स्रोत का जाल॥

रज लाई है मिला-मिलाकर जीवन में ब्रज-मंडल से।
कृष्णचन्द्र की केलि-भूमि से राधावर के पग-तल से॥
रामचन्द्र की अवधपुरी से ऋषि-मुनियों के आश्रम से।
वीरों की बलिदान-भूमि से ब्रह्म-ज्ञान के उद्‌गम से॥

रज, जिसमें अगणित विभूतियाँ मिली हुई हैं सतियों की।
रज, जिसमें समाधियाँ सोईं कितने योगी-यतियों की॥
रज, वह जिसमें रक्त मिला है अमर शहीदों वीरों का।
जो स्वदेश-हित हुये निछावर अटल व्रती रण-धीरों का॥

रज, जिसको था किलक-किलककर खाया कुँवर कन्हैया ने।
जिसे निकाला मुख से मोदक खिला यशोदा मैया ने॥
यह पावन रज त्रिभुज अंक में सिन्धु निकट के भर लेती।
उठ-उठ कितना जलधि माँगता किन्तु नहीं उसको देती॥

प्रकृति नटी का रंग-मंच वह रम्य देश प्यारा बंगाल।
वहाँ पहुँचकर नव दम्पति वह, छटा निरख होगया निहाल॥

श्रीनारायण चतुर्वेदी

पिता का नाम पंडित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी

जन्म-सं० १९५०

जन्म-स्थान इटावा

शिक्षा प्रयाग और लंडन विश्वविद्यालयों के एम० ए०

रचनायें अनुवाद—एच० जी० वेल्स का संसार का संक्षिप्त इतिहास; महात्मा साक्रिटीज़ (ट्रायल ऐन्ड डेथ आफ़ साक्रिटीज़ का अनुवाद); मेकियावेली दि प्रिन्स का अनुवाद।

मौलिक पुस्तकें—संयुक्त-प्रान्त की ग्रामीण शिक्षा का इतिहास; इतिहास-परिचय।

कविता—चारण; जीवन-गीत; शत-दल कमल; रत्न-दीप; मंगल-गान।

अंग्रेजी ग्रन्थ—हिस्ट्री आफ़ रूरल एजुकेशन; दि एजुकेशन सर्वे आफ़ डिस्ट्रिक्ट्स।

वर्तमान जीवन शिक्षा-प्रसार-अफ़सर, यू० पी०

विशेष चतुर्वेदीजी ने शिक्षा-विभाग में निम्नलिखित भिन्न-भिन्न उच्च पदों पर रहकर अपनी योग्यता प्रदर्शित करके उच्च पद प्राप्त किया है।—

असिस्टेन्ट इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स, प्रयाग

एडिश्नल असिस्टेन्ट डाइरेक्टर आफ़ पब्लिक इन्सट्रक्शन, यू० पी०

असिस्टेन्ट डाइरेक्टर आफ़ पब्लिक इन्सट्रक्शन, यू० पी०

इन्स्पेक्टर आफ़ स्कूल्स, फैज़ाबाद

प्रधान सम्पादक, हिन्दी-विश्व-भारती

मंत्री, प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

प्रिन्सिपल, कान्यकुब्ज-कालेज १९२२ से १९२५ ई० तक

सदस्य, एजुकेशनल एक्सपर्ट कमेटी, लीग आफ़ नेशन्स १९२६ ई० से १९२८ ई० तक

भारतीय प्रतिनिधि टोरेन्टो (कैनाडा) का वर्ल्ड फेडरेशन आफ़ एजुकेशनल एसोसियेशन, जिनेवा, का अधिवेशन १९२७ ई०

संसार भ्रमण, १९२७ से १९२८ ई०

राय साहब की उपाधि, १९३८ ई०

चतुर्वेदीजी ने हिन्दी-कवि-सम्मेलनों तथा हिन्दी-कवियों को प्रोत्साहन देकर हिन्दी के प्रचार में अच्छी सहायता पहुँचाई है।

वियना की सड़क

पर्वत पर चक्कर खाती हुई, चिड़ियों की तान सुनाती हुई
घाटी की सैर कराती हुई, फूलों को गन्ध सुँघाती हुई
बादल से सिर टकराती हुई, बादल-सी गर्द उड़ाती हुई
पाताल की थाह लगाती हुई, बीसों पुल पीछे छुड़ाती हुई
जंगल की हवा खिलाती हुई, झीलों की छटा दिखाती हुई
खेतों में भी लहराती हुई, गलियों-कूचों में फिराती हुई
उद्यानों में मुसक्याती हुई, भोले लोगों से मिलाती हुई
झरनों को नाच नचाती हुई, अनुराग की आग जलाती हुई
रुलाती हुई औ हँसाती हुई, बलखाती हुई अठलाती हुई
दरसाती हुई बिछुड़ाती हुई, नागिन की चाल से जाती हुई
ऊँची-नीची पत्थर से बिछी

अचरज से भरी, वियना की सड़क।

फिर जब श्यामा के साथ चले, आकाश से वाटरफाल मिले।
पाताल से गहरे ताल मिले, मीलों तक नीचे ढाल मिले।
नभचुम्बी ताल तमाल मिले।

अचरज से भरी, वियना की सड़क!

लहराते हरे वह खेत मिले, जंगल फल-फूल-समेत मिले।
पर्वत हिम-से सब सेत मिले, मीलों तक ऊसर रेत मिले।
ऐसी विचित्र, वियना की सड़क!

आँधी से लड़ना पड़ा हमें, पानी से भिड़ना पड़ा हमें!
पर्वत पर चढ़ना पड़ा हमें, तिल-तिल कर बढ़ना पड़ा हमें!
कुछ सहल न थी वियना की सड़क!

कंकड़ भी मिले, पत्थर भी मिले, जंगल, झाड़ी, झंखाड़ मिले,
और छाती फाड़ पहाड़ मिले।
उफ़ ऐसी कड़ी, वियना की सड़क!

हिम-कण की सरदी मिली कहीं, औ नरक अग्नि-सी धूप कहीं।
भागे सब होश-हवास कहीं, बस छूटे केवल प्राण नहीं।
थी पूरी बला, वियना की सड़क!

सिर पर सूरज की धूप कड़ी, नीचे पत्थर, कंकड़, बजड़ी।
दीवार-सी सन्मुख सड़क खड़ी, और तीर-सी उल्टी हवा बढ़ी।
मानो कहती थी वह यूँ अड़, 'बस, रुक, पीछे हट, अब मत बढ़!'
हलुआ है नहीं, वियना की सड़क!

मैंने ये कहा कह क्या तूने, चकबस्त के हैं यह शब्द सुने!
आग़ाज़ में कब आज़ादों ने, बेकार ग़मे अंजाम किया!
हो जोरो जफ़ा या जुल्मो सितम, पीछे को नहीं पड़ने को कदम।
जिसने ये कहा रुक जायँगे हम, वल्लाह! खयालेखाम किया।
मत मुझसे अकड़, वियना की सड़क!

फिर तो हुज्जत भरपूर हुई, मेहनत भी बहुत ज़रूर हुई।
मेरी तो रग-रग चूर हुई, पर उसकी अकड़ भी दूर हुई।
तै कर डाली, वियना की सड़क!

आई वियना, आराम करें, डेन्यूब में तैरें, स्नान करें।
तुझको प्रिस्कोत सलाम करें, हिन्दू ढंग से 'जैराम' करें।
तुम प्यारी सड़क, वियना की सड़क !

आशाओं का अवसान

हरे सदा यूँ ही बचपन से यही देखता आता हूँ,
अपनी प्रियतम आशाओं को धूल-धूसरित पाता हूँ।
जिस-जिस पुष्प-विटप से मैंने किया अभागा अपना प्रेम,
सर्वप्रथम वह ही कुम्हलाया !—देखा मैंने ऐसा नेम।
जब जिस प्रिय छौने को मैंने इस आशा से पाला,
होगा उसकी प्रिय आँखों से मेरा हृदय उजाला।
पर ज्योंही वह बड़ा हुआ औ उसने मुझको जाना,
त्योंही उस बेचारे का था निश्चित-सा मर जाना।

एक विदेशी महिला का स्वरूप

ऊँटनी की चाची, सगी मौसी ताड़िका की मानों
काकी हैं कबन्ध की कि पूतना की पोती हैं।
बल्ली-सी हैं टाँगें, ललकारें ताड़ वृच्छन को,
घुटने लौं गाउन सों शोभा ख़ूब होती हैं।
द्वै गज की गर्दन—औ नाक पूरी बीता भर
रूज अरु पाउडर की पालिश सों पोती हैं।
ताहू पै 'ईटनक्राप' फ़ैशन के कटे बाल
देखिकै चुड़ैलें करि डाह हाय रोती हैं।

—:o:—

जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

पिता का नाम	पंडित रामचन्द्र मिश्र
जन्म-सं०	१९५२
जन्म-स्थान	गंजमुरादाबाद (उन्नाव)
शिक्षा	घर पर ही आपको शिक्षा मिली है।
रचनायें	काव्य—कल्लोलिनी; नवोदिता।
वर्तमान जीवन	कलकत्ते में रहकर साहित्य-सृजन में तत्पर हैं।
विशेष	खड़ी-बोली में सवैया और घनाक्षरी छन्दों के प्रशंसित रचयिता हैं। इन्होंने उमर खय्याम की रुबाइयों का भी पद्यानुवाद सवैया और घनाक्षरी छंदों में किया है, जो प्रकाशित होने ही वाला है। कांग्रेस-आन्दोलन में ६॥ वर्ष जेल हो आये हैं। हितैषीजी वीर-रस, शृङ्गार और हास्य, तीनों रसों के एक मिक्श्चर हैं।

सुमनोक्ति

(१)

शूल चुभाना मेरा अनुकूल के भी लख दैव ने ये अति मेरी।
दण्ड निकाला दिया नव-देश से, जो कुछ थी हर ली पति मेरी।
छेदा गया क्षत-विक्षत हूँ, है 'हितैषी' हुई छवि की क्षति मेरी।
रूप पै फूले न कोई कभी, यह फूलने से ही हुई गति मेरी॥

(२)

तोड़ के जीवन ही के लिए वन से पहिले तो किया गया न्यारा।
हाट में कौड़ियों मोल बिका,फिर सूजियों छेदा गया तन सारा।

हार बना के 'हितैषी' सँहार हुआ, बड़े दुःख से अन्त हमारा।
हाय ! हमें इस सौरभ-संग ने, सुन्दर रंग ने, रूप ने मारा॥

(२)

रँग-रूप पै मेरे थे रीझे कभी, धन क्या, तन को भी था वार दिया।
प्रिय पात्र चुना मुझे सैकड़ों में, कृपा-दृष्टि का प्रेमोपहार दिया।
दिन चार भी बीते 'हितैषी' न थे, बना प्यार उन्होंने कुप्यार दिया।
मुझे हार गले का बना करके, मन से फिर हाय ! उतार दिया॥

आँखें

पल पत्रवाले यह खंजन हैं तो भी आप,
उड़ते नहीं है होश औरों के उड़ाते हैं।
होके हीन मीन फाँसते हैं दीन प्रेमियों को,
बरबस रस-सरोवर में डुबाते हैं।
दृग मृग हैं, पै कार करते शिकारियों का,
दूसरों को मार-शर मार के गिराते हैं।
कंज हैं ये, जिनके कि नेजे लगते ही हाय !
रेजे-रेजे होकर करेजे कट जाते हैं॥

वर्षा-नर्तकी

तान वितान दिया नभ ने, हरियाली ने चादर चारु बिछाई।
हाथ में ली चपला ने मशाल, है झिल्लियों ने मिल बीन बजाई।
वारिदों ने है मृदंग पै थाप दी, चातकियों ने मलार है गाई।
विश्व के प्रांगण में सज के, ऋतु पावस-नर्तकी नाचती आई।

उमर ख़य्याम का अनुवाद

मूल

कू महरमे राज़ ताब गोयम यक-दम ।
कज़ अव्वले कार खुद चे बूदस्त आलम ।।
मेहनतजदए सरिश्तए अज़ गिलेशम ।
यक चंद जहाँ बेगश्तो बरदाश्त क़दम ।।

अनुवाद

कोई रहस्य का ज्ञाता मिलै जो, तो पूछूँ कि ये भय का भव क्या है ?
वृद्धता क्या है, युवापन क्या अति अज्ञता का सुख शैशव क्या है ?
जन्म के साथ ही नाश विकास में ह्रास पराभव उद्भव क्या है ?
शोक-ग्रसा शव या दुख की दव मृत्तिका-मूर्ति ये मानव क्या है ?

उदयशंकर भट्ट

पिता का नाम	पंडित फतेशंकर भट्ट
जन्म-स्थान	कर्णवास (बुलन्दशहर)
जन्म-संवत्	१९५४
शिक्षा	शास्त्री; काव्यतीर्थ; बी० ए० तक अंग्रेज़ी; मातृ-भाषा गुजराती
रचनायें	काव्य—तक्षशिला, राका, मानसी, विसर्जन। नाटक—विक्रमादित्य, दाहर, अम्बा, सगर-विजय, मत्स्यगंधा, कमला और विश्वामित्र।
वर्तमान जीवन	सनातन-धर्म-कालेज, लाहोर में हिन्दी के अध्यापक।
विशेष	हिन्दी-जगत् में इनके नाटकों और काव्यों की अच्छी प्रतिष्ठा है।

मेघ-गीत

आगए घन मोतियों का हार ले।
नील नभ के हृदय में सब प्यास सावन की लिए वे,
जलन अपनी को बुझाने अश्रु से तर दिल किए वे;
किसी क्रन्दन के स्वरों से मूर्च्छनाएँ राग की भर;
आग-सी भरकर हृदय में स्वकर मुक्ता-दल लिए वे,
आह भर-भर गिर रहे हैं किसी प्रिय का प्यार ले।
आगए घन आँसुओं का हार ले॥ १॥

सदा आँसू बन बहा दिल प्रेमपन्था में चले जो,
प्यार उनका जल उठा सब किसी रवि-मणि से मिले जो,

सदा अपनापन भुला चिनगारियों से उड़ रहे वे,
सदा सिरहाने खड़े पतझड़ हँसे उस पथ चले जो,
और जीवन में पराजित गर्जना-संसार ले।
आगए घन आँसुओं का हार ले ॥ २ ॥

रात अपनी आग की चिनगारियाँ लाई बुझाने,
और पहलू में उफनती साँस की मृदु तह बिठाने,
यह उसी की साध पानी हो गगन के अंक फैली,
रे, उसी की साध में कुछ शेष जीवन-क्षण सुलाने,
क्षणिक जीवन में अचानक द्वन्द्व पारावार ले।
आगए घन मोतियों का हार ले ॥ ३ ॥

असहाय

पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अन्त मेरा
फूल उठता शून्य में मेरा हृदय उच्छ्वास मेरा
ढूँढ़ने जाऊँ कहाँ मैं आँख में आलोक फीका
पैर लरजाने लगे हैं जी हुआ है भार जी का
उग्र जग के क्रोध-पूरित व्यंग्य को दिल खोल सहता
और जग के राग में इन आँसुओं को घोल कहता
पागलों के स्वप्न ने उड़ चंद्र-मंडल आज घेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अन्त मेरा ॥

कौन यह हारिल, अरे! तू थक सकेगा क्या न उड़ता?
और तेरा प्राण पंखों से कभी कुछ कह न कुढ़ता?
तू उड़ा ही जा रहा है पंख पर अभिलाष लादे
बादलों की छातियों को चीर देंगे क्या इरादे?

ओ ठहर, तुझसे कहीं ऊँचा उड़ा मेरा अँधेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अन्त मेरा॥

बीन साधन प्राण में ब्रह्माण्ड को भर तत्व लाया
विश्व का स्मय,राग की लय,सुधा का अमरत्व लाया
सुमन के मकरन्द-सी भीनी मदिर आशा मिली है
और जग के कण्टकों की नोंक से भाषा छिली है

पर विना पर कौन चित्रित कर रहा छिप-छिप चितेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अन्त मेरा॥

अरे! शतशत बिजलियों को मद समझकर पी गया मैं
और यौवन की जलन पीकर गले तक जी गया मैं
मैं उठा आनन्द-सा बैठा हृदय का श्वास थामे
जल रहा हूँ मैं जलूँगा उषा में सन्ध्या-निशा में

दीप लेकर हाथ में अपना कथानक आप हेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अन्त मेरा॥

यह सुधा, यह विष प्रणय की हार में किसने पिरोये?
यह जलन,यह शान्ति भर किसने हृदय के घाव धोये?
यह विरह का,यह जलन का दौर यों कबतक चलेगा?
पुतलियों से छिले दिल को ले जगत कबतक जलेगा?

आँसुओं के तरल पारावार में मेरा बसेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अन्त मेरा॥

—:o:—

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

पिता का नाम	पंडित महेशदत्त शुक्ल
जन्म-संवत्	१६५५
जन्म-स्थान	मछलीशहर (जौनपुर)
शिक्षा	बी० ए०
रचनायें	कविता : रसालवन, स्मृति, तारक-वध। समालोचना : हिन्दी-काव्य की कोकिलायें, महाकवि हरिऔध, गुप्तजी की काव्य-धारा। उपन्यास : प्रेम की पीड़ा, पाप की पहेली, बाबू साहब, बहता पानी, नादिरा।
वर्तमान जीवन	दारागंज (प्रयाग) में स्वतंत्र-रूप से रहकर पुस्तक-प्रणयन और प्रकाशन का काम करते हैं।
विशेष	पाँच वर्षों तक इन्डियन प्रेस में साहित्यिक सहायक के पद पर काम किया था। फ़लित ज्योतिष में भी काफ़ी दिलचस्पी रखते हैं।

माता

(१)

रोना तजकर और पा सकीं क्या अम्बाएँ ?
मिट्टी में मिल गयीं मोतियों की मालाएँ।
ताराओं की जोत खो चली, ऐसा रोयी।
रोते-रोते रात स्वयं ही जग से खोयी।

(२)

माँ का ही वह हृदय सजल घन-मंडल न्यारा।
हहर उठा त्यागते समय जो नव जल-धारा।
माँ का ही वह हृदय सजल घन-मंडल न्यारा।
तड़ित-अनल में जला चली जब नव जल-धारा।

(३)

माँ का ही वह हृदय निखिल नीला नभ-मंडल।
ज्योत्स्ना की अवलोक विश्वगति रोया छल-छल।
ज्योत्स्ना-विरहित अम्ब-हृदय ही वह नभ-मंडल।
जो छालों से भरा वेदनानल में जल-जल।

(४)

बदली-सी माँ छँटी दीप्ति संतति-शशि दमके।
कुहरे-सी माँ कटी प्रभा उस रवि की चमके।
पौ फटने की भाँति फटी माता की छाती।
फूल उतारें फूल प्रात-किरणें मुसकाती।

(५)

छूटी अमा, आकाश पूत हो बाल शशी से।
साँझ फूलकर लटी रात खिल उठे हँसी से।
साँझ फूलकर लटी सहस्रों लोचन लेकर।
खोजे रजनी कहाँ छिपे वे ललित कलाधर।

(६)

सृष्टिकार की नीति यही दिखती जग में नित।
फूल झड़ें, फल पकें, गिरें नवकलियों के हित।
किरणों को दे आब तपन में जल खो जाना।
देखा मैंने सदा ओस का भी खो जाना।

(७)

तो मैं ही क्यों आज निराली हो जाऊँगी!
जननी होकर क्यों न घनी पीड़ा पाऊँगी!
रोना लूँगी आप तुम्हें दूँगी मैं गाना।
यही चला जा रहा जगत में देना-पाना।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

पिता का नाम	पंडित शिवरत्नलाल वाजपेयी
जन्म-संवत्	१९५६
जन्म-स्थान	मंगलपुर (कानपुर)
शिक्षा	हिन्दी, अँगरेज़ी, बँगला, उर्दू
रचनाएँ	उपन्यास : प्रेम-पथ, अनाथ-पत्नी, त्यागमयी, मीठी चुटकी, लालिमा, पतिता की साधना, प्रेम-निर्वाह, पिपासा, अज्ञात की गोद, तीन बहनें। कथा-संग्रह : मधुपर्क, दीप-मालिका, हिलोर और पुष्करिणी। इनके अतिरिक्त लगभग सौ कहानियाँ और हैं, जिनके संग्रह निकलने को हैं। नाटिका : छलना। सम्पादन : नवीन पद्य-संग्रह। फुटकर : आकाश-पाताल की बातें, बालकों का शिष्टाचार, बालक प्रहलाद, बालक ध्रुव, साधारण नागरिक-शिक्षा, हमारा देश।
वर्तमान जीवन	इलाहाबाद में स्वतन्त्र-रूप से रहकर साहित्य-सृजन।
विशेष	कहानियों के सिद्ध लेखक हैं। कला के स्वरूप को भी देखे हुये हैं।

पनघट पर

(१)

तुम मिलीं और इस पनघट पर, दो भरी गगरियाँ लिए चलीं।
मैं प्यासा ही रह गया और, तुम छलक-लहरियाँ लिए चलीं।
विश्रान्त पथिक मैं परदेसी, तुम कल्पलता इन्द्राणी-सी।
मैं मूक चित्रवत् खड़ा रहा, तुम चलीं चटुल रति-रानी-सी।

(२)

प्रत्येक तुम्हारा पद-क्षेप, मेरा विलोल पागलपन था।
मैं चेतन हूँ कि अचेतन हूँ, इस विभ्रम में मेरा मन था।
यह मन भी एक नवल शिशु है, अतिशय चञ्चल अस्थिर प्रतिपल।
जिसको पाया उसको पकड़ा, फिर चखने को भी चरम विकल।

(३)

प्रत्येक खिलौना उसका है, कोई हो, चाहे जिसका हो।
वह यही चाहता है सदैव, जिसको चाहे, वह उसका हो।
यद्यपि मानवता का विकास, अब आगे बहुत चला आया;
तो भी वह मेरे इस मन की शिशुता को कहाँ बदल पाया!

(४)

तिस पर भी मैं था तृषा-तप्त, तुम सुधामयी अभिरामा थीं।
मैं बूँद-बूँद का चातक था, तुम स्वाति-सघन घनश्यामा थीं।
प्रत्येक तुम्हारा पाद-पद्म, ज्यों-ज्यों आगे को पड़ता था;
मैं मन ही मन प्रार्थना एक करने को आगे बढ़ता था।

(५)

ठहरो, सुन लो, मैं बात एक तुमसे ही कहने को आया।
अबतक मैंने उसके कहने का कहीं नहीं अवसर पाया।

मैं आदि-काल का तृषित पुरुष, तुम प्रकृति-रूपिणी माया हो।
जिस उपाख्यान का उपोद्घात मैं, तुम उसकी ही काया हो।

(६)

मैं उस तरुवर का जीवन हूँ, जिसकी तुम शीतल छाया हो।
भर दो ऐसी अञ्जलि जिस भर, प्रतिबिम्ब तुम्हारा आया हो।
मैं बूँद-बूँद इस भाँति पिऊँ, अञ्जलि के जल का अन्त न हो।
मैं निशिदिन पीता रहूँ, किन्तु, तृष्णा का प्रकट दिगन्त न हो।

(७)

तुम अजर स्रोत-रूपिणी सजनि, कुछ अञ्जलियों की कौन बात?
मैं चिर अतीत से मुखर मुक्त इस जगजीवन का हूँ प्रपात।
मैं कर्म-लेखका सञ्चालक, उद्वेग-रहित, संलग्न-राग।
उल्लास-रूप, परिहास-रूप, मैं कुसुम-कुञ्ज का हूँ पराग।

(८)

मैं निशा-उषा-संश्लिष्ट अनिल, मैं मानस की हूँ लहर लोल।
मैं सुख-दुख के निर्द्वन्द्व-द्वन्द के पल-पल में करता कलोल।
मैं प्रथम मिलन के अन्तर्गत, प्रस्फुरण विमल मुसकानों का।
मैं हूँ प्रलयङ्कर विस्फुलिंग, कुछ शिथिल हुये अरमानों का।

(९)

मैं दैन्य-दुर्दशा की तड़पन, मैं दुर्बलता का नाश-काल।
मैं आदि-शक्ति सौभाग्य-चिन्ह-सा लाल-लाल वह बिन्दु-भाल।
मित्रताहीन, शत्रुताहीन भावों का मैं हूँ मिलन-रूप।
मैं आदिकाल से अनाघ्रात हूँ, सुमन और निर्धूम धूप।

(१०)

मैं प्रेम-रूप कामना-कुञ्ज का एकमात्र अविकल निस्वन।
पति-दर्शन तक से चिरवञ्चित नवविधवाओं का पागलपन।

तुम चली गयी यह भी न देख, है खड़ा हुआ यह पथिक कौन ?
इकटक होकर जो देख रहा, कुछ कहने को है, किन्तु मौन।

(११)

सोचो कि तुम्हारा पग-चालन था राजहंसिनी के समान।
पर तुम भारानत हो चल दीं, द्रुवगति का धारणकर विधान।
इस पनघट के पङ्किल पथ का कुछ मर्म तो तुम्हें ज्ञात न था।
फिसलन से बचने का प्रकार, अभिसार और प्रणिपात न था।

(१२)

तुम गिरीं, और तब साथ-साथ वे अमृत-गगरियाँ गयीं फूट।
तुम अस्त-व्यस्त हो गयीं और चिरसञ्चित चुरियाँ गयीं फूट।
जो सुधा-धार इस जीवन को अक्षय अविनश्वर कर जाती।
वह हाय ! पङ्क में मिल-मिलकर मेरी तृष्णा है झुलसाती।

(११)

तुम रिक्त-हस्त, औ क्षतध्वस्त, होकर चल दीं चिरखिन्न मौन।
अब निकट देखकर बोल उठी—बतलाओ तुम हो पथिक कौन ?
मैं क्या-क्या हूँ, क्या बतलाऊँ, जब बतलाने की नहीं बात ;
मैं प्यासा ही मर गया तुम्हारा देख अकल्पित घट-निपात।

———

अन्तर्लक्ष्मी से

मेरे स्वप्नों से हास न कर।
अभिशापों और अरिष्टों में चिर-विगलित मैं कङ्काल-मात्र।
मैं तीर्थ-सलिल-संयोग-भ्रष्ट भू-लुण्ठित एक मृणाल-मात्र।
तू लोल लालसा-सी अमन्द, तितली रानी तू मुक्त छन्द।

इस महाचक्र के नर्तन में तेरे संस्मरण-कपाट बन्द ।
मेरे आँसूकी बूँदों में तू शबनम का आभास न कर ।—
मेरे स्वप्नों से हास न कर !

यह मानव अपनी गति के प्रति कितना रहता है सावधान ।
तो भी वह अगले क्षण के प्रति कितना बेबस, कितना अजान ।
तू मृग-मरीचिका बनकर जो इस अभिनय में करती नर्तन ।—
ले देख, बन गया वह मेरे अणु-अणु तक का वृश्चिक-दंशन ।
मैं मौन खड़ा सब देख रहा, अब तो यह कौतुक-रास न कर ।
मेरे स्वप्नों से हास न कर ।

नारी, जो निज अभिभावक की आँखों से अविकल गई उतर ।
अपनी अबाध मानवता में जिसका पग किञ्चित् गया उधर ।
जिसके आँसू भिक्षुक बनकर हैं क्षमा चाहते जोड़ हाथ ।
जिसके शरीरका लोम-लोम कहता है—ठुकराओ न नाथ !
तो भी जिसको अपनाने को तैयार नहीं होते—पिशाच !
कशाघात से अब उनपर इच्छानुसार अनुशासन कर ।
मेरे स्वप्नों से हास न कर ।

वह नारी, जो है परित्यक्त—जिसके समक्ष है अन्धकार ।
जिसके भीतर तूफान जगे—मृगलोचन उगल रहे अँगार !
जिसके उच्छ्वास, अरे सचमुच, नागिन के-से हैं फूत्कार ;
जिसकी प्रतिहिंसा की ज्वाला से जगत् कर रहा चीत्कार ।
तू उस सिंहिन-सी नारी का जो पावन कर ले अन्तस्तल,
तो फिर जर्जर आदर्शों से तू कुछ भी खेद-प्रकाश न कर ।
मेरे स्वप्नों से हास न कर ।

नन्हें, छोटे, मृगछौने-से बच्चे जो फिरते हैं अनाथ ।
जिनके तन पर हैं वस्त्र नहीं, सिर पर रहनेवाले न हाथ ।

पय पीने को है धरा कहाँ ?—उच्छिष्ट अन्न तक को अधीर !
चाहे जिस क्षण वे मर जायें, पर इस जग को कुछ भी न पीर।
तू जननी बनकर उनके हित जो फैला सकती है न अङ्क।
तो मेरे शान्ति-निकेतन से तू अब कोई भी आश न कर।
मेरे स्वप्नों से हास न कर।

जा रहा देख लो वह मानव, नङ्गा होकर निज तन-मन से।
चुपचाप या कि कुछ बातचीत-सी करता अपने जीवन से।
जाने कितने दिन से उसने अपना अपनाया पागलपन।
जाने कितने वत्सर बीते—बीते कितने फागुन, सावन।
कब से है सूना पड़ा हुआ उसके अतीत का शयन-कक्ष।
जाने कब से है धधक रहा उसका यह ज्वालामुखी वक्ष।
तू जग-जगकर अब तो उसकी संस्मृतियों से परिहास न कर।
मेरे स्वप्नों से हास न कर।

अनूप शर्मा

पिता का नाम	पंडित बदरीप्रसाद त्रिपाठी
जन्म-संवत्	१९५७
जन्म-स्थान	नवीनगर (सीतापुर)
शिक्षा	एम० ए०, एल० टी०
रचनायें	सिद्धार्थ, सुनाल, कुसुमाञ्जलि
वर्तमान जीवन	सीतामऊ के हाईस्कूल में हेडमास्टर हैं।
विशेष	वीररस और घनाक्षरी छंद के अच्छे कवि हैं। इन्होंने प्रिय-प्रवास का अनुसरण करते हुये सिद्धार्थ काव्य लिखा है।

सिद्धार्थ से

कैसे कैसे सकल जग के घोर सन्ताप नाना,
सारे प्राणी सुलभ करते क्लेश की पात्रता हैं।
बाधाओं से व्यथित बनते वृद्ध होते दुखी हैं,
आती मृत्यु स्थगित करती देह की प्रक्रिया भी।

देखा मैंने सब जगत में व्याधि का राज्य फैला,
प्रासादों में सुख न मिलता, सार-शून्या धरा है,
तो भी कैसी अहमितिकरी वृत्तियाँ हैं नरों की,
काँटे भू में, उपल पथ में, हाय! फैले हुये हैं।

प्राची में हो उदित रवि भी साँझ को अस्त होता,
पाता है जो सुख, दुख वही अन्त में झेलता है।
संयोगी भी, अहह! सहता विप्रयुक्ता दशा है
देखो, कैसा क्रम चल रहा जन्म का मृत्यु का भी।

देही जाता वपुप तज के चन्द्र के लोक को है,
पीछे आके विधु-किरण से धान्य को प्राप्त होता।
योंही प्राणी पुनरपि वही जन्म लेता धरा में,
देखो, कैसा क्रम चल रहा विश्व के चक्र का है।

संभोगों ने निखिल जग में दुन्दुभी-सी बजा दी,
दौड़े सारे युवक-युवती शब्द में व्यस्त होते,
जैसे वीणा-स्वर हरिण को वागुरा में फँसाता,
वैसे ही, हा! नर फस रहे काल के जाल में हैं।

देखी मैंने परम प्रबला घोर माया दुरत्या
प्रासादों में रमण करती राज-सिंहासनों पै,

बाला के भी मुख-विवर में कूकती कोकिला-सी,
रक्ता हो जो नयन-सुखदा राजती है सुरा में।

देखो प्राणी सब पड़ रहे काल के गाल में हैं,
मैं भी वामा-दृढ़ निगड़ में बद्ध पाता स्वयं को,
मेरी भी तो गति वह रही एक ऐसी नदी-सी,
जो लिप्ता हो रवि-किरण से शान्ति से जा रही हो।

सौभाग्यों की अचल महिमा, मित्र, देखी निराली,
प्राणी पाता परम सुख जो दुःख का मूल होता,
तो भी, देखो, मनुज कलि की कामना में लगा है,
माया क्या ही अकथ गति है और चेतोहरा है।

—:—:—

वंशीधर विद्यालङ्कार

पिता का नाम	श्रीरोशनलालजी
जन्म-संवत्	१९५७ (२२ जून, १९००)
जन्म-स्थान	देरा ग़ाज़ीखाँ
शिक्षा	गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक (१९२२ में)
रचनायें	मेरे फूल, साहित्य, देववन
वर्तमान जीवन	उस्मानिया युनिवर्सिटी, हैदराबाद (दक्षिण) में हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक हैं।
विशेष	संस्कृत और हिन्दी दोनों में रचना करते हैं।

सिताज के फूलों में

(यह कविता सुदूर चकराता-पर्वतीय प्रदेश के देववन नामक स्थान में लिखी गई है।)

(१)

इन फूलों की इन आँखों की, है आपस में बँधी टकटकी।
ये ले बैठे निज सुन्दरता, मैं बैठा लेकर दिल अपना।
देख रहे मुझको ये जैसे, देख रहा इनको मैं वैसे।
हूँ पहचान रहा इनको मैं, ये मुझको पहचान रहे हैं।

(२)

इनका मेरा, मेरा इनका, कोई है क्या नाता पिछला।
होकर जिससे अनजाने भी, बढ़कर लगते जानों से भी।
एक घड़ी-भर यदि झूलें ये, तो मेरा दिल घंटों झूले।
इनकी मुसकाहट मामूली, पूर्ण खुशी है मेरे दिल की।

(३)

छोटी-छोटी पंखड़ियों का, खुलकर आपस में मिल जाना,
अचरज-भरी बना है देता, एक नई फूलों की दुनिया।
गुन-गुन करती मधु की मक्खी, दे जा वह रस कुछ मुझको भी,
हो मतवाले जिसके मद में, फूल सदा हँसते रहते हैं।

(४)

धागे-जैसी पतली डाली, तू पत्तों से बिलकुल खाली।
एक फूल से तूने पाली, दुनिया की सारी खुशहाली।
बरसे पानी, बरसे ओला, चले हवा का प्रबल झकोला।
पर इनकी मुस्कान वही हो, अदा वही हो, शान वही हो।

जीती मौत

(१)

पहले मैं और मेरे प्यारे, एक ही दुनिया में रहते थे।
जबसे यह जग उनसे छूटा, बनी निराली मेरी दुनिया।
जिस जीवन पर नाज़ मुझे था, अब है वह जीती मौत बना॥

(२)

दुनिया सारी बसी हुई है, दुनिया मेरी उजड़ गई है।
फूल तो कोमल बिखर चुका है, काँटा मेरे लिये बचा है।
चले गये वे जो थे अपने, अब उनके हैं रह गये सपने॥

(३)

काम है मेरा बैठे रहना, उनकी बातें करते रहना।
हरदम, हर पल उन्हें सोचना, और मुझे है अब क्या करना।
दुनिया मेरी, याद है उनकी, मैं उसमें ही भूली रहती॥

(४)

होना अलग था, हम हो जाते, ना मैं रहती, ना रहते वे।
अलग हुए हैं वे भी कैसे, पलभर एक अलग नहिं होते।
जीती थी पहले उनमें मैं, अब प्रियतम मुझमें जीते हैं॥

(५)

जा न सके वे जग से जाकर, रह न सकी मैं जग में आकर।
भूल के मुझको नहिं वे भूले, छुटकर मुझसे नहिं वे छूटे।
मरकर भी वे सके नहीं मर, जी न सकी मैं जीती रहकर॥

(६)

रोती हूँ नयनों से फूटे, तड़पा करती दिल से टूटे।
मरी हुई अब मैं जीती हूँ, उनके साँस लिया करती हूँ।
केवल मेरी दृष्टि उधर है, मेरा प्यारा गया जिधर है॥

फूलों का दरबार

(१)

वन-फूलों का दरबार लगा, जैसा न कभी देखा न सुना,
अपना कोई उत्सव करने, परिवार मिला क्या फूलों का ?
इतने फूलों का बाग़ों ने, सपने में भी न लिया सपना,
हर डाली लेकर फूल खड़ी, इस मेले में अपना-अपना ।

(२)

इस घाटी के नभ मँडतरा, क्या कोई दल है तारों का !
रँगरलियों में जो मस्त हुआ, है आँखमिचौनी खेल रहा ?
सिर पर डाली के अटकी हैं, या बूँदें मोटी वर्षा की,
वन-लक्ष्मी की मुसकाहट से, मिलकर जो झलकें फूलों-सी ।

(३)

पहले न इन्हें जब देखा था, तब तो हमने नहिं देखा था,
जब देख लिया तब भी लगता, जैसे सब हो अनदेखा-सा ।
इन आँखों ने आँखें खोले, देखा, देखा, देखा कितना !
जितना देखा लगता उतना, हमसे कुछ भी लखते न बना ।

(४)

तितली लेकर अपनी टोली, क्या मस्त हुईं उड़ती फिरतीं,
इस डाली से उस डाली पर, फूलों की हैं गिरतीं पड़तीं ।
जब पंख समेटे फूलों पर, चुपचाप ज़रा जा बैठें ये,
तब लगता है ऐसा मानों, ज्यों फूलों पर हों फूल उगे ।

गुलाबरत्न वाजपेयी

पिता का नाम	
जन्म-संवत्	१९५८
जन्म-स्थान	उन्नाव
शिक्षा	स्कूल और कालेज में
रचनायें	चित्र-काव्य, लतिका, मृत्युञ्जय, मल्लिका, कर्म-रेखा आदि
वर्तमान जीवन	कलकत्ते में सिनेमा कम्पनी में काम करते हैं।
विशेष	इधर बहुत समय से लिखना बन्द कर रक्खा है।

मैं क्या हूँ ?

(१)

मैं हूँ न देव, दानव, दिनेश, गन्धर्व, अमर, किन्नर अभंग;
मैं दीप-शिखा हूँ मंद-मंद, जिसमें जलते अगणित पतंग।
मैं वह भय हूँ जिसको विलोक;
काँपती धरा, भरता निर्भय, कर लेता बन्द नयन त्रिलोक।

(२)

मैं वह रण हूँ, जिसमें अनेक नाचते प्रेत कर अट्टहास;
मैं चन्द्रहास की धार, मृत्यु, मैं हूँ तृष्णा की प्रबल प्यास।
मैं हूँ पतंग मद-पूर्ण चाल;
मैं सावधान, मैं इन्द्र-वज्र, मैं ज़हर उगलता हुआ व्याल।

(३)

मैं हूँ भीषण एकान्तवास, मैं बड़वानल, मैं हूँ अनन्त;
मैं भुवन-भास्कर, विश्व-शत्रु, मैं हूँ निदाघ, मैं हूँ दिगन्त।

मैं वन-तरुवर-दल-अथ बबूल;
मैं शिवलोचन, उन्माद-नाद, मैं रण-ताण्डव, मैं हर-त्रिशूल।

(४)

मैं गुप्त-गुफा, मैं कंटक वन, मैं प्रबल वह्नि, द्रुतगति समीर,
मैं हूँ न अमृत, मैं कालकूट, मैं हूँ विधवा की छिपी पीर।
मैं हूँ धवलागिरि-शिखर एक;
मैं पद्माकर, केशव न कभी, भूषण-कविता की एक टेक।

(५)

मैं वीर शिवाजी का बल हूँ, मैं छत्रशाल की हूँ नस-नस;
मैं रुद्राणी का रौद्र कोप, मैं कमलासन का एक दिवस।
मैं यम हूँ, मैं केतकी-पत्र;
मैं श्मशान की ज्वलित चिता, मैं विष्णु-चक्र, मैं अटल छत्र।

(६)

मैं भक्त भगीरथ का उपास्य, मैं अरि-मर्दन, मैं हूँ विरोध;
मैं हूँ विभूति, मैं हूँ विलाप, मैं दुर्वासा का तेज, क्रोध।
सीता सुहाग, मैं प्रलय-गीत;
मैं दमयंती की तीव्र दृष्टि, मैं सावित्री हठ, मैं अतीत।

(७)

मंथरा-चाल, केकयी-द्वेष, मैं श्रवण-पिता-कृत प्रबल शाप;
मैं हूँ दशरथ की व्यथा मौन, मैं रामचन्द्र का विपिन-वास।
मैं अंगद-पद हूँ अटल-अचल;
मैं मेघनाद की कठिन शक्ति, मैं हूँ लक्ष्मण-स्वभाव चंचल।

(८)

मैं हूँ पाण्डव दल-बल संचित, मैं हूँ पांचाली का दुकूल;
मैं दुर्योधन-अन्तस्थल का हूँ एक भयंकर गुप्त शूल।

मैं भीष्म वीर का प्रण कठोर;
मैं हूँ खौलता हुआ शोणित, मैं कवि-मानस-सागर-हिलोर।

(९)

मैं हूँ छोटा-सा एक मंत्र, मैं कामदेव का अन्ध राग;
मैं शक्ति देवि का हूँ इंगित, मैं बौद्ध धर्म, मैं हूँ विराग।
मैं हूँ सागर, मैं प्रबल ज्वार;
मैं हूँ निशीथ अभिसार अभय, मैं हूँ अमूल्य, मैं अलंकार।

(१०)

मैं रक्ताञ्जलि, मैं हूँ अटूट, मैं हूँ अदभ्र विभ्राट ठाट;
मैं अद्वितीय, मैं हूँ अगाध, मैं हूँ अनन्य, अनुभव विराट।
मैं हूँ उल्का, मैं उष्ण-देश;
मैं नर-कंकाल, अजान कटक, मैं काल-रात्रि, मैं काल-वेष।

(११)

मैं हूँ दरिद्र-दुख गर्म अश्रु, मैं प्रतिहिन्सा-प्रण, प्रलय-नाद;
मैं क्रूर केसरी अभय मत्त, मैं हूँ नटखट, मैं हूँ फ़साद।
मैं हूँ न सरल साहित्य-जोश;
मैं महा कठिन, मैं महाजटिल, मैं महाशब्द, संसार-कोष।

(१२)

मैं रक्त-कुण्ड, मैं धुआँधार, मैं ऋषि-मुनियों का सफल होम;
मैं हूँ विप्लव मैं व्याधि-व्यूह, मैं हूँ रोमांचित रोम रोम।
मैं हूँ नवीन आदर्श हर्ष;
मैं हूँ विरही काँपता एक, मैं हूँ भविष्य भीषण विमर्श।

श्रीनाथसिंह

पिता का नाम	ठाकुर कामतासिंह
जन्म-संवत्	१९५८
जन्म-स्थान	मानपुर (इलाहाबाद)
रचनायें—	यौवन, सौन्दर्य और प्रेम; पाथेयिका; नयनतारा; उलझन; जागरण; तरुण-तपस्विनी; एकाकिनी; आविष्कारों की कथा; पृथ्वी की कहानी; परी-देश की सैर; बाल-कवितावली; चूड़ियाँ; क्षमा इत्यादि
वर्तमान जीवन	सम्पादक—'हल'—१९३७ दिसम्बर से अबतक
विशेष	,, 'बाल-सखा'—सन् १९२७ से अबतक
	,, 'सरस्वती'—१९३३ से १९३८ तक
	हिन्दी में बालकों के लिये ठाकुर साहब अपने समकक्ष एक ही कवि और एक ही लेखक हैं।

कोयल

तू बोल, प्रेम के बोल, बोल।
अभिलाषा के सब द्वार खोल।
उड़ करके स्वप्नों के वन से
रस लेकर जाग्रत जीवन से
झंकृत करके जग कानन को
अपनी स्वर-लहरी घोल, घोल।
तू बोल, प्रेम के बोल, बोल।
जकड़े जीवन-तरु को अगणित
चिन्ता के पल्लव शुष्क अमित
खा गिरे उमङ्गों का झोंका

तू गा डालों पर डोल, डोल।
तू बोल, प्रेम के बोल, बोल।

इस उजड़े उपवन में वसन्त
सरसावे फिर सुखमा अनन्त
हो टूक-टूक दुख-दर्द कूक,
वसुधा को ले-ले मोल, मोल।
तू बोल, प्रेम के बोल, बोल।

पथ-भ्रष्ट

हृदय के अन्धकार में एक,
निराशा का उठकर तूफ़ान।
बुझाकर मेरा दीप-विवेक,
मुझे पथ पर करता हैरान।

निकल उर-अन्तर से उच्छ्वास,
दबा देती जीवन के चित्र।
दूर अति हो जाता है पास,
अपरिचित-से जँचते हैं मित्र।

उड़ गया जीवन से उत्साह,
हँसे यदि हँसता है संसार।
उसे क्यों होगी यश की चाह,
न जिसको मिला कहीं भी प्यार।

'भूख' ने उस पर छेड़ा ख़ूब,
'प्यास' ने और किया बेहाल।
हुआ क्या यदि मैं जग से ऊब,
चल पड़ा थोड़ी टेढ़ी चाल॥

हो शंखनाद या हो अज़ान !

दोनों को भूख सताती है हिन्दू हो या हो मुसलमान।
दोनों पर आफ़त आती है हिन्दू हो या हो मुसलमान।
दोनों मरते हैं एक तरह, दोनों जीते हैं एक तरह,
फिर इस झगड़े का मतलब क्या ? हम हिन्दू हैं तुम मुसलमान॥

दोनों हैं फँसे ग़ुलामी में दोनों काले कहलाते हैं।
अपमान मान सब एक तरह दोनों विदेश में पाते हैं।
दोनों को जिसमें रहना है दो देश न वह हिन्दोस्तान,
फिर इस झगड़े का मतलब क्या ? हम हिन्दू हैं तुम मुसलमान॥

मंदिर जा सकता है तोड़ा मसजिद जा सकती है तोड़ी।
दोनों ही हैं मिट्टी पत्थर, समझो. हो अक़्ल अगर थोड़ी।
यदि आग बढ़ेगी दङ्गे की दोनों ही होंगे परेशान,
फिर इस झगड़े का मतलब क्या ? हम हिन्दू हैं तुम मुसलमान॥

जिस राहे-ख़ुदा में लड़ते हैं उसमें लड़ना है सख़्त मना।
ईश्वर को जिसने जान लिया उसको क्या ग़ैर व क्या अपना
यदि हिन्दू सच्चे हिन्दू हैं यदि मुसलमान हैं मुसलमान,
तो प्रभु को शीश झुका देंगे, हो शंखनाद या हो अज़ान॥

मोहनलाल महतो

पिता का नाम	पंडित श्यामलाल महतो
जन्म-संवत्	१९५९
जन्म-स्थान	ऊपरडीह (गया)
शिक्षा	हिन्दी, संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी
रचनायें	कविता : निर्माल्य, एकतारा, कल्पना । गद्य-काव्य : धुँधले चित्र । कहानियाँ : रेखा, सलिला । उपन्यास : आवारा । सम्पादन : कला का विवेचन, साहित्य-समन्वय । संस्मरण : सप्त सुमन ।
वर्तमान जीवन	गया के सुप्रसिद्ध पंडा हैं ।
विशेष	महतोजी कभी स्कूल में नहीं गये । उनका ज्ञान उनका अपना ही उपार्जित धन है । अच्छे चित्रकार भी हैं । कवि भी हैं और कसरती भी, यह खास विशेषता है ।

श्मशान

(१)

कितने अरमान के फूल यहाँ मुरझाकर आँसुओं से झरते हैं,
बिखरे हो कहीं पर लाल यहाँ सब दामन मोतियों से भरते हैं,
जितना कुछ भार हो अन्तर का कर भस्म उसे पल में हरते हैं,
कितनों के जलाकर भाग सोहाग सदा यह तो जलते रहते हैं।

(२)

जलती हैं यहाँ पर नित्य चिताएँ, बयार, न आकर खाक उड़ाना,
चुपचाप पड़े दिलदार अनेक हैं कोयल, भूल न शोर मचाना,

कुछ हैं दिल आधे जले, सुन कूक, न हो उनका हरा घाव पुराना,
जिसमें हो वियोग की आग भरी ऋतुराज, वही यहाँ फूल खिलाना।

(३)

जिनका सदा काम हँसाना रहा, जब हंस उड़ा सिर पीट के रोते,
बस लूट लिये गये काल के हाथ किसी दिन जो भव-रक्षक होते,
जग को अपनाकर धन्य हुये वही आज चले अपनापन खोते,
जिन्हें फूल की पंखुड़ी थी गड़ती वह आग की सेज बिछाकर सोते।

(४)

कितनी है भरी करुणा की कथा, बुझता हुआ क्षीण-प्रकाश भरा है,
कितना है भरा जगजीवन प्यार, मनोहर-योवन-हास भरा है,
मुरझा जो गईं खिल ग्रीषम में उन पंखुरियों का विलास भरा है,
इस खाक में आह भरी कितनी है, सखे, कितना इतिहास भरा है।

पंछी

साईं का पंछी बोले रे, साईं का पंछी बोले।
साजन का है बाग अनूठा
सब कुछ सच्चा सब कुछ झूठा
रीझा सो पछताता लौटा
पाया मीठा फल जो रूठा
खुला खेल है, देखे, जब तू घूँघट का पट खोले रे।
साईं का पंछी बोले।

चटक-चाँदनी चार दिना की
सीतल रजनी थोड़ी बाकी
चुन ले सुमन, सजा ले डाली
प्याली भर ले शेष-सुरा की
तेरी कथा कहेंगे कल पैरों के फूट फफोले रे।
साईं का पंछी बोले।

आशा और पंथ का मारा
हाट हाट घूमा बनजारा
लाद-लादकर जीवन बीता
जीत-जीतकर सरबस हारा
अब भी रहे लाभ जो मूरख, मन से मन को तोले रे।
साईं का पंछी बोले।

———

इलाचंद्र जोशी

पिता का नाम	पंडित चन्द्रवल्लभ जोशी
जन्म-संवत्	१६५६
जन्म-स्थान	अलमोड़ा
रचनायें	घृणामयी (उपन्यास), विजनवती (कविता)। (सन्यासी, परदेशी—उपन्यास और कहानियाँ अप्रकाशित)
वर्तमान जीवन	साहित्य-सृजन
विशेष	कुछ समय से प्रयाग में रहने लगे हैं।

नृत्य

नाचो ! नाचो ! महाकाल ! तुम खर-मध्याह्न गगन में,
सूर्योज्वल अंगन में।
होकर गर्वित अपने दीप्त विजय में—
नाचो रुद्र समुद्र-ताल में, निखिल सृष्टि के लय में।
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! उन्मद रस से पागल—
उच्छल-यौवन-चञ्चल ;
पर यह भोली-भाली प्यारी निपट नवेली ललना
सरल लासमय तरल दृगों में छल का निश्छल छलना
पर्वत-पथ के विजन प्रान्त में सुन कपोत-कुल-कूजन
मंद, हंस-गति से जाती है करने शिव का पूजन ;
सरल मधुर विश्वास भरा है तरुण, करुण नयनों में ,
लज्जा-रक्तिम लाभ खिला है हस्तस्थित सुमनों में ;
स्नेह-प्रेम-रस प्रतिपल उसके मधु-मन में सिंचित है ,
निखिल चक्र की वक्र प्रगति से नहीं तनिक परिचित है ;
ब्रह्म-सत्य-सम निश्चित समझे बैठी है निज यौवन ,
परम-तत्त्व-सम नित्य समझती है निज पति का जीवन ;
मोहाच्छन्न हृदय को उसके मैं कैसे समझाऊँ ?
चिर-जीवन की तृष्णा उसकी कैसे हाय, बुझाऊँ !
नाचो ! नाचो ! अमानिशा के महाकाश-मंडल में ;
लयंकरी लीला दिखला पल-पल में।
रुद्रकाल ! तुम करो विघूर्णित नर्तन।
अन्ध सृष्टि के रंध्र-रंध्र में जगे बन्धहर चेतन।
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! वसन कराल पहनकर—

अगणित सूर्यों की माला की ज्वाला नित्य वहनकर ;
पर यह देखो, करुणा-विह्वल माता विकल शयन में
घन-निद्रारत, परम दुलारे शिशु के कोमल तन में
फेर-फेरकर हस्त पुलकप्रद, स्नेह-वेदना-व्याकुल—
रह-रह होती है अविजानित आशङ्का से आकुल ;
उसकी यह उद्दाम वेदना कैसे हाय भुलाऊँ ?
किस माया से उसका शंकित, कम्पित वक्ष सुलाऊँ ?

नाचो ! नाचो ! भैरव !

निखिल नियम के रोम-रोम में मचे व्योममय तांडव ,
गर्जित होओ सुदृढ़ वज्र-सम मेरे नम्र हृदय में ,
हँसो ठटाकर अट्टहास से तुङ्ग तुषारालय में ।
हिम-खंडों के भीम पतन से, वज्रमयी क्रीड़ा से
तुम होते विक्षोभित जीवन-मृत्युमयी पीड़ा से ;
पर यह देखो, निखिल विश्व के मानव आर्त्त रुदन से
किस निष्ठुर से भिक्षा चाह रहे हैं शीर्ण वदन से !
वज्रकोप से, रुद्र-शाप से जन्मावधि हैं पीड़ित ,
कठिन नियम के पेषण से हैं निशिदिन त्रस्त, विताड़ित ;
नहीं शक्ति जीने की उनमें, नहीं चाह मरने की ,
ज्ञानहीन पशु-सम चिन्ता है क्षुधा शांत करने की ;
उनके दुर्बल, भीरु हृदय को कैसे सबल बनाऊँ ?
मस्तक ऊँचा करने का क्या जीवन-मंत्र सुनाऊँ ?

भगवतीचरण वर्मा

पिता का नाम	बाबू देवीचरण वर्मा
जन्म-संवत्	१९६०
जन्म स्थान	शफीपुर (उन्नाव)
रचनायें	कविता : मधुकण, प्रेम-संगीत, मानव । उपन्यास : चित्रलेखा, तीन वर्ष । कहानियाँ : इन्स्टालमेंट, दो बाँके ।
वर्तमान जीवन	कलकत्ते से एक साहित्यिक पत्र निकालने की चिन्ता में हैं ।
विशेष	वर्माजी हिन्दी के प्रगति-शील कवि हैं । वर्णनात्मक कविता लिखने में सिद्धहस्त हैं ।

भैंसा-गाड़ी

(१)

'चरमर-चरमर-चूँ - चरर-मरर'
जा रही चली भैंसा - गाड़ी

गति के पागलपन से प्रेरित चलती रहती संसृति महान,
सागर पर चलते हैं जहाज़, अम्बर पर चलते वायुयान,
भूतल के कोने - कोने में रेलों - ट्रामोंका जाल बिछा;
हैं दौड़ रहीं मोटरें, बसें लेकर मानवका वृहत - ज्ञान ।

पर इस प्रदेशमें, जहाँ नहीं उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें,
वे भूखे, अधखाए किसान भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे, चिथड़े पहने माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ, विवशता नृत्य कर रही धूल उड़ाती हैं राहें,

बीते युगकी परछाहीं-सी, बीते युगका इतिहास लिए,
'कल' के उन तन्द्रिल सपनों में, 'अब' का निर्दय उपहास लिए,
गतिमें किन सदियोंकी जड़ता ! मनमें किस स्थिरता की ममता !
अपनी जर्जर-सी छातीमें अपना जर्जर विश्वास लिए।
मर-मर कर फिर मिटनेका स्वर, कँप-कँप उठते जिसके स्तर-स्तर,
हिलती-डुलती, हँफती-कँपती, कुछ रुक-रुककर, कुछ सिहर-सिहर,
'चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर'
जा रही चली भैंसा-गाड़ी

(२)

उस ओर क्षितिजके कुछ आगे कुछ पाँच कोसकी दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम;
जिसमें भर देती निज धुँधलापन असफलता की सुबह-शाम;
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम;
पैदा होना, फिर मर जाना, यह है लोगोंका एक काम।
था वहीं कटा दो दिन पहले
गेहूँ का छोटा एक खेत
तुम सुख-सुषमाके लाल तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक।
तुमने देखी हैं मान-भरी उच्छृङ्खल सुन्दरियाँ अनेक।
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट, ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता।
तुमने देखा है क्या ? बोलो, हिलता-डुलता कंकाल एक ?
वह था उसका ही खेत जिसे उसने उन पिछले चार-माह
अपने शोणितको सुखा-सुखा, भर-भरकर अपनी विसुध आह,
तैयार किया था; औ' घरमें थी रही रुग्ण पत्नी कराह।

उसके वे बच्चे तीन जिन्हें मा-बापका मिला प्यार न था,
जो थे जीवनके व्यंग किन्तु मरनेका भी अधिकार न था।

थे क्षुधा-ग्रस्त बिलबिला रहे मानो वे मोरी के कीड़े,
वे निपट घिनौने, महापतित बौने, कुरूप, टेढ़े-मेढ़े।
उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा आहों से, हाहाकारों से;
फाकों से लड़-लड़कर प्रतिदिन, घुट-घुटकर अत्याचारोंसे

तैयार किया था उसने ही
अपना छोटा-सा एक खेत

बीबी-बच्चोंसे छीन, बीन दाना-दाना अपने में भर,
भूखे तड़पें या मरें, भरों का तो भरना है उसको घर!
धनकी दानवता से पीड़ित, कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर

'चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर'
जा रही चली भैंसा-गाड़ी

(३)

है बीस कोस पर एक नगर उस एक नगर में एक हाट
जिसमें मानवकी दानवता फैलाए है निज राज-पाट,
साहूकारों के परदे में हैं जहाँ चोर औ' गिरहकाट,
है अभिशापों से घिरा जहाँ पशुता का व्यापक ठाट-बाट!

उसमें चाँदीके टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से तो चलता है सब राज-काज।
वह राज-काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्योंकी नींव पड़ी है तिल-तिल मिटनेवालों पर।

वे व्यापारी, वे ज़मींदार जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट - निरामिष सूदखोर पीते मनुष्यका उष्ण रक्त।

इस राज-काज के वही स्तम्भ, उनकी पृथ्वी, उनका ही धन;
ये ऐश और आराम उन्हींके और उन्हीं के स्वर्ग सदन!
उस बड़े नगर का राग - रंग हँस रहा निरन्तर पागल - सा
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन!

चाँदीके टुकड़ों में विलास, चाँदी के टुकड़े में है बल;
इन चाँदी के ही टुकड़ों में सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल।
इन चाँदी के ही टुकड़ों में है मानवका अस्तित्व विफल।

चाँदी के टुकड़ों को लेने प्रतिदिन पिसकर भूखों मरकर,
कैसा गाड़ीपर लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर!
है उसे चुकाना सूद-कर्ज़, है उसे चुकाना अपना कर,
जितना खाली है उसका घर उतना खाली उसका अन्तर।

नीचे जलनेवाली पृथ्वी ऊपर जलनेवाला अम्बर।
औ' कठिन भूखकी जलन लिए नर बैठा है बनकर पत्थर!
पीछे है पशुता का खँडहर, दानवता का सामने नगर!
मानवका कृश कंकाल लिए—

'चरमर-चरमर-चूँ - चरर-मरर
जा रही चली भैंसा - गाड़ी।

रामनाथ सुमन

पिता का नाम	श्री शत्रुघ्नप्रसाद
जन्म-संवत्	१९६०
जन्म-स्थान	ढोलापुर (बनारस)
शिक्षा	हिन्दी, उर्दू, फारसी, बँगला, अंग्रेज़ी, गुजराती और साधारण फ्रेंच।
रचनायें	कविरत्न 'मीर'; दाग़े 'जिगर'; कवि 'प्रसाद' की काव्य-साधना, हमारे राष्ट्र-निर्माता; हमारे नेता और निर्माता; 'फोर्सेज़ ऐंड पर्सनैलिटीज़ इन ब्रिटिश पॉलिटिक्स' (अंग्रेज़ी अप्रकाशित); शेरशाह; माइकेल मधुसूदनदत्त; भाई के पत्र; विवाहित जीवन की कुञ्जी (अप्रकाशित); नारीजीवन की समस्याएँ (अप्रकाशित); गांधीवाद की रूप-रेखा; योग के चमत्कार; जीवन-सूत्र (अनुवाद); मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण (अनुवाद); जब अंग्रेज़ आये (ज़ब्त); टॉल्स्टॉय की आत्म-कहानी (अनुवाद)।
वर्तमान जीवन	साहित्य-सृजन
विशेष	सुमनजी ने बिना किसी की सहायता प्राप्त किये अपनी शिक्षा स्वयं प्राप्त की है। ये हिन्दी के प्रगतिशील सिद्धान्त-वादी लेखक, पत्रकार तथा सार-समृद्ध कवि हैं। १४, १५ वर्ष की अवस्था ही से ये हिन्दी में लिखने लगे हैं। सन् १९२१ और १९३२ में असहयोग-आंदोलन में ये जेल गये। इन्होंने भारत का अच्छा भ्रमण किया है। महात्मा गाँधीजी के साथ भी ये रह चुके हैं।

भर दे मेरा प्याला, बाबा !

भर दे मेरा प्याला, बाबा !

आँखों में सावन है छाया ,
लुप्त हुई जाती है काया ,
प्यासा हूँ तेरी माया का—
तू है मेरी माला, बाबा !
भर दे मेरा प्याला, बाबा !

×

तूने जीवन-भर भरमाया ,
ध्यान तुझे अपने में पाया ,
अन्ध निशा में चन्दा जैसे—
घूँघट में उजियाला, बाबा !
भर दे मेरा प्याला, बाबा !

×

आँखों में है भरी खुमारी ,
दिल में जलती है चिनगारी ,
देख कलेजे में यह कैसा—
पड़ा हुआ है छाला, बाबा !
भर दे मेरा प्याला, बाबा !

×

विष सञ्जीवन हो जायेगा ,
यह 'मैं' तुझमें खो जायेगा ,
भ्रम का पंछी उड़ जाने दे—

खोल झूठ का ताला, बाबा !
भर दे मेरा प्याला, बाबा !

×

है विनाश जीवन का चोला ,
मुझमें आज अमर है बोला ,
रिमझिम बादल बरस रहा है ,
रँग ले रङ्ग निराला, बाबा !
मैं आलम से आला, बाबा !
भर दे मेरा प्याला, बाबा !

गोपालसिंह नेपाली

पिता का नाम	
जन्म-काल	सं० १९६०
जन्म-स्थान	बेतिया (चम्पारन)
शिक्षा	अँग्रेज़ी, नेपाली, हिन्दी
रचनायें	पंछी, उमंग, रागिनी, रिमझिम, हमारी राष्ट्रवाणी, कल्पना
विशेष	नेपाली भाषा के भी ये अच्छे लेखक और कवि हैं।

दार्जिलिंग की बूँदा-बाँदी

खिड़की खोल जगत को देखो, बाहर-भीतर घनावरण है,
शीतल है वाताश, द्रवित है दिशा, घटा यह निरावरण है,
मेघ-यान चल रहे झूमकर, शैल-शिखर पर प्रथम चरण है,
बूँद-बूँद बन छहर रहा वह जीवन का जो जन्म-मरण है,

जो सागर के अतल-वितल में गर्जन-तर्जन है, हलचल है,
वही ज्वार है उठा यहाँ पर, शिखर-शिखर पर चहल-पहल है।

दूर-दूर से आते हैं घन, लिपट शैल में छा जाते हैं,
मानव की ध्वनि सुनकर पल में गली-गली में मँड़राते हैं।
जग से मधुर पुरातन परिचय, श्याम घरों में घुस आते हैं,
है ऐसी ही कथा मनोहर, उन्हें देख गिरिवर गाते हैं।
ममता का यह भींगा अंचल हम जग में फिर कब पाते हैं!
अश्रु छोड़ मानस को समझा इसीलिए विरही गाते हैं!

गंगा-किनारे

कुछ देर यहाँ दिल जमता है, कुछ देर तबीयत लगती है।
आँखों का पानी गरम समझ यह दुनिया आँसू कहती है
हर सुबह-शाम को घासों पर फिर ओस नरम पड़ रहती है
लहरों में आँसू-ओस लिये वैसे ही गंगा बहती है
कुछ देर यहाँ दिल जमता है, कुछ देर तबीयत लगती है।

उठकर पच्छिम से आती है, चलकर पूरब को जाती है
अपनी धुन में चल पड़ती है, अपनी धुन में कुछ गाती है
पर्वत का देश दिखाती है, सागर की राह बताती है
कुछ देर यहाँ दिल जमता है, कुछ देर तबीयत लगती है।

कोई कपड़े ही धोते हैं, कोई दिल खोल नहाते हैं
कोई अपनी दिलचस्पी से काग़ज़ की नाव बहाते हैं
दीवाने बैठे एक बगल ऊँची तानों से गाते हैं
कुछ देर यहाँ दिल जमता है, कुछ देर तबीयत लगती है।

आकर माझी अपना बेड़ा उस पार बढ़ा ले जाता है
क़िस्मत में जो मिल जाते हैं उस पार चढ़ा ले जाता है
पतवार चला ले जाता है वह पाल उड़ा ले जाता है
कुछ देर यहाँ दिल जमता है, कुछ देर तबीयत लगती है।

छूकर गंगा की लहरों को जब ठण्डे झोंके आते हैं
हम मस्त-मगन हो जाते हैं, दिल भर के झोंके खाते हैं
दुनिया सपना-सी लगती है, सपनों में हम खो जाते हैं
कुछ देर यहाँ दिल जमता है, कुछ देर तबीयत लगती है।

अश्रु-दीप

छिप सकती है मेरी ममता,
छिप सकते हैं मेरे विचार;
पर कबतक यों यह बात छिपे,
मैं आता-जाता बार-बार।

इस पार रहा डेरा मेरा,
उस पार पिया का प्रेम-नगर;
पहले से देखी-भाली है,
उस प्रेम-नगर की डगर-डगर।

मैं चोरी-चोरी जाता हूँ,
मैं चोरी-चोरी आता हूँ;
कुछ समझ नहीं पाया कोई,
मैं किसको फूल चढ़ाता हूँ।

मेरी श्रद्धा से मिट जाता
मनका, जीवन का, अन्धकार ;
पथ मुझको मेरा अश्रु-दीप,
दिखलाता जाता बार-बार ।

सिद्धि

आधी दुनिया मैं हूँ, आधी
तुम हो मेरी रानी !
तुमने-हमने मिलकर कर दी
पूरी एक कहानी !
तुमने हमने मिलकर जग में
अपने बाग लगाए ;
जीवन-मन्दिर में दोनों ने
यौवन-राग जगाए !
मन के भीतर मुझे छिपाए,
बाहर पर्दा डाले ;
तुमने अपने प्रेम-नेम भी
खूब निराले पाले !

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

पिता का नाम	पंडित उचित झा
जन्म-संवत्	१९६१ (२४ जनवरी, १९०४)
जन्म-स्थान	रामपुर डीह (भागलपुर)
शिक्षा	एम० ए० (हिन्दी)
रचनायें	कविता—अनुभूति । कहानियाँ—किसलय, मालिका, मृदुदल, मधुमयी। समीक्षा—प्रेमचंद की उपन्यास-कला। चरित्र-रेखा और अश्रु-वैभव (कविता) अप्रकाशित।
वर्तमान जीवन	राजेन्द्र कालेज, छपरा में प्रोफ़ेसर हैं।
विशेष	सन् १९३६ से १९३८ तक देवघर-हिन्दी-विद्यापीठ के रजिस्ट्रार और गोवर्द्धन-साहित्य-महाविद्यालय में प्रोफेसर रहे। ये अच्छे वक्ता और कहानी-लेखक भी हैं।

अभाव की पूजा

जीवन के पहले प्रभात में—

मिला तुम्हीं से था मुझको प्रिय, यह पावन 'उपहार'—।
जिसे कहते तुम आज 'अभाव' लिये नयनों में करुणा-नीर;
और करनेको जिसका अन्त--(व्यथित हो, होकर परम अधीर-)
रहे हो मेरे चारोंओर विभव की दारुण ज्योति पसार।

ज्योति यह दारुण है, हाँ, देव! क्योंकि मैं हूँ चिर-तम का दास।
सुखी रहता दुख ही में डूब, कहाँ जाऊँ—किस सुख के पास?
सम्हाले सम्हलेगा भी कभी किसी का मुझसे इतना प्यार!

वासना में विष है, है आग लालसा में, सुख में संताप।
पुण्य पालूँगा मैं किस भाँति ? कहाँ जायेगा मेरा पाप ?
विश्व की पीड़ाओं को कहाँ मिलेगा अभय, मधुर दुलार ?

विरति-पथ है कोलाहल-हीन ; इसी पर चलने दो चुपचाप।
साथ में दुर्बलतायें रहें ; प्रलोभन का न मिले अभिशाप।
बहुत सुन्दर लगता है मुझे यही मेरा 'सूना संसार'।

जनम भर तप करने के बाद, मिला है मुझको यही 'अभाव'।
इसीमें है मेरा सर्वस्व, न है कुछ पाने का अब चाव।
बिछाकर मोहक माया-जाल, साधना का न करो संहार।

लिये जो हल-चल अपने साथ, यहाँ आये हो मेरे पास—।
उसे दे पाऊँगा किस भाँति इसी छोटे-से घर में वास ?
लूट लेंगे मुझको ये लोभ, समेटो इनकी भीड़ अपार।

दाह अति शीतल है यह, है न कहीं इसमें ज्वाला का नाम।
बरसने दो करुणा-घन को न, न है इसका अब कोई काम।
जला, जल चुका बहुत, चुपचाप पड़ा हूँ अब तो बनकर 'छार'।

जगाओ अब न हिये की भूख, न भड़काओ चाहों की प्यास।
इसी 'सूनेपन' में है शान्ति, तृप्ति, सुख, संयम, हर्ष, हुलास।
कहाँ अब वे आँखें हैं, हाय ! निहारूँ जिनसे यह शृंगार ?

करो विचलित मत मुझको, देव ! दिखाकर 'कुछ देने का चाव'।
साधना की वेदी पर बैठ, पूजने दो यह 'अमर अभाव'।
इसी में हो तुम, हूँ मैं, और इसी में भरा तुम्हारा प्यार ॥

सोहनलाल द्विवेदी

पिता का नाम	पंडित विन्दाप्रसाद द्विवेदी
जन्म-संवत्	१९६२
जन्म-स्थान	बिन्दकी (फतहपुर)
शिक्षा	एम० ए०, एल-एल० बी०; संस्कृतज्ञ भी हैं।
रचनायें	कविता—भैरवी, युगारंभ, वासंती (अप्रकाशित) बालोपयोगी—दूध-बताशा, पाँच कहानियाँ, मोदक, बाँसुरी, दूर्वा, बाल-भारती।
वर्तमान जीवन	अधिकार (दैनिक, लखनऊ) का सम्पादन करते हैं।
विशेष	धनी और सम्मानित परिवार में जन्म पाया है। भावुक और प्रगतिशील कवि हैं। बच्चों के लिये सुन्दर कहानियाँ और सरस कवितायें लिखने में भी कुशल हैं।

खादी-गीत

खादी के धागे-धागे में अपनेपन का अभिमान भरा
भारत का इसमें मान भरा अन्यायी का अपमान भरा
खादी के रेशे-रेशे में अपने भाई का प्यार भरा
माँ-बहनों का सत्कार भरा बच्चों का मधुर दुलार भरा।

खादी की रजत चन्द्रिका जब आकर तन पर मुसकाती है
तब नवजीवन की नई ज्योति अन्तस्तल में जग जाती है
खादी से दीन विपन्नों की उत्तप्त उसास निकलती है
जिससे मानव क्या पत्थर की भी छाती कड़ी पिघलती है।

खादी में कितने ही दलितों के दग्ध हृदय की दाह छिपी
कितनों की कसक कराह छिपी कितनों की आहत आह छिपी
खादी में कितने ही नंगों-भिखमंगों की है आस छिपी
कितनों की इसमें भूख छिपी कितनों की इसमें प्यास छिपी।

खादी तो कोई लड़ने का है भड़कीला रण-गान नहीं
खादी है तीर कमान नहीं खादी है खड्ग कृपान नहीं
खादी को देख-देख तो भी दुश्मन का दल थहराता है
खादी का झंडा सत्य शुभ्र अब सभी ओर फहराता है।

खादी की गंगा जब सिर से पैरों तक बह लहराती है
जीवन के कोने-कोने की तब सब कालिख धुल जाती है
खादी का ताज चाँद-सा जब मस्तक पर चमक दिखाता है
कितने ही अत्याचार-ग्रस्त दीनों के त्रास मिटाता है।

खादी ही भर-भर देश-प्रेम का प्याला मधुर पिलायेगी,
खादी ही दे-दे संजीवन मुर्दों को पुनः जिलायेगी
खादी ही बढ़, चरणों पर पड़, नूपुर-सी लिपट मनायेगी
खादी ही भारत से रूठी आज़ादी को घर लायेगी।

युगावतार बापू

(१)

चल पड़े जिधर को डग, मग में बढ़ चले कोटि पग उसी ओर,
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि गड़ गए कोटि दृग उसी ओर।
जिसके शिर पर निज धरा हाथ, उसके शिर रक्षक कोटि हाथ,
जिस पर निज मस्तक झुका दिया, झुक गए उसी पर कोटि माथ।
हे कोटि चरण, हे कोटि बाहु, हे कोटि रूप, हे कोटि नाम,
तुम एक मूर्ति, प्रति मूर्ति कोटि, हे कोटि मूर्ति, तुमको प्रणाम!

(२)

युग बढ़ा तुम्हारी हँसी देख, युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख,
तुम अचल मेखला बन भू की, खींचते काल पर अमिट रेख।
तुम मौन रहे, युग मौन रहा, तुम बोल उठे युग बोल उठा,
कुछ कर्म तुम्हारे संचित कर, युग-कर्म जगा; युग-धर्म तना,
युग-परिवर्तक, युग-संस्थापक, युग-संचालक हे युगाधार,
युग-निर्माता, युग-मूर्ति तुम्हें, युग-युग तक युग का नमस्कार।

(युगारम्भ से)

त्रिपुरी-कांग्रेस का जुलूस

था प्रात निकलने को जुलूस, जुड़ रात-रात भर नर-नारी,
बैठे उत्सुक पथ में आकर, कब रथ निकले सजधज धारी।
चल ग्राम-ग्राम से नगर-नगर से, वृद्ध बाल, आए अगणित,
करने को लोचन सफल आज, कर देशप्रेम से पावन चित;

पिसन्हरिया की मढ़िया सुन्दर है बनी जहाँ गिरि के ऊपर,
कलचुरी राज्य के गौरव का ज्यों यशःस्तम्भ हो उठा प्रखर।
बस उसी स्थान से उठना था, त्रिपुरी का यह जुलूस भारी,
सारे भारत में हलचल थी, सुन-सुनकर जिसकी तैयारी!

बावन वर्षों की याद लिये आये बावन हाथी मतङ्ग
इतिहास-पटल पर लिखने को मतवालों के मन की उमङ्ग
सन् उन्तालिस की ग्यारह को जब रात बदल कर बनी ऊषा,
जनगण में कोलाहल छाया, मन प्राणों में छा गया नशा;

हो गये खड़े पथ में सजकर रथ लेकर गज दिग्गज काले
खींचने राष्ट्ररथ को आये जय-पथ पर ज्यों रण-मतवाले।

उस कुरुक्षेत्र की याद आगई, सहसा इस कवि के मन में,
जब पाँच गाँव के लिए मचा था, यहाँ महाभारत रण में ;

यों ही तब दिग्गज शूरवीर प्रातः होते ही रण-पथ पर,
बढ़ते होंगे ले ध्वजा शिखर, योधा बैठे होंगे रथ पर।
छाई पूरब की लाली में ज्यों ही दिनकर की उजियाली
बज उठे शङ्ख दुन्दुभि मृगङ्ग, मारू बाजे वैभवशाली!

बावन हाथी जुड़ गये, एक से एक लगे पीछे-आगे
बावन सारथी सवार हुए जो मातृ-भूमि-पद-अनुरागे।
शिर पर विशुभ्र गाँधी-टोपी तन पर खादी के शुभ्र वस्त्र,
ये युद्ध चले करने योद्धा, जिनके न हाथ में एक शस्त्र ;

घन-घन-घन-घन घंटा बोले झन-झन-झन बाजी रण-भेरी
चल पड़ा हमारा यह जुलूस पल में न लगी फिर कुछ देरी,
रथ था विशुभ्र।ज्यों सत्य स्वयं हो मूर्तिमान वाहन बनकर,
आया हो ले चलने हमको पावन स्वराज्य के जय-पथ पर।

था तरल तिरङ्गा लहर रहा, रथ के मस्तक को किये तुङ्ग
अभिनन्दन में दिखलाते थे झुकते-से सब सतपुड़ा-शृङ्ग
सतपुड़ा-शृङ्ग, जिनमें बैठे थे अगणित उत्सुक नर-नारी,
चित्रित कर दी विधि ने जैसी उनमें विचित्र जनता सारी।

थे दोनों ओर पहाड़ सजे पथ बीच बना था नव प्रशस्त,
बूढ़े बच्चे जा रहे जहाँ थे सब जुलूस में अस्तव्यस्त,
जब चला हमारा यह जुलूस तब कोटि-कोटि उत्सुक दर्शक
भर-भर हाथों में नव प्रसून बरसाने लगे, नयन अपलक।

पलकें अपलक वाणी अवाक् अन्तस् गद्गद, तन पुलक भरे,
जागरण देख यह भारत का दृग में सुख के नव अश्रु ढरे,
वह धन्य देश, जिसमें उठते पददलित, यादकर निज गौरव,
बलिवेदी पर बढ़ते शहीद लाने को फिर स्वदेश-वैभव।

नर्मदा उधर ।दक्षिण-तट पर, गाती थी स्वागत गीत गान,
सतपुड़ा इधर था हर्ष-फुल्ल शिर विनत किये पथ में अजान।
सौभाग्य महाकौशल का था, जो गौरवमंडित झुका भाल,
श्री कर्णदेव का गौरव ले अभिनन्दन करता था विशाल।

जागो, फिर मेरे कर्णदेव, देखो, आया है स्वर्णकाल,
फिर, चला महाकोशल लिखने भारत-जननी का भाग्य-भाल।
बढ़ रहा गोंडवाना फिर से, नापने देश के परिधि-छोर
जन-गण, जागे पददलित पुनः जन-रण का उठता महारोर।

जागो फिर सोये कर्णदेव, कर लो हर्षित अपने लोचन,
त्रिपुरी से सजकर चली आज, फिर गजसेना, घंटाध्वनि घन,
जागो फिर मेरे कर्णदेव, जग रहा तुम्हारा पुण्य पूर्व
तुम चले आज निर्मित करने सुखमय स्वराष्ट्र अभिनव अपूर्व।

बावन सर बावन दर्पण बन, थे चित्र खींचते मौन जहाँ,
बावन वर्षों का वैभव ले कांग्रेस झूमती चली वहाँ।
झूमी प्रतिपल गजगति बनकर झूमी प्रतिक्षण, गजरथ चढ़कर,
झूमी पग पग में, मग मग में, जगमग मन कर रण में बढ़कर।

पंजाब चला अभिमान लिये बंगाल चला बलिदान लिये
मद्रास बढ़ा उत्थान लिये सी० पी० स्वागत के गान लिये।

गुजरात गर्व लेकर आया बनकर पटेल की लौह मूर्ति
राजेन्द्र किरीट सँवार चला उत्कल विहार बन प्राण स्फूर्ति।

ईसा की नव प्रतिमूर्ति लिये आया सुन्दर सीमान्त कान्त
ले वीर जवाहर को पहुँचा जननी का उर—यह हिंद-प्रान्त।
राजाजी की ले सौम्य मूर्ति मद्रास चला नव गर्व लिए
सौभाग्यचन्द्र बंगाल लिये जिसने नित अरिमद खर्व किये।

कितने ही यों ही देशराज जिनके न रूप औ ज्ञात नाम,
जन-सागर के तल में विलीन भरते थे बल विक्रम प्रकाम;
बाजे बजते थे घमासान, थे फड़क रहे सब अंग अंग,
नस नस में वीर भाव जागा बह चली रक्त में नव उमंग।

सब बावन दिग्गज चले संग अपने भारी डग पर धर डग
तरणी रेवा में डोल उठी, धरणी हो उठी विचल डगमग।
जय घोषों की तुमुल-ध्वनि में यह बढ़ा महोत्सव आगे फिर
पहुँचा था, जहाँ लहर लेता भारत का ध्वजा व्योम को चिर।

त्रिपुरी क्या बसी अनूपम छवि, जैसे हो त्रिपुरी राज्य उठा,
धरणी के स्तर को चीर पुरातन कोशल का साम्राज्य उठा,
उठ आये उसके सिंहद्वार, उठ आईं गुम्बद दीवारें
मेहराब उठे, शुचि शृंग उठे, ध्वज, तोरण, कलशी, मीनारें।

झंडा-मंडप में आ करके यह समा गया अगणित सागर
झुक गए सीश रणवीरों के था विजय-केतु उड़ता नभ पर।
था सजा मातृ-मंदिर पावन सतपुड़ा-शिखर के कोने में
भारत-जन-सागर सिमट गया नर्मदा नदी के दोने में।

उल्लास हास था आँखों में पर मन में छाया था विषाद,
सौभाग्य-चन्द्र था घन आवृत, पाने आये जिसका प्रसाद,
त्रिपुरी का यह जुलूस भारी, लिखता है युग में नई कथा,
आनन्द जिधर था एक ओर दूसरी ओर थी जहाँ व्यथा।

क्या बतलाऊँ, क्या था जुलूस यह है वह युग-युग का सपना
भारत में जब होगा स्वराज्य, भारत यह जब होगा अपना,
टूटेंगी अपनी हथकड़ियाँ, ढह जायेगा, यह राजतंत्र,
होगी भारत-जननी स्वतन्त्र, होंगे भारतवासी स्वतंत्र;

रामकुमार वर्मा

पिता का नाम	श्रीलक्ष्मीप्रसाद वर्मा (डिप्टी कलक्टर)
जन्म-संवत्	१९६२ (१५ नवम्बर, १९०५)
जन्म-स्थान	सागर (मध्यप्रदेश)
शिक्षा	एम० ए० (हिंदी)
रचनायें	कविता—अंजलि, रूपराशि, चित्र-रेखा, चन्द्र-किरण, वीर हमीर, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, निशीथ। आलोचना—साहित्य-समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास गद्य-गीत—हिम-हास। नाटक—पृथ्वीराज की आँखें, १८ जुलाई की शाम। संग्रह—हिन्दी-गीतकाव्य, कबीर-पदावली, आधुनिक हिन्दी-काव्य, जौहर।

वर्तमान जीवन	प्रयाग-विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर ।
विशेष	सन् १६२६ में हिन्दी लेकर सर्व प्रथम और प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया। वर्माजी को १६३५ में देव-पुरस्कार और १६३७ में चक्रधर-पुरस्कार प्राप्त हुआ। १६३६ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री रहे । वर्माजी की कविता में जीवन की विभिन्न अनुभूतियों के मनोहर चित्र देखने को मिलते हैं। कविता की भाषा और भाव दोनों प्रशंसनीय हैं ।

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच जगकर सजकर रजनी बाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो, ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन सो रही उत्सुक आँखे पारी ?
मत कुम्हलाने दो, सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी।
निर्भर के निर्मल जल में ये गजरे हिला हिला धोना;
लहर हहर कर यदि चूमे तो किञ्चित विचलित मत होना ।
होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित, लहरों ही में लहराना ।
लो मेरे तारों के गजरे निर्झर स्वर में यह गाना ।
यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय ! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में, बिखरा देना सब गजरे ।

विभूति

मेरे सुख की किरन अमर !
जीवन-बूँदों में से चलकर, बिखरो इंद्र-धनुष बनकर

मेरे नव-जीवन-बादल में, रंग सुनहला दोगी भर ?
बाला बनकर छू लोगी क्या मेरा यह पीड़ित अंतर ?
जब मेरे क्षण सोते होंगे अंधकार के अंबर पर;
तब तुम प्रथम प्रकाश-ज्योति बन, उन्हें जगाना चूम अधर !
मेरे सुख की किरन अमर !

चंद्र-किरण

यह चंद्र-किरण भू पर आई ।
साहस तो देखो, नभ-वासिनि पृथ्वी पर यह नव छवि लाई ।
एकाकीपन का लिये भार तम के प्रदेश को किया पार,
प्रतिक्षण विस्तृत हो रेख-रूप, कर दिया विमल तान तार-तार ।
मेरे दृग में खोकर उसने बोलो, क्या जीवन-निधि पाई ?
तज नक्षत्रों से पूर्ण लोक आलोक छोड़ निज ज्योति रोक,
मेरी पृथ्वी जो है मलीन, जिसमें है पीड़ा रुदन शोक,
उसमें आने के हेतु न जाने क्यों इतनी यह ललचाई ?
यह चन्द्र-किरण भू पर आई ।

मैं और तुम

मैं तुम्हारे पास हूँ ।
तुम सुमन हो, मैं तुम्हारी मंद मुग्ध सुवास हूँ ।
चन्द्रिका की ज्योति में जब व्योम हँसता है अहा !
तब तुम्हारे वायु-स्वर में मैं प्रकृति की साँस हूँ ।
सो रहा संसार जब निज साँस की शय्या बना,
सब सजग रह तारिका-सी ज्योति में उल्लास हूँ ।

हरिकृष्ण प्रेमी

पिता का नाम	
जन्म-संवत्	१९६२
जन्म-स्थान	ग्वालियर राज्य
शिक्षा	हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी
रचनायें	आँखों में; जादूगरनी; अनन्त के पथ पर ।
वर्तमान जीवन	लाहौर में रहकर अपने भारती प्रेस से पुस्तक-प्रकाशन का काम करते हैं ।
विशेष	भारती (लाहौर) और त्यागभूमि (अजमेर) के संपादक रह चुके हैं । हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ हैं ।

चिनगारी

(१)

आज, प्रिये, जीवन के पथपर चारोंओर अँधेरा छाया;
घोर घटाओं ने घिर नभ के तारों को अनजान छिपाया।
तूफ़ानी लहरों पर अपनी तरणी डगमग डोल रही है;
सर्वनाश की वाणी सागर के गर्जन में बोल रही है।
और निकट आओ, हम तम में
अन्तर-तम की गाँठें खोलें;
सखि, अतीत को आँखों में भर-
कर, खारे पानी से धो लें।

(२)

संग धैर्य ने छोड़ दिया, पर तुम ने मेरा साथ न छोड़ा।
बार-बार टूटी साँसों का तुमने हँस-हँस धागा जोड़ा।

हाथ पकड़कर खड़ा किया फिर रण-सज्जा से मुझे सजाया;
'कायरता ही, प्राण, मृत्यु है', बार-बार यह पाठ पढ़ाया।
मरते हुये जियो मत प्रियतम,
जीते हुये भले मर जाओ;
अंतिम क्षण तक विद्रोही रह,
नहीं किसी को शीश झुकाओ।

(३)

हमने देखा पास हमारे महल खड़े हैं भारी-भारी;
उनके आगे प्रिये, दीखती एक व्यंग-सी कुटी हमारी।
जबतक प्रिये, अकेला था मैं, मैंने यह वैषम्य न जाना;
बुनता रहता था एकाकी मैं गीतों का ताना-बाना।
जिस दिन था कुटिया में आकर,
तुमने अपना रूप दिखाया;
निर्धनता है पाप उसी दिन
मैंने यह अनुभव कर पाया।

(४)

मैंने कहा, तुम्हें इस कवि की कुटिया कैसे पाल सकेगी?
अभिलाषाओं के प्यालों में कैसे मदिरा ढाल सकेगी?
महलों की बिजली को कैसे पर्ण-कुटी में भला जलाऊँ?
व्यर्थ अभावों की ज्वाला में क्यों कोमलता को झुलसाऊँ?
तुम ने कहा, शान्ति, कवि मैं तो
जान-बूझकर ही आई हूँ;
पागल प्राणों में भीषण-तम
मैं भविष्य भरकर लाई हूँ!

(५)

'जो सुख की शय्या पर सोते, मुझको उनसे काम नहीं है;
मुझे उन्हीं से कुछ कहना है, जिन्हें प्राप्त धन-धाम नहीं हैं।
मुझे उन्हें आँखें देनी है निज अभाव जो देख न पाते;
जो जुल्मों को भाग्य समझकर निर्विकार हो सहते जाते।

मुझे विभव का क्या करना है,
मैं तो उसका नाश करूँगी।
आज तुम्हारे प्राणों में मैं
सर्वनाश का राग भरूँगी।'

(६)

उस दिन से अबतक हम अपनी नौका लिये जगत में फिरते;
अपने ऊपर सम्राटों के बार-बार गोले हैं गिरते।
हमने जन-जन के मन-मन में रख दी चुपके से चिनगारी,
चिन्ता क्या है, आज घिरी जो चारोंओर घनी अँधियारी।

हम गिर जावेंगे, पर अपनी
यात्रा सदा रहेगी जारी;
अन्तिम गीत प्रिये, गाने की
आओ, आज करें तैयारी।

परदे के पीछे

सुनती हूँ पार क्षितिज के, प्रियतम का सुन्दर घर है,
जिसके चरणों को छूने, झुक गया वहीं अम्बर है।
उस परदे के पीछे ही, क्या रहता सत्य अमर है!
जिसकी छवि रवि-शशि से भी, सुन्दर है अजर अमर है!

जिसके प्रकाश से होते, आलोकित रवि, शशि, तारे,
संचालित करते जग को, जिसके अविराम इशारे।
कहते हैं मुझे उसी ने, भेजा है जग-आँगन में,
उसकी ही चञ्चल गति है, मेरे प्रत्येक चरण में।

केशवप्रसाद पाठक

पिता का नाम	पंडित लक्ष्मीप्रसाद पाठक
जन्म-संवत्	१६६२,
जन्म-स्थान	जबलपुर
शिक्षा	एम० ए० (हिंदी)
रचनायें	उमर खय्याम का अनुवाद; त्रिधारा
वर्तमान जीवन	क़ानून का अध्ययन कर रहे हैं।
विशेष	अँग्रेज़ी और उर्दू-साहित्य से भी सुपरिचित हैं। साहित्य की आलोचना प्रिय विषय है।

मेरा घर

पूछ रहे हो मेरा घर ?
कोलाहल से बड़ी दूर पर जहाँ खड़े हैं गिरि गह्वर।
झर झर झरते हैं निर्झर।
पवन जहाँ खेला करता है पुष्प-पुञ्ज से हिलमिलकर।
हँसती हैं कलियाँ खिलकर।
खग-दल कल-कूजन से अपने मुखरित करते वन दिनभर।
मधु पीते मधु-रत मधुकर।

रजत-रश्मियाँ जहाँ चन्द्र की आतीं-जातीं छन-छनकर।
मुसुकाते दिन में दिनकर।
प्राण-पुलक भरता निर्जन में तरु-पत्रों का मृदु मर्मर।
गति-स्वर-लय-मय कर अंतर।
जहाँ तरल शीतल जल बहता क्लांत-श्रांत मन का श्रमहर।
कल-कल में लोरी गाकर।
शान्ति जहाँ सुख से सोती है दूर्वा के वक्षस्थल पर।
जल-कण से शैया कर तर।
घास-पात का बना हुआ है वहीं कहीं मेरा भी घर।
छोटा-सा, पर अति सुन्दर।
पूछ रहे हो मेरा घर?

उमर खैयाम का अनुवाद

(अँग्रेज़ी से)

And lately by the tavern door a gape
Came stealing through the dusk an angel shape
Bearing a vessel on his shoulder, and
He bid me taste of it, and it was the grape

अभी सुरालय-द्वार खुले थे छिति पर थी गोरज छायी।
देवदूत की आकृति में थी मूर्ति एक धीमे आयी॥
कंधे पर शोभित था उसके कांतिवान कमनीय कलस।
मुझसे कहा—स्वाद लो इसका, यह क्या? था वह द्राक्षारस॥

जगन्नाथप्रसाद मिलिंद

पिता का नाम	श्रीघीसालाल जी अरोड़ा
जन्म-संवत्	१९६४
जन्म-स्थान	मुरार (ग्वालियर)
शिक्षा	काशी-विद्यापीठ और शान्ति-निकेतन में शिक्षा प्राप्त की है।
रचनायें	प्रताप-प्रतिज्ञा (नाटक), जीवन संगीत और नव-युग के गीत (कविताओं का संग्रह)
वर्तमान-जीवन	साहित्य-सृजन के कार्य को शिथिल करके अब मुरार ही में रहकर व्यापार करते हैं।
विशेष	मिलिंदजी की कविता में नवयुवकों के लिये प्राण-पोषक तत्व की काफ़ी मात्रा विद्यमान है।

मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[१]

मेरे किशोर ! मेरे कुमार !
अग्नि-स्फुलिङ्ग, विद्युत् के कण, तुम तेजपुञ्ज, तुम निर्विवाद,
तुम ज्वालागिरि के प्रखर स्रोत, तुम चकाचौंध, तुम वज्रनाद,
तुम मदन दहन दुर्द्धर्ष रुद्र के वह्निमान दृग के प्रसाद,
तुम तप-त्रिशूल की तीक्ष्ण धार।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[२]

अक्षय सञ्जीवन-प्रद मद से कर अन्तरतर भरपूर—शूर,
तुम एक चरण में भय चिन्ता, सन्देह, शोक कर चूर-चूर,
प्राणों की विप्लव लहर विश्व में पहुँचा देते दूर-दूर,
तुम नव युग के ऋषि सूत्रधार !
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[३]

उन्मत्त प्रलय की तन्मयता तुम, तांडव के उल्लास-हास,
युग-परिवर्तन की आकांक्षा, उच्छृङ्खल सुख की तीव्र प्यास,
तुम वन्य कुसुम, तुम नग्न प्रकृति की पावनता की मुग्ध वास,
तुम आडम्बर पर प्रद-प्रहार ।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[४]

तुम यौवन-फल के पुष्प, और शैशव-कलिका के हो विकास ,
तुम दो विश्वों के सन्धि-स्थल पर आशा के उज्वल प्रकाश,
तुम जीर्ण जगत के नव चेतन, वसुधा के उरकी अमर श्वास,
तुम उजड़े उपवन की बहार ।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[५]

जो वन-पर्वत को चीर चले, तुम उस निर्झर के उर प्रवाह ,
जो कुश-कण्टक को प्यार करे, उस राही की अटपटी राह ,
जो तड़पे भोग-विलासों में, उस त्यागी उर की उष्ण आह ,
तुम सङ्कट-साहस पर निसार ।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[६]

तुम एक-एक वे जल-कण, जो मिलकर बनते अगणित सागर,
वे एक-एक तारक, जिनसे जगमग करता विस्तृत अम्बर,
तुम वे छोटे-छोटे रज-कण, जिन पर असीम वसुधा निर्भर,
तुम लघुता की महिमा अपार।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[७]

माँ के अञ्चल की ममता या यौवन के सुख का लोभ नहीं ;
जर्जरित जरा का पछतावा, बीते जीवन का क्षोभ नहीं ;
तुम वर्तमान के कठिन कर्म, छू सकता तुमको मोह कहीं ?
कर सकता बन्दी तुम्हें प्यार ?
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[८]

तुम नहीं डराए जा सकते, शस्त्रों से, अत्याचारों से ;
तुम नहीं भुलाए जा सकते, वीणा की मृदु झनकारों से ;
तुम नहीं सुलाए जा सकते, थपकी से प्यार-दुलारों से ;
तुम सुनते पीड़ित की पुकार।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[९]

शोणित से आशा सींच चल रहे चरम लक्ष्य अपना पाने ;
कितने दुर्गम पथ पार किए, कितने वन पर्वत हैं छाने ;
तुम हठी भगीरथ नव-युग की गङ्गा के पीछे दीवाने ;
इस तप पर जीवन रहे वार।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

[१०]

मेरे प्रह्लाद ! दमन की भीषण ज्वाला में मुसकाते हो।
मेरे ध्रुव ! बाधा चीर इष्ट पथ पर बढ़ते ही जाते हो।
मेरे शुक ! प्रबल प्रलोभन में तुम अविचल धैर्य दिखाते हो !
तुम तप्त स्वर्ण, तुम निर्विकार।
मेरे किशोर ! मेरे कुमार !

पद्मकांत मालवीय

पिता का नाम	पंडित कृष्णकांत मालवीय
जन्म-संवत्	१६६५
जन्म-स्थान	इलाहाबाद
शिक्षा	संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी; संगीत का भी अच्छा अभ्यास है।
रचनायेँ	त्रिवेणी, प्याला, प्रेम-पत्र, आत्म-वेदना, आत्म-विस्मृति, हार।
वर्तमान जीवन	'अभ्युदय' के सम्पादक हैं।
विशेष	अपने कविता-पाठ के स्वर से श्रोताओं के हृदयों में वेदना उत्पन्न कर लेने की अच्छी क्षमता रखते हैं।

प्रियतम न आये !

(भैरवी, ठेका दीपचन्दी, मात्रा १४)

आज तक प्रियतम न आये !

लोचनों में छा गई हैं उर-उदधि की लहर उठकर।
वायु सी हिय की उसासें, कर रही हैं नाद हर हर॥

नयन में घन छागये हैं पर बरसता है न पानी।
मान यह भी कर रहे हैं एक तुम ही हो न मानी॥
पर कहाँ तक ! नाथ हिय,
अपनी व्यथा जग से छिपाये ?

है पहेली एक मेरे हेतु मेरी ही कहानी।
हो गई मेरे लिये तो आप मेरी ही जवानी॥
शांत फिर भी हो सका अबतक न मेरा हृदय-चंचल।
मैं अभी जिसको समझकर पी गया, वह था हलाहल॥
जो दबाये दे रहा है,
भार हूँ मैं वह उठाये॥

मैं उनींदे लोचनों से ताकता उनको सदा था।
मुस्कराता ही रहा, जो भाग्य में रोना बदा था॥
मानकर मिथ्या जगत को एक उनको सत्य जाना।
भूल थी मेरी, हृदय पर आजतक इसको न माना॥
किस तरह पाऊँ उन्हें मैं,
यह मुझे कोई बताये ?

मेरे हृदय की पीर

(१)

जान पाया कब जगत मेरे हृदय की पीर ?
थपकियाँ दे दर्द को निज हृदय में मैंने सुलाया।
अश्रु शेष रहे न नयनों में, उन्हें इतना बहाया;
बस, यही संपत्ति थी, जिसको कभी बाँटा न मैंने,
और जो भी था लुटाकर ही सदा सन्तोष पाया।
छोड़ता फिर भी मुझी पर हाय ! क्यों जग तीर ?

(२)

कुछ न कहने का किसी से कुछ अजब अभिमान पाया,
हास्य से अपने हृदय के रुदन को मैंने छिपाया।
पी लिया इतना हलाहल सुधि रही कुछ भी न अपनी,
भूलने का स्वयं को अभिशाप या वरदान पाया।
किसलिये नासेह बँधाता है मुझे फिर धीर ?

(३)

रख न सकता एक ऐसे दीन को क्या जगत विस्तृत ?
ज्ञात हो जिसको न जय-हति और जो बस प्रेम-पूरित ;
किसलिये तलवार उसके हेतु तोली जा रही है !
चूम लेगा जो उसे भी प्रेम में हो आत्म-विस्मृत।
लोचनों में छलकता जिसके प्रलय का नीर।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

[अज्ञेय]

पिता का नाम	डाक्टर हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०
जन्म-स्थान	कसिया (गोरखपुर)
जन्म-संवत्	१९६८ (६ मार्च, १९११)
शिक्षा	मद्रास युनिवर्सिटी के बी० एस-सी०; संस्कृत भी जानते हैं।
रचनायें	विपथगा (कहानियाँ); भग्नदूत (कविता)
वर्तमान जीवन	डी० लिट्० के लिये पेरिस जानेवाले हैं।
विशेष	'विशाल भारत' के सम्पादक रह चुके हैं। ये हिन्दी के प्रशंसित लेखक और कवि हैं। ये कर्तारपुर (पंजाब)

के निवासी हैं। जब इनके पिता कसिया में पुरातत्व-विभाग की ओर से खुदाई का काम करा रहे थे, तब वहीं इनका जन्म हुआ था।

नाम तेरा

पूछ लूँ मैं नाम तेरा !
मिलन रजनी हो चुकी विच्छेद का अब है सवेरा।

(१)

जा रहा हूँ और कितनी देर अब विश्राम होगा,
तू सदय है, किन्तु तुझको और भी तो काम होगा।
प्यार का साथी बना था, विघ्न बनने तक रुकूँ क्यों ?
समझ ले, स्वीकार कर ले यह कृतज्ञ प्रणाम मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(२)

और होगा मूर्ख जिसने चिर-मिलन की आस पाली।
'पा चुका—अपना चुका' है कौन ऐसा भाग्यशाली ?
इस तड़ित को बाँध लेना देव से मैंने न माँगा—
मूर्ख उतना हूँ नहीं, इतना नहीं है भाग्य मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(३)

श्वास की हैं दो क्रियायें—खींचना, फिर छोड़ देना,
कब भला सम्भव हमें इस अनुक्रम को तोड़ देना ?
श्वास की उस सन्धि-सा है इस जगत में प्यार का पल,
रुक सकेगा कौन कबतक बीच पथ में डाल डेरा ?
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

(४)

घूमते हैं गगन में जो दीखते स्वच्छन्द तारे।
एक आँचल में पड़े भी अलग रहते हैं बिचारे।
भूल में पल-भर भले छू जाँय उनकी मेखलायें—
दास मैं भी हूँ नियति का, क्या भला विश्वास मेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(५)

प्रेम को चिर-ऐक्य कोई मूढ़ होगा तो कहेगा।
विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा?
जो सदा बाँधे रहे वह एक कारावास होगा।
घर वही है जो थके को रैन-भर का हो बसेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(६)

रात बीती, यदपि उसमें संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे व्याप्त एक अनंग भी था।
तीन की उस एकता में प्रलय ने ताण्डव किया था।
सृष्टि भर को एक क्षण-भर बाहुओं ने बाँध घेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(७)

सोच मत, "यह प्रश्न क्यों जब अलग ही हैं मार्ग अपने?
सच नहीं होते इसी से भूलता है कौन सपने?"
मोह हमको है नहीं, पर द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामना हो जाय तेरा और मेरा।
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

(८)

कौन हम-तुम ! दुःख-सुख होते रहे, होते रहेंगे।
जानकर परिचय परस्पर हम किसे जाकर कहेंगे !
पूछता हूँ, क्योंकि आगे जानता हूँ क्या बदा है,
प्रेम जग का, और केवल नाम तेरा, नाम मेरा ॥
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !
मिलन-रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सबेरा।

श्रीमन्नारायण अग्रवाल

पिता का नाम	श्रीधर्मनारायण अग्रवाल
जन्म-संवत्	१९६८ (जुलाई, १९१२)
जन्म-स्थान	इटावा
शिक्षा	एम० ए०
रचनायें	हिंदी, रोटी का राग (कविता)
वर्तमान जीवन	प्रिंसिपल—नवभारत विद्यालय वर्धा प्रधान मन्त्री—राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति, वर्धा प्रबंध मंत्री—मारवाड़ी शिक्षा-मंडल, वर्धा;
विशेष	श्रीमन्नारायणजी १९३५ में आई० सी० एस० की परीक्षा के लिए एक वर्ष इङ्गलैंड में रह आए हैं। कविता लिखने का शौक इनको बाल-काल ही से था। ये अँग्रेजी के भी अच्छे कवि हैं। रोटी के राग में इन्होंने हिन्दी-कविता लिखने में प्रशंसनीय प्रतिभा प्रदर्शित की है।

रोटी का राग

(१)

क्या होगा गाकर 'अनन्त' का नीरव और 'मदिर' संगीत ?
मलयानिल के उच्छ्वासों का मर्मर, निर्झर झर-झर गीत ?

कनक-रश्मियों के गौरव से क्या होगा दुखियों का त्राण ?
रूखी रोटी ही में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण।

क्या होगा बनवाकर कविते, तुहिन-बिन्दु की निर्मल माल ?
विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल ?

कबतक सुनता रहूँ बन्धु मैं मतवाले अलि की गुञ्जार ?
क्यों पागल बनकर मैं घूमूँ भूल सकल मानव-संसार ?

निष्फल है निर्मम अतीत का छायायुत रहस्य-मय गान।
हँसी-मात्र है उस अनन्त की दुख-मय मन्द मधुर मुसकान।

साधारण जीवन के सुख-दुख गाऊँगा आडम्बर त्याग,
सम्पति-विद्याहीन-जनों का करुणा-मय रोटी का गान।

(२)

हम तो रोटी के मतवाले।

नहीं चाह मदिरा की साकी, क्या होंगे यह प्याले ?
सुरा पान कर जीवन के दुख नहीं भूलना हमको ?
हम तो दुख-जीवन के प्रेमी, गाते राग निराले !

विस्मृति के सागर में बहना, हम अति तुच्छ समझते।
कंटकमय जीवन-पथ चलते, पड़े पदों में छाले,
इन काँटों की पीर जगाने को हम खाते रोटी।
पाकर जीवन-दान उसी में, हो जाते मतवाले !

(२)

रहस-वाद को हम क्या समझें ! पढ़ना हमने कभी न जाना ।
हमने तो काला अक्षर कवि, भैंस बराबर ही था जाना ।
क्या अनन्त, उसका अकार तक हमने कभी नहीं पहचाना ।
मधुबाला से फिर क्यों उलझें ?
रहस-वाद को हम क्या समझें ?

हमको तो दुख ही है पाना ।
कड़ी भूमि में बैल जोतकर खुद मिहनत कर हल चलवाना ।
कवि ! पंखों से उड़ 'अतीत' की, छाया को तुमने ही जाना !
रोटी से तो पहले सुलझें ।
रहसवाद को तब हम समझें ।

आरसीप्रसाद सिंह

पिता का नाम

जन्म-संवत् १९७० (१७ अगस्त, १९१३)

जन्म-स्थान इरावत (दरभंगा)

शिक्षा आई० ए० की द्वितीय श्रेणी तक अँग्रेज़ी; संस्कृत-साहित्य का विशेष अध्ययन; साहित्यालंकार की उपाधि-प्राप्त ।

रचनायें कलापी (कविताओं का संग्रह)

वर्तमान जीवन नगर के वातावरण से अरुचि होने और ग्राम-जीवन से विशेष अनुराग होने के कारण अपने जन्म-ग्राम में रहते हैं ।

विशेष बिहारी कवियों में प्रथम श्रेणी के लोक-प्रिय कवि हैं ।

शेष गीत

एक ही पथपर युगोंसे मैं निरन्तर चल रहा हूँ।
एक दिन हो जायगा निश्चय कभी अवसान मेरा।
और विरहातुर करेगा विश्व को विषपान मेरा।
जब रहा जीवित, कभी तुमने कुशल भी तो न पूछी।
पर, करोगे मृत्यु के उपरान्त तुम सम्मान मेरा।
मैं उसे क्या देख पाऊँगा नयन मुँद जायँगे जब।
घोर तृष्णा की चिता में मैं शलभ-सा जल रहा हूँ।
एक ही पथ पर युगों से मैं निरन्तर चल रहा हूँ॥

मृत्यु के कीटाणुओं को मैं निमन्त्रण दे चुका हूँ।
और अधरों पर प्रिया का गरल-चुम्बन ले चुका हूँ।
पा चुका सन्देश अन्तिम मैं विकल पुरवासियों का।
काल-पारावार में मैं आयु-नौका खे चुका हूँ।
स्वप्न भी यदि बन सकूँ मैं तो अमित सौभाग्य मेरा।
मोम के लघु दीप-सा भव-ताप में मैं गल रहा हूँ।
एक ही पथ पर युगों से मैं निरन्तर चल रहा हूँ॥

जा चुके कितने धुरन्धर वीर, फिर तो गौण हूँ मैं।
तुम न पूछो आज, प्रिय! मुझको—तुम्हारा कौन हूँ मैं?
बुलबुला था एक, उठकर मिट गया तत्काल ही जो।
देख यह व्यवहार जग का इसलिये तो मौन हूँ मैं।
किन्तु, प्राणों की उमङ्गों को कुचलना भी कठिन है।
मलिन, अस्तोन्मुख तरणि-सा मैं क्षितिज से ढल रहा हूँ।
एक ही पथ पर युगों से मैं निरन्तर चल रहा हूँ॥

है पता किसको ? कहाँ मैंने प्रणय की बेलि बोई !
और मेरे आँसुओं से रात कितनी बार रोई !
हाय, पत्थर की जगह मैं होगया मानव अभागा।
मैं मरूँगा, क्या न मुझको रोक सकता आज कोई !
भूल जाऊँ मैं उपेक्षा, मान औ अपमान सारे।
श्वास-कारागार में बन्दी-विहग मैं पल रहा हूँ।
एक ही पथ पर युगों से मैं निरन्तर चल रहा हूँ॥

तुम कभी क्या प्राण, समझोगे न !—मेरे भी हृदय है।
और, उसमें भी किसी के प्रति क्षमा, करुणा प्रणय है।
मैं मनुज हूँ और मेरी, ये सभी कमज़ोरियाँ हैं।
किन्तु, मानव के विचारों में विधाता का प्रलय है।
मैं कहूँ क्या, जब चिता ही पुष्प-शयनागार मेरा।
मार्ग की कठिनाइयों को व्यर्थ ही मैं दल रहा हूँ।
एक ही पथपर युगों से मैं निरन्तर चल रहा हूँ॥

दे सकेंगे सुख मुझे क्या शब्द कुछ सुन्दर तुम्हारे !
और, क्या उस पार पहुँचेंगे करुण - प्रस्ताव सारे ?
तुम करोगे बाद मेरे शोक की कितनी सभाएँ।
सुन सकूँगा, किन्तु क्या अपनी विजय के मैं नगारे ?
पा सकोगे पुनः स्वजनों में कभी जीवित मुझे क्या !
देख—कैसे आज अपने आप को मैं छल रहा हूँ।
एक ही पथ पर युगों से मैं निरन्तर चल रहा हूँ॥

नरेन्द्र शर्मा

पिता का नाम — पंडित पूरनलाल शर्मा
जन्म-संवत् — १९७०
जन्म-स्थान — जहाँगीरपुर (बुलंदशहर)
शिक्षा — एम० ए०
रचनायें — प्रभात-फेरी; प्रवासी के गीत (कविता)
वर्तमान जीवन — अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के दफ़्र में कर्मचारी।
विशेष — हृदय की कोमल भावनाओं के चित्राङ्कण में नरेन्द्रजी विशेष पटु हैं।

यौवन-वेला

अलि, झूम झूम आई बेला यौवन की।
तू देख, अली! कचनार-कली, यह नई-नई खुल खेल रही,
अलि, खिली आज यौवन-बहार जीवन की।
सखि, मंजु मञ्जरित मृदु रसाल, द्रुम-दल पुलकित, लतिका मुकुलित,
अलि, सिहर उठीं अब डाल डाल मधुवन की।
फल कच कलियाँ खिल-खिल खुलतीं, नित नई नई आँखें मिलतीं
रति-सुख-विह्वल, आशा चञ्चल,
लालस बरसाती विश्व, सुरभि उपवन की।
मँडराते मोहित मत्त भृङ्ग, विकसित कुसुमों के अंग-अंग
उर में उमङ्ग, नूतन तरंग,
निखरी तरुनाई, अली, आज कन-कन की।
मधुमयी वसंत-सखी आली, सरसों सौरभ में मतवाली,
यौवन-लहरी से वह सिहरी
मधु भार-भरी, मद-मंद पवन उपवन की।

यह री बसंत-वेला आली, पर सूनी-सी बिन बनमाली,
कोकिल कूजित, मधुकर गुंजित,
पर हूक उठी री पीर व्यथित जीवन की।
अलि, पुलक-जाल में बंदी तन, है आहत हरिणी का यौवन,
मैं मदन-बान सहती अजान,
क्यों सिसक-सिसक गाऊँ गाथा कसकन की।
अलि, झूम-झूम आई बेला यौवन की।

(प्रभात फेरी से)

बालकृष्ण राव

(आई० सी० एस०)

पिता का नाम	सर सी० वाई० चिन्तामणि (प्रधान सम्पादक 'लीडर', इलाहाबाद)
जन्म-संवत्	१९७० (दिसम्बर, १९१३)
जन्म-स्थान	प्रयाग।
शिक्षा	हाई-स्कूल-परीक्षा प्रथम श्रेणी में; इण्टर-मीडियेट-परीक्षा प्रथम श्रेणी में और सारे युक्त-प्रान्त में प्रथम। दिल्ली की आई० सी० एस०-परीक्षा में सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रथम। सितम्बर सन् १९३७ में इंगलैंड गये और वहाँ ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी में साल भर तक शिक्षा पाई।
रचनायें	कौमुदी; आभास
वर्तमान जीवन	२०, नवम्बर १९३८ से इलाहाबाद में असिस्टेंट मैजिस्ट्रेट और कलक्टर के पद पर हैं।

विशेष — मातृ-भाषा मदरासी होते हुए भी श्री बालकृष्ण राव ने व्रजभाषा और खड़ी-बोली में सरस और भाव-पूर्ण रचना करके अपनी अद्भुत प्रतिभा प्रदर्शित की है। मिस्टर राव ने भारतवर्ष के अनेक स्थानों के अतिरिक्त इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड, और मोरक्को आदि देशों की यात्रायें भी की हैं।

उद्बोधन

कलिके, अलि के गुंजन में, अस्तित्व खोज ले अपना;
मिटने ही में देखेगी, कबतक मिलने का सपना!
परिमल जिस पुण्य पवन ने, था मधुकर तक पहुँचाया,
उसके ही अस्फुट स्वर में, सुन ले अलि ने क्या गाया।
तम में ही तन्मयता के, आभा को छिप रहने दे,
विस्मृति की सुर-सरिता में अपनी स्मृति को बहने दे।
मंजुलता में मृदुता-सी, रजनी में छवि-छाया-सी,
अप्राप्य बना अपने को कायान्तरिता माया-सी!
पथ में ही प्राप्ति निहित है, यह है समाप्ति सिखलाती,
अनुभूति बनी अभिलाषा, आशा को आज रुलाती।
नयनों से आँसू बनकर, बह जाने दे आहों को;
सुकुमारि, खोज ज्वाला में, शीतलता की राहों को।
जग सके न जागृति जिसमें, चिर-निद्रा को अपना ले।
सौरभ में, अमल अनिल में शुचि शयनागार बना ले।
छवि बाह्य भूल, अन्तर में फिर देख बसे निर्जन को;
शुचिता सुषमा संगम को, उनको, मनको, जीवन को॥

रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल'

पिता का नाम — पंडित मातादीन शुक्ल

जन्म-संवत् — १९७२

जन्म-स्थान — कृष्णपुर (फतेहपुर)

शिक्षा — बी० ए०

रचनायें — मधूलिका, तारे, अपराजिता

वर्तमान जीवन — प्रान्तीय पब्लिक सरविस कमीशन के दफ़्तर में काम करते हैं।

विशेष — भावुक और उज्ज्वल भविष्य के अधिकारी कवि हैं। सन् १९३९ में इनको अपनी प्रथम और समादृत कविता-पुस्तक 'मधूलिका' पर सी० पी० के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में 'चक्रधर-पुरस्कार' मिला है।

अन्तर्ध्वनि

पर मिले कब प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी

(१)

इस उमङ्गों के प्रलय में मिट रही पगली जवानी
जल रहा प्यासा हिया मेरे पिया की यह निशानी
आह ! जाग्रत प्राण मेरे आज की यह बात ना रे
एक युग की लालसा पर कब मिले वे कब पधारे
एक छलना से रहे पीड़ित सदा दो नेत्र लोलुप
किस अपरिचित जल्पना से प्रज्वलित था कवि विकल चुप
बस न पूछो बुझ गयी कितनी सजन बिन आयु प्यासी
पर न मिलते प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी।

(२)

जो लुटाता ही रहा चिरकाल से अपना समर्पण
जो रचाता था सदा निज रक्त में शगर-प्रकम्पन
स्वप्न में भी सुन वही पदध्वनि सदा उन्मत्त होता
वज्र उल्कापात अन्तर-आरती ले जो पिरोता
किन्तु ना, ना रे! समय अब है कहाँ सब अङ्ग जलते
आज अन्तर के शशी ज्वालामुखी बन पवि उगलते
कब न अङ्गों में लगी ऐसी मरण-वाहन तृषा-सी
पर न मिलते प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी।

(३)

आज सुधि के स्रोत में दुर्दान्त दारुण ज्वार आया
आज अन्तर्वेदना ने मद-भरा तूफ़ान पाया
आज जाना ही पड़ेगा वह्नि-मण्डल में सुलगने
आज चिन्तन-शैल में लो फिर लगे विस्फोट जगने
मैं तुम्हें भूला नहीं तब फिर अधिक यह दाह कैसा
इस अमिट-सी वासना में यह दुरन्त प्रवाह कैसा
फिर वही तृष्णा विकल उत्तप्त अनियन्त्रित उदासी
पर मिले कब प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी।

(४)

किन्तु मैं—मैं ही नहीं पीड़ित अतल की ज्योति नारी!
हैं यहाँ कितने अचेतन जल रहे उन्मादधारी
सब सुलग उस वारुणी में रूप की होली लगाते
पर अभागे मौन साधक शान्ति से जलने न पाते
प्यास वह कैसी न जिसमें भस्म हो, उद्भ्रांत जीवन
वह जलन कैसी न जिस में शान्ति का हो चिर-विसर्जन।

यह चिरन्तर वासना ओ कवि, विकल हैं हम प्रवासी
पर न मिलते प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी।

(५)

कब यहाँ परितृप्ति किसकी कौन क्षण-भर शान्त सोता
एक सत्ता चिर-तृषा की कब न वज्राघात होता
शून्य जीवन की डगरपर सब पिया का पथ सजाते
सब अकल्पित लालसा ले एक सुख रजनी बनाते
किन्तु दुर्दिन के पथिक ! वे स्वप्न जल उठते कहाँ से
एक अनियन्त्रित विमोहन फिर सुलगते लुब्ध प्यासे
यह असह आदेश तत्पर हैं यहाँ प्रतिक्षण विनाशी
पर न मिलते प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी।

(६)

प्रतिध्वनित है मार्ग दुर्गम बज रही वह दीप्त वाणी
हैं घिरे कितने तिमिर अवशेष है कितनी कहानी
आज तो उद्दाम यात्री लुट रहा जीवन डगर में
है यहाँ प्रतिक्षण अपरिचित मूक पाहुन के नगर में
यह महायात्रा चला चल ओ पथिक तूफ़ान वाले
गति यहाँ बस सत्य इतना नव प्रलय का स्रोत पा ले
सब बहे जाते कहाँ का प्रज्वलित आह्वान त्रासी
पर न मिलते प्राण के वे मीत, वे मन के निवासी।

जगने पर

कुछ रात गये कुछ रात रहे जब सहसा नींद उचट जाती।

(१)

तम की काली छलनाओं में झिलमिल करते नभ के तारे
फिर पीपल, बरगद के तरु भी हुंकृत करते अपने नारे

चेतन अस्थिर की कौन कहे जब पाषाणों में भी धड़कन
अपने प्राणों के क्रंदन में खामोश पड़े भूले चिन्तन
दिनभर का नीरस श्रमजीवी-मैं कार्य-भार से थक सोया
यों जीवन-ज्वाला में अकुला कुछ बार दिवा में भी रोया
कुछ जान न पाता कैसे तुम नज़दीक तृषित के आ जातीं
कुछ रात गए, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती।

(२)

मैं बन्दी चिर-व्याकुल हूँ मैं बस चीख सिहर उठता उस क्षण
आँखों के रूखे मेघ उमड़ करते अभिलाषा का तर्पण
मुरझाए फूलों में मेरे कोकिल का कण्ठ खुला जाता
बीते दिवसों का अपराधी मैं कितनी प्यास जगा लाता
ऐसे ही एक दिवस जग में देखूँगा बीत गया जीवन
कुछ पास लड़कपन की भूलें—कुछ पास जवानी का क्रन्दन
पर पा न सका जो शेष वही, प्राणों का धन, उर की थाती
कुछ रात गए, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती।

(३)

सम्मुख शेफाली के नीचे फूलों से भर जाती धरती
शशि-किरणें चूम चली जातीं कुछ हँसती कुछ आहें भरती
चिर-तृप्ति कहाँ ? कहता जैसे सन-सन रव में उन्मत्त पवन
चीत्कार कपोतों का वन में झंकृत करता रजनी निर्जन
क्षण भर की ममता से वञ्चित मैं देख चुका मानव का मन
दुर्योग भरी रातों में जब असमय होता संघर्ष पतन
जब अपनी मूक तृषित सत्ता अपने क्रन्दन से भय खाती
कुछ रात गए, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती।

(४)

युग-युग से दग्ध रहे परिचित विद्रोही प्राण अभावों से
कब तृप्ति इन्हें मिलने पाई सूने अन्तर के घावों से
सुख और इन्हें क्या झपकी में यदि कोई पास तनिक आए
जीवित कब्रों की जड़ता में मीठी-सी आँच उठा जाए
फिर जागृति दर्द नया कर दे मैं ने इसको सुख ही माना
अन्तर्ज्वाला से प्यार बहा जब पीर उठी सूझा गाना
कुछ दिन बीते छण भर योंहीं प्रेमी को राहत हो जाती
कुछ रात गए, कुछ रात रहे, जब सहसा नींद उचट जाती।

आनन्दकुमार

जन्म-संवत्	१९७२ (नवम्बर, १९१५)
जन्म-स्थान	कोइरीपुर (जौनपुर)
शिक्षा	बी० ए०
रचनायें	कविता—पुष्पबाण, सारिका। निबन्ध—समाज और साहित्य, दो भाग। बाल-साहित्य—परियों की कहानियाँ, राक्षसों की कहानियाँ, जादू की कहानियाँ। किसानोपयोगी—घरेलू इलाज, किसानों की कहावतें।
वर्तमान जीवन	
विशेष	जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आनन्दकुमार ने पद्य-रचना किसी से नहीं सीखी। यह इनका जन्मजात ज्ञान है। इनके गद्य और पद्य दोनों में मुझे इनकी निजी

विशेषता और हिन्दी-साहित्य के नूतन भविष्य के सौंदर्य की झलक दिखाई पड़ती है। आनन्दकुमार ने अपनी छात्रावस्था में दो वर्षों तक बच्चों के मासिक-पत्र 'वानर' का सम्पादन बड़ी योग्यतापूर्वक किया था।

आत्म-विस्मृति

(१)

वन-कुसुम ये हँस रहे हैं मम हृदय का हास लेकर।
होगया शीतल पवन है आज मेरे श्वास लेकर॥
एक आशा-सी गगन में झिलमिलाती तारिका है।
हृदय के कुछ गीत लेकर गा रही यह सारिका है॥

(२)

है खड़ी मेरी निराशा ही निशा का रूप धरकर।
निज कहानी पढ़ रहा हूँ आज सरिता की लहर पर॥
सोचता हूँ मैं यहाँ हूँ या प्रकृति में खो गया हूँ।
जा रहा हूँ या कि विस्तृत विश्व में लय हो गया हूँ॥

कामना

(१)

जहाँ प्रभात समय होता है, मन्दिर में अजस्र घंटा-रव।
वेद-पाठ करते हैं ऋषि, है मनुज-रत्न-युत राष्ट्र-महार्णव॥
और जहाँ पर वीर शूरमा सोते हैं यश-लाभ प्राप्त कर।
कब हम उस पावन प्रदेश में धन्य बनेंगे जन्म ग्रहण कर!

(२)

अपना हृदय रक्त देकर जो, करते हैं दिन-रात परिश्रम।
फिर भी जिनके प्रति समाज यह रहा सदैव उपेक्षक, निर्मम॥

देश जगाकर जो सोते हैं उनकी स्मृति-समाधि पर जाकर।
कब हम जीवन सफल करेंगे अश्रु-कणों के पुष्प चढ़ाकर?

(३)

सोच रहा हूँ, कभी जगत ने जिन्हें न देखा आँख उठाकर।
जिनके लघु प्रयास पर हँसकर किया विश्व ने प्रगट निरादर।
जिनका हर्ष-रुदन सुनने को मिला नहीं कोई प्रेमी मन।
कब मैं उनके निकट बैठकर, शान्त करूँगा अपना जीवन!

यौवन-नृप

युग्म कपोलों के शतदल पर अलकों के मधुकर मँडराये।
मृदु मुसकानों की मणियों से प्रिय अधरों ने थाल सजाये॥
स्वागत में नयनों ने बाँकी चितवन के पाँवड़े बिछाये।
जीवन के इस राज-भवन में यौवन-नृप इठलाते आये॥

कली

(१)

द्रुम-अंक में बैठी हुई सजके जब मैं थी उमङ्ग-भरी निकली।
तब याद मुझे है सखे! तुमको लगती थी अहो! कितनी मैं भली।
तुम आए थे प्रेम-भिखारी बने अलि गुञ्जित थी सब कुञ्ज गली।
अब कैसे भला तुम दो क्षण ही में बने इतने निरमोही छली॥

(२)

मेरे लिये तो वही तुम हो मुझको समझो तुम और भले ही।
वीर! हमारे लिये तो सदा दुखदायक हैं सुख के क्षण वे ही॥
दो दिन रास मचा करके तुम कैसे बने अलि आज विदेही।
हा, किस कारण भूल गये वह प्रीति प्रतीति की बातें, सनेही!

यौवन

जीवन-कुञ्ज में प्रेम की कोयल कूक उठी क्षण में मतवाली।
छाई सभी विधि लोचनों में अनुराग-भरे रवि की मद-लाली॥
मादक काम समीर प्रचारित झूम पड़ी यह यौवन डाली॥
कोई सनेही लगा भ्रमने मन के वन में बन के वनमाली।

भावी राष्ट्र

ऋषि-मुनियों की पुण्य-भूमि यह बने सभी को मंगलकारी।
सभ्य-समाज रहे युग-युग तक आर्य्य-पुत्र हों शुद्धाचारी॥
मेरी यही कामना है बस रहें प्रीति से सब नर-नारी।
मातृ-भूमि की गोदी भर दें लालों रामचन्द्र धनु-धारी॥

ये मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर एक राम के सभी भवन हैं।
कहीं किसी ने यह देखा है भिन्न ग्रहों के भिन्न गगन हैं?
एक राम को जहाँ पुकारो एक रूप ही में मिलता है।
फूल एक ही तीन घरों में एक भाव ही से खिलता है॥

रहे वेद-सा मान्य सभी को वह कुरान भी पैग़म्बर का।
हृदय-हृदय में फैल जाय वह शुद्ध ज्ञान भी पैग़म्बर का॥
एक ख़ुदा के हम बन्दे हैं यह कलाम भी पैग़म्बर का।
सुनें लोग फिर लड़ें किसलिये रटें नाम भी पैग़म्बर का॥

जीवन-रण-यात्री पहनो यह सत्य वर्म है प्रभु ईसा का।
सत्य कर्म है सत्य मर्म है सत्य धर्म है प्रभु ईसा का॥
गीता-सम इंजील पूज्य हो ग्राह्य वचन हो प्रभु ईसा का।
वे भी हैं यदुपति हम सब के चलो भजन हो प्रभु ईसा का॥

चलो चलें उस ओर जहाँ पर मंदिर मसजिद गिरजाघर हैं।
सब कुछ है ऐसा ही हिन्दू मुसलमान ईसाई नर हैं॥

इसी भाँति का स्वच्छ गगन है बहता है समीर ऐसा ही।
किन्तु प्राण है भिन्न वहाँ का यद्यपि है शरीर ऐसा ही॥

जहाँ वेद-मंदिर की रक्षा में लाखों मुसलिम उद्यत हैं।
और क़ुरान तथा मसजिद की रक्षा में हिन्दू भी रत हैं॥
हिन्दू मुसलमान की, मुसलिम हिन्दू की रक्षा करते हैं।
एक दूसरे की रक्षा ही में प्राणी जीते मरते हैं॥

अभी बहुत मंजिल बाक़ी है हम थोड़े जाने वाले हैं।
नाविक, पार उतार हमें वह देख उठे घन मतवाले हैं॥
कठिन मार्ग है, नव प्रदेश है अन्धकार आनेवाला है।
क्या चिंता है जबतक मन में देश-प्रेम का उजियाला है॥

ईश्वर करे पूर्व पुरुषों की सदियों की साधना सफल हो।
घर-घर में आनन्द बधाई बजे देशभर में मंगल हो॥
भेद-भाव से शून्य हमारी मनुष्यता यह अविनाशी हो।
देश-प्रेम से पूर्ण हृदय ही हम सब का मक्का काशी हो॥

कौमुदी-कुञ्ज

स्तुति

मन विरात धीरज छुटत,
उनुक्ति चूक अरु पाप।
सब प्रानिन के प्रान प्रभु
हरहु शोक सन्ताप॥

पंडित मदनमोहन मालवीय

कुटीर का पुष्प

भाग्यवान हूँ, इस ही में यह विजन कुटीर करूँ सुरभित।
नहीं तनिक इच्छा मुझको मधुकर-मण्डित आरामों की।
दुर्बल अंग, स्वल्प सौरभ, मम काम-स्थल यह कोना है।
इसे सजाऊँ, इसे रिझाऊँ, केवल यही कामना है।
यही लालसा हिय में, इसका इक दिन विंध गलहार बनूँ।
अपना सब सौरभ समाप्तकर रज-कन में बस वास करूँ॥

पुरुषोत्तमदास टंडन

स्वदेश-प्रीति

होगा नहीं कहीं भी ऐसा अति दुरात्मा वह प्राणी।
अपनी प्यारी मातृभूमि है जिससे नहीं गई जानी॥
"मेरी जननी यही भूमि है" इस विचार से जिसका मन।
नहीं उमङ्गित हुआ, वृथा है उसका पृथ्वी पर जीवन॥१॥
क्या कोई ऐसा है जिसका मन न हर्ष से भर जाता।
देश विदेश घूमकर जिस दिन वह अपने घर को आता॥
यदि कोई है ऐसा, तो तुम जाँचो उसको भले प्रकार।
नाम न लेता होगा कोई करता नहिं होगा सत्कार॥२॥
पावे वह उपाधि यदि उत्तम अथवा लक्ष्मी का भंडार।
लम्बा चौड़ा नाम कमाकर चाहे हो जावे मतवार॥
उसकी सब पदवियाँ व्यर्थ हैं उसके धन को है धिक्कार।
केवल अपने तन की सेवा करता है जो विविध प्रकार॥३॥
विमल कीर्ति का जीवन भर वह कभी न होगा अधिकारी।
घोर मृत्यु के पञ्जे में फँस पावेगा वह दुख भारी॥
तुच्छ धूल से उपजा था वह उसमें ही मिल जावेगा।
उस पापी के लिये न कोई आँसू एक बहावेगा॥४॥

गौरीदत्त वाजपेयी

जीवन-गीत

शोक-भरे छन्दों में मुझसे कहो न "जीवन सपना है"।
जो सोता है वह है मृतवत् जग का रंग न अपना है॥१॥
जीवन सत्य, नहीं झूठा है, चिता नहीं इसका अवसान।
"तू मिट्टी, मिट्टी होवेगा" उक्ति नहीं यह जीव-निदान॥२॥

जग की विस्तृत रण-स्थली में जीवन के झगड़ों के बीच।
नायक बनकर करो काम सब, पशुओं ऐसे बनो न नीच ॥३॥

सज्जन चरित सिखाते हम भी कर सकते हैं निज उज्ज्वल।
जग से जाते समय रेत पर छोड़ें चरण-चिह्न निर्मल ॥४॥

चरण-चिह्न वे देख कदाचित् उत्साहित हों वे भाई।
भवसागर की चट्टानों पर नौका जिनकी टकराई ॥५॥

हो सचेत श्रम करो सदा तुम चाहे जो कुछ हो परिणाम।
सदा उद्यमी होकर सीखो धीरज धरना, करना काम ॥६॥

पुरोहित लक्ष्मीनारायण

ब्याहा भला कि क्वारा !

मेरे मन यह भावना, पत्नी करना यार।
उमर अकेले काटना, होना सचमुच ख्वार॥
बड़ा हर्ष यह रात-दिन, निज नारी का ध्यान।
जग में रहना नारि बिन, महा कष्टकर जान॥

भामिनि-चिन्ता चित्त को, है अति ही सुखदाय।
पावै कभी न मित्त सो, जो क्वारा रहि जाय॥
ब्रह्मचर्य्य जो साधता, बहुत बुरा दरसाय।
मेरे मन को भावता, ब्याहा जो बन जाय॥

डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग

शान्तिमयी शय्या

मनोहारी शय्या, परम सुथरी भूमितल की,
सुहाती क्या ही है, ललित बन के दूब-दल से।
नदी के कूलों की, विमल वर इन्दु-द्युति सम,
नई रेती से जो, अति चमकती है निशि-दिन ॥१॥

सुहाने वृक्षों की, अति सघन पंक्ति प्रवर से,
लता प्यारी-प्यारी, लिपटत अनोखी तरह से।
रँगीले फूलों की, नवल बन-माला पहन के,
लुभाती है जी को, पथिक जन के वे विपिन में ॥२॥

सुरीली वीणा-सी, सरस नदियाँ वादन करैं,
कभी मीठी-मीठी, मधुर धुनि से गायन करैं।
सदा ही नाचै हैं, झरित झरने नाच नवल,
निराली शोभा है, विपिनवर की कौतुकमयी ॥३॥

कभी धीरे-धीरे, व्यजन करती मन्द-गति से,
चली आती दौड़ी, पवन मदमाती मलय की।
कभी चित्ताकर्षी, शिशिर-कणवर्षी विपिन में,
दिखाती है शोभा, सुखद, मन लोभा न किसका ? ॥४॥

महाशोभाशाली, विपुल विमला चन्द्र-किरणें,
घने कुञ्जों में हैं, सतत घुस के खेल करतीं।
कभी हो जाती हैं, सघन घन के ओट-पट में,
वियोगी योगी के, हृदय हरतीं तत्क्षण सदा ॥५॥

कभी आती निद्रा, विमल परमानन्द-पद की,
सुहानी शय्या में, अतिशय सनी शान्ति-रस-सी।

कभी आँखों को है, चकित करती प्राचि अबला,
दिखाती आती है, अमल अरुणाई अधर की ॥६॥

छटा कैसी प्यारी, प्रकृति तिय के चन्द्र-मुख की,
नया नीला ओढ़े, वसन चटकीला गगन का।
जरी-सलमा-रूपी, जिसपर सितारे सब जड़े,
गले में स्वर्गङ्गा, अति ललित माला सम पड़ी ॥७॥

सत्यशरण रतूड़ी

प्रकृति

छटा और ही भाँति की देखते हैं,
जहाँ दृष्टि हैं डालते फेर के मुँह।
कहीं छन्द सुनते कहीं देखते हैं,
कहीं कोकिलों की सुरीली "कुहू-कुह" ॥१॥

कहीं आम बौरे, कहीं डालियों के,
तले फूल आके गिरे बीच थाले।
रखे हैं मनो टोकरे मालियों के,
इकट्ठे जहाँ भौंर-से भौंरवाले ॥२॥

कहीं व्योम में साँझ की लालिमा है,
कभी स्वच्छ है दृष्टि आकाश आता।
कभी रात्रि में मेघ की कालिमा है,
कभी चाँदनी देख जी है लुभाता ॥३॥

कभी इन्द्र का चाप है सतरङ्गी,
जहाँ ज्योति के संग बूँदें घनी हैं।

कुसुम्भी, हरा, लाल, नीला, नरङ्गी,
कहीं पीत शोभा कहीं बैंगनी है ॥४॥

कहीं हेल-से जीव हैं दृष्टि आते,
कहीं सूक्ष्म कीटादि की पंक्तियाँ हैं।
उन्हें देखकर चित्त हैं चित्त खाते,
इन्हें देखने की नहीं शक्तियाँ हैं ॥५॥

कहीं पर्वतों से नदी बह रही हैं,
कहीं वाटिका में बनी स्वच्छ नहरें।
कहीं प्राकृतिक कीर्ति को कह रही हैं,
छटाधीश वारीश की वक लहरें ॥६॥

कहीं पेड़ की पत्तियाँ हिल रही हैं,
कहीं भूमि पर घास ही छा रही है।
सुगंधें कहीं वायु में मिल रही हैं,
कहीं सारिका प्रेम से गा रही है ॥७॥

कहीं पर्वतों की छटा है निराली,
जहाँ वृक्ष के वृन्द छाये घने हैं।
लगी एक से एक प्रत्येक डाली,
मनो पान्थ के हेतु तम्बू तने हैं ॥८॥

कहीं खेत के खेत लहरा रहे हैं,
महा मोद में हैं कृषीकार सारे।
उन्हें देखकर मूँछ फहरा रहे हैं,
सदा घूमते काँध पै लट्ठ धारे ॥९॥

अनोखी कला सच्चिदानन्द की है,
उसीकी सभी वस्तु में एक सत्ता।

अहो, कौमुदी यह उसी चन्द की है,
रचा है जिन्होंने लता, पेड़, पत्ता ॥१०॥

अचम्भा सभी वस्तु संसार की है,
वृथा दर्प विज्ञान भी ठानता है।
जगन्नाथ ने सृष्टि विस्तार की है,
वही विश्व के मर्म को जानता है ॥११॥

वागीश्वर मिश्र

युवा संन्यासी

गुण-निधान मतिमान सुखी सब भाँति एक लवपुर-वासी।
युवा अवस्था बीच विप्र-कुल-केतु हुआ है संन्यासी ॥१॥

वृद्ध पिता-माता की आशा विन ब्याही कन्या का भार।
शिक्षा-हीन सुतों की ममता पतिव्रता नारी का प्यार। २॥

सन्मित्रों की प्रीति और कालिजवालों का निर्मल प्रेम।
त्याग, एक अनुराग किया उसने विराग में तज सब नेम ॥३॥

"प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता"—यों कहती प्यारी छोड़ी।
हाय! वत्स! वृद्धा के धन!! यों रोती महतारी छोड़ी ॥४॥

चिर सहचरी "रियाजी" छोड़ी रम्य-तटी रावी छोड़ी।
शिखा-सूत्र के साथ हाय! उन बोली पञ्जाबी छोड़ी ॥५॥

धन्य पञ्च-नद भूमि जहाँ इस बड़भागी ने जन्म लिया।
धन्य जनक-जननी जिनके घर इस त्यागी ने जन्म लिया ॥६॥

धन्य सती जिसका पति मरने से पहले हो जाय अमर।
धन्य! धन्य! सन्तान पिता जिनका जगदीश्वर पर निर्भर ॥७॥

माधवप्रसाद मिश्र

मेरी मैया

किसने अपने स्तन से मुझको सुमधुर दूध पिलाया था ?
लेकर गोद, प्रेम से थपकी दे-दे मुझे सुलाया था ?
चूम-चूमकर किसने मेरे गालों को गरमाया था ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

बिलख-बिलखकर रोता था जब नींद न मुझको आती थी।
आरी निंदिया ! आरी निंदिया ! कहकर कौन सुलाती थी ?
और प्यार से पलने में रख मुझको कौन झुलाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

मुझे गिर गया देख, दौड़कर तत्क्षण कौन उठाती थी ?
फिर मेरा जी बहलाने को बातें कौन बनाती थी ?
अथवा फूँक-फूँककर अच्छी हुई चोट बतलाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

जिसने प्यार किया अति मेरा कैसे उसे भुलाऊँगा ?
नहीं स्वप्न में भी मैं उससे मन अपना बिलगाऊँगा।
गुण उसके गाकर मैं उससे अविरल प्रीति लगाऊँगा।

जैनेन्द्रकिशोर

बुलबुल की फ़रियाद

आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना।
वह झाड़ियाँ चमन की वह मेरा आशियाना॥

वह साथ सब के उड़ना वह सैर आसमाँ की।
वह बाग़ की बहारें वह सबका मिल के गाना॥

पत्तों की टहनियों पर वह झूमना ख़ुशी में।
ठंडी हवा के पीछे वह तालियाँ बजाना॥

लगती है चोट दिल पर आता है याद जिस दम।
शबनम का सुबह आकर फूलों का मुँह धुलाना॥

वह प्यारी-प्यारी सूरत वह कामिनी-सी मूरत।
आबाद जिसके दम से था मेरा आशियाना॥

आज़ादियाँ कहाँ वह अब अपने घोंसले की।
अपनी ख़ुशी से आना अपनी ख़ुशी से जाना॥

तड़पा रही है मुझको रह-रह के याद घर की।
तक़दीर में लिखा था पिँजड़े का आबोदाना॥

इस क़ैद का इलाही दुखड़ा किसे सुनाऊँ।
डर है यही क़फ़स में मैं ग़म से मर न जाऊँ॥

क्या बदनसीब हूँ मैं घर को तरस रहा हूँ।
साथी तो हैं वतन में मैं क़ैद में पड़ा हूँ॥

आई बहार कलियाँ फूलों की हँस रही हैं।
मैं इधर अँधेरे घर में क़िस्मत को रो रहा हूँ॥

जी चाहता है मेरा उड़कर चमन को जाऊँ।
आज़ाद हो के बैठूँ और सैर हो के गाऊँ॥

बेरी की शाख पर हो फिर इस तरह बसेरा।
उस उजड़े घोंसले को फिर जाके मैं बसाऊँ॥

चुगता फिरूँ चमन में दाने ज़रा-ज़रा-से।
साथी जो हैं पुराने उनसे मिलूँ मिलाऊँ॥

गाना इसे समझकर खुश हों न सुननेवाले।
दुक्खे हुए दिलों की फ़रियाद यह सदा है॥
आज़ाद रह के जिसने दिन अपने हों गुज़ारे।
उसको भला खबर क्या यह क़ैद क्या बला है॥
आज़ाद मुझको कर दे ओ क़ैद करनेवाले!
मैं बेज़बाँ हूँ क़ैदी तू छोड़कर दोआ ले॥

डा० इकबाल

अन्योक्ति

एरे मलिन्द मन! तू किस रङ्ग में रँगा है?
संसार-घोर वन में, दुःख-दैन्य के भवन में,
    मकरन्द-मोह ढूँढ़े, हा मोह ने ठगा है॥
सुख-शान्ति को स्वजन में, ज्यों फूल को गगन में,
    पाने की हर समय तू उद्योग में लगा है॥
ये मालती, चमेली, आपत्ति की सहेली,
    सर्वस्व दे उन्हें तू नवनेह में पगा है॥
जो कल कली खिली थीं, आमोद से मिली थीं।
    वे अब नहीं दिखातीं, फिर भी न तू जगा है॥
जिस फूल पर निछावर, करता है प्राण भी वर,
    हा मूढ़, वह सदा ही देता तुझे दगा है॥
बहु वेदना सही हैं, जाती न जो कही हैं,
    मिथ्या सुरस का लोभी अब भी न हा भगा है॥
कुञ्जन निकुञ्ज आवे, प्रभु प्रेम-गीत गावे,
    बाला हरी-चरन बिन कोई नहीं सगा है॥

श्रीमती सत्यबाला देवी

सुमन

जब उदयाचल पर ऊषा ने प्रकटित अपना किया स्वरूप,
तब तुमने था मन्दहास से विकसित किया अनूपम रूप।
मधुप माँगने मधु आया था, लता हुई थी गौरववान,
तुमसे सुरभित होने को था बार-बार आया पवमान।
बने शीघ्र तुम वन के गौरव प्रातः सुषमा के आधार,
की मन में ऊँची आशायें बन वदान्यता के आगार।
किन्तु कहो, तब किसके मन में हो सकता था यह विश्वास,
सङ्ग हास के ह्रास लगेगा, यों विकास के साथ विनाश।
रजनी के तम में पड़कर तुम जब खो बैठे निज सर्वस्व,
तब आशाओं को विनष्ट कर गया तुम्हारा वह वर्चस्व।
अलि ने तुमसे निज मुख मोड़ा लतिका लज्जित हुई विशेष,
किया पवन ने तुम्हें गिराकर धरा-धूलि से धूसर वेष।

बलदेवप्रसाद मिश्र

परिणाम

जीवन की ज्वाला से मेरा यह क्षुद्र हृदय-सर सूख गया,
मैं हुआ विकल, सोचा, क्या प्रभु की होगी मुझपर नहीं दया!
जब सबपर करुणा-वृष्टि हुई तब मुझपर भी लघु बूँद पड़ी।
गिरते ही वह झट लुप्त हुई तब मुझे हुई वेदना बड़ी॥
मैंने देखा, जग में बहता था मलिन प्रेम का कुत्सित जल।
मैं करता क्या? उससे ही अपने किया गात्र को कुछ शीतल॥

कुछ दिन तक तो निर्भय होकर उसमें ही खूब विलास किया ।
जब ग्लानि हुई, कुछ खेद हुआ, तब उसे हृदय में छिपा लिया ॥
होगया शुद्ध तनु, हृदय पङ्क-मय बना हुआ ही है अबतक ।
मैं सोच रहा हूँ; कमलों का होगा विकास उसमें कबतक ॥

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०

शव

(१)

इस धूलि में धरा क्या, जिसमें पड़े लपेटे !
मेरे सरल बटोही !
पथ-ताप से भरा क्या, किस हेतु मौन लेटे !
अनजान देश-द्रोही !

(२)

भर कौन खेद मन में, किस सिन्धु-मध्य भोगी,
तरणी डुबा रहे हो !
कैसे सघन विजन में, संन्यास ले वियोगी !
जीवन उबा रहे हो ?

(३)

उस पार से बुलाती, गोधूलि पंचरंगी;
किस सोच में पड़े हो !
बुलबुल विहाग गाती; सोता मयूर संगी;
किस तीर तुम खड़े हो !

(४)

कर टूक-टूक जीवन, तरुणी नवीन बाला,
मूर्च्छित उधर पड़ी है।
छू लो अछूत ! दामन, भर दो सुहाग-प्याला;
यम-यातना कड़ी है।

(५)

माँ का उदास क्रन्दन, सुनते नहीं बधिर ! क्यों ?
आँखें अषाढ़-सी हैं।
कोई न सूझते फन, घेरे पड़ा तिमिर क्यों ?
घड़ियाँ विपत्ति की हैं।

(६)

रोकर कुटिल पड़ोसी, मृदु फूल-सी तुम्हारी
यह देह फूँक देंगे।
झुक जायँगे स्वदोषी, क्या मार हम कटारी
अनुताप में मरेंगे।

गुलाबरत्न वाजपेयी

वर्षा-ऋतु

बिरहिन हृदय बिदारन हारे। छये अकास जलद रँग कारे॥
जल चरनीतल धूल दबाई। सूर चन्द नहिँ परत लखाई॥१॥
गरजत घनमय हंस पलाये। साँझ न दीखत चन्द सुहाये॥
कुन्द रदनि नव मदयुत मोरा। चहुँदिसि कुहुकि मचावहिं शोरा॥२॥

नभ न नखत निशि घन बहु छाये। हरि सुख सोवत सेज बिछाये॥
इन्द्र-चापयुत जल बरसाते। घन कर गिरि सम गज़ मदमाते॥३॥

धुनि गँभीर युत जल बरसावत। घन-गरजन गिरि नाग डरावत॥
गुहा अनूपम रूप सुहाई। सतड़ित घन तहँ जल बरसाई॥४॥

दिनकर दुति बन रही लुकाई। नभ तें जल बरसत दुखदाई॥
मदनहिं करत प्रहार निहारी। प्रोषित जन तिय बैन उचारी॥५॥

जलद सकल अवसर बिसराये। पिय परदेश गये तुम आये॥
निर्दय पिय परदेस सिधारे। तुम न हमहिं तजिहौ बिन मारे॥६॥

कानन महिं रहि फूल चमेली। पिय बिनु व्याकुल होहिँ नवेली॥
गरजत मेघ समीर डुलाई। अति सुगंधि सब दिसि फैलाई॥७॥

भ्रमर पुष्प रस अवसर जानी। चूमत लता यूथिका आनी॥
चहुँदिसि छाज सुभग हरियारी। चातक याचत निर्मल वारी॥८॥

हरिमंगल मिश्र, एम० ए०

पश्चात्ताप

हाय! न जीवन जन्म सुधारा कर्म किये दुखदाई रे।
न्हाया नहीं सुमति-सुरसरि में निशिदिन कुमति कमाई रे॥
काट दिया आनन्द कल्पतरु दुख की बेल बढ़ाई रे।
माना कभी न समझाने से हठधर्मी उर छाई रे॥
हाय गिरा गुण गौरव गिरि से नीच दशा मन भाई रे।
पाला पेट श्वान शूकर सम नेक न उन्नति पाई रे॥
जग का वास सराय न जाना अंधाधुंध मचाई रे।
रे कवि कर्ण भला क्या होगा कर पाया न भलाई रे॥

कर्णसिंह

विश्व-प्रेम

वह अपना है या नहीं, यह अति क्षुद्र विचार।
है उदार जन के लिये, निज कुटुम्ब संसार॥
किसी भग्न प्राचीर में, छिद्र एक प्राचीन।
खिला पुष्प उस बीच है, नाम गोत्र से हीन॥
दृष्टि-गत करता नहीं, उस पर लोक-समाज॥
सूर्य सुबह उठ पूछता, बन्धु कुशल है आज!

पारसनाथसिंह, बी० ए०

अछूत की आह

एक दिन हम भी किसी के लाल थे। आँख के तारे किसी के थे कभी॥
बूँद भर गिरता पसीना देखकर। था बहा देता घड़ों लोहू कोई॥१॥

देवता देवी अनेकों पूजकर। निर्जला रहकर कई एकादशी॥
तीरथों में जा द्विजों को दान दे। गर्भ में पाया हमें माँ ने कहीं॥२॥

जन्म के दिन फूल की थाली बजी। दुःख की रातें कटीं, सुख दिन हुआ॥
प्यार से मुखड़ा हमारा चूमकर। स्वर्ग-सुख पाने लगे माता-पिता॥३॥

हाय! हमने भी कुलीनों की तरह। जन्म पाया प्यार से पाले गये॥
जी बचे फूले फले तब क्या हुआ। कीट से भी नीचतर माने गये॥४॥

जन्म पाया पूत हिन्दुस्तान में। अन्न खाया औ यहीं का जल पिया॥
धर्म हिन्दू का हमें अभिमान है। नित्य लेते नाम हैं भगवान का॥५॥

पर अजब इस लोक का व्यवहार है। न्याय है संसार से जाता रहा॥
श्वान छूना भी जिन्हें स्वीकार है। है उन्हें भी हम अभागों से घृणा॥६॥

जिस गली से उच्च कुलवाले चलें। उस तरफ़ चलना हमारा दण्ड्य है।
धर्म्म-ग्रन्थों की व्यवस्था है यही। या किसी कुलवान का पाखण्ड है ॥७॥

छोड़कर प्यारे पुराने धर्म को। आज ईसाई-मुसल्माँ हम बने।
नाथ! कैसा यह निराला न्याय है? तो हमें सानंद सब छूने लगे ॥८॥

हम अछूतों से बताते छूत हैं। कर्म कोई खुद करें पर पूत हैं।
हैं सगों को ये पराया मानते। क्या यही स्वामी तुम्हारे दूत हैं ॥९॥

शासकों में माँगते अधिकार हैं। पर नहीं अन्याय अपना छोड़ते।
प्यार का नाता पुराना तोड़कर। हैं नया नाता निराला जोड़ते ॥१०॥

नाथ! तुमने ही हमें पैदा किया। रक्त मज्जा मांस भी तुमने दिया।
ज्ञान दे मानव बनाया फिर भला। क्यों हमें ऐसा अपावन कर दिया ॥११॥

जो दयानिधि कुछ तुम्हें आये दया। तो अछूतों की उमड़ती आह का,
यह असर होवे कि हिन्दुस्तान में। पाँव जम जावे परस्पर प्यार का ॥१२॥

रामचन्द्र शुक्ल

पेट-स्तोत्र

नमामि पेटं नमामि पेटं पेटं परमाराध्य प्रभो!
पाँड़े पानी-पाँड़े बनते। चौबेजी चपरास पहनते॥
हेतु तुम्हारे शुक्ल भिखारी। अद्भुत महिमा बड़ी तुम्हारी।
नमामि पेटं नमामि पेटं पेटं परमाराध्य प्रभो!

द्वारपाल हैं बने द्विवेदी। तेल बेंचते बैठ त्रिवेदी॥
बने मिश्रजी जमादार हैं। गावैं कैसे गुण अपार हैं।
बिड़ी बनाते हैं साईंजी। बड़ी बेचती हैं बाईजी॥
पाठक बेंचैं धोती-जोड़ा। जो कुछ आप करैं सो थोड़ा॥

तज हथियार तराजू धारी। क्षत्री बन बैठे पंसारी॥
त्याग बेचना जीरा-धनियाँ। बने कान्स्टेबिल हैं बनियाँ॥

दुखदाई चपेट तव खा के। भस्म रमा के जटा बढ़ा के॥
कई शूद्र दुर्व्यसनी पाजी। बन बैठे जग में बाबाजी॥

पृथ्वी भर के सकल जीवगण। साहब, बाबू, सेठ, महाजन॥
लगा रङ्क से महाराज तक। सभी आपके हैं आराधक॥

सिर में टोपी तन में कुरता। भले ही न हो पग में जूता॥
आप भरे हैं तो क्या कहना। बहता सदा शांति का झरना॥

तव चिन्ता निज मन में धारे। भूख-प्यास की दशा बिसारे॥
प्रतिदिन प्रतिक्षण हेतु तुम्हारे। फिरते हैं सब मारे-मारे॥

किसीको परधर्मी बनवाया। किसीको लन्दन तक पहुँचाया॥
किसीको बाघम्बर पहिनाया। सबको तुमने नाच नचाया॥

लिये तुम्हारे लोग झगड़ते। पैर पकड़ते नाक रगड़ते॥
ऐंठ छोड़ते हाथ जोड़ते। आँख फोड़ते पैर तोड़ते॥

ज्ञान तभी तक ध्यान तभी तक। ईश्वर का गुण-गान तभी तक॥
रहते भरे आप हैं जबतक। खाली में है कोरी बक-बक॥

स्थिति अनुसार भक्त-गण अर्पित। लेह्य, चोष्य, पेयादिक चर्वित॥
नित नैवेद ग्रहण करते हो। तो भी खाँव-खाँव करते हो॥

घर में कोई भी मर जावे। रोना-धोना भी मच जावे॥
तो भी होती है तव पूजा। कौन समर्थ आप-सा दूजा॥

प्रातःकाल नींद खुलती जब। मनोवृत्ति जाग्रत होती तब॥
याद आपकी ही आ जाती। शीघ्र दृष्टि हण्डी पर जाती॥

जन्मकाल से जीवन भर तक। उषःकाल से अर्द्धरात्रि तक॥
लेकर मन में विविध वासना। करते सब तव नित उपासना॥
मैंने स्तुति की है तव ऐसी। होगी न की किसी ने जैसी॥
बस, वरदान यही मैं पाऊँ। तेरा दुःख कभी न उठाऊँ॥

शुकलालप्रसाद पांडेय

मन-मोर

पूँछता हूँ सबसे कर जोर।
किसीने देखा मेरा मोर॥
नवल नयनयुत नीलकण्ठ शुभ हंसगामिनी चाल।
अति विचित्र हैं पंख मनोहर, लख लोचन बेहाल॥
अरे वह मनमोहन चितचोर!
किसीने देखा मेरा मोर॥
सन्ध्याकाल अमावस्या का घिर आये घन घोर।
श्याम श्यामघन श्यामघटा में देख साँवली कोर॥
नाचता गया घाट की ओर।
किसीने देखा मेरा मोर॥
तब से बैठा देख रहा हूँ फिर आने की राह।
प्राण हो रहे व्याकुल मेरे क्षण-क्षण बढ़ती चाह॥
भटक जावेगा दक्षिण ओर।
किसीने देखा मेरा मोर॥
हिंसक जीव उधर रहते हैं दुष्ट वधिक बेपीर।
कभी न लक्ष्य चूकता उनका तान मारते तीर॥
खींचते पंख मरोर-मरोर।
किसीने देखा मेरा मोर॥

नयन

जिज्ञासा

(१)

ऊपर सुदूर फैला नीला असीम नभ है।
नीचे अनन्त पृथ्वी छाया - तले पड़ी है॥
आधार किन्तु किसका है मध्य में उभय के?
ब्रह्माण्ड और नभ किस संकेत से थमे हैं?

(२)

किसकी प्रकाश-छाया-सी यह उषा सुनहली—
अस्पष्ट-सी झलकती है काँपते तिमिर में?
पाता प्रकाश इतना रवि नित्य है कहाँ से?
होती सुकान्त सुन्दर बेला प्रभात की क्यों?

(३)

आते समीर के ये झोंके मधुर कहाँ से?
बहते निकुञ्ज में हैं जो मन्द-मन्द गति से।
किसका संदेश जाकर कहते प्रसून से हैं?
क्यों फूल फूल उठता, उड़ती सुगन्ध क्यों है?

(४)

प्यासे मिलिन्द आते मकरन्द-पान करते।
होकर प्रमत्त फिर जब वे तान छेड़ते हैं॥
अथवा कहीं पिकी जब करती कुहू-कुहू है।
तब अर्थ कौन है उस संगीत का समझता?

(५)

आलोक शेष अन्तिम जब छोड़कर जगत् में—
दिन के थके दिवाकर जाते चले प्रतीची॥

भरकर सुहाग का तव सिन्दूर कौन सिर में—
है भेजता भुवन में सन्ध्या-सुहासिनी को ?

(६)

क्यों श्याम, करुण इतनी आकृति निशीथ की है ?
उसके विशाल उर में है वेदना छिपी क्या ?
होकर गँभीर-वदना निज केश-पाश खोले—
बैठी सघन द्रुमों के नीचे विचारती क्या ?

(७)

नक्षत्र-पुञ्ज में है झिलमिल प्रकाश किसका ?
चिन्ता ललाट पर यह कैसी सुधांशु के है ?
जब ग्रीष्म ताप से अति तपती वसुन्धरा है।
आते पयोद लेकर शीतल सलिल कहाँ से ?

(८)

अविराम एक गति से, ये झाग-पूर्ण झरने—
करते निनाद झर्झर कब से प्रपात होते ?
गंभीर, मौन, ऊँची वे शैल-श्रेणियाँ क्यों—
चिर-काल से खड़ी हैं ? किसकी उन्हें प्रतीक्षा ?

(९)

संसार की सभी ये लीला विचित्र क्यों हैं ?
किसकी अपार माया सर्वत्र व्याप्त-सी है ?
शृङ्गार प्रकृति रचकर प्रतिक्षण नवीन अपना—
किसको रिझा रही है ? वह कौन-सा रसिक है ?

मदनमोहन मिहिर

अनोखी आँखें

सम्मुख मुख रुख देखकर, था सुख का संचार।
आँखें फेरी फिर गया, सहसा सब संसार ॥१॥

खंजन मधुकर मीन मृग, ये सब एक समीप।
घूँघट पट में देखिये, पाले मदन महीप ॥२॥

लोचन उपयोगी महा, हैं ध्रुव-यन्त्र समान।
विचलित हो न सुपंथ से, जन-जीवन-जलयान ॥३॥

मानव के व्यक्तित्व के, हैं ये ज्ञापक-यन्त्र।
लोचन आनन में लिखे, मारन - मोहन - मन्त्र ॥४॥

आँखों की ही जाँच पर, करो सुहृद ! सन्तोष।
इन कसौटियों पर कसो, जन-जन के गुण-दोष ॥५॥

राजाराम शुक्ल

शुभाशा

अखिलेश अनंत विधाता हो, मंगलमय मोद-प्रदाता हो।
भय-भंजन शिव जनत्राता हो, अविनाशी अद्भुत ज्ञाता हो ॥
तेरा ही एक सहारा हो।
हरि ! हिंद प्राण से प्यारा हो ॥१॥

सबको स्वतन्त्रता प्यारी हो, निज स्वत्व सम्पदा सारी हो।
स्वाधीन सभी नर-नारी हों, सब चार वर्ग अधिकारी हों ॥
दासत्व देश से न्यारा हो।
हरि ! हिंद प्राण से प्यारा हो ॥२॥

अघ दंभ ईति खल कूट न हो, षड्रिपु हिंसा दुख फूट न हो।
चोरी असत्य छल छूट न हो, हट द्वेष हलाहल घूट न हो॥
जीवन आदर्श हमारा हो।
हरि! हिंद प्राण से प्यारा हो॥३॥

बल वीर्य पराक्रम त्वेष रहे, सद्धर्म धरा पर शेष रहे।
श्रुति भानु एकता वेष रहे, धन ज्ञान कला-युत देश रहे॥
सर्वत्र प्रेम की धारा हो।
हरि! हिंद प्राण से प्यारा हो॥४॥

जल में जलयान हमारा हो, थल में कलयान हमारा हो।
आकाश विमान हमारा हो, सारा सामान हमारा हो॥
भारत सिरताज हमारा हो।
हरि! हिंद प्राण से प्यारा हो॥५॥

भारत तन मन धन सारा हो, उसकी सेवा सब द्वारा हो।
निज मान समान दुलारा हो, सबकी आँखों का तारा हो॥
जीवन सर्वस्व हमारा हो।
हरि! हिन्द प्राण से प्यारा हो॥ ६॥

विद्याभूषण 'विभु'

घर की ओर

पहुँचत पथिक गाउँ के धोरे।
लटपट चरन परत अटपट अति भरत अनन्द अथोरे।
मनु महान गज चलत मत्तगति रभस अलानहि तोरे॥
दूरिहि ते बिरहन की धुनि सुनि लखि ग्वालन के छोरे।
सुधि करि सुवन भवन परिजन की टूटत धीरज डोरे॥

उठत भाव बहु वेग भरे अति फेरि न फिरत बहोरे।
पहुँचि भवन प्रथमै फरकावत नेहिन के चख कोरे॥
बजत हिये बिच नेह नगारे देत विरह नभ फोरे।
छिन-छिन उमड़ि-घुमड़ि उठि बैठत सघन प्रेम घनघोरे॥
रूख करत मन सरस चहूँ दिसि लेत बाग चित चोरे।
ललकत हृदय 'अनूप' प्रेमरस छलकत नैन कटोरे॥

अनूप शर्मा, बी० ए०

कन्हैया आजा रे!

प्रकृति-नटी के रम्य कुञ्ज में,
मुरली मधुर बजा जा, रस बरसा जा रे॥क०॥
विकल सकल ब्रज की बनिताएँ, स्वागत हित दृग कमल बिछाये;
बैठी हुई प्रतीक्षा-पथ में, दर्शन-सुधा चखा जा रे॥क०॥
कालिंदी अति विह्वल, होकर, कल-कल-कल-कल स्वर में सुमधुर
गाती हुई जा रही मिलने पद-रज भेंट चढ़ा जा रे॥क०॥
मेरी दीन कुटी का माखन, आकर खाजा हे जीवन-धन!
सूत्रधार इस जग-नाटक के आकर नाच नचा जा रे॥क०॥
कभी किलकना कभी मचलना, कभी दौड़ना घुटनों चलना
यशुदा की आँखों के तारे, बाल-केलि दिखला जा रे॥क०॥
एक बार फिर इस पृथ्वी पर, जग-तम चीर प्रकट हो नटवर
भरी हुई है अघ की मटकी आकर के ढुलका जा रे॥क०॥

स्व० शिवदास गुप्त 'कुसुम'

शिशिर-समीर

सालती शर-सम शिशिर-समीर।
आई थी चुनने ये विकसित, सुरभित सुमन-समूह।
सोचा था,—मन्दिर जाऊँगी, सुमन-सहित ले नीर॥
किन्तु 'करेला यों ही कड़ुआ, और चढ़ा फिर नीम।
शिशिर-समीर और हिम-आवृत—पर्वत-अंचल-तीर!

'अरुणाभा झलझला रही है गिरि पर'—कहते लोग।
निज-सुख-मत्त जगत क्या जाने भला पराई पीर?
कितना भीम-वेग झोंकों में भरा हुआ है, आह!
बरजोरी थामे हूँ तो भी उड़ा जा रहा चीर॥

केश सँभालूँ या कि खिसकता, उड़ता हुआ दुकूल।
क्या-क्या करूँ! हाथ हैं दो ही; कैसी स्थिति गम्भीर॥
खर-खर, झर-झर हहर-हहर की रही प्रतिध्वनि गूँज।
निर्जनता! है! है! जाता है रहा सहा सब धीर॥

जगमोहन 'विकसित'

मयंक

नील व्योम के सुन्दर दीपक! शीतलता के भव्य भवन!
उस निर्जन वन में अनन्त की नीरवता में खिले सुमन!
आकुलता के सौम्य कलेवर! मथित क्षीर-सागर नवनीत!
निशा-सुन्दरी के भावुक पति! मेरे मानस के संगीत!

सुर-सरिता-तरंगमाला में, आकुल हृत्कम्पित नाविक!
धीरे-धीरे आओ! आओ!! आओ!!! सस्मित-वदन रसिक!

विश्व-वेदना के दर्शन-पट ! मेरे नयनों के झूले !
आओ ! आओ !! निशानाथ ! चिर-दुलित कुमुदिनी भी फूले ।

द्वारकाप्रसाद मौर्य, बी० ए०

उपदेश के दोहे

सहज शत्रु हैं मनुज के, चिर निद्रा तन रोग ।
ऋण लालच सन्ताप छल, क्रोध मदादिक भोग ॥१॥

जैसे करता नष्ट है, उपल विपल में शस्य ।
वैसे विद्या-बुद्धि का, नाशक है आलस्य ॥२॥

सगुण नहीं सौजन्य सम, शील सदृश शृङ्गार ।
विद्या-सम वैभव नहीं, देखो मित्र विचार ॥३॥

पर-उन्नति की चाह है, और न कुछ परवाह ।
ऐसे सज्जन की सदा, जग करता है चाह ॥४॥

अगर आप हैं चाहते, अपना परम सुधार ।
नशा कुसंगति से सदा, रहियेगा हुशियार ॥५॥

निन्दा सम पातक नहीं, नहीं सत्य सम धर्म ।
लज्जा सम भूषण नहीं, नहीं फर्ज सम कर्म ॥६॥

धन की शोभा धर्म है, प्रिय की शोभा प्रीति ।
कुल की शोभा पुत्र है, नृप की शोभा नीति ॥७॥

वही तपस्वी जानिये, जिसके राग न रोष ।
रूखा-सूखा जो मिलै, है पूरा सन्तोष ॥८॥

शिवदुलारे त्रिपाठी 'नूतन'

उपदेश-प्रद दोहे

बिना पुत्र सूना सदन, गत-गुण सूनी देह।
वित्त बिना सब शून्य है, प्रियतम बिना सनेह ॥१॥

सत्संगति से सुजनता, पा जाता है नीच।
ज्यों लेती है मृत्तिका, गन्ध सुमन से खींच ॥२॥

दुख से पहिले पुरुष जो, करें न कुछ उपचार।
अग्नि लगे पश्चात् वे, करते कूप तयार ॥३॥

है मनुष्य की देह में, कैसा एक रहस्य।
शत्रु-मित्र हैं सङ्ग ही, श्रम एवं आलस्य ॥४॥

जानो सज्जन की यही, एकमात्र पहचान।
इनके होते तीन हैं, मन, बच, कर्म समान ॥५॥

मेधावी, वक्ता, सुधी, धर्मनिष्ठ, गुणवान।
सत्कवि की यह जानिये, सीधी-सी पहचान ॥६॥

जो हों लोभी, पातकी, व्यसनी क्रूर, गँवार।
उन्हें कभी मत दीजिये, थोड़े भी अधिकार ॥७॥

एक देह के भाग हैं, उरू, भुजा, मुख, पैर।
क्या मुख करता है कभी, नीच पैर से वैर? ॥८॥

आश्रित चरणों के सदा, रहती है यह देह।
अतः बाहु, शिर ने किया, पद-वन्दन सस्नेह ॥९॥

अहंकार अविचारिता, दुर्वच, वैर, विवाद।
अविवेकी के चिन्ह ये, रखिये सन्तत याद ॥१०॥

शीश कटे तो मत डरो, करो विजय की आश।
शीश कटाया दीप ने, दूना हुआ प्रकाश ॥११॥

दो जिह्वा रखिये नहीं, हो विद्या-वागीश।
यथा लेखनी का कटा, कटा व्याल का शीश ॥१२॥

रुद्रदत्त मिश्र

विचित्र चित्रकार

भाल है विशाल नभ विशद प्रभा का पुञ्ज,
इन्द्रचाप भ्रू है छवि अकथ अपार है।
लोचन हैं सुन्दर दिवाकर निशाकर दो,
शुभ्र नभ-गङ्गा मोतियों का मञ्जु हार है॥
मेदिनी है कटि, मेखला है नीरनिधि,
पद पावन पताल विश्व-भार का आधार है।
अपने ही रंग में रँगे है अपने को वह
अपने ही चित्र का विचित्र चित्रकार है॥

दिवाकरसिंह

वञ्चक

एक दिवस वे रूप बनाये।
मेरे मुक्त द्वार पर आये॥
बोले—"निज आँगन में हमको दो थोड़ा-सा स्थान।
तुम्हें करेंगे ईश-भजन में, हम साहाय्य प्रदान"॥
मैंने गृह-पट खोल दिये सब।
शान्ति-सहित वे बैठ गये तब॥

पर घुस पड़े अचानक घर में, वे होते ही रात।
छीना 'प्रभु-प्रसाद' निर्दय बन, किया बहुत उत्पात॥
सब कुछ अपने-आप लुटाया !
मैंने कैसा धोखा खाया !!

श्रीगोपाल नेवटिया

तुम

(१)

मत्त-मोर के नव नर्तन में, कोकिल के कल कूजन में,
उषा-काल के अलि-गुञ्जन में, लतिका के नव यौवन में,
बाल-युवतियों की चितवन में, शिशु के मृदु भोलेपन में,
तुम्हीं विश्व-भय-मोचन में हो, रिपुमर्दन भीषण रण में॥

(२)

दिनकर की अन्तिम किरणों से, पुलकित निर्मल स्वर्ण-गगन,
हरियाली से लदे सघन गिरि, कुसुमित सुरभित वन-उपवन,
तरल-तरंग-तरंगित सागर, परिमल-पूरित कलित कमल,
सभी एक स्वर से तव वैभव, कहते हैं नित, अनिल, अनल॥

(३)

मृदु मयंक की शुभ्र ज्योत्स्ना, जल थल नभ में फैल ललाम,
तव तनु के मंजुल प्रकाश-सी, हमें दीखती है अभिराम।
निशा-काल में गगन-मध्य, अवलोक सितारों का संसार,
हमें जान पड़ता बिखरा-सा, तव मंजुल हीरों का हार।

(४)

लोनी-लोनी ललित लतायें, पुष्प-पल्लवित रुचिर अपार,
मृदुल नवल पल्लव से भूषित, हरी-भरी सुरभित सुकुमार,

निज यौवन की चञ्चलता में, करती है जब वायु-विहार,
समझ तुम्हारी ही कल-क्रीड़ा, होता हूँ मैं चकित अपार।

(५)

वर-वसन्त के सरस-स्पर्श से, प्रकृति सुन्दरी मुदित महान,
मंजुल नित नव साज सजाकर, शोभित होती है छविमान,
उसकी वह मृदु छटा निरखकर, होता है जी में यह भान,
निज सुषमा जगती पर फैला, तुम्हीं हुए हो अन्तर्धान।

(६)

ऊषा में तुम कलित कुञ्ज हो, तथा निशा में कुमुद ललाम,
आते दिन में तुम दिनकर बन, स्तब्ध निशा में शशि अभिराम,
एक पुष्प में अतुलित उपवन, एक विन्दु में अब्धि अपार,
एक छन्द में अखिल काव्य तुम, एक व्यक्ति में हो संसार॥

कुमार सोमेश्वरसिंह

भारत-माता की स्मृति

तरस-तरसकर रह जाते हैं सुरगण तुझमें तन धरने को।
परमेश्वर तक प्रकटित होते तुझमें लीलाएँ करने को॥
सुखप्रद सलिल समीर समय पर सबको तू प्रदान करती है।
भेदभाव तू नहीं जानती सबको गोदी में धरती है॥
स्वर्ण-भूमि है, रत्न-राशि है, कण-कण में कमला का घर है।
देती तू है अन्न निरंतर जिनपर जीवन ही निर्भर है॥
गिरी दशा तक में तव गौरव-तेज जगत में है चमकाता।
कौन अधम होगा जो भूले तेरी स्मृति, हे भारतमाता!

रसिकेन्द्र

मैं

(१)

जाना चाहा किधर विश्व-गति मुझे कहाँ पर ले आई ?
विधि ऐसा प्रतिकूल हुआ कुछ, बात न बिगड़ी बन पाई ॥
पता नहीं, मेरे जीवन की नाव किधर बहती जाती ?
"है तुमसे बलवान विधाता"—यह मुझसे कहती जाती ॥

(२)

है मुझसे बलवान विधाता कहता है मेरा जीवन ।
नहीं मानता लाख मनाया पर मेरा अभिमानी मन ॥
कभी न विधि को शीश झुकाया मैंने लाखों दुख सहकर ।
'जो चाहे तू कर सकता है'—कभी न बैठा यों कहकर ॥

(३)

क्या हूँ मैं आखिर दुनिया में ? क्या हूँगा निजत्व खोकर ?
रहना है क्या मुझे किसीके कर की कठपुतली होकर ?
क्या हूँ सो तो नहीं जानता, पर कुछ हूँ इतना है ज्ञान ।
'कुछ' की भी सत्ता होती है, सत्ता का होता अभिमान ॥

(४)

कभी न बह पाएगी जीवन की नौका स्वतन्त्र होकर ।
ले जाऊँगा उसे लक्ष्य पर मैं अपना सर्वस खोकर ॥
आफ़त के तूफ़ान उठें, पर होगी गति अपने कर में ।
जिस दिन कर से छूट बहेगी ले डूबूँगा सागर में ॥

(५)

हे अदृश्य की महाशक्तियो, मत करना मेरा उद्धार ।
मुझे देखना है इस 'मैं' की अन्तिम सीमा का विस्तार ॥

लाया हूँ मैं इस दुनिया में 'मैं' की सत्ता का उन्माद ।
पता नहीं, क्या है अदृश्य में, 'मैं' के मिट जाने के बाद ॥

विक्रमादित्यसिंह, बी० ए०

कवि

(१)

समर-भूमि है कर्म्म-स्थल है जगत्, मुझे परवाह नहीं ।
सांसारिक विभवों को पाने की मुझको कुछ चाह नहीं ॥
विभव-पराभव की चिन्ता का मुझमें अन्तर्दाह नहीं ।
नहीं निरादर से कुछ भय है आदर से उत्साह नहीं ॥

(२)

लड़ो-भिड़ो, दौड़ो-दौड़ाओ, विजय-पराजय अपनाओ ।
भिन्न-भिन्न इच्छित कर्म्मों में अपने-अपने जम जाओ ॥
औरों की अवनति के द्वारा अपनी उन्नति दिखलाओ ।
दुख-सागर में डूब-डूबकर सुखरूपी अमृत लाओ ॥

(३)

मैं मनमानी अपनी बातें सबको सदा सुनाऊँगा !
हास्य-रुदन में भय-विस्मय में दुख में सुख में गाऊँगा ॥
जल में थल में अनिल-अनल में शैल-शिखर पर जाऊँगा ।
रङ्क-कुटी नृप-प्रासादों में कहीं नहीं घबराऊँगा ॥

(४)

शशि से कहीं अधिक शीतल हूँ दीप्तिमान रवि से बढ़कर ।
तथा सलिल से अधिक सरस हूँ और अनल से प्रबल प्रखर ॥
विस्तृत गगन बहुत ही लघु है त्रिभुन भर है मेरा घर ।
जिनपर कृपा-दृष्टि करता हूँ पल में बनते वही अमर ॥

(५)

वर्तमान मेरा किङ्कर है और भूत मेरा अनुचर।
कौन करेगा समता मेरी है भविष्य भी मेरा चर॥
नृपति यहाँ पर शीश झुकाते अमित शक्ति मेरी लखकर।
वस्तु, देश या काल हमारा है प्रभाव सबके ऊपर॥

(६)

वाल्मीकि जब कहलाता था, था मेरा आरम्भिक काल।
त्रिभुवन-विजयी रावण तक का किया न मैंने क्या-क्या हाल॥
निकट हमारे शत्रु-जनों की कभी नहीं गल सकती दाल।
तनिक रुष्ट होता हूँ जिसपर वह विनष्ट होता तत्काल॥

(७)

मेरी कृतियों से होता है लोगों को आश्चर्य महान।
किन्तु नहीं आश्चर्य-विषय है ऐसा ही है मेरा गान॥
कवि हूँ मुझे न कोई भ्रम है सभी विषय का मुझको ज्ञान।
गान इसी कारण करता हूँ जिसमें हों प्रसन्न भगवान॥

रामानुजदास, बी० ए०

निःश्वास

अहे! परमदीना मुझ मलिना, उद्विग्ना की हृदयोच्छ्वास।
जाती हो, जाओ तुम, मलयानिल के संग प्रियतम के पास॥

दुखी हृदय की दुर्बलते! हे, मेरी असफलते अनजान!
हताभिलाषी, विरही-मन की, चिर-सङ्गिनी मूक आह्वान॥

अहे! प्रकम्पन प्रेमी मन की, आश्वासन दुखिया जन की।
भुवन-मोहिनी हे! अदृश्य तू, आकर्षण स्नेही मन की॥

हे ! अतीत-स्मृति की रूपान्तर, हे दुखमय चिन्ते साकार।
जान सका है कौन जगत में, तेरे नव विचित्र व्यापार ॥
करती हूँ अनुरोध आज मैं, इससे तुमसे बारम्बार।
देख सुअवसर मिलकर उनसे, कह देना तू मेरा प्यार ॥
असहाया अबला यह उनको, और कौन-सा दे उपहार।
प्रणत रूप में अर्पित करना, मेरे अश्रु-बिन्दु दो-चार ॥

सहोद्रा देवी मिश्र

कलिका

नव कलिका तुम कब विकसी थी, इसका मुझको ज्ञान नहीं।
हुई समर्पित श्रीचरणों पर, कब इसका कुछ ध्यान नहीं ॥
हृदय-संगिनी सरल मधुरता, में देखा अभिमान नहीं।
सच है गुण धन यौवन मद का, दुनिया में सम्मान नहीं ॥
इसी हेतु सब श्रेष्ठ गुणों से, पूरित तुमको अपनाया।
नव कलिका जब तुमको देखा, तभी पूर्ण विकसित पाया ॥
नन्दन-कानन में सुरभित, होने की तुमको चाह नहीं।
हृदय वेधकर हृदय-स्थल तक, जाने को उर-दाह नहीं ॥
मन्त्र-मुग्ध से जग-जन होवें, इसकी कुछ परवाह नहीं।
इन पवित्र मुसकानों में है, छिपी हुई वह आह ! नहीं ॥
प्रेममयी ! इस अखिल विश्व को, अचल प्रेम से अपनाना।
यदि मिल जावें युगल चरण यह, तुम उन पर बलि हो जाना ॥

तोरनदेवी शुक्ल 'लली'

मन की भावना

क्षुद्र का कैसा उपहार।
नहीं जानता तेरे सारे वैज्ञानिक उपचार॥
नहीं समाधि लगाकर जिसने किया तुझे आहूत।
तत्व विचार निरत रहकर जो बना नहीं अवधूत॥
उस प्राणी का होगा कैसा तेरे प्रति व्यवहार।
भक्तिभाव से हीन रहा जो रहकर निपट गँवार॥
किन्तु बिताया अपना जीवन जिसने हे भगवान!
सरल वृत्ति धारणकर जग में तज सारा अभिमान॥
अपनी मंद चाल से चलकर की तुझसे कुछ प्रीति।
वह भी मतलब से ही मानो मन से तज सब भीति॥

देवीदत्त शुक्ल 'किंकर'
(सरस्वती-सम्पादक)

ओ देश से आनेवाले बता!

ओ देश से आनेवाले बता!
ओ देश से आनेवाले बता, किस हाल में हैं याराने-वतन?
क्या अब भी वहाँ के बाग़ों में मस्ताना हवायें आती हैं!
क्या अब भी वहाँ के पर्वत पर घनघोर घटायें छाती हैं!
क्या अब भी वहाँ की बरखायें वैसी ही दिलों को भाती हैं!
ओ देश से आनेवाले बता!

ओ देश से आनेवाले बता!
क्या अब भी वतन में वैसे ही सरमस्त नज़ारे होते हैं!
क्या अब भी सुहानी रातों को वह चाँद वो तारे होते हैं!

हम खेल जो खेला करते थे, क्या अब भी वह सारे होते हैं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या शाम पड़े सड़कों पै वही दिलचस्प अँधेरा होता है ?
और गलियों की धुँधली शमओं पर सायों का बसेरा होता है ?
या जागी हुई आँखों को खुमार और ख्वाब ने घेरा होता है ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या अब भी वहाँ वैसी ही जवाँ और मद-भरी रातें होती हैं ?
क्या रात-भर अब भी गीतों की और प्यार की बातें होती हैं ?
वह हुस्न के जादू चलते हैं, वह इश्क़ की घातें होती हैं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
वीरानियों के आग़ोश में वह आबाद है बाज़ार अब कि नहीं ?
तलवारें बगल में दाबे हुए फिरते हैं तरहदार अब कि नहीं ?
और बहलियों में से झाँकते हैं तरकान-सियहकार अब कि नहीं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या अब भी महकते मन्दिर से नाक़ूस की आवाज़ आती है ?
क्या अब भी मुक़द्दस मस्जिद पर मस्ताना अज़ाँ थर्राती है ?
और शाम के रंगी सायों पर इक अज़मत-सी छा जाती है ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या अब भी वहाँ के पनघट पर पनहारियाँ पानी भरती हैं ?
अँगड़ाई का नक़शा बन-बनकर सब माथे पै गागर धरती हैं ?

और अपने घरों को जाते हुए हँसती हुई चुहलें करती हैं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
बरसात के मौसम अब भी वहाँ वैसे ही सुहाने होते हैं ?
क्या अब भी वहाँ के बाग़ों में झूले और गाने होते हैं ?
क्या अब भी कहीं कुछ देखते ही नौ उम्र दिवाने होते हैं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या अब भी वहाँ बरसात के दिन बाग़ों में बहारें आती हैं ?
मासूम-ओ-हसीं दोशीज़ायें बरखा के तराने गाती हैं ?
और तीतरियों की तरह से रंगीं झूलों पर लहराती हैं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या अब भी किसी के सीने में बाक़ी है हमारी चाह बता ?
क्या याद हमें भी करता है, अब यारों में कोई आह बता ?
ओ देश से आनेवाले ! बता, लिल्लाह बता, लिल्लाह ! बता ।
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
क्या गाँव में अब भी वैसी ही मस्ती भरी रातें आती हैं ?
देहात की कमसिन माहवशीं तालाब की जानिब जाती हैं ?
और चाँद की सादह रोशनी में रंगीन तराने गाती हैं ?
ओ देश से आनेवाले ! बता ।

ओ देश से आनेवाले ! बता ।
'सिरजाना' था जिसका नाम बता, वह ग़ुंचा-दहन किस हाल में है ?
जिसपर थे फ़िदा तिफ़लाने-वतन वह जाने-वतन किस हाल में है ?

वह सर्वे-चमन, वह रश्के-समन, वह सीम-बदन किस हाल में है !
ओ देश से आनेवाले ! बता।

ओ देश से आनेवाले ! बता।
क्या अब भी रुखे-गुल-रंग पै वह जन्नत के नज़ारे रोशन हैं !
क्या अब भी रसीली आँखों में सावन के सितारे* रोशन हैं !
और उसके गुलाबी होठों पर बिजली के शरारे रोशन हैं !
ओ देश से आनेवाले ! बता।

श्री अख्तर शीरानी

कोई नहीं है ग़ैर

कोई नहीं है ग़ैर। बाबा ! कोई नहीं है ग़ैर।

(१)

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई,
देख सभी हैं भाई-भाई,
भारत माता सबकी माता
गंगा देवी सबकी माई।
मत रख मन में बैर। बाबा ! कोई नहीं है ग़ैर।

(२)

भारत के सब रहनेवाले,
कैसे गोरे, कैसे, काले,

*सावन में सितारों का होना अकाल का लक्षण है। सम्पादक

छूत-अछूत के झगड़े पाले
पड़ गये जिससे जान के लाले।
काहे का यह वैर। बाबा! कोई नहीं है ग़ैर!

(३)

राम समझ, रहमान समझ ले,
धर्म समझ, ईमान समझ ले,
मस्जिद कैसी, मन्दिर कैसा
ईश्वर का अस्थान समझ ले।
कर दोनों की सैर। बाबा! कोई नहीं है ग़ैर।

(४)

सोचेगा किस मन में बाबा!
क्यों बैठा है वन में बाबा!
ख़ाक मली क्यों तन में बाबा!
ढूँढ़ ले उसको मन में बाबा!
माँग सभी की ख़ैर। बाबा! कोई नहीं है ग़ैर।

(५)

धन-दौलत में मन अटकाया,
काहे 'बासित' जी ललचाया,
सबसे निराली तेरी माया,
करता है क्यों अपना पराया!
नाहक का यह वैर। बाबा! कोई नहीं है ग़ैर।

बासित बिस्वाद्गी

कूक, पपीहे ! कूक

(१)

बादल गरजे रात अँधेरी,
सूनी-सूनी दुनिया मेरी,
जीना मेरा हो गया दूभर,
आँख लगे ना भूक।
पपीहे ! कूक, पपीहे कूक।

(२)

तू बनवासी खुलकर रोये,
मेरा रोना मुझे डुबोये,
तेरी तरह से नेह लगाया,
चूक गई मैं चूक।
पपीहे ! कूक, पपीहे कूक।

(३)

मैं भी अकेली, तू भी अकेला,
मोह का सागर दुख का रेला,
तेरे गले में 'पी' का फन्दा,
मेरे मन में हूक।
पपीहे ! कूक, पपीहे कूक।

वक़ार अम्बालवी

शोभित कर सिगरेट लिये

मुच्छ-विहीन वदन पर पौडर लोचन ललित किये।
कर में केन पाँव में डासन सर पर हैट दिये॥

बोलत बैन बराबर गटपट ब्रांडी कुंड पिये।
गुरुजन को बस डाँट बतावत बस चुप रहिये॥

कान्तानाथ पांडे 'चोंच'

रामचन्द्रोदय

(१)

सुषमा दृग द्वै गुनी नीरज तैं मुखचन्द हू चन्द तैं चौगुनो है।
छवि नासिका कीर तैं पाँच गुनी अधराधर बिंब तैं छौ गुनो है॥
ठिक ठोढ़ी रसाल तैं आठ गुनी, गर नूतन संख तैं नौ गुनो है।
वह गौर तौ गौर के जोग सखी पर श्याम तौ काम तैं सौ गुनो है॥

(२)

जरकसी पाग मौर झालर झमकदार,
तरल तरौना मैं डिठौना छवि छायो है।
घेरदार जामा परयो पटुका घुमेरदार,
कोरदार पीरो पट चटक सुहायो है॥
'जोतिसी' जगी है अङ्ग अङ्गनि मैं ओज भरी,
आजु मिथिला मैं बड़ो कहर मचायो है।
गजरा गरे मैं कोर कजरा मरोरदार,
बनरा अनोखो री विदेह घर आयो है॥

(३)

झपटि अटारी जात आवत न लावे बेर,
प्रेम मदमाती भई नाहनि किशोरी है।
घर घर द्वार द्वार अङ्गना निहोरै सबै,
एरी सुनो मेरी एक बात रस बोरी है॥

'जोतिसी' जगी ती भरी भीर नृप आँगन मैं,
देव द्विज नृपति विलोकत न चोरी है।
जोरी काल्हि काहू तैं न जोरी प्रीति रीति आलो,
ताऊँ बरजोरी आजु गाँठि हम जोरी है॥

रामनाथ जोतिसी
(राजकवि, अयोध्या)

शिशु

हमारे गृह का छोटा कुंज। जहाँ के तुम कोकिल अनमोल,
किलोलों की बिखराकर कूक। हृदय में देते हो मधु घोल;
सुनहले सुख-स्वप्नों के जाल।
अनूठे मेरे प्यारे लाल!!

प्राण के पलने में दिन-रात। झुलाता है तुमको उच्छ्वास,
तुम्हारी स्मित-छवि पर मंदार। लुटाते अपना मधुर-सुवास;
निछावर है अलका का कोष।
रत्न है अनुपम मेरा लाल!!

अटपटे प्रेम-लपेटे मंजु। तुम्हारे तुतले अस्फुट बोल,
गुँजाते सङ्गीतों का तार। सम्पुटित-हृदय-कमल को खोल;
चाल पर शत शत मुग्ध मराल।
अनोखे मेरे प्यारे! लाल!!

पिता की आशाओं के केन्द्र। मुग्ध-माता के लाड़-दुलार,
निर्धनों के धन, सुर-वरदान। गृहस्थी के शोभा शृङ्गार;
प्रेम की नव-प्रतिमा साकार!
हठीले! मेरे शिशु सुकुमार!!

गोद में विकसित हँसते फूल। मातृ-उर के उन्नत-अभिमान,
पिता के प्राणों के संगीत। नयन के नयन-प्राण के प्राण;
स्नेह के स्रोत, प्रणय-उद्गार!
लजीले! मेरे शिशु सुकुमार!
बजाकर इन प्राणों के तार। छेड़ते हो जब सुख का राग,
छलक उठता उर से उन्माद। फूल बन जाते दुख के दाग;
सुतरु-यौवन के पल्लव बाल!
सलोने भोले शिशु सुकुमार!
तुम्हारे रोने में है गान। तुम्हारे गाने में मुसकान,
पिरोते हो रो मुक्तामाल। बिछाते हँस फूलों का जाल;
विश्व का वैभव हो साकार!
प्राण से प्यारे शिशु सुकुमार!!
मधुर-यौवन की लघु तस्वीर। नवल-आशाओं के मधु-मास,
भावनाओं के मृदु-संसार। प्रेम के कंपित नव-उच्छ्वास;
ललित-जीवन-लतिका के पुष्प!
अरे! ओ! सुन्दर शिशु सुकुमार!!
प्रेम की परिभाषा हो मौन। हृदय की अभिलाषा हो मौन,
सुनहली आशाओं के द्वीप। तुम्हीं बतला दो, तुम हो कौन?
साधनाओं के शुभ परिणाम!
लजीले लोने लाल ललाम!!

हृदयनारायण शर्मा 'हृदयेश'

शबरी

(१)

बिचरै बन भील की भोरी लली, हरिनोन सों चौंदिसि धाइबो सीखी।
नखतावलि सों कहुँ नैन लगाइबो, फूलन सों मुसुकाइबो सीखी।
रस भीजिबो पाछिली राति सों, ओस सों आँसुन को टपकाइबो सीखी।
मन दीबो चकोरन सों, पपिहान सों एकहि की रट लाइबो सीखी॥

(२)

लखि बिश्व-सरूपहिं प्रेम जग्यो, प्रति अंगनि तासु निहारयो करै।
तिनके छवि-भास-विकासन पै अपने तन औ मन वारयो करै।
कोउ याहि बनाय रह्यो सु कहाँ गिरि कुंजन हेरत हारयो करै।
दिसि-अन्त लौं दीठि पसारयो करै, निज नान्हरे हीय बिचारयो करै॥

(३)

लटकाये लटापटी लोनी लटै बन डोलत भील की डाबरिया।
दृग तीखे दृगंचल चंचल-से कोउ रंग रँगी तन साँवरिया।
मृग सों, खग सों हठि बूझै पतो, मन मैं मिलिबे की उतावरिया।
जग देखत हू नहिं देखत-सी, भइ काहू अदेख पै बावरिया॥

(४)

तन मैं नव यौवन आगम औ मृदु माधुरी पै मद को न प्रसंग है।
अनियारी भई अँखियाँ हैं तऊ करुनामय हैं, न कटाच्छ को ढंग है।
अनुरागहु है अभिलाष भरयो, रस रंग है किंतु विलास निरंग है।
सबरीहु के अंगन बैस-सुभाय रम्यो है अनंग, पै आन अनंग है॥

(५)

चित चिंता कबौं बढ़ि तायो करै मढ़ि आस कबौं सियरायो करै।
गढ़ि कल्पना त्यों प्रिय के चल-चित्र विचित्र-से चित्र दिखायो करै।

बन बावरी-सी बररात फिरै, गिरि-खोहन खोज लगायो करै।
हरि जाननहार को भीलन माहिं, मुनीन सों जाय हहायो करै॥

(६)

दिन मैं बन घूमि, रसाल-पलास की साखन सूखी बटोरयो करै।
अधरात दुरे हि दुरे मुनि-द्वार बुहारि नितै समिधान धरै।
बिनु देखे मतंगहि मानि लियो गुरु पै निज जाति बिचारि डरै।
मन ही मन पाँय परै तिनके पर सामने जात न पाँय परै॥

बचनेश मिश्र
(कालाकाँकर)

राम की वन-यात्रा

और दूसरे ग्राम ढिग, पहुँचे जब रघुराय।
लगीं पूछने नारियाँ, सीता से मुसकाय॥

"क्यों जी, तुम कहाँ से आती हो ? किस गाँव की रहनेवाली हो ?
लक्ष्मी हो तुम किसके गृह की ? किस आँगन की उजियाली हो ?
साँवरे और गोरे जो हैं, तो कौन तुम्हारे हैं दोनों ?
किस कुल के दीपक हैं दोनों ? किस माँ के प्यारे हैं दोनों ?"

यह सुनते ही सिया ने, की कुछ धीमी चाल।
बता दिया संक्षेप में, अपना थोड़ा हाल॥

"यह गोरे से जो पीछे हैं सो देवर हैं मेरे सजनी।
है लषणलालजी नाम इनका, अवधेशकुँवर हैं, हे सजनी !"
प्रभु को फिर, पट घूँघट ही में बतलाकर तिर्छे नयनों से।
"यह मुझ दासी के स्वामी हैं" कह दिया सिया ने सयनों से॥

जान गयीं सब नारियाँ, हैं वे सीतानाथ।
फिर भी कुछ तरुणियों ने, कहा, हँसी के साथ॥

"जी, एक बात तो रही गयी, उसका कुछ काम नहीं है क्या ?
इनका तो नाम लखणजी है, पर उनका नाम नहीं है क्या ?"
सुनकर यह बात सजनियों की, रह गयीं जानकी सकुचाकर।
मुँह खोल के अपना, बन्द किया, फिर चल दीं आगे मुसकाकर॥

राधेश्याम कथावाचक

वोट की फकीरी

वोट पाने के लिये ली है फकीरी बाबा।
सीट मिलने पे दिलोजान से लुभाया हूँ।
हाथ फैलाके वोट माँगने को आया हूँ।
जिन्दगी भर में फकत आज गिड़गिड़ाया हूँ।
देखो झिड़को न मुझे ग़म का मैं सताया हूँ।
अपने हाथों की है ये दर्द असीरी, बाबा !
नाहीं,कर दे न कोई दिल में यही डरता हूँ।
बेक़रारी से सर्द आह सदा भरता हूँ।
रात-दिन वोट को फिरकी-सा फिरा करता हूँ।
ठोकरों से भी वो टारें तो नहीं टरता हूँ।
गर फ़क़ीरी नहीं क्या है ये अमीरी, बाबा !
वोटरों के यहाँ मैं मार के बैठा आसन।
यह भी देखा न झोपड़ी है या उसका आँगन।
जिन गँवारों को मयस्सर न थे मेरे दर्शन।
माँगनी भीख पड़ी उनका पकड़ के दामन।
सब ही कुछ छोड़ दिया ऐश सफीरी, बाबा !
दण्डवत है तुझे तू हो कलाल या कोली।
शेख मिरजा हो पिंजारा हो या हो तम्बोली।

हाँ तू कह दे ज़रा हँसकर ये बोल दे बोली।
देख खाली है बहुत वोटों से मेरी झोली।
होगा सवाल तुझसे पहला ही अख़ीरी, बाबा !
जब मैं बैठूँगा अनूठी वो बनेगी महफ़िल।
फिर मैं "गुलज़ार" डिनर में भी रहूँगा शामिल।
हर्ज क्या है जो कहेगी मुझे दुनिया जाहिल।
साहब तो 'हाँ हुज़ूर' सुनके कहेगा क़ाबिल।
होगी क़िस्मत तो करूँगा मैं वज़ीरी, बाबा !

देवीप्रसाद गुप्त

ब्रज-विभूति

(१)

एहो पथी मेरो हूँ गयौ है परदेस पति
कालिह ही रोवाइ लीन्हें प्रान गाउँ भर कौ।
अवसि मिलैगौ पथ ही मैं कहूँ पास ही मैं
जाहि लखि नारि तजैं लाज अरु बर कौ।
मेरे वा अनारी कौ बुझाइ कछु दीजौ तुम
पाइँ परौं होइ तुम्हें ताप जो अपर कौ;
बैन सुनि देखि प्रान-गौन-द्वार नैन, निज
सोचि मुगधा सो परयौ पाछैं लौटि घर कौ॥

(२)

दुपहर जेठ मैं गँवारि लैन पानी चली
जरति मही पै पाँउ पूरौ न धरति है,
कूप पै पहुँचि फाँसी डारि घट-कंठ माहिँ
भीतर कौ देखि दास छोरि पकरति है।

औचक निहारि मनमोहन गुविंद-बिंब
जल-प्रतिबिम्ब में न घट को भरति है ;
देह की जरनि अति सेद की रसनि त्योंही
देह-गति भूलि मुसुक्याति न टरति है ॥

(३)

बीते औधि आयो है सतायो बिरहातप को
छायो धूरि हूँ तें अति धायो-सो दिखावे है ,
कर-तर दावे पोटरी में नारि-चाही वस्तु
रहि-रहि देखि-देखि ताहि घबरावे है ।
पूछन को छेम निज प्यारी को अनेक भाँति
वचन-समूह जोरि-जोरि मुँह ल्यावै है ;
सौंहे गाँउ हूँ कें आइ पथिक प्रदोस काल
देखि गाउँ वारन को बदन दुरावै है ॥

बलदेवप्रसाद मिश्र
(काशी-वासी)

नेही का नभ

अन्तर न व्यापै कछू पै लिखे निरन्तर ही
लगन रहे है एक प्रीति जोग वारे हैं ।
देखिये 'रसाल' है अनोखी रीति प्रेमिन की
वार है न तिथि है ये अतिथि बिचारे हैं ।
ग्रह को कहा है औ उपग्रह कहा है जब,
निग्रह निखारे निज विग्रह बिसारे हैं ।
चंद सो दुचंद है असंद मुख-चंद एक
नेहिन के नभ में नछत्र हैं न तारे हैं ॥

मानस की लहरें

बीत गये दिन प्रेम के वे,
सजनी रस की रजनी है सिरानी।
आस बिसास बिसासी के हाथ,
सबै मन साथ अमोल बिकानी॥
नेह गयौ बिरहानल मैं,
सुधि हू तौ रही अपनी न बिरानी।
बात रह्यो न रह्यो रस हू
तऊ मानस की लहरैं न थिरानी॥

मीन नैन

ह्वै कै दीन औ मलीन जीवे वै न पानी गये
पानी के गये हूँ इन्हें तैसेई पै हेरे हैं।
वै तो नेह चाहती न नैसुक 'रसाल' कहैं
चाहि त्यों सराहि डारे नेह ही में डेरे हैं॥
बंसी लाय बेधे उन्हैं मनुज अहेरी आप
बंसीधर हू को बेधि कीन्हे इन चेरे हैं।
बेंचत उन्हैं हैं नर इनमें बिकाइ जात
नयन अनोखे चारु चोखे मीन तेरे हैं॥

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
(डा०, एम० ए०)

स्तुति

जाको सत्व अखिल अनन्त विश्व-मंडल मैं
ब्रह्म मैं महत्व जासु वेद कहिबो करै।
'सरस' बखानै जाहि विविध-विधान आनि
साधक सयान लौं समाधि चहिबो करै॥
जड़ जग-जीवन कौ जाकी जोति जोहे बिन
छिन-छिन मोहै महामाया गहिबो करै।
जोसों हीन है अतत्व होत तत्व सोई सत्व
मन-बच-काम मैं हमारे रहिबो करै॥

रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'

उद्गार

(१)

जीवन के वन में बिहरौं औ सजीवन जोग सजोवत हौं।
खोवत हौं नहिं आपुनपौ, तुमसों अपनो मन मोवत हौं॥
चञ्चल हौं तव अञ्चल के बल बेगवती गति गोवत हौं।
रोवत हौं नहिं क्यों अनखौं ? पथ के श्रम की रज धोवत हौं॥

(२)

रावरो रूप अपार महा यहि नैन की नाव सों पार करैं क्यों ?
कोमल त्यों बरुनी पतवार, सनेह को भारि सँभारि सकैं क्यों ?
तापै अनेकन रन्ध्र रचे जिन सों जल पूर प्रवाह भरैं क्यों ?
बूड़िहैं पै, यह जानत हौं, नहिं जानहुँ पै कित जात चलें क्यों ?

डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी

प्रश्नोत्तर

अमर कौन है जगत में, दीजै 'लला' बताय।
जाकी जस कीरति लता, नित नूतन अधिकाय ॥१॥

कौन पदारथ है 'लला', जो नहिं रहत हमेश।
राजकृपा अरु तरुणता, रमा मेघ-सुख क्लेश ॥२॥

भूषण काको कौन है, केहिको को सुख देत।
नीति नृपति लज्जा तिया, कुल सपूत जल खेत ॥३॥

बिना बुलाये ते 'लला', कहाँ न जानो ठीक।
सुजन सभा ससुरारि में, मध्य सलाह अलीक ॥४॥

लज्जा कहाँ न कीजिये, 'लला' जु करो बिचार।
भोजन भामिनि सत्रु संग, औ विवाद व्यवहार ॥५॥

काके मरे न रोइये, 'लला' जू कहौ बिचारि।
नीत-रहित नृप सठ सुवन, कपटी मित्र कुनारि ॥६॥

को साथी है अन्त को, कहो सन्त समुझाय।
सुभ करनी अरु सुत सुघर, गुरू वचन रघुराय ॥७॥

देवनारायनसिंह 'लला'
(सटवा-जौनपुर)

पा सकूँगा मैं तुम्हें क्या !

पा सकूँगा मैं तुम्हें क्या !

पूछती हरएक धड़कन, पूछती हरएक कसकन,
पूछती हर आह मेरी, पूछता हर साँस-कम्पन,
इस हृदय की मूक भाषा, प्रतिध्वनित हो पूछती है—
पा सकोगे तुम उसे क्या !

तुम वन-पथ-सी, क्षितिज-सी, तुम सरककर कहरही हो—
छू सकोगे तुम मुझे क्या ?

जब हृदय होता अचानक, वेदना-अवतार धारी,
तब स्वयं संगीत होता, आह के स्वर का भिखारी;
हो प्रकम्पित, रोम में प्रति प्रश्न पर वह कह रहा यह—
पा सकोगे तुम उसे क्या ?

स्वर्ग-सपने आज पलकों के बने सानन्द प्रहरी,
प्रेम के इस पर्व-सागर, में लहर इक क्षण सिहरी—
पूछती उठ तर्जनी-सी, इस भटकते उर-पथिक से—
भँवर-पथ में ढूँढ़ते क्या !

बह रहे थे भव-जलधि में, सैकड़ों नर लघु लहर-से,
वल्लरी-से गुँथ गये तब, हम डगर में, दो लहर से,
लहर-वाले ! पर तुम्हारे, भँवर के भ्रम-फूल कहते—
तोड़ लोगे तुम हमें क्या ?

तुम फ़ुहारे-सी हँसोगी, फूल के तट से लिपटकर;
अश्रु-सा छिटका करूँगा, मैं तटों से सिर पटककर;
मैं निराशा की लहर,—तट-तट भटक पूछा करूँगा—
पा सका, हा ! मैं उसे क्या !

"प्यार करता हूँ तुम्हें" ये शब्द भी मैं कह न पाया,
जल रहा कब से प्रिये ! पर राख भी मैं हो न पाया;
प्राण की जलती चिता बस, पूछती निशि-दिन धधककर—
प्रेम यानी आग है क्या !

हृत-गगन का है बदा इक, पोर भर जिसको कि टुकड़ा—
दुर्दिनों के अश्रु-मेघों, का वही मैं एक टुकड़ा;

अश्रु बन-बन मैं टपककर; धूलि से पूछा करूँगा—
प्रेम का है फल यही क्या ?

हाय ! जग-बन्धन हमें मिलने नहीं देंगे प्रिये ! क्या ?
साँस भी दीवार बन, हमको हटा देगी प्रिये ! क्या ?
प्रश्न अब यह प्राण बनकर, बन गया उत्तर स्वयं यह—
प्रेम-का "क्या ?" है स्वयं "क्या ?"

जो स्वयं के ही लिये है, वह शलभ की साध मेरी,
यह तुम्हारी खोज ही तो कर रही है खोज मेरी,
मग-प्रदर्शक तीर-सी चुभकर, हृदय में कह रहीं, तुम—
खोज ख़ुद की पागये क्या ?

दृग-शलभ की पलक-पाँखो ! तुम प्रतीक्षा-दीप बनकर—
जल उठो, अब तो मनालो, विरह का त्यौहार क्षण भर;
चिर अमा, जीवन-शिरा में, फिर धड़क पूछा करेगी—
प्रात-हीना विरह-निशि क्या ?

उर-जलधि मथकर निकालूँ, चन्द्र-सा छवि-रत्न तेरा,
इन दृगों की सम्पुटी में, जो करे निशि-दिन बसेरा,
रो, सिसक, पूछा करूँगा, मैं तुम्हारी कालिमा-सा—
चन्द्र-वदनी ! प्रेम है क्या ?

नीलकंठ तिवारी, एम० ए०

जीवन के दिन चार

जीवन के दिन चार
बाबा, जीवन के दिन चार।
करना है सो कर ले बाबा
वही जीवन का सार ॥

जीवन के दिन चार
एक दिन मात-पिता का,
दूजा दिन है तेरा।
बीबी-बच्चे माँगे तीजा
चौथे मौत का डेरा—
जीवन है व्यापार ॥

कश्चित्

अनुगामिनी

प्रिय तुम्हारे प्यार पलकी मैं चिरंतन रागिनी हूँ।
मधुर जीवन की तुम्हारे मैं सदा समभागिनी हूँ।
वृद्ध-व्रीड़ा-पाश में मन भाव बन्दी से पड़े हैं।
युगल लोचन स्नेह का साकार रूप बने खड़े हैं;
आज हँस मिल बोल लें फिर कल किसी का है न होता;
सुमन जो हँसता सबेरे साँझ को है विकल रोता!
चन्द्र-मुख ज्योत्स्ना मनोहर की, अनन्य भिखारिणी हूँ!
बीतता क्षण क्षण युगों सा है सुख-स्मृति भी विरानी;
कौन करुणामय यहाँ है जो सुने मेरी कहानी!
प्यारमय उर-सरस-सर में प्रणय-पङ्कज खिल रहा है,
विश्व का कण कण सुरभियुत दान सुषमा दे रहा है;
विरह जीवन साधना की मैं बनी अनुगामिनी हूँ।

गंगाप्रसाद पाण्डेय

निशीथ-मिलन

मिलन भावना जगती में छाई है चारोंओर,
आज मिलन के सागर में छाई है एक हिलोर।
रात उठाये कान सुन रही है मिलने का गान
मिलन स्वप्न देखता पल्लवों पर सोया पवमान।

विटपी हैं उद्‌ग्रीव और नभ के हैं नेत्र अतन्द्र
देखरहे हैं सभी मिलन का मधुमय नूतन चन्द्र।
वसुधा में चाँदनी मिल रही है गलबहियाँ डाल
पात-पात पर लिखते हिम-कण मिलन-कथा का हाल।

डाली-डाली पर कोयल वाणी में अमृत घोल
कहती है "लो मिलो! मिलन के ये पल हैं अनमोल।"
किसी हृदय की मिलन-भावना ही सुन्दर-सुकुमार
लता बनी लिपटी तरुओं से आज कर रही प्यार।

मत्त मधुप मकरन्द पी रहे कुसुम-पात्र में डूब,
चारु कल्पना की छवि-सी भू पर अंकित है दूब।
सुरभि फूल-सा सदन छोड़ हममें भर नूतन प्यार,
प्रिय म मिलने की चुपके-चुपके करती अभिसार।

फुल्ल कुमुदिनी को आँखों का पाने को मृदु प्यार
पुष्करिणी ही में सुधांशु आ बैठा है इस बार।
करता है रस-पान कुमुद के घूँघट कर से खोल
सिहर लाज से हँस देती वह नहीं फूटता बोल।

फिर न मिलेगा यह सुयोग ऐसा सुन्दर शुभकाल
यही जानकर मुकुलों ने खोले निज नेत्र विशाल।
देखें! देखें! आज देखलें! वे भी मिलनानन्द,
पढ़ लें जगती के कण-कण में लिखे मिलन के छंद।

किरणों का हिन्दोल मिलन की परी रही है झूल,
विश्व-वृन्त पर अन्तहीन खिल उठा मिलन का फूल।
धूल आज बन गई स्वर्ग है और स्वर्ग है धूल,
अब न अभाव अतृप्ति कहीं है, कहीं न मन की भूल।

शैल हृदय में समा सका जो नहीं मिलनका मोद—
वही सरित बन फूट पड़ा है आज विजन की गोद।
ताली बजा तरंगें करतीं उठ-उठ करके लास—
मिलन बाँसुरी आज बज रही है प्राणों के पास।

हृदय-वल्लरी पर किसने दी मिलनांगुलि यह फेर—
मूक नयन भी लगे बोलने, लगी न कुछ भी देर।
टूट गईं बंधन की कड़ियाँ मिला नया आलोक।
मधुर मिलन की एक झलक ने मिटा दिया सब शोक।

नव वसन्तमय हृदय प्रकृति का फूल उठा है आज,
भीतर बाहर सभी जगह है सजा मिलन का साज।
मधुर मिलन ने मिटा दिये जीवन के सारे खेद।
ऐसा लगता अब न रहेंगे कहीं विरह, विच्छेद।

मिलन का उमड़ा पारावार।
आज हम तुम हैं एकाकार॥

हरिश्चन्द्रदेव वर्मा

बेढब की बहक

(१)

बाप बूढ़ा घर में बैठा है गोया दरबान है,
लेडियों के साथ बेटा नाचता महफ़िल में है॥

(२)

जनेऊ इनकी नेकटाई है पाउडर इनका टीका है।
नये बाबू का ह्विस्की आजकल गंगा का पानी है॥

(३)

सर से बढ़कर पाँवका मिस्टर के रुतबा हो गया।
दो की टोपी हो गई तो दस का जूता हो गया॥

(४)

कलेजा जल गया, दिल दे चुका, अब और क्या लोगे ?
बचा था फेफड़ा थाइसिस ने डेरा उसमें डाला है।

(५)

बीती विभावरी जाग री।
छप्पर पर बैठे काँव काँव करते हैं कितने काग री।
तू लंबी ताने सोती है, बिटिया माँ-माँ कह रोती है,
रो-रोकर गिरा दिया उसने आँसू अबतक दो गागरी।
बिजली का भोंपू बोल रहा, धोबी गदहे को खोल रहा,
इतना दिन चढ़ आया लेकिन तूने न जलाया आग री।

(६)

य' इच्छा थी कि हम होते लिफाफा,
उसे होठों से तुम फिर 'सील' करते।
अगर खटमल बना देता हमें 'गाड',
उन्हीं की खाट में हम जाके बसते।

(७)

पोते 'पोमेड' मले मुख 'पौडर' ऐनक आँख चढ़ी गजनैनी।
आनन मैं करके 'करचीफ़' धरे जनु 'जर्म' बचावत जैनी।

टेढ़ा करै मुख ऐसा बनाय के भोज़पुरी मनो खात है खैनी।
कूदतीं ये इसकूल चलैं मृग-गामिनी भामिनी 'मेढक त्रैनी' ॥

(८)

'बेढब' या संसार में, कबहुँ न मिलिये धाय।
का जाने केहि भेष में, सी० आइ० डी० मिल जाय ॥

(९)

जौ जग में जर चाहियतु, जाय कचहरी बैठ।
पीछे हाथ पसारि कै, धीरे धीरे ऐंठ ॥

कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब'

हिमानी

सूने दिगन्त में बारबार
मैं रह-रह कुछ उठता पुकार।
निज व्यथित हृदय का व्यथित भार।
रे, किसके उर में दूँ उतार ॥
उस पार खड़े वे तरु अपार
हैं मुझे रहे अपलक निहार
इस पार भग्न है यह कगार
मुझ सा ही मानों निराधार।
बह रही बीच में सरित धार
ज्यों सजल हृदय में सजल प्यार
बह चलो इसी के साथ साथ
चिर-दुखमय ये आँसू अनाथ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

दुलारे-दोहावली

श्रीराधा बाधाहरनि, नेहअगाधा साथ।
निसकिय नयन-निकुञ्ज मैं, नचौ निरंतरनाथ ॥१॥
दिन-नायक ज्यों-ज्यों बढ़त, कर अनुरागि पसारि।
त्यों-ही-त्यों सिमटति हटति, निस-नवनारि निहारि ॥२॥
जोबन-बन बिहरत नयन, सर सों मन-मृग मारि।
बाँधति ब्याधिनि केसिनी, केस-सुपास सँभारि ॥३॥
बिरह-ज्वाल बिकराल बरि, बहकि बाल बेहाल।
लपटति लाल तमाल-तरु, लाल रसाल खयाल ॥४॥
लंक लचाइ नचाइ दृग, पग उँचाइ भरि चाइ।
सिर सँभारि गागरि डगर, नागरि नाचति जाइ ॥५॥

दुलारेलाल भार्गव